हिन्दी-समिति-ग्रन्थमाला—८२

भारतीय राजशास्त्र-प्रणेता

लेखक

डॉ० श्यामलाल पाण्डेय

एम० ए०, पी-एच० डी०

हिन्दी समिति, सूचना विभाग

उत्तर प्रदेश, लखनऊ

प्रथम-संस्करण
१९६४

मूल्य
दस रुपये

मुद्रक
[illegible]
बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी प्रेस,
वाराणसी—५

प्रकाशकीय

इस ग्रन्थ में भारत के प्राचीन साहित्य के आधार पर राजनीति सम्बन्धी प्रमुख सिद्धान्तों की चर्चा की गयी है जिसके अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि आज से कई हजार वर्ष पहले ही भारत के मनीषियों और चिन्तकों ने राजशास्त्र सम्बन्धी मार्मिक प्रश्नों का यथेष्ट चिन्तन-मनन किया था और शताब्दियों पूर्व वे ऐसे निष्कर्षों तथा निष्कर्षों पर पहुँच चुके थे जो काफी लम्बे अरसे के बाद ही पश्चिम के विद्वानों की चर्चा के विषय बने। समाज-अनुबन्धवाद, दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त न्याय और दण्ड की व्यवस्था करारोपण सम्बन्धी नीति मन्त्रि-परिषद् का संगठन मादक द्रव्यों तथा वेश्यावृत्ति के निरोध का प्रश्न पुलिस की व्यवस्था आदि महत्त्वपूर्ण विषयों का यथेष्ट विवेचन मनु, भीष्म कौटिल्य शुक्र आदि प्राचीन राजशास्त्र प्रणेताओं की कृतियों में मिलता है। कई बातों में तो मनु आज के समुन्नत विचारों से मेल खाता है और कहीं-कहीं उनसे भिन्न तथा श्रेयस्कर प्रतीत होता है। राजा की दैवी उत्पत्ति के प्रतिपादक हॉब्स राजा के विरुद्ध विद्रोह करना किसी भी परिस्थिति में वैध नहीं मानते किन्तु मनु, भीष्म आदि राजा को देवपद का अधिकारी मानते हुए भी उसकी निरंकुशता के कट्टर विरोधी हैं। इन मनीषियों ने प्रजाहित के लिए योजनाओं और कल्याण की चर्चा करते हुए व्यवसायकर, चुंगी या सीमाशुल्क और नदीकर आदि के साथ-साथ (श्रमदान के रूप में) श्रमजीवीकर का भी समर्थन किया है। उन्होंने इस बात पर बल दिया है कि पूंजी पर नहीं लाभ पर ही कर लगाया जाय करों में धीरे-धीरे ही वृद्धि की जाय और प्रजा की रक्षा तथा प्रजा के हित की उपेक्षा न होने पावे।

डा. श्यामलाल पाण्डेय ने इस विषय की उपयोगी सामग्री का इन पृष्ठों में संकलन कर बहुमूल्य कार्य किया है। हमें आशा है कि आधुनिक राजशास्त्र का अध्ययन करनेवाले विद्यार्थी और पाठक इसके विवेकपूर्ण तथा तुलनात्मक अध्ययन से यथेष्ट लाभ उठा सकेंगे।

ठाकुरप्रसाद सिंह
सचिव हिन्दी समिति

विषय-सूची

प्राचीन भारतीय राजशास्त्र का संक्षिप्त इतिहास

मनु

विषय	पृष्ठ

कामन्दक

शुक्र

सोमदेव सूरि

१

प्राचीन भारतीय राजशास्त्र का संक्षिप्त इतिहास

वैदिक युग में राजशास्त्र

प्राचीन भारतीय राजशास्त्र का उद्गम-स्थान ऋग्वेद है। ऋग्वेद मुक्तक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में विभिन्न विषयों पर अनेक ऋषियों के विचार मुक्तक ऋचाओं में दिये हुए हैं। विषय की दृष्टि से इन ऋचाओं में परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है। प्रत्येक ऋचा स्वतन्त्र और स्वयं में पूर्ण है। इसलिए ऋग्वेद में किसी भी विषय का क्रमबद्ध इतिहास प्राप्त नहीं किया जा सकता। उसमें प्राप्त राजशास्त्र-सम्बन्धी सामग्री पर भी यही नियम लागू होता है। राजशास्त्र-विषयक ऋचाएं, सम्पूर्ण ग्रन्थ में यत्र-तत्र मुक्तक छन्दों के रूप में बिखरी हुई हैं। इन ऋचाओं में भी राजशास्त्र विषय का स्पष्ट वर्णन कहीं भी प्राप्त नहीं है। इन ऋचाओं की राजशास्त्र-सम्बन्धी सामग्री में कतिपय सिद्धान्तों की ओर संकेत मात्र किये गये हैं। इन संकेतों के आधार पर प्राचीन भारतीय राजशास्त्र के स्पष्ट स्वरूप की स्थापना नहीं की जा सकती। अन्य तीन संहिताओं के विषय में भी यही कहना उचित होगा। इन तीनों संहिताओं में भी राजशास्त्र विषय का क्रम-बद्ध वर्णन न होने के कारण संहिताकालीन प्राचीन भारतीय राजशास्त्र के स्वरूप की स्थापना करना असम्भव है।

संहिताओं के उपरान्त ब्राह्मण एवं आरण्यक साहित्य आते हैं। इन साहित्यों में वैदिक कर्मकाण्ड का प्राधान्य है। राजशास्त्रसम्बन्धी जो भी सामग्री इनमें उपलब्ध है वह सबकी सब वैदिक कर्मकाण्ड से ओतप्रोत है। अतः इसमें से शुद्ध राजशास्त्र सम्बन्धी सामग्री का संकलन करना एवं उसका विश्लेषण करके उसके शुद्ध स्वरूप का निर्धारण करना अत्यन्त कठिन समस्या है। इस कठिनाई के कारण राजशास्त्र सम्बन्धी उपयुक्त सामग्री को शुद्ध राजशास्त्र का स्वरूप नहीं प्राप्त हो सका।

इसके अतिरिक्त इन ग्रन्थों में पारिभाषिक शब्दों संस्थाओं और परम्पराओं आदि का जो प्रयोग एवं उल्लेख वैदिक साहित्य में है उनके वास्तविक अर्थ एवं स्वरूप का बोध कर लेना भी एक कठिन समस्या है। इन कठिनाइयों के होते हुए संहिताओं

एवं ब्राह्मण तथा आरण्यक साहित्य में निहित राजशास्त्रसम्बन्धी सिद्धान्तों के आधार पर प्राचीन भारतीय राजशास्त्र के वास्तविक स्वरूप की स्थापना नहीं की जा सकती।

वैदिक युग का अन्तिम साहित्य उपनिषद् ग्रन्थ माने जाते हैं। उपनिषद्-साहित्य ब्रह्मज्ञान-प्रधान है। इस साहित्य में राजनीतिसम्बन्धी विषय-वस्तु का प्रायः अभाव है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वैदिक युग में राजशास्त्र के पूर्ण स्वरूप का निरूपण होने की पुष्टि में हमारे समक्ष एक भी सबल प्रमाण नहीं है। इस विषय में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि वैदिक युग में राजशास्त्र-विषय पर कतिपय ऋषियों ने चिन्तन अवश्य किया था और उनके इस चिन्तन के फलस्वरूप राजशास्त्रसम्बन्धी कुछ विचार भी उस युग की जनता तक पहुँच गये थे परन्तु इस विषय का शास्त्रीय अध्ययन एवं चिन्तन उस युग में हुआ है, इस विषय के प्रतिपादनार्थ पुष्ट प्रमाणों का अभाव है।

दण्डनीति की उत्पत्ति

राजशास्त्र विषय का शास्त्रीय अध्ययन एवं उसका चिन्तन वैदिक युग के समाप्त होने के बहुत पश्चात् हुआ है। यह वह समय है जब भारत के विचारकों ने मनुष्य के पूर्ण विकासहेतु सम्पूर्ण ज्ञान को चार श्रेणियों में विभक्त किया और उन्हें चार विद्याओं के नाम से सम्बोधित किया। ये चार विद्याएँ आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता और दण्डनीति बतलायी गयी हैं। आन्वीक्षिकी त्रयी और वार्ता—इन तीनों विद्याओं को मनुष्य के उपयोग हेतु सुव्यवस्थित रूप में स्थापित करने के निमित्त दण्ड की परम आवश्यकता बतलायी गयी है। दूसरे शब्दों में मनुष्य के सुव्यवस्थित जीवन के निमित्त व्यवस्थाहेतु दण्ड की स्थापना की गयी है। दण्ड के सम्यक् प्रयोग का ज्ञान जिस विद्या के द्वारा होता है, वह दण्डनीति कहलाती है। इसी दण्डनीति का दूसरा नाम राजशास्त्र अथवा राजधर्म बतलाया गया है।

प्राचीन भारतीय साहित्य में दण्डनीति की उत्पत्ति के विषय में उपाख्यान अथवा कथाओं के रूप में यत्र-तत्र कतिपय वर्णन उपलब्ध हैं। इन वर्णनों के आधार पर दण्डनीति की उत्पत्ति अति प्राचीन ज्ञात होती है। पुराणेतिहाससम्बन्धी ग्रन्थ धर्मशास्त्र अर्थशास्त्र नीतिशास्त्र आदि में यत्र-तत्र दण्डनीति की उत्पत्ति पर प्रकाश डाला गया है। इस विषय के कतिपय प्रसंगों का उल्लेख नीचे किया जा रहा है।

महाभारत के अनुसार दण्डनीति की उत्पत्ति

इस ओर ऊपर संकेत किया जा चुका है कि प्राचीन भारत में मनुष्य के सर्वांग विकास के निमित्त चार विद्याओं की उत्पत्ति हुई थी। महाभारत में भी इस मत का प्रतिपादन किया गया है। उसमें भी इन विद्याओं को आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता

और दण्डनीति के नाम से ही सम्बोधित किया गया है। महाभारत के अनुसार इन चारों विद्याओं का जन्म एक साथ ही हुआ है। इस विषय से सम्बन्धित जो वर्णन महाभारत के शान्तिपर्व में है उसके अनुसार सृष्टि के आदि काल में मनुष्य सुख और शान्तिमय जीवन व्यतीत करता था। उस समय मनुष्य में आसुरी वृत्तियां सुप्तावस्था में थी[1]। कुछ काल व्यतीत हो जाने पर वे जाग्रत हो गयीं। मनुष्य का सुख और शान्तिमय जीवन पारस्परिक कलह एवं आतंकमय हो गया। मनुष्य समाज में मात्स्यन्याय की स्थापना हुई। मनुष्य त्राहि-त्राहि करने लगा। इस अनायास आये हुए कलह एवं आतंकमय अराजक जीवन से मुक्त होने के लिए उसने जगत् स्रष्टा भगवान् ब्रह्मा की शरण ली। ब्रह्मा ने एक लाख अध्याययुक्त सूत्राकार ग्रन्थ की रचना की[2]। लोक-कल्याण के निमित्त इस विशालकाय ग्रन्थ की रचना कर उन्होंने आदेश दिया कि मनुष्य इस ग्रन्थ में वर्णित सिद्धान्तों एवं नियमों के अनुसार अपने आचरण बनायें जिससे वे अपने पूर्व सुख और शान्तिमय जीवन में पुनः प्रवेश कर सकेंगे और पारस्परिक कलह एवं आतंकमय अराजक जीवन से मुक्त हो जायेंगे। यह विशालकाय ग्रन्थ दण्डनीतिप्रधान था। इस जगत् का नियमन एवं उस पर सुशासन दण्ड द्वारा ही होता है अथवा संसार का सुचारु रूप से संचालन दण्ड के ही अधीन है इसलिए यह ग्रन्थ दण्डनीतिशास्त्र के नाम से जगत् में प्रसिद्ध हुआ[3]। समस्त षाड्गुण्यनीति का सारभूत यह शास्त्र महात्माओं के समक्ष सदैव प्रस्तुत रहेगा। मनुष्य के चार पुरुषार्थ धर्म अर्थ काम और मोक्ष इसी शास्त्र में वर्णित हैं।

इस प्रकार महाभारत के अनुसार, भारत में दण्डनीति की उत्पत्ति सृष्टि-रचना के कुछ काल व्यतीत हो जाने पर हुई।

धर्मशास्त्रों में दण्डनीति की उत्पत्ति

धर्मशास्त्र का उद्देश्य मनुष्य के विविध धर्मों की व्याख्या कर मनुष्यमात्र को इस लोक और परलोक दोनों में सुख और शान्ति का पथप्रदर्शन कराना है। परन्तु धर्मशास्त्र में वर्णित इस उद्देश्य की प्राप्ति में सबसे बड़ी बाधा मानवीय प्रकृति (Human nature) बतलायी गयी है। मनुष्य पर कभी कुर-वृत्तियाँ

१ श्लोक १४ १५ अ ५९ शान्तिपर्व महाभारत।
२ श्लोक २९ अ ५९ शान्तिपर्व महाभारत।
३ श्लोक ७८ अ ५९ शान्तिपर्व महाभारत।
४ श्लोक ७९ अ ५९ शान्तिपर्व महाभारत।

और कभी असुर-वृत्तियों का विशेष प्रभाव पड़ता है। जिस समय मनुष्य में असुर वृत्तियाँ प्रबल होती हैं उस समय वह धर्मच्युत होने लगता है और स्वार्थवश दूसरों के अधिकार-क्षेत्र पर आक्रमण करना प्रारम्भ कर देता है। इस प्रकार समाज में मात्स्य न्याय का जन्म होता है। मनुष्य को उसके इस पतन से रोकने के लिए दण्ड का विधान किया जाता है। दण्ड मनुष्य में आसुरी वृत्तियों का दमन कर उसे सुपथ पर चलने के लिए बाध्य करता है। परन्तु दण्ड का सम्यक् प्रयोग होना चाहिए, जिससे अपराधी को उसके अपराध के अनुसार ही दण्ड भोगना पड़े। इसलिए दण्ड के सम्यक् प्रयोग के निमित्त शासनार्थ दण्डशास्त्र अथवा दण्डनीति की आवश्यकता हुई। इस प्रकार दण्डविधान का पूर्ण ज्ञान जिस शास्त्र के द्वारा होता है वह शास्त्र दण्डनीति के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यह यही दण्डनीति की उत्पत्ति है।

धर्मशास्त्रों में दण्डनीति का यही स्वरूप दिया गया है। मनु ने अपने मानवधर्म शास्त्र में स्पष्ट बतलाया है कि प्राणिमात्र का कल्याण स्वधर्मपालन में है। परन्तु स्वधर्मपालन में मनु ने यह कठिनाई अनुभव की कि मनुष्य-समाज ऐसे प्राणियों से बना है जिनमें स्वधर्मपरायणता दुर्लभ है[1]। इसलिए इन अशुचि अधर्मपरायण प्राणियों को स्वधर्म-पालन के निमित्त बाध्य करने के लिए उन्हें दण्डित करना परमावश्यक है। इसी उद्देश्य की प्राप्ति हेतु उन्होंने दण्ड विधान की व्यवस्था दी है। मनु के मतानुसार दण्ड का सर्जन ईश्वर ने स्वयं किया[2]। परन्तु प्राणि मात्र के रक्षक इस दण्ड का सम्यक् प्रयोग ही उनका कल्याण कर सकेगा। मनु ने इस विषय में व्यवस्था दी है—असम्यक् प्रयुक्त दण्ड प्राणिमात्र का नाश करता है। इसीलिए दण्ड के सम्यक् प्रयोग का निरूपण कर दण्डनीति का निर्माण किया गया। इस प्रकार मनु के मतानुसार धर्म और दण्ड दोनों की उत्पत्ति साथ-साथ हुई है। दण्ड का उद्देश्य धर्मसंस्थापन एवं धर्मरक्षा है।

नारद-स्मृति में मनु को ही धर्मशास्त्र का आदि प्रणेता बतलाया गया है। इस दृष्टि से इस धर्मशास्त्र के साथ ही दण्डनीति का भी निर्माण माना जाना चाहिए। अन्य धर्मशास्त्रों में भी इसी सिद्धान्त की पुष्टि की गयी है।

अर्थशास्त्र में दण्डनीति की उत्पत्ति

मौर्यकाल के पूर्व अर्थशास्त्रसाहित्य की रचना प्रारम्भ हो चुकी थी। अर्थ-शास्त्र पर अनेक ग्रन्थों का निर्माण कौटिल्य के जीवन-काल तक हो चुका था इस

१ श्लोक २२ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र। २ श्लोक १४ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र।
३ श्लोक १९ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र। ४ वर्ग ४ अ० ४ आदि १ अर्थशा।

तथ्य की पुष्टि कौटिल्य-प्रणीत अर्थशास्त्र में की गयी है। परन्तु अर्थशास्त्रसम्बन्धी इन ग्रन्थों में आज एक भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। सम्पूर्ण अर्थशास्त्र-साहित्य में आचार्य कौटिल्य-प्रणीत अर्थशास्त्र के अतिरिक्त इस साहित्य की एक भी प्रमाणित पोथी अभी प्राप्त नहीं हुई है। बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र जो बृहस्पतिप्रणीत कहा जाता है सन्देहजनक है। ऐसी परिस्थिति में आचार्य कौटिल्य के अर्थशास्त्र में चार विद्याएँ बतलायी गयी हैं। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है ये चार विद्याएँ आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता और दण्डनीति हैं। वह यह भी मानते हैं कि आन्वीक्षिकी त्रयी और वार्ता—इन तीनों विद्याओं का सुचारु सञ्चालन दण्ड के ही आश्रित है। दण्ड के सम्यक् प्रयोग की नीति को दण्डनीति की संज्ञा दी गयी है[1] कौटिल्य ने इन चार विद्याओं में दण्डनीति को विशेष महत्त्व दिया है। उनका मत है कि दण्डनीति ही अप्राप्त अर्थ को प्राप्त करानेवाली प्राप्त अर्थ की रक्षा करनेवाली रक्षित अर्थ की वृद्धि करनेवाली और इस प्रकार वृद्धिप्राप्त अर्थ को गुरु एवं पूज्यों की सेवा करने के लिए व्यय करने में समर्थ होती है। समस्त लोकयात्रा इस दण्ड-नीति के ही अधीन मानी गयी है[2]।

इस प्रकार आचार्य कौटिल्य प्रणीत अर्थशास्त्र के अनुसार दण्डनीति का जन्म उसी समय हुआ जब कि अन्य तीन विद्याओं की उत्पत्ति की कल्पना मनुष्य द्वारा की गयी थी।

नीतिशास्त्र में दण्डनीति की उत्पत्ति

नीतिशास्त्र-साहित्य में शुक्रनीति प्रतिनिधि ग्रन्थ है। इसलिए शुक्रनीति में दण्डनीति की उत्पत्ति की जो रूप-रेखा खींची गयी है उसी को नीतिशास्त्र-साहित्य के अनुसार दण्डनीति की उत्पत्ति मान लेने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए। यह प्रसिद्ध है कि शुक्र संसार के कल्याणहेतु केवल एक ही विद्या में आस्था रखते थे। उनके मतानुसार दण्डनीतिमात्र ही विद्या है। आचार्य कौटिल्य ने स्वप्रणीत अर्थशास्त्र में स्पष्ट किया है कि शुक्र के मतानुयायी दण्डनीतिमात्र को ही विद्या मानते हैं[3]। शुक्रनीति में दण्डनीति को नीतिशास्त्र के नाम से सम्बोधित किया गया है। इस ग्रन्थ के अनुसार शुक्र को इस नीतिशास्त्र का उपदेश स्वयं भगवान् ब्रह्मा ने दिया था[4]। भगवान् ब्रह्मा द्वारा प्राप्त नीतिशास्त्र का सार ब्रह्मर्षि शुक्राचार्य ने विद्वान्

१ वार्ता ७ अ ४ अधि १ अर्थशा । २ वार्ता ५ अ ४ अधि १ अर्थशा ।
३ वार्ता ७ अ ४ अधि १ अर्थशा । ४ श्लोक ३ अ १ शुक्रनीति ।
५ वार्ता ६ अ २ अधि १ अर्थशा ।

ऋषियों को दिया[1]। उस समय इस नीतिशास्त्र के श्लोकों की संख्या एक करोड़ थी[2]। इस नीतिशास्त्र को वशिष्ठ आदि ऋषियों ने मनुष्य की अल्पायु देखकर संक्षिप्त किया। शुक्रनीति के अनुसार इस नीति का अभ्यास करने से लोक-शासन की सुव्यवस्था हो सकेगी। यह नीतिशास्त्र धर्म अर्थ और काम की सिद्धि का मूल कारण है। इसके अध्ययन से अन्त में मोक्षप्राप्ति भी सम्भव है।

इस प्रकार शुक्रनीति में भी दण्डनीति की उत्पत्ति आदिकाल में हुई—ऐसा बतलाया गया है। इस नीति के आदिप्रणेता ब्रह्मा माने गये हैं। शुक्रनीति के अनुसार भी दण्डनीतिशास्त्र विशालकाय ग्रन्थ था जिसको आवश्यकतानुसार समय समय पर संक्षिप्त किया गया है।

दण्डनीति का स्वरूप

प्राचीन भारत में राज्य की उत्पत्ति का एकमात्र उद्देश्य धर्म-संस्थापन बतलाया गया है। इस धरती-तल पर प्रत्येक प्राणी स्वधर्मपालन सम्यक् प्रकार करता रहे, जगत् में धर्मसंकरता उत्पन्न न होने पावे—बस यही राज्य का एकमात्र कर्तव्य बतलाया गया है। इसलिए प्राचीन भारतीय राजशास्त्र धर्म के अधीन माना गया है। प्राचीन भारत में राजशास्त्र के अन्तर्गत उसकी समस्त क्रिया धर्म से ओत-प्रोत थी। इस दृष्टि से प्राचीन राजशास्त्र धर्मानुप्राणित है। धर्मविरहित राजशास्त्र उस युग में निन्दित समझा जाता था। यही कारण है कि प्राचीन भारत में राजशास्त्र को धर्मशास्त्र के अन्तर्गत स्थान दिया गया है। धर्म से पृथक् रहकर राजशास्त्र का अस्तित्व नहीं रहता।

आधुनिक युग में राजशास्त्र को धर्म से नितान्त पृथक् रखा गया है। राजशास्त्र को धर्म के प्रभाव से अछूता रखने में ही मनुष्य का कल्याण माना गया है। धर्माचार्यों के प्रभाव से राजशास्त्र में दोष उत्पन्न हो जाते हैं और उसका शुद्ध स्वरूप रहने नहीं पाता। उसका स्वतन्त्र विकास तथा लोककल्याणमय स्वरूप अवरुद्ध एवं नष्ट हो जाता है—आधुनिक युग में ऐसा लोकमत है। इस प्रकार आधुनिक राजशास्त्र और प्राचीन भारतीय राजशास्त्र के स्वरूप में बहुत अन्तर दिखलाई पड़ता है।

परन्तु प्राचीन भारतीय राजशास्त्र जिस धर्म में ओत-प्रोत माना गया है और जिसकी संस्थापना-हेतु उसके अस्तित्व की आवश्यकता बतलायी गयी है उस धर्म और आधुनिक युग के धर्माचार्योंद्वारा प्रतिपादित धर्म के मूल तत्त्वों में बहुत अन्तर

१ श्लोक ६, अ० १ शुक्रनीति। २ श्लोक ९, अ० १, शुक्रनीति।

है। प्राचीन भारत का यह धर्म किसी एक देश जाति अथवा समुदायमात्र तक ही सीमित नहीं है। इसका क्षेत्र विश्वव्यापी है। इस धर्म को विश्वधर्म अथवा मानवधर्म कहना ही उचित होगा। इसीलिए मानव-धर्मशास्त्र में इस धर्म की व्याख्या विश्वधर्म अथवा मानवधर्म के रूप में की गयी है। धर्म शब्द की प्राप्ति "धृ' धातु से होती है जिसका अर्थ "धारण करना है। इसलिए धर्म से तात्पर्य उस गुण अथवा तत्त्व से है जिसके आधार पर प्राणि अथवा अप्राणिजगत् अपने वास्तविक स्वरूप को धारण करने में समर्थ हो सके और धर्म का आश्रय लेकर अपने पूर्ण विकास तक पहुँच सके। उष्णता और प्रकाश अग्नि को धारण करते हैं। ये दोनों अग्नि के गुण अथवा धर्म हैं। यदि अग्नि के इन धर्मों को उससे पृथक् कर लिया जाय तो उसका अस्तित्व मिट जायगा। इसलिए अग्नि को अपना वास्तविक स्वरूप धारण करने के लिए, उसमें इन धर्मों का होना अनिवार्य है। इसी दृष्टि से प्राणिमात्र के जीवन का ध्येय स्वधर्म-पालन है। यदि ऐसा न हो तो संसार में अस्तव्यस्तता एवं अव्यवस्था हो जायगी। इसलिए प्राणिमात्र का परम कर्तव्य है कि स्वधर्म-पालनद्वारा समाज में सुव्यवस्था स्थापित रखे। उसको धर्म-संकरता से सर्वदा दूर रहना चाहिए। इसी विश्व-धर्म अथवा मानवधर्म की व्याख्या-हेतु एवं प्राणिमात्र को उनके विविध धर्मों का बोध कराने के लिए धर्मशास्त्र का निर्माण हुआ। इस धर्मशास्त्र द्वारा वर्णित विविध धर्मों के पालनहेतु मनुष्य को किन धर्मों के किन नियमों के द्वारा बाध्य किया जा सकता है इस विषय का सम्यक् ज्ञान देना राजशास्त्र का कार्य है। प्राचीन भारतीय राजशास्त्र में उन नियमों साधनों एवं उपायों का वर्णन किया गया है जिनके द्वारा प्राणिमात्र के विविध धर्मों को सुविचारपूर्ण क्रियात्मक रूप दिया जा सके। इस दृष्टि से प्राचीन भारतीय राजशास्त्र धर्मशास्त्र के अन्तर्गत होते हुए भी अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है और जगत् में धर्म की संस्थापनाहेतु योजना प्रस्तुत करता है एवं उस योजना को कार्यान्वित करने के साधन तथा उपायों का विधिवत् वर्णन भी करता है।

उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि प्राचीन भारत में राजशास्त्र का प्रमुख स्थान था और उसके बिना जगत् का सम्यक् एवं सुव्यवस्थित रूप में स्थिर रहना असम्भव था।

इसके अतिरिक्त प्राचीन भारतीय राजशास्त्र का एक और विशेष लक्षण उसका दण्डनीति के रूप में होना है। धर्म-संस्थापन-योजना का कार्यान्वित होना दण्ड के आश्रित माना गया है। धर्म-च्युत मनुष्य दण्ड-भय के द्वारा धर्म-पथ पर लाया जा सकता है। कुछ प्राणी ऐसे भी होते हैं जो स्वयं विमल बुद्धि-बलद्वारा धर्म और

अधर्म के स्वरूप को समझ कर अधर्म से बचते हुए धर्माचरण कर सकते रहते हैं। परन्तु मनुष्य हर समय शुचि ही बना रहे यह सम्भव नहीं। उसके जीवन में ऐसे अवसर आ जाते हैं जब आसुरी वृत्तियाँ उस पर अपना आधिपत्य जमा लेती हैं। ऐसा होने पर वह धर्म-पथ से भ्रष्ट होने लगता है। परन्तु कुछ समय में उसके उसमें दैवी वृत्तियाँ जाग्रत होने लगती हैं। ऐसी परिस्थिति में पहुँच कर वह अपने को धर्म भ्रष्ट देखकर पश्चात्ताप करने लगता है। वह अपने इस धर्म-भ्रष्ट कर्म की भर्त्सना करता है और प्रायश्चित्त का आश्रय लेकर स्वयं पवित्र होता है। यों देखें तो शुचि स्वभाव प्राणियों के लिए भी दण्ड का आश्रय आवश्यक हो जाता है। यद्यपि सामान्य दण्ड की अपेक्षा इस दण्ड का स्वरूप भिन्न दिखाई पड़ता है, परन्तु साधारण प्राणी तो दण्ड के भय के कारण ही धर्म-पथ पर आरूढ़ होते हैं। अतः प्राणिमात्र के निमित्त स्वधर्म-पालन-योजना के सुसम्पादनहेतु दण्ड परमावश्यक है। परन्तु दण्ड का अनुचित प्रयोग इस योजना के लिए बाधक बतलाया गया है। धर्म का सम्यक् प्रयोग ही प्राणियों के लिए हितकर है। अतः सम्यक् दण्ड प्रदान करने के नियमों का होना भी परमावश्यक है। इसीलिए प्राचीन भारतीय राजशास्त्र प्राणिमात्र के निमित्त दण्ड प्रदान करने की नीति का पूर्ण वर्णन करता है। इस दृष्टि से राजशास्त्र को दण्डनीति के नाम से सम्बोधित किया गया और इसी रूप में उसे उस युग की जनता के समक्ष प्रस्तुत किया गया है।

इस प्रकार प्राचीन भारतीय राजशास्त्र दण्डनीति है, जिसका आधार धर्म है। यह धर्म संकीर्ण नहीं है वरन् मानवधर्म अथवा विश्वधर्म है। आधुनिक राजशास्त्र राज्य के विषय का पूर्ण ज्ञान देता है और उसका एकमात्र उद्देश्य राज्य के प्राणियों के निमित्त ऐहिक सुख प्रदान करना है। उसका सम्बन्ध प्राणियों के पारलौकिक जीवन से लेशमात्र भी नहीं है। परन्तु प्राचीन भारतीय राजशास्त्र प्रधानतः दण्ड एवं दण्ड के विविध स्वरूप उसके अंग-प्रत्यंग आदि का पूर्ण वर्णन देता और उसके सम्यक् प्रयोग की योजना का विधिवत् वर्णन करता है। इस प्रकार प्राचीन भारतीय राजशास्त्र का क्षेत्र प्राणियों के ऐहिक सुख तक ही सीमित नहीं रहता अपितु उसका ध्येय ऐहिक और पारलौकिक दोनों प्रकार के सुख एवं आनन्द को सुलभ बनाना है जिससे प्राणी स्वधर्म-पालन कर इस लोक में सुख भोग करता हुआ मरने के उपरान्त परमानन्द या मोक्ष को प्राप्त कर सकने में भी समर्थ हो सके।

प्राचीन भारतीय राजशास्त्र का एक और विशेष लक्षण यह है कि वह प्रधानतः राजधर्म है। राज्य का वर्णन राजा के ही वर्णन के अन्तर्गत माना गया है। इसीलिए प्राचीन भारतीय राजशास्त्र राजा के विविध धर्मों के वर्णन का पूर्ण चित्र है।

राजा के इन धर्मों की व्याख्या एवं उनका शास्त्रीय अध्ययन इस राजशास्त्र का ध्येय है। यही कारण है कि प्राचीन भारत में राजा को राज्य की योनि एवं केन्द्र स्थान माना गया है[1]। वैदिक विचारधारा के अनुसार राजा राज्य के सम्पूर्ण क्रिया-कलाप के सञ्चालन का हेतु है। वह राज्य का प्राण एवं आत्मा है[2]। इस प्रकार राजा के विविध धर्मों की व्याख्या एवं उनका शास्त्रीय अध्ययन जिस शास्त्र में होता है वही राजशास्त्र है।

आधुनिक युग में राजशास्त्र राज्य का पूर्ण परिचय देता है। इस शास्त्र में राज्य के अंग-प्रत्यंग का पूर्ण अध्ययन होता है। उसका क्षेत्र राजा के विविध धर्मों तक ही सीमित नहीं रहता। इस दृष्टि से प्राचीन भारतीय राजशास्त्र और आधुनिक राजशास्त्र के स्वरूप में विशेष अन्तर है। प्राचीन भारतीय राजशास्त्र धर्म प्रधान अथवा धर्म से विशेष प्रभावित है। वह प्रधानतः दण्ड की नीति का वर्णन करता और राजा के विविध धर्मों की व्याख्या करता है। उसका स्वरूप दण्डनीति एवं राजधर्म है। उसका उद्देश्य प्राणिमात्र के लिए इस लोक में सुख एवं शान्ति और परलोक में आनन्द प्रदान करने की सम्यक् व्यवस्था करना और उसे प्राणियों से कार्यान्वित कराने के लिए सतत प्रयत्न करना है। इस दृष्टि से आधुनिक राजशास्त्र और प्राचीन भारतीय राजशास्त्र के स्वरूप, ध्येय और कार्य-क्षेत्र में बड़ा अन्तर है।

प्राचीन भारतीय राजशास्त्र की प्रमुख विचारधाराएँ

वैदिक साहित्य का अध्ययन करने से यह स्पष्ट ज्ञात नहीं होता कि उस युग में राजशास्त्र विभिन्न विचारधाराओं में विभक्त हो गया था। इतना अवश्य है कि संहिताओं की कतिपय ऋचाओं में राजशास्त्रसम्बन्धी विविध विचार पाये जाते हैं। ये ऋचाएं अनेक ऋषियों के नाम से पृथक्-पृथक् हैं। कहीं-कहीं एक ही विषय पर पृथक्-पृथक् ऋचाओं में भिन्न विचार पाये जाते हैं। इससे निष्कर्ष निकलता है कि राजशास्त्रसम्बन्धी कतिपय समस्याओं के समाधानहेतु इस युग के कतिपय ऋषियों में भिन्न विचार थे। परन्तु इतने मात्र से निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि इन विभिन्न विचारों ने राजशास्त्रसम्बन्धी विविध विचारधाराओं का रूप धारण कर लिया था।

प्राचीन भारतीय राजशास्त्र वैदिक युग के बहुत पश्चात् विविध विचारधाराओं में विभक्त हुआ है। यह वह समय है जब कि भारतीय राजशास्त्र का समुचित विकास हो चुका था। यह वह समय है जब कि गौतम बुद्ध भारत की पावन भूमि

१ मंत्र १ अ० ९ शुक्ल यजुर्वेद। २ मंत्र १ अ० ३ शुक्ल यजुर्वेद।

पर अवतरित हुए। सम्भवतः इससे भी पूर्व इस कार्य का विधिवत् प्रारम्भ हुआ होगा। आचार्य कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में राजशास्त्र की मुख्य तीन विचार धाराओं की ओर संकेत किया है। इन विचारधाराओं के प्रवर्तक क्रमशः मनु, बृहस्पति और उशना बतलाये गये हैं। राजशास्त्र की इन विचारधाराओं में मूलतः क्या अन्तर था इसे भी उन्होंने संकेत रूप में व्यक्त किया है। उनका कहना है कि मनु द्वारा प्रवर्तित विचारधारा के अनुयायी त्रयी वार्ता, और दण्डनीति—इन तीन विद्याओं को ही विद्या की संज्ञा देते हैं। उनके मतानुसार, त्रयी विद्या के अन्तर्गत ही आन्वीक्षिकी विद्या है[1]। बृहस्पति के मतानुयायियों के अनुसार वार्ता और दण्ड नीति दो ही विद्याएं हैं[2]। वह आन्वीक्षिकी और त्रयी को पृथक् विद्याएं नहीं मानते। परन्तु उशना के मतानुयायी दण्डनीतिमात्र को ही विद्या मानते हैं। उनके अनुसार सम्पूर्ण विद्याओं का आरम्भ दण्डनीति पर ही अवलम्बित है[3]। आचार्य कौटिल्य के इस कथन से यह ज्ञात होता है कि मौर्यकाल के पूर्व राजशास्त्र-सम्बन्धी ये तीन विचारधाराएं अपना पृथक्-पृथक् स्वरूप धारण कर चुकी थीं और आचार्य कौटिल्य के समय में ये विचारधाराएं प्रचलित थीं। इन विचारधाराओं के विशेष प्रवर्तकों का उल्लेख नीचे किया जायगा।

धर्मप्रधान विचार-धारा—धर्मशास्त्रसम्बन्धी संस्कृत-साहित्य इस तथ्य की पुष्टि करता है कि मनु धर्मशास्त्र के आदि प्रणेता हुए हैं। मानवधर्मशास्त्र में इस विषय का स्पष्ट उल्लेख है कि धर्मशास्त्र-सम्बन्धी सम्पूर्ण ज्ञान मनुष्य के कल्याणार्थ सर्वप्रथम ब्रह्मा से मनु ने प्राप्त किया था। मानवधर्मशास्त्र में मनु स्वयं कहते हैं —"ब्रह्मा ने धर्मशास्त्र की रचना कर यह धर्मशास्त्र मुझे दिया। इसके उपरान्त मैंने यह धर्मशास्त्र मरीचि आदि ऋषियों को दिया। फिर मनु के शिष्य भृगु ने इस धर्मशास्त्र का ज्ञान अन्य ऋषि-मुनियों को दिया। नारद-स्मृति में भी मनु को ही धर्मशास्त्र का आदिप्रणेता बतलाया गया है। नारद भगवान उसी कथा को जो कि इस विषय में मानवधर्मशास्त्र में है, कुछ अधिक विस्तार से कहते हैं। वह लिखते हैं कि मनुष्यजाति के कल्याणार्थ स्वयम्भू भगवान् मनु ने उनपर अनुग्रह कर, इस लोक में उनके लिए धर्मशास्त्र की रचना की। वात्स्यायन अपने कामसूत्र में इसी विषय की पुष्टि करते हुए लिखते हैं —"प्रजापति ने सृष्टि-रचना के उपरान्त

१ वार्ता २ अ. २ अधि. १ अर्थशा. । २ वार्ता ३ अ. २ अधि. १ अर्थशा. ।
३ वार्ता ४ अ. २ अधि. १ अर्थशा. । ४ वार्ता ६ अ. ५ अधि. १ अर्थशा. ।
५ वार्ता ७ अ. २ अधि. १ अर्थशा. । ६ श्लोक १५ अ. १ अधि. १ अर्थशा. ।

सृष्टि की स्थिति एवं त्रिवर्ग की स्थापनाहेतु एक लाख अध्याययुक्त एक विशालकाय ग्रन्थ की रचना की। इसी विशालकाय ग्रन्थ से स्वयम्भू मनु ने धर्मशास्त्र बृहस्पतिने अर्थशास्त्र और महादेव के अनुचर नन्दी ने सहस्र अध्याययुक्त कामसूत्र पृथक किया।"

उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर यह स्पष्ट है कि मनु धर्मशास्त्र के आदि प्रणेता हैं। उन्होंने धर्म को ही प्रधानता दी है और धर्म के अधीन ही राजधर्म अथवा राजशास्त्र को स्थान दिया है। मनु के इस सिद्धान्त को लगभग सभी स्मृतिकारों ने अपनाया है। इस प्रकार मनु द्वारा राजशास्त्रसम्बन्धी जिन सिद्धान्तों की स्थापना की गयी है और जिनका प्रतिपादन अन्य स्मृतिकारों ने भी किया है वे राजशास्त्र सम्बन्धी एक विशेष विचारधारा के अन्तर्गत आते हैं। यह वही विचारधारा है जिसका उल्लेख आचार्य कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में किया है[1]। इस विचारधारा के अनुयायियों ने धर्म को सर्वप्रधान स्थान दिया है। इनके मतानुसार धर्म ही प्रधान विषय है। इसी धर्म के पालन करने से प्राणिमात्र का आत्यन्तिक कल्याण सम्भव है। राजशास्त्र इसी धर्म का एक अंगमात्र है। इसीलिए राजशास्त्रसम्बन्धी इस विचारधारा को धर्मप्रधान विचारधारा कहना उचित समझा गया है।

अर्थप्रधान विचारधारा—राजशास्त्रसम्बन्धी विचारधारा की दूसरी शाखा के प्रवर्तक बृहस्पति बतलाये गये हैं। बृहस्पति अर्थशास्त्र के आदिप्रणेता माने जाते हैं। महाभारत के अनुसार बार्हस्पत्य नाम से विख्यात दण्डनीतिसम्बन्धी ग्रन्थ इन्हीं बृहस्पति की कृति थी। उनका यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। वात्स्यायन ने भी स्वप्रणीत कामसूत्र में बृहस्पति को अर्थशास्त्र का आदिप्रणेता माना है। इससे यह ज्ञात होता है कि बृहस्पति राजशास्त्र को अर्थ के अधीन ही रखना उचित समझते थे। उनके मतानुसार इस जगतीतल पर अर्थ ही प्रधान पदार्थ है। उसकी उपलब्धि पर ही अन्य पदार्थों की उपलब्धि सम्भव हो सकेगी। जनश्रुति के अनुसार भी बृहस्पति अर्थशास्त्र के आदि प्रणेता माने जाते हैं। बृहस्पति के नाम से दो ग्रन्थ भी प्रसिद्ध हैं जो बृहस्पति-स्मृति और बार्हस्पत्यसूत्रम् अथवा बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र हैं। ये दोनों उपलब्ध ग्रन्थ चाहे बृहस्पति की कृति हो अथवा न हो, परन्तु इससे यह अवश्य सिद्ध होता है कि बृहस्पति अर्थशास्त्र के प्रणेता हुए हैं जिन्होंने राजशास्त्र को अर्थ के अधीन माना है। इस विचारधारा के अनुसार संसार में अर्थ ही प्रधान पदार्थ है। इसी के अधीन राजशास्त्र भी है। राजशास्त्र की इस शाखा और मनुप्रवर्तित राजशास्त्र की शाखा में यह मौलिक अन्तर है कि एक शाखा में धर्म की प्रधानता है और दूसरी शाखा में अर्थ की प्रधानता स्वीकार की गयी है।

१ वार्ता १ अ १ कवि १ अर्थशास्त्र।

अर्थप्रधान विचारधारा के अन्तर्गत वे विचारक आते हैं जिन्होंने प्राचीन काल में अर्थशास्त्रसम्बन्धी ग्रन्थों की रचना और उनमें राजशास्त्रसम्बन्धी सिद्धान्तों की स्थापना की है। इस श्रेणी के ग्रन्थों की ओर आचार्य कौटिल्य ने भी स्वप्रणीत अर्थशास्त्र में संकेत किया है। उन्होंने इन्हीं अर्थशास्त्रसम्बन्धी ग्रन्थों से सामग्री संचित कर उसके आधार पर एक नवीन अर्थशास्त्र की रचना की थी[1]। परन्तु खेद का विषय है कि इन अर्थशास्त्रों में एक भी अर्थशास्त्र आज अपने मौलिक रूप में उपलब्ध नहीं है। ऐसी परिस्थिति में इस विचारधारा के विभिन्न सिद्धान्तों के वास्तविक स्वरूप का बोध नहीं हो सकता।

आचार्य कौटिल्य ने भी अर्थप्रधान राजशास्त्र को ही प्रधानता दी है। उनके मतानुसार संसार में अर्थ ही सब कुछ है। धर्म और काम की उपलब्धि इसी अर्थ की उपलब्धि पर आश्रित है। इस दृष्टि से कौटिल्यप्रणीत अर्थशास्त्र अर्थप्रधान राजशास्त्रसम्बन्धी विचारधारा का एकमात्र उपलब्ध ग्रन्थ है और कौटिल्य ही इस विचारधारा के प्रतिनिधि राजशास्त्र विचारक हैं। यद्यपि उन्होंने आन्वीक्षिकी, त्रयी वार्ता और दण्डनीति—इन चारों विद्याओं को मान्यता दी है परन्तु इस विचारधारा के आदि प्रवर्तक बृहस्पति ने कौटिल्यके मतानुसार, वार्ता और दण्डनीति इन दो विद्याओं को ही विद्या की श्रेणी में परिगणित किया है। इतना अन्तर होने पर भी बृहस्पति और कौटिल्य दोनों ने अर्थ को सर्वप्रधान पदार्थ माना है। दोनों ने अर्थ के आश्रित ही धर्म और काम की उपलब्धि सम्भव बतलायी है। अतः इन दोनों आचार्यों को राजशास्त्र की अर्थप्रधान विचारधारा के अन्तर्गत ही लिया जायगा।

दण्डप्रधान विचारधारा—राजशास्त्र की दण्डप्रधान विचारधारा के प्रवर्तक उशना माने गये हैं। ये वैदिक कालीन ऋषि हैं। शुक्रनीति भी इन्हीं के दूसरे नाम शुक्र से विख्यात है, बहुत बाद की कृति है। इतना होने पर भी इस विचारधारा के साहित्य के अभाव में इसी ग्रन्थ का आश्रय लेना पड़ेगा। शुक्रनीति में दण्डनीति की उत्पत्ति के विषय में एक आख्यान दिया गया है जिसका उल्लेख करना इस प्रसंग में आवश्यक है। इस आख्यान के अनुसार शुक्र ने भगवान् ब्रह्मा से सर्वप्रथम नीतिशास्त्र प्राप्त किया। इसके उपरान्त उस नीतिशास्त्र को वसिष्ठ ने शुक्र से प्राप्त किया और उन्होंने इस नीतिशास्त्र को अपने समीपी कतिपय ऋषि-मुनियों को प्रदान किया। इन ऋषि मुनियों ने यह नीतिशास्त्र लोक-कल्याणहेतु संसार को दिया। प्राणियों की आयु एवं सामर्थ्य को दृष्टि में रखते हुए, इसके संक्षेप भी होते गए और इसी क्रम से यह नीतिशास्त्र जगत् में गतिशील रहा।

१ वार्ता १ अ ७ अधि १ अर्थशास्त्र।

कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में स्पष्ट किया है कि उशना के अनुयायी दण्डनीति मात्र को ही विद्या मानते हैं। इससे स्पष्ट है कि उशना के मतानुसार इस लोक में दण्ड की ही प्रधानता है। इसके अधीन ही त्रिवर्ग की सम्यक् योजना का समन्वित होना सम्भव है। इसलिए उनके मतानुसार दण्डनीतिमात्र विद्या है। आन्वीक्षिकी, त्रयी और वार्ता ये तीनों विद्याएँ दण्डनीति के अधीन रहती हैं। दण्डनीति के सम्यक् प्रयोग से ही अन्य तीन विद्याओं की प्राप्ति सम्भव है। दण्डनीति का आश्रय लेकर ही प्राणी धर्म, अर्थ और काम की सम्यक् व्यवस्था का पालन कर अपने परम एवं चरम ध्येय अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

प्राचीन भारत में नीतिशास्त्र-प्रधान ग्रन्थों का निर्माण बहुधा राजशास्त्र की दण्ड प्रधान विचारधारा के अन्तर्गत ही समय-समय पर होता रहा है। परन्तु इस समय इस कोटि के साहित्य का प्रायः लोप हो चुका है। राजशास्त्र की इस विचारधारा से सम्बन्धित शुक्रनीति ही एक ग्रन्थ वर्तमान समय में उपलब्ध है, जो उसके भी मौलिक होने में सन्देह है। कामन्दकीय नीति कौटिल्य के अर्थशास्त्र पर ही आधारित है इस कारण वह इस विचारधारा के साहित्य में स्थान नहीं पा सकती। इसी प्रकार उपलब्ध अन्य नीति-ग्रन्थ का भी हाल है। इस विचारधारा के अनुयायियों के विषय में भी हमें कुछ ज्ञात नहीं है। ऐसी परिस्थिति में निश्चयपूर्वक केवल इतना कहा जा सकता है कि इस विचारधारा के प्रवर्तक शुक्र ही इसके प्रतिनिधि विचारक हैं।

इस प्रकार प्राचीन भारत में राजशास्त्र की मुख्य तीन विचारधाराओं के अस्तित्व का पता चलता है। सम्भव है उस युग में राजशास्त्र-सम्बन्धी कतिपय अन्य विचारधाराएँ भी रही हों। परन्तु उनके नाम एवं उनके स्वरूप के ज्ञानहेतु हमारे पास अभी एक भी साधन नहीं है। इसलिए इस विषय में मौन रहना ही उचित होगा।

प्राचीन भारतीय राजशास्त्र के प्रणेता

प्राचीन भारत में राजशास्त्र के अनेक आचार्य हुए हैं। राजनीतिक क्षेत्र में उनकी महती देन है। उसका परिचय प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि उन्हें उनके समय के अनुसार, विभिन्न श्रेणियों में स्थान देकर, उनका अध्ययन किया जाय।

वैदिककालीन राजशास्त्रप्रणेता—वेद संकलित ग्रन्थ हैं। अनेक ऋषियों के नाम से विख्यात सूक्तक ऋचाओं का संग्रह कर वेदों का स्वरूप स्थिर किया गया। प्रत्येक ऋचा का सम्बन्ध किसी न किसी ऋषि से जोड़ा गया है। प्रायः ऋचा स्वयं पूर्ण है। इस प्रकार वेद प्रबन्ध-काव्य की श्रेणी में नहीं आते। इसलिए वेदों में किसी एक विषय का क्रमबद्ध वर्णन उस रूप में नहीं है जिस रूप में प्रबन्ध-काव्य

में पाया जाता है। एक ही विषय पर कई ऋषियों ने अपने विचार प्रकट किये हैं। परन्तु उनमें अन्तर है साथ ही कहीं-कहीं पुनरावृत्ति भी पायी जाती है। इस भाँति के साहित्य से उस युग के राजशास्त्र-प्रणेताओं एवं राजशास्त्र के क्षेत्र में उनकी पृथक्-पृथक् देन का निश्चय करना एवं तदनुसार उनकी इस देन का मूल्यांकन कर उनका स्थान निर्धारित करना अत्यन्त कठिन कार्य है। इस कार्य के सम्पादनहेतु वेदों की ऋचाओं को प्रणेता ऋषियों के क्रम से एवं विषयानुसार पृथक् कर, राजशास्त्र सम्बन्धी समस्त ऋचाओं को एकत्र करना चाहिए। इस क्रम से एकत्र की गयी राजशास्त्रसम्बन्धी समस्त ऋचाओं में प्रत्येक ऋषि के नाम की समस्त ऋचाओं को पृथक् कर उनका विश्लेषण करना चाहिए। तत्पश्चात् उनकी व्याख्या के आधार पर प्रत्येक ऋषि के नाम से विख्यात ऋचाओं में वर्णित राजशास्त्रसम्बन्धी सामग्री का चयन करना और उसको विषयानुसार सजाकर, उसका मूल्यांकन कर पृथक्-पृथक् ऋषि की राजशास्त्रसम्बन्धी देन का निश्चय करना चाहिए, और इस प्रकार वैदिककालीन राजशास्त्र-प्रणेताओं एवं उनकी देन का निर्धारण करना चाहिए। परन्तु यह साधारण कार्य नहीं है। इस कार्य के सम्पादनहेतु प्रचुर धन असीमित समय अदम्य साहस महान् धैर्य अगाध ज्ञान एवं इस प्रकार के अन्य विपुल साधनों की आवश्यकता होगी। इतना महान् कार्य एक व्यक्ति की सामर्थ्य के परे है। इसके लिए इन समस्त साधनों से सुसम्पन्न एक संस्था के निर्माण की परम आवश्यकता है जो इस महान् कार्य के सम्पादन का भार धारण कर सके। हर्ष का विषय है कि इस ओर कुछ कार्य प्रारम्भ भी हो गया है। परन्तु जबतक यह महान् कार्य पूरा नहीं हो जाता तबतक वैदिक युग के राजशास्त्र-प्रणेताओं का निश्चय करना एवं राजशास्त्र के इतिहास में उनको उचित स्थान देना सम्भव नहीं। लगभग यही बात उत्तरवैदिक काल के साहित्य पर भी चरितार्थ होती है। ऐसी परिस्थिति में वैदिक युग के राजशास्त्र-प्रणेताओं के विषय में निश्चयपूर्वक कुछ भी कहना उनके प्रति अन्याय करना होगा।

सूत्रकालीन राजशास्त्र प्रणेता—लगभग सभी इतिहासकारों का मत है कि उत्तर वैदिक काल के उपरान्त सूत्रकाल आता है। इस युग में सूत्रग्रन्थों का सर्जन विशेष रूप में हुआ। इनमें धर्मसूत्रों का सम्बन्ध राजशास्त्र से विशेष रूप में है। धर्मसूत्रों के इस साहित्य में गौतम-धर्मसूत्र प्राचीनतम माना जाता है। मानवधर्मसूत्र अप्राप्य है। अतः इसके विषय में प्रमाण कुछ भी नहीं कहा जा सकता। इस युग के धर्मसूत्रों में गौतम-धर्मसूत्र आपस्तम्ब-धर्मसूत्र बौधायन-धर्मसूत्र और वसिष्ठ-धर्मसूत्र प्रधान हैं। परन्तु इन सभी सूत्रग्रन्थों में राजशास्त्रसम्बन्धी सामग्री इतनी

अल्प एवं अस्पष्ट है कि इसके आधार पर उस युग के राजशास्त्र-प्रणेताओं का निश्चय करना एवं इस क्षेत्र में उनकी देन का मूल्यांकन करना सम्भव नहीं।

संस्कृत-व्याकरण के प्रमुख आचार्य पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी नाम की पोथी में अनेक ऋषियों एवं आचार्यों का उल्लेख किया है। इनमें कुछ ऐसे भी आचार्य एवं ऋषि हैं जो इसके पश्चात् के साहित्य में राजशास्त्र-प्रणेता बतलाये गये हैं। परन्तु इनके नामों के अतिरिक्त और कुछ भी ऐसी सामग्री इन ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं है जिसके आधार पर इनके विषय में कुछ लिखा जा सके। इस विषय में कहा जा सकता है कि उक्त युग में कतिपय राजशास्त्र-प्रणेता हुए अवश्य हैं परन्तु उन्होंने इस क्षेत्र में किस प्रकार और किस मात्रा में सहयोग दिया यह ज्ञात नहीं है।

प्राक्मौर्यकाल के राजशास्त्र-प्रणेता—यह निर्विवाद है कि वाल्मीकीय रामायण व्यास-प्रणीत महाभारत और मनु-प्रणीत मानवधर्मशास्त्र की विषयवस्तु का कुछ अंश मौर्यकाल के पूर्व का है यद्यपि इन ग्रन्थों का संकलन-काल बहुत पीछे का है। इनका जो स्वरूप आज हमारे समक्ष विद्यमान है वह मौर्यकाल के बहुत पीछे स्थिर किया गया जान पड़ता है। यद्यपि ये ग्रन्थ राजशास्त्रप्रधान नहीं हैं तथापि यह मानना ही होगा कि इनमें मौर्यकाल के पूर्व की जो कुछ भी राजनीतिक सामग्री उपलब्ध है उसके आधार पर वाल्मीकि व्यास एवं मनु को राजशास्त्र के प्रणेताओं में स्थान देना अनुचित न होगा। महाभारत में भीष्म को प्रमुख राजशास्त्र प्रणेता माना गया है। अतः उनको भी मौर्यकाल के पूर्व के राजशास्त्र प्रणेताओं में स्थान देना उचित ही है।

मौर्यकाल के प्रमुख राजशास्त्र प्रणेता कौटिल्य के स्वप्रणीत अर्थशास्त्र में कतिपय उन आचार्यों के नाम दिये गये हैं जो कौटिल्य के पूर्व हुए हैं। इन आचार्यों के मत भी, किन्हीं विषयों में आचार्य कौटिल्य ने इस अर्थशास्त्र में यत्र-तत्र उद्धृत किये हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि ये सभी आचार्य मौर्यकाल के पूर्व हुए हैं। उन्होंने राजशास्त्र-विषय पर चिन्तन किया है और इस चिन्तन के आधार पर अपने विचार जनता के समक्ष रखे हैं। इस दृष्टि से मौर्य काल के राजशास्त्रप्रणेताओं में उनको भी स्थान मिल गया। कौटिल्य के अनुसार उन प्रणेताओं में मनु बृहस्पति और उशना मुख्य हैं। कौटिल्य ने उन्हें राजशास्त्रसम्बन्धी प्रमुख विचारधाराओं के पृथक्-पृथक् प्रवर्तक बतलाया है। इनके अतिरिक्त राजशास्त्र के अन्य प्रणेताओं का भी उल्लेख है राजशास्त्र के ये प्रणेता भरद्वाज विशालाक्ष पराशर पिशुन कौण पदन्त वातव्याधि अम्भ बाहुदन्तीपुत्र आदि हैं। यों हम देख सकते हैं कि मौर्यकाल के पूर्व भारत में अनेक राजशास्त्र प्रणेता हुए हैं।

इसके अतिरिक्त महाभारत के शान्तिपर्व में दण्डनीति के उन प्रणेताओं की भी सूची दी गयी है जो कि पुरातन काल के कहे जाते हैं। इस सूची के अनुसार राजशास्त्र के आदि प्रणेता जगत्-स्रष्टा स्वयम्भू भगवान् ब्रह्मा हैं। उन्होंने सर्वप्रथम एक लाख अध्याययुक्त दण्डनीतिप्रधान एक विशालकाय ग्रन्थ की रचना अपनी बुद्धि से लोककल्याण के निमित्त की। ब्रह्माप्रणीत इस दण्डनीतिशास्त्र को उमापति शिव ने प्राप्त किया। मनुष्यों की आयु अल्प है, ऐसा देखकर उन्होंने इस विशालकाय ग्रन्थ को संक्षिप्त किया। यह संक्षिप्त ग्रन्थ वैशालाक्ष नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस संक्षिप्त ग्रन्थ को उमापति शिव से इन्द्र ने ग्रहण किया। इन्द्र ने भी दस हजार अध्याययुक्त इस ग्रन्थ को पांच हजार अध्याययुक्त ग्रन्थ में संक्षिप्त किया। इस प्रकार संक्षिप्त किया हुआ ग्रन्थ बाहुदन्तक नाम से प्रसिद्ध हुआ। तदुपरान्त बाहुदन्तक नाम के इस ग्रन्थ को बृहस्पति ने संक्षिप्त कर तीन हजार अध्याययुक्त ग्रन्थ में परिणत किया जो बार्हस्पत्य नाम से विख्यात हुआ। इसके उपरान्त बुद्धिमान् योगाचार्य महातपस्वी शुक्राचार्य ने इस बार्हस्पत्य ग्रन्थ को संक्षिप्त कर एक हजार अध्याययुक्त ग्रन्थ में परिणत किया। तत्पश्चात् मनुष्यों की आयु एवं सामर्थ्य को ध्यान में रखते हुए समय-समय पर महर्षिगण इस दण्डनीति ग्रन्थ को संक्षिप्त करते आये।

महाभारत के इस आख्यान के अन्तस्तल में चाहे जो रहस्य छिपा हो परन्तु इतना स्पष्ट है कि ब्रह्मा उमापति शिव इन्द्र बृहस्पति शुक्राचार्य एवं अन्य कतिपय ऋषि-मुनि प्राक्मौर्यकाल में राजशास्त्र-प्रणेता हुए हैं।

मौर्य-युग के उत्तर काल से गुप्त-युग के आरम्भ होने के समय तक के राजशास्त्र-प्रणेता—लोकप्रसिद्ध है कि मौर्य-युग में राजशास्त्र के प्रमुख प्रणेता कौटिल्य हुए हैं, जिन्हें चाणक्य अथवा विष्णुगुप्त नामों से भी सम्बोधित किया गया है। प्रस्तुत अर्थशास्त्र की पोथी चाहे अपने मौलिक रूप में हो अथवा न हो, परन्तु इस विषय में दो मत नहीं हैं कि इन्होंने मौर्य-वंश के प्रथम सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के पथ-प्रदर्शन हेतु अपने समय में उपलब्ध अर्थशास्त्रसम्बन्धी साहित्य का अध्ययन कर अर्थशास्त्र विषय पर एक नवीन पोथी की रचना की थी इस पोथी के अनुसार ही चन्द्रगुप्त मौर्य ने अपने राज्य में शासन-व्यवस्था के संचालनहेतु प्रयास किया था। अपने इस उद्देश्य में चन्द्रगुप्त मौर्य किस मात्रा में सफल हुए, इस विषय पर प्रकाश डालना, इस प्रसंग में व्यर्थ ही होगा। परन्तु यह निर्विवाद है कि कौटिल्य द्वारा किये गये पथ प्रदर्शन का अनुसरण कर चन्द्रगुप्त मौर्य ने नन्दवंश का नाश किया और भारत में मौर्यों के विशाल साम्राज्य की स्थापना की। इतिहास में कहीं भी ऐसा उल्लेख

नहीं मिलता कि मौर्य-काल में कौटिल्य के अतिरिक्त अन्य कोई उल्लेखनीय राजशास्त्र प्रणेता हुआ। इसलिए उस युग में राजशास्त्र के एकमात्र प्रणेता कौटिल्य ही माने जायेंगे। इस विषय में दो मत नहीं हो सकते। कौटिल्य-प्रणीत अर्थशास्त्र राजशास्त्र के साहित्य में आज भी अद्वितीय एवं अपूर्व ग्रन्थ है, जिसने अपने गम्भीर एवं लोकोपकारी सिद्धान्तों के द्वारा संसार को चकित कर रखा है।

मौर्य साम्राज्य के पतन के उपरान्त भारत में शुंगवंशीय नरेशों ने शासन किया। इस वंश के सबसे प्रतापी राजा पुष्यमित्र शुंग हुए हैं। वह युग-धर्म के प्रवर्तक थे। उनके शासन-काल में वैदिक कर्मकाण्ड का पुनर्जागरण हुआ। वैदिक सिद्धान्तों एवं परम्पराओं ने नया रूप धारण किया और उनके इस नवीन स्वरूप न भारतीय जनता के हृदय में स्थान ग्रहण कर लिया। शुंग-काल में राजशास्त्र की धर्मप्रधान विचारधारा से जनता विशेष प्रभावित हुई। इस युग में कई धर्मशास्त्रों ने अपना नवीन चोला धारण किया। इन धर्मशास्त्रों में राजधर्म को भी उचित स्थान दिया गया। कुछ विद्वानों का मत है कि मानवधर्मशास्त्र के प्रस्तुत रूप का निर्माण इसी युग में हुआ। यदि यह सत्य है तो मानवधर्मशास्त्र के इस नवीन संस्करण को इस युग का राजशास्त्र-प्रणेता मानना उचित होगा। इसके अतिरिक्त कतिपय अन्य धर्मशास्त्र प्रणेता भी मौर्य-काल के पतन और गुप्तकाल के आरम्भ होने के मध्य की अवधि में हुए हैं। इन धर्मशास्त्र-प्रणेताओं में भी कतिपय राजशास्त्र प्रणेताओं की श्रेणी में परिगणित किये जा सकते हैं। परन्तु सभी प्रणेताओं में मानवधर्मशास्त्र के संकलन-कर्ता ही प्रमुख राजशास्त्र-प्रणेता माने जायेंगे।

गुप्तयुग के प्रारम्भ से हर्ष के निधन तक राजशास्त्र-प्रणेता—सम्राट् समुद्रगुप्त के सिंहासनारूढ़ होने के समय से सम्राट् हर्ष के निधन तक की अवधि में दो उल्लेखनीय राजशास्त्र-प्रणेता हुए हैं। ये हैं कामन्दकीयनीति के प्रणेता कामन्दक और शुक्रनीति के रचयिता शुक्र। कामन्दक ने स्वयं लिखा है कि वह आचार्य कौटिल्य की शिष्य-परम्परा में है। कामन्दकीयनीति का अध्ययन करने से ऐसा ज्ञात होता है कि वह कौटिल्य के अर्थशास्त्र पर आश्रित है। इसमें सन्देह नहीं कि इस नीति-ग्रन्थ की कुछ विषय-वस्तु कौटिल्य के अर्थशास्त्र से अवश्य ली गयी है। इसी कारण कुछ विद्वान् इस नीति-ग्रन्थ को मौलिक ग्रन्थ कहने में संकोच करते हैं। परन्तु यह कदापि माना नहीं जा सकता कि कामन्दकीयनीति सर्वांश में अर्थशास्त्र की नकल है। प्राचीन भारतीय राजशास्त्र के अध्ययन के लिए यह एक उपयोगी ग्रन्थ है।

कामन्दकीयनीति के प्रणेता कब हुए और उन्होंने अपने इस नीति-ग्रन्थ की कब रचना की? इस समस्या का अभी ठीक-ठीक समाधान नहीं हो सका है। डॉ॰ काशी

प्रकार जायसवाल ने कामन्दक को चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का समकालिक माना है। डॉ॰ अनन्त सदाशिव अल्तेकर कामन्दकीयनीति का रचना-काल ५०० ई॰ के आस-पास मानते हैं। परन्तु इस विषय में दो मत नहीं हो सकते कि कामन्दक गुप्तकाल के राजशास्त्र-प्रणेता हुए हैं और शुक्रनीति के प्रणेता के पूर्व अपने इस नीति-ग्रन्थ की रचना समाप्त कर चुके थे। डॉ॰ अल्तेकर का यह मत कि कामन्दकीयनीति में मौलिकता है ही नहीं समीचीन नहीं जान पड़ता।

शुक्रनीति उत्तर गुप्त काल की रचना जान पड़ती है, यद्यपि इस नीति-ग्रन्थ का जो कलेवर आज हमारे समक्ष है उसमें कुछ अंश ऐसा अवश्य है जो गुप्त-काल के बहुत पीछे का है। परन्तु यह अंश मूल ग्रन्थ में इस चतुराई से जोड़ा गया है कि उसका पृथक् करना कठिन है। डॉ॰ सदाशिव अल्तेकर शुक्रनीति का रचना-काल ईसा की आठवीं शताब्दी का अन्तिम चरण मानते हैं। कुछ विद्वान् इस नीतिग्रन्थ का रचना-काल सोलहवीं शताब्दी मानते हैं। परन्तु उनका यह मत ठीक नहीं जान पड़ता। प्राचीन भारतीय राजशास्त्र के ज्ञान के लिए यह नीतिग्रन्थ परम आवश्यक है। प्राचीन भारतीय शासन-व्यवस्था का इस नीतिग्रन्थ में जैसा क्रमबद्ध एवं विस्तारपूर्ण वर्णन है वैसा कौटिल्य के अर्थशास्त्र के उपरान्त किसी अन्य ग्रन्थ में नहीं है।[1]

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर स्पष्ट है कि गुप्त साम्राज्य के उदय-काल से हर्ष के निधन के समय तक भारत में दो उल्लेखनीय राजशास्त्र-प्रणेता हुए हैं कामन्दक और शुक्र।

सम्राट् हर्ष के निधन के उपरान्त राजशास्त्र-प्रणेता—वर्धनवंश के प्रसिद्ध राजा हर्ष का निधन ६४७ ई॰ में हुआ। हर्ष के निधन के साथ ही भारत की राजनीतिक एकता का भी अन्त हो गया। भारत छोटे-छोटे सामन्त राज्यों में विभक्त हो गया। इन सामन्त-राज्यों के स्वाभिमानी नरेश पारस्परिक कलह में संलग्न हो गये। इस प्रकार गृह वैर ने भारत में मुसलमानों के राज्य-संस्थापन में योग दिया। ऐसी परिस्थिति में भारतीय राजशास्त्र के विकास की भी प्रायः इतिश्री हो गयी। शुक्रनीति की रचना के उपरान्त तत्पश्चात् किसी भी राजशास्त्रसम्बन्धी मौलिक ग्रन्थ की रचना नहीं हुई। केवल सोमदेव कृत 'नीतिवाक्यामृत' ही एक ऐसी रचना इस युग में हुई है जो किसी अंश में मौलिक मानी जा सकती है। इस नीति-ग्रन्थ के प्रणेता सोमदेव सूरि हैं। इनकी रचना ईसा की दसवीं शताब्दी के तृतीय

१ विशेष अध्ययन के लिए देखिए, लेखक की पुस्तक 'शुक्र की राजनीति'।

चरण में की। इसके अतिरिक्त राजशास्त्र-सम्बन्धी जो ग्रन्थ इस युग में लिखे गये हैं सब के सब अप्राप्य हैं।

राजशास्त्रीय निबन्ध-ग्रन्थ

सोमदेव सूरि के उपरान्त प्राचीन भारतीय राजशास्त्र के इतिहास में एक नवीन युग का प्रारम्भ हुआ। यह राजनीति-निबन्धकारों का युग कहलाता है। इस युग में प्राचीन भारतीय राजशास्त्र की रचना निबन्धों के रूप में हुई। इन निबन्धों का कलेवर संकलित ग्रन्था के रूप में है। प्राचीन भारतीय राजशास्त्र के साहित्य से सम्बन्धित विषय-वस्तु का चयन कर, इन निबन्धों में उसे स्थान देकर, उसका स्वरूप स्थिर किया गया है। इन निबन्धकारों ने अपने निबन्धों में इस प्रकार प्रयुक्त सामग्री की गुत्थियों को सुलझाने एवं उसे लोक के लिए सुबोध एवं सुगम बनाने के लिए कहीं-कहीं व्याख्याएँ भी दी हैं। ये व्याख्याएँ उनकी मौलिक हैं। इसके अतिरिक्त इस युग के ये सभी निबन्ध संकलनमात्र हैं। इन निबन्ध-ग्रन्थों में गोपालकृत 'राजनीति कामधेनु', लक्ष्मीधरकृत 'राजधर्मकाण्ड', देवणभट्ट कृत 'राजनीतिकाण्ड', चण्डेश्वर कृत 'राजनीतिरत्नाकर', मित्रमिश्र कृत 'राजनीति प्रकाश', नीलकण्ठकृत 'राजनीति मयूख' और अनन्तदेवकृत 'राजधर्म कौस्तुभ' उल्लेखनीय हैं।

इस प्रकार दसवीं शताब्दी से सत्रहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण तक की अवधि में ये सब निबन्धकार हुए हैं।

उपर्युक्त तथ्यों से यह स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय राजशास्त्र का अन्तिम मौलिक ग्रन्थ सोमदेवकृत 'नीतिवाक्यामृत' है, यद्यपि इसके मौलिक होने में कुछ विद्वानों ने आपत्ति भी उठायी है। भारत में मुसलमानों के राज्य की स्थापना होते ही दो सभ्यताओं का संघर्ष बड़े वेग से होने लगा। इस संघर्ष का ही परिणाम हुआ—भारतीयों की शताब्दियों लम्बी दासता। कुछ काल व्यतीत हो जाने पर भारत में मुसलमानों के साम्राज्य का भी अन्त हो गया। उसके स्थान पर ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना हुई। इस प्रकार भारतीय जनता दूसरे प्रकार की दासता में पड़ गयी। इस दासता के युग में भारतीय जनता ने अपने राजनीतिक सिद्धान्तों को हेय समझ कर उनका परित्याग कर दिया और उनके स्थान पर पाश्चात्य राजनीतिक सिद्धान्तों को श्रेष्ठ समझ कर शनैः-शनैः अपनाती गयी। इसलिए भारतीयों की इस उपेक्षा के कारण भारतीय राजशास्त्र के अध्ययन, चिन्तन एवं मनन का अवसर ही कभी न प्राप्त हो सका और आधुनिक युग में भारतीय राजशास्त्र के सिद्धान्तों का नितान्त लोप हो गया।

इस प्रकार भारतीय राजशास्त्र सम्बन्धी विचारधारा का उद्गम-स्थान ऋग्वेद

है। अपने उद्गमस्थान से निकल कर यह धारा सहस्रों वर्ष तक प्रवाहित रही। सम्राट् हर्ष के निधन के उपरान्त इस धारा की शक्ति शनै-शनै क्षीण होती गयी और कालान्तर में यह अवरुद्ध होकर भारतीय जनता की तात्त्विक मरुभूमि में विलीन हो गयी।

●

२

मनु

मानव-धर्मशास्त्र और उसके संस्करण

प्राचीन भारतीय जनश्रुति के अनुसार मनु ब्रह्मा के मानस पुत्र माने गये हैं। धर्मशास्त्र के आदिप्रणेता यही बतलाये गये हैं। इस जनश्रुति के अनुसार स्वयं भगवान् ब्रह्मा ने सृष्टि-रचना के समय ही मनु को धर्मशास्त्र-सम्बन्धी सम्पूर्ण ज्ञान दिया था। उन्होंने मनुष्य के कल्याण के निमित्त धर्मशास्त्र का निर्माण किया और फिर इस धर्मशास्त्र का ज्ञान ऋषि-मुनियों को दिया। गुरु-शिष्य-परम्परा के अनुसार मनु द्वारा दिया गया धर्मशास्त्र आजतक प्रचलित रहा। इस दृष्टि से मानव-धर्मशास्त्र में जो ज्ञान है वह मनुप्रदत्त प्रसादमात्र है। इस कथन की पुष्टि मानव-धर्मशास्त्र में ही की गयी है। सृष्टि-रचना के आदि में स्वयम्भू भगवान् ब्रह्मा ने धर्मशास्त्र का विधिवत् उपदेश मनु को दिया। मनु ने ब्रह्मा से प्राप्त इस धर्मशास्त्र का उपदेश मरीचि आदि ऋषियों को दिया। फिर उनसे इस सम्पूर्ण धर्मशास्त्र का ज्ञान भृगु ने प्राप्त किया और भृगु ने उक्त धर्मशास्त्र का ज्ञान मुनियों को दिया। मानव-धर्मशास्त्र में ऐसा स्पष्ट उल्लिखित है कि यह धर्मशास्त्र भृगुप्रोक्त है।

उपर्युक्त वर्णन से ऐसा ज्ञात होता है कि मानवधर्मशास्त्र गुरु-शिष्यपरम्परा द्वारा प्रवाहित मनु के उपदेशों का संग्रह है, जिसका संकलन सर्वप्रथम भृगु द्वारा किया गया। मनु के उपदेशों का यही संकलन मानवधर्मशास्त्र के रूप में सर्वप्रथम जनता के सामने आया। भृगु के द्वारा यह संकलन-कार्य कब किया गया ? इस विषय के बोध के लिए हमारे पास एक भी पुष्ट प्रमाण नहीं है। भृगु द्वारा संकलित यह मानवधर्मशास्त्र जनता में प्रचलित रहा। देश काल एवं परिस्थिति के अनुसार आवश्यकता की दृष्टि में रखते हुए समय-समय पर संशोधन और परिवर्तन होते रहे। इस रीति से भृगु-प्रोक्त मानव-धर्मशास्त्र के अनेक संस्करण हो गये। प्रचलित मानव-धर्मशास्त्र इन्हीं संस्करणों में से एक संस्करण है। कतिपय विद्वानों का मत है कि मानवधर्मशास्त्र जिस रूप में आज प्राप्त है उसका यह रूप शुंग-काल में स्थिर किया गया। इसमें कुछ हेर-फेर बाद चलकर किये गये। परन्तु मुख्य यही संस्करण इन हेर-फेरों के साथ हमारे समक्ष प्रस्तुत है।

इस कथन की पुष्टि प्राचीन भारतीय साहित्य के कतिपय अन्य ग्रन्थों में भी की गयी है। नारद-स्मृति में मनु को धर्मशास्त्र का आदिप्रणेता माना गया है। नारद इसी कथा को जो मानवधर्मशास्त्र में है, कुछ अधिक विस्तारपूर्वक इस प्रकार कहते हैं—"अनुग्रहार्थ के आधार के निमित्त स्वयंभू भगवान् मनु ने सब पर अनुग्रह कर इस लोक में उनके लिए धर्मशास्त्र की रचना की। इसमें उन्होंने लोक-सृष्टि, भूतप्रविभाग आदि चौबीस प्रकरण रखे। उन्होंने एक लाख श्लोक और एक सहस्र अध्यायमुक्त धर्मशास्त्र की रचना की और फिर उसे देवर्षि नारद को प्रदान किया। देवर्षि नारद ने यह विशालकाय धर्मशास्त्र बारह सहस्र श्लोकों में संक्षिप्त किया और मार्कण्डेय मुनि को प्रदान किया। मार्कण्डेय मुनि ने भी इस धर्मशास्त्र को आठ हजार श्लोकों में संक्षिप्त किया और सुमति भार्गव को दिया। सुमति भार्गव ने इस धर्मशास्त्र का अध्ययन किया और फिर मनुष्यों की आयु एवं उनकी सामर्थ्य के अनुसार उसे चार हजार श्लोकों में संक्षिप्त किया। इस प्रकार नारदस्मृतिकार भी प्रस्तुत मानवधर्मशास्त्र को भृगु-संस्करण के रूप में ही लेते हैं।

वात्स्यायन अपने कामसूत्र में इसी सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए कहते हैं—"प्रजापति ने सृष्टि-रचना के उपरान्त एक लाख अध्याय युक्त एक विशाल ग्रन्थ की रचना सृष्टि की स्थिति एवं त्रिवर्ग की साधनाहेतु की। उस विशाल ग्रन्थ से स्वयंभू मनु ने धर्मशास्त्र, बृहस्पति ने अर्थशास्त्र और महादेव के अनुचर नन्दी ने सहस्र अध्यायमुक्त कामसूत्र को पृथक् कर लिया। इस वर्णन से भी धर्मशास्त्र के आदिप्रणेता मनु ही हैं, ऐसा सिद्ध होता है।

स्कन्द पुराण में भी स्वयंभू मनु को धर्मशास्त्र का आदिप्रणेता माना गया है और यह बतलाया गया है कि भृगु, नारद और अंगिरा द्वारा इस धर्मशास्त्र के पृथक् पृथक् संस्करण हुए हैं।

इसी प्रकार याज्ञवल्क्य गौतम आपस्तम्ब पराशर, एवं वासिष्ठ स्मृतियों में भी मनु को आदिधर्मशास्त्र प्रणेता माना गया है।

इन समस्त प्रमाणों के आधार पर इस विषय में दो मत नहीं हैं कि स्वयंभू मनु आदि धर्मशास्त्रप्रणेता हैं और धर्मशास्त्रविषयक सम्पूर्ण ज्ञान उन्हीं के द्वारा प्रारम्भ किया गया है। उन्हीं से गुरु-शिष्य-परम्परा द्वारा उस धर्मशास्त्र का विकास हुआ है और यह कार्य उस काल तक चलता रहा जिस काल में प्रस्तुत मानवधर्मशास्त्र की रचना हुई है।

प्राचीन भारत में गुरु-शिष्य-परम्परा द्वारा ज्ञान-प्रसार-कार्य होता रहा है। ज्ञान की विविध शाखाओं का प्रवर्तक कोई न कोई एक आदि ऋषि माना गया है। यह

राजा की उत्पत्ति किस प्रकार हुई है, इस विषय का वर्णन मानवधर्मशास्त्र में विस्तारपूर्वक किया गया है। मनु के मतानुसार मानव-स्वभाव दैवी और आसुरी वृत्तियों का समुच्चय है। दैवी और आसुरी वृत्तियों का परस्पर संघर्ष होता रहता है जिसे देवासुर-संग्राम बतलाया गया है। दैवी वृत्तियाँ प्रशस्त और कल्याणकारी होती हैं परन्तु आसुरी वृत्तियाँ उग्र वेगवती एवं अकल्याणकारिणी होती हैं और मनुष्य में विकार उत्पन्न करती रहती हैं जिसका परिणाम यह होता है कि मनुष्य अपने कर्तव्य मार्ग से च्युत हो जाता है। इसलिए इनके दमनहेतु दण्ड की उत्पत्ति की कल्पना की गयी है। मनु के विचारानुसार राजा दण्ड का प्रतीक है और उसका निर्माण प्रभु स्वयं संसार के प्राणिमात्र की रक्षा के लिए करता है। इस राजा के निर्माणहेतु वह आठ प्रधान देवों—इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र और कुबेर—की सारभूत मात्राओं (सार भूत अंशों) को निकाल कर उनका संचय कर उनके संयोग से राजा का सर्जन करता है। इस वर्णन से यह भी स्पष्ट है कि इस सिद्धान्त के अनुसार राजा देवमात्र नहीं है, अपितु वह प्रत्येक देव से महान् है। वह विशिष्ट देव है, क्योंकि वह अकेला अष्ट प्रधान देवों के विशिष्ट तत्त्वों को धारण करता है। वह इन आठ प्रधान देवों की सारभूत मात्राओं को धारण करने के कारण इनमें से प्रत्येक से महान् है। मनु राजा के पद को परम पुनीत मानते हैं। उनका मत है कि राजा चाहे बालक ही क्यों न हो परन्तु उसका कभी अनादर नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह मनुष्य के रूप में एक महान् देव पृथिवी-तल पर विचरता है[२]। राजा का अपमान करना महान् देव का अपमान माना जायगा। स्पष्ट है कि मनु राजा की दैवी उत्पत्ति मानते थे।

राजा की दैवी उत्पत्ति के विषय में जो उपर्युक्त विचार मानवधर्मशास्त्र में वर्णित हैं वे पाश्चात्य एवं वर्तमान भारतीय राजनीति-विचारकों के तत्सम्बन्धी विचारों से सर्वथा भिन्न हैं। विश्व के राजनीतिक इतिहास में मनु के इन विचारों का विशेष स्थान है। मनु द्वारा प्रतिपादित दैवी सिद्धान्त तत्सम्बन्धी पाश्चात्य सिद्धान्त से कई बातों में भिन्नता रखता है। मनु का दैवी राजा केवल इस कारण देव है कि उसमें देवों की विभूतियाँ अथवा देव-गुण वास करते हैं और इस प्रकार वह देव-चरित्र धारण करता है। प्रजा के लिए राजा आदर्श होता है। उसका आचरण प्रजा के लिए अनुकरणीय एवं उत्साहवर्धक है। परन्तु राजा विधि-विरुद्ध कार्य करने का लेशमात्र भी अधिकारी नहीं है। राजा की प्रत्येक क्रिया विधि के अधीन रहती है। राजा कभी विधि का

१ श्लोक ४ अ ७ मानव-धर्मशास्त्र। २ श्लोक ८ अ ७ मानव-धर्मशास्त्र।

होकर अपने स्वाभाविक रूप से विकृत रूप में परिणत हो जाता है। इसलिए इन प्रकृतियों को अविकृत रखने के लिए उन्हें विकारों (व्यसनों) से दूर रखने का प्रयत्न करना चाहिए। मनु ने इसीलिए प्रकृतियों के व्यसनों का भी उल्लेख किया है और इन व्यसनों से उन्हें मुक्त रखने के उपायों का भी विधान किया है।

उनका मत है कि राज्य के ये सात अंग अथवा अवयव परस्पर एक दूसरे के सहारे राज्य के अस्तित्व को उसी प्रकार स्थिर रखते हैं जिस प्रकार काष्ठ के तीन दण्ड एक दूसरे के सहारे खड़े रहकर, त्रिदण्ड आकृति के अस्तित्व को पृथिवी-तल पर स्थिर रखने में समर्थ होते हैं।[1] मनु राज्य के इन सातों अंगों में किसी एक को भी एक दूसरे से छोटा या बड़ा नहीं मानते हैं।[2] उनके मतानुसार राज्य का प्रत्येक अंग अपने अपने स्थान पर बड़ा एवं उपयोगी होता है।

प्राप्त सामग्री के आधार पर मनु ने राज्य के आवयविक स्वरूप का तो प्रतिपादन किया है, परन्तु निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि इस सिद्धान्त के वास्तविक स्वरूप के विषय में मनु का वास्तविक मत क्या रहा होगा।

मनु प्रतिपादित राज्य के आवयविक स्वरूप का सिद्धान्त तत्सम्बन्धी पाश्चात्य सिद्धान्त से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखता। मनु द्वारा प्रतिपादित आवयविक सिद्धान्त का आदि स्रोत ऋग्वेद की वे ऋचाएँ हैं, जिनमें विराट् पुरुष से मानव-समाज के निर्माण की कल्पना की गयी है और जिनमें एक से अनेक के उत्पन्न होने और पुन अनेक का एक में लय में होने के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। परन्तु पाश्चात्य देशों के ये विद्वान् राज्य को एक जीवधारी रचना मानते हैं। उनके मतानुसार राज्य के विभिन्न विभाग इस जीवधारी रचना के अनेक कोष (Cells) हैं जो राज्य के विकास के साथसाथ विकसित होते रहते हैं। इस प्रकार दोनों सिद्धान्त मूलतः भिन्न हैं।

राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त—राज्य के स्वरूप के साथ ही मनु ने राज्य की उत्पत्ति किस प्रकार हुई, इस विषय का भी वर्णन किया है। राज्य की उत्पत्ति के अनेक सिद्धान्त हैं। किन्तु मनु केवल एक ही सिद्धान्त में आस्था रखते हैं जिसे राजा की दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त बतलाया गया है। मनु राजतन्त्रवादी हैं अतः वह राजा के निर्माण में ही राज्य का निर्माण मानते हैं। इस राजा के निर्माण का सिद्धान्त ही उनके मतानुसार, राज्य निर्माण का सिद्धान्त समझा जाना चाहिए।

१ श्लोक २९६ अ० ९ मानव ।
२ श्लोक २९७ अ० ९ मानव ।

राजा की उत्पत्ति किस प्रकार हुई है इस विषय का वर्णन मानवधर्मशास्त्र में विस्तारपूर्वक किया गया है। मनु के मतानुसार मानव-स्वभाव दैवी और आसुरी वृत्तियों का समुच्चय है। दैवी और आसुरी वृत्तियों का परस्पर संघर्ष होता रहता है, जिसे देवासुर-संग्राम बतलाया गया है। दैवी वृत्तियाँ शान्त और कल्याणकारी होती है, परन्तु आसुरी वृत्तियाँ तम वेगवती एवं अकल्याणकारिणी होती है और मनुष्य में विकार उत्पन्न करती रहती है जिसका परिणाम यह होता है कि मनुष्य अपने कर्तव्य मार्ग से च्युत हो जाता है। इसलिए इनके दमनहेतु दण्ड की उत्पत्ति की कल्पना की गयी है। मनु के विचारानुसार राजा दण्ड का प्रतीक है और उसका निर्माण प्रभु स्वयं संसार के प्राणिमात्र की रक्षा के लिए करता है। इस राजा के निर्माणहेतु वह आठ प्रधान देवों—इन्द्र वायु, यम सूर्य अग्नि वरुण चन्द्र और कुबेर—की शाश्वत मात्राओं (सार भूत अंशो) को निकाल कर उनका संचय कर उनके संयोग से राजा का सर्जन करता है[1]। इस वर्णन से यह भी स्पष्ट है कि इस सिद्धान्त के अनुसार राजा देवमात्र नहीं है, अपितु वह प्रत्येक देव से महान् है। वह विशिष्ट देव है, क्योंकि वह अकेला अष्ट प्रधान देवों के विशिष्ट तत्त्वों को धारण करता है। वह इन आठ प्रधान देवों की सारभूत मात्राओं को धारण करने के कारण इनमें से प्रत्येक से महान् है। मनु राजा के पद को परम पुनीत मानते हैं। उनका मत है कि राजा चाहे बालक ही क्यों न हो परन्तु उसका कभी अनादर नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह मनुष्य के रूप में एक महान् देव पृथिवी-तल पर विचरता है[2]। राजा का अपमान करना महान् देव का अपमान माना जायगा। स्पष्ट है कि मनु राजा की दैवी उत्पत्ति मानते थे।

राजा की दैवी उत्पत्ति के विषय में जो उपर्युक्त विचार मानवधर्मशास्त्र में वर्णित है वे पाश्चात्य एवं वर्तमान भारतीय राजनीति-विचारकों के तत्सम्बन्धी विचारों के समर्थक सिद्ध है। विश्व के राजनीतिक इतिहास में मनु के इन विचारों का विशेष स्थान है। मनु द्वारा प्रतिपादित दैवी सिद्धान्त तत्सम्बन्धी पाश्चात्य सिद्धान्त से कई अर्थों में भिन्नता रखता है। मनु का दैवी राजा केवल इस कारण देव है कि उसमें देवों की विभूतियाँ अथवा देव-गुण वास करते है और इस प्रकार वह देव चरित्र धारण करता है। प्रजा के लिए राजा आदर्श होता है। उसका आचरण प्रजा के लिए अनुकरणीय एवं उत्साहवर्धक है। परन्तु राजा विधि-विरुद्ध कार्य करने का किंचमात्र भी अधिकारी नहीं है। राजा की प्रत्येक क्रिया विधि के अधीन रहती है। राजा कभी विधि का

१ श्लोक ४ अ० ७ मानव-धर्मशास्त्र। २ श्लोक ८ अ० ७ मानव-धर्मशास्त्र।

होकर अपने स्वाभाविक रूप से विकृत रूप में परिणत हो जाता है। इसलिए इन प्रकृतियों को अविकृत रखने के लिए उन्हें विकारों (विषयों) से दूर रखने का प्रयास करना चाहिए। मनु ने इसीलिए प्रकृतियों के विषयों का भी उल्लेख किया है और इन विषयों से उन्हें मुक्त रखने के उपायों का भी विधान किया है।

उनका मत है कि राज्य के ये सात अंग अथवा अवयव परस्पर एक दूसरे के सहारे राज्य के अस्तित्व को उसी प्रकार स्थिर रखते हैं जिस प्रकार त्रिदण्ड के तीन दण्ड एक दूसरे के सहारे खड़े रहकर, त्रिकोण आकृति के अस्तित्व को पृथिवी-तल पर स्थिर रखने में समर्थ होते हैं।[1] मनु राज्य के इन सातों अंगों में किसी एक को भी एक दूसरे से छोटा या बड़ा नहीं मानते हैं।[2] उनके मतानुसार राज्य का प्रत्येक अंग अपने अपने स्थान पर बड़ा एवं उपयोगी होता है।

प्राप्त सामग्री के आधार पर मनु ने राज्य के आवयविक स्वरूप का तो प्रतिपादन किया है परन्तु निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि इस सिद्धान्त के वास्तविक स्वरूप के विषय में मनु का वास्तविक मत क्या रहा होगा।

मनु-प्रतिपादित राज्य के आवयविक स्वरूप का सिद्धान्त तत्सम्बन्धी पाश्चात्य सिद्धान्त से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखता। मनु द्वारा प्रतिपादित आवयविक सिद्धान्त का आदि स्रोत ऋग्वेद की वे ऋचाएँ हैं जिनमें विराट् पुरुष से मानव-समाज के निर्माण की कल्पना की गयी है और जिनमें एक से अनेक के उत्पन्न होने और पुनः अनेक का एक में लय में होने के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। परन्तु पाश्चात्य देशों के ये विद्वान् राज्य को एक जीवधारी रचना मानते हैं। उनके मतानुसार राज्य के विभिन्न विभाग इस जीवधारी रचना के अनेक कोष (Cells) हैं जो राज्य के विकास के साथसाथ विकसित होते रहते हैं। इस प्रकार दोनों सिद्धान्त मूलतः भिन्न हैं।

राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त—राज्य के स्वरूप के साथ ही मनु ने राज्य की उत्पत्ति किस प्रकार हुई, इस विषय का भी वर्णन किया है। राज्य की उत्पत्ति के अनेक सिद्धान्त हैं। किन्तु मनु केवल एक ही सिद्धान्त में आस्था रखते हैं, जिसे राजा की दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त बतलाया गया है। मनु राजतन्त्रवादी हैं अतः वह राजा के निर्माण में ही राज्य का निर्माण मानते हैं। इस राजा के निर्माण का सिद्धान्त ही उनके मतानुसार, राज्य-निर्माण का सिद्धान्त समझा जाना चाहिए।

१ श्लोक २९६ अ ९ मानव ।
२ श्लोक २९७ अ ९ मानव ।

राजा की उत्पत्ति किस प्रकार हुई है, इस विषय का वर्णन मानवधर्मशास्त्र में विस्तारपूर्वक किया गया है। मनु के मतानुसार मानव-स्वभाव दैवी और आसुरी वृत्तियों का समुच्चय है। दैवी और आसुरी वृत्तियों का परस्पर संघर्ष होता रहता है जिसे देवासुर-संग्राम बतलाया गया है। दैवी वृत्तियाँ शान्त और कल्याणकारी होती हैं, परन्तु आसुरी वृत्तियाँ उग्र वैमनस्यी एवं अकल्याणकारिणी होती हैं और मनुष्य में विकार उत्पन्न करती रहती हैं जिसका परिणाम यह होता है कि मनुष्य अपने कर्तव्य मार्ग से च्युत हो जाता है। इसलिए इनके दमनहेतु दण्ड की उत्पत्ति की कल्पना की गयी है। मनु के विचारानुसार राजा दण्ड का प्रतीक है और उसका निर्माण प्रभु स्वयं संसार के प्राणिमात्र की रक्षा के लिए करता है। इस राजा के निर्माणहेतु वह आठ प्रधान देवों—इन्द्र वायु, यम सूर्य अग्नि वरुण चन्द्र और कुबेर—की शाश्वत मात्राओं (सार भूत अंशों) को निकाल कर उनका संयम कर उनके संयोग से राजा का सर्जन करता है। इस वर्णन से यह भी स्पष्ट है कि इस सिद्धान्त के अनुसार राजा देवमात्र नहीं है, अपितु वह प्रत्येक देव से महान् है। वह विशिष्ट देव है, क्योंकि वह अकेला अष्ट प्रधान देवों के विशिष्ट तत्त्वों को धारण करता है। वह इन आठ प्रधान देवों की सारभूत मात्राओं को धारण करने के कारण इनमें से प्रत्येक से महान् है। मनु राजा के पद को परम पुनीत मानते हैं। उनका मत है कि राजा चाहे बालक ही क्यों न हो परन्तु उसका कभी अनादर नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह मनुष्य के रूप में एक महान् देव पृथिवी-तल पर विचरता है[१]। राजा का अपमान करना महान् देव का अपमान माना जायगा। स्पष्ट है कि मनु राजा की दैवी उत्पत्ति मानते थे।

राजा की दैवी उत्पत्ति के विषय में जो उपर्युक्त विचार मानवधर्मशास्त्र में वर्णित हैं वे पाश्चात्य एवं वर्तमान भारतीय राजनीति-विचारकों के तत्सम्बन्धी विचारों से सर्वथा भिन्न है। विश्व के राजनीतिक इतिहास में मनु के इन विचारों का विशेष स्थान है। मनु द्वारा प्रतिपादित दैवी सिद्धान्त तत्सम्बन्धी पाश्चात्य सिद्धान्त से कई अंशों में भिन्नता रखता है। मनु का दैवी राजा केवल इस कारण देव है कि उसमें देवों की विभूतियाँ अथवा देव-गुण वास करते हैं और इस प्रकार वह देव-शक्ति धारण करता है। प्रजा के लिए राजा आदर्श होता है। उसका आचरण प्रजा के लिए अनुकरणीय एवं उत्साहवर्धक है। परन्तु राजा विधि-विरुद्ध कार्य करने का लेशमात्र भी अधिकारी नहीं है। राजा की प्रत्येक क्रिया विधि के अधीन रहती है। राजा कभी विधि का

१ श्लोक ४ अ ७ मानव-धर्मशास्त्र। २ श्लोक ८ अ ७ मानव-धर्मशास्त्र।

उल्लंघन करने का अधिकारी नहीं है। वह राज्य की कार्यपालिका का प्रधान अधिकारी है और इस स्थिति में वह दण्ड को धारण करता है। परन्तु उसे इस दण्ड का प्रयोग धर्म के अधीन रहकर करना पड़ता है। इस दृष्टि से राज्य में राजा का स्थान सर्वोपरि नहीं माना गया है। राज्य में प्रथम स्थान धर्म का है और राजा का द्वितीय। इसी प्रकार मनु के दैवी राजा का स्वरूप प्राचीन भारत के तत्सम्बन्धी अन्य राजनीतिक विचारकों द्वारा चित्रित दैवी राजा के स्वरूप से भी किन्हीं अंशों में भिन्न है। मनु का दैवी राजा सर्वदेवमय (सर्वदेवमयो राजा) नहीं है और न वह किसी विशेष देव अथवा किन्हीं विशेष देवों की सभी विभूतियों का धारण करनेवाला है। मनु-प्रतिपादित दैवी सिद्धान्त के अनुसार राजा आठ प्रधान देवों की विभूतियों को धारण अवश्य करता है। परन्तु वह इन आठ देवों की सभी विभूतियों को धारण नहीं करता। केवल विशिष्ट विभूतियाँ ही उनसे प्राप्त कर धारण करता है और इस प्रकार वह विशिष्ट देव का पद ग्रहण करता है। इसके अतिरिक्त मनु का दैवी राजा इस आधार पर भी देवश्रेणी में परिगणित नहीं किया गया है कि वह सतोगुणी मात्र है, और उसमें तमोगुण अथवा रजोगुण का प्राधान्य हो जाने से वह देव-पद से च्युत समझा जायेगा[1]।

धर्म—मनु ने मानवधर्मशास्त्र में राजा का जो स्वरूप वर्णन किया है, धर्म और दण्ड के स्वरूप को बिना समझे हुए, उसका बोध होना असम्भव है। इस लिए मनु द्वारा वर्णित धर्म के स्वरूप का वर्णन यहाँ देना आवश्यक है। प्राचीन भारतीय धर्म शास्त्र-प्रणेताओं का एसा मत है कि प्राणिमात्र का कल्याण उनके स्वधर्म-पालन में निहित है। इस धरती-तल पर जब प्रत्येक प्राणी स्वधर्मपालन में संलग्न रहता है उसके नियमों का उल्लंघन करने की चेष्टा नहीं करता तब जगत् में सुख और शान्ति की वर्षा होती रहती है। प्रत्येक प्राणी सुखी और सन्तुष्ट होकर परस्पर सहयोग एवं सद्भावना से जीवन व्यतीत करता हुआ अपने परम ध्येय (मोक्ष) की प्राप्ति में तत्पर रहता है और इस प्रकार इस दुःखमय जगत् से निवृत्त होकर अनन्त आनन्द का भोग करने का अधिकारी बन जाता है। मनु भी इसी विचारधारा में आस्था रखते हैं। उन्होंने धर्म शब्द का प्रयोग संकीर्ण अर्थ में नहीं किया है। उनके धर्म का स्वरूप व्यापक एवं विशाल है। संस्कृत भाषा की "धृ" धातु से धर्म शब्द की प्राप्ति होती है जिसका अर्थ धारण करना है। इस प्रकार धर्म से मनु का तात्पर्य उस गुण अथवा तत्त्व से है जिसके आधार पर चेतन अथवा जड़ जगत् अपने वास्तविक

१ श्लोक ८५, म १ शुक्रनीति।

स्वरूप को स्थिर रखने में समर्थ हो सके। कमल के फूल में कोमलता सुगन्ध और सौन्दर्य उसके वास्तविक स्वरूप को धारण करते हैं, इस लिए कमल के फूल के ये तीन धर्म हैं। यदि उससे उसके इन तीनो धर्मों (गुणों) को पृथक कर दिया जाय तो उसका अस्तित्व मिट जायगा। इस प्रकार प्राणिमात्र के जीवन का ध्येय स्वधर्म पालन है। यदि जगत् के प्राणी अपने स्वधर्म-पालन में प्रमाद करेंगे तो समाज में अव्यवस्था हो जायगी और मात्स्यन्याय स्थापित हो जायगा। इस दृष्टि से प्राणिमात्र का परम कर्तव्य स्वधर्म-पालन के द्वारा समाज में सुव्यवस्था स्थापित करना है। उनको धर्मसंकरता से सर्वथा दूर रहना चाहिए।

दण्ड—यह पीछे लिखा जा चुका है कि मनुष्य दैवी और आसुरी वृत्तियों का समुच्चय है। दैवी वृत्तियाँ शान्त उद्वेग-रहित और कल्याणकारिणी होती हैं। वह मनुष्य को स्वधर्म-पालन के लिए प्रेरित करती रहती है। परन्तु आसुरी-वृत्तियाँ उद्वेगजनक उग्र एवं अकल्याणकारिणी होती हैं और मनुष्य में प्रतिक्षण विकार उत्पन्न करती रहती हैं जिसके कारण वह स्वधर्म-पालन में अनायास ही प्रमाद करने लगता है। मनु स्पष्ट कहते हैं कि मनुष्य-समाज में धर्म-परायण व्यक्ति दुर्लभ है[1]। इसलिए वह मनुष्य को स्वधर्म-पालन के लिए बाध्य करने के निमित्त उसे समुचित दण्ड देना परमावश्यक बतलाते हैं। इसी उद्देश्य की प्राप्तिहेतु उन्होंने दण्ड-निर्माण की योजना प्रस्तुत की है। इस योजना के अनुसार दण्ड सम्पूर्ण प्राणियों का रक्षक ब्रह्मतेजमय एवं धर्म का पुत्र है। उसका सर्जन ईश्वर ने किया है[2]। दण्ड सम्पूर्ण स्थावर और जंगम को भोग का प्राप्त करानेवाला[3] धर्म से विचलित प्राणियों को स्वधर्म-पालन के निमित्त बाध्य करनेवाला[4] सम्पूर्ण प्रजा को शासन में रखने वाला प्राणियों के सो जाने पर भी उनकी रक्षा करनेवाला[5] देव दानव गन्धर्व राक्षस पशु-पक्षी सर्प आदि सभी प्राणियों को उनके अनुकूल भोग की व्यवस्था करनेवाला[6] तथा समाज में वर्णाश्रम-धर्म की संस्थापना करनेवाला है[7]। दण्ड के अभाव में लोग दुष्टाचरण में संलग्न होकर कर्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं और सम्पूर्ण मर्यादाएँ नष्ट हो जाती हैं[8]।

परन्तु इतने शक्तिशाली दण्ड को स्वच्छन्द रखना मनु के मतानुसार, उचित नहीं है। दण्ड का सम्यक प्रयोग होना चाहिए। दोषी को उसके दोष की मात्रा के

१ मानवधर्मशास्त्र, २२।७।   २ वही १४।७।   ३ वही २२।७।
४ वही १५।७।   ५ वही १८।७।   ६ वही २३।७।
७ वही, १७।७।   ८ वही, २४।७।

अनुरूप ही दण्ड मिलना चाहिए, अन्यथा समाज में असन्तोष एवं क्षोभ उत्पन्न होंगे जो शान्ति एवं सुरक्षा के बाधक हैं। यदि दण्ड का सम्यक् प्रयोग होगा तो जगत् सुखी रहेगा। दण्ड का अनुचित अथवा असम्यक् प्रयोग दण्डप्रयोक्ता तथा जिस पर उसका प्रयोग किया गया है दोनों का नाश कर देता है। इसलिए मनु व्यवस्था देते हैं कि देश, काल, शक्ति और विद्या का विचार कर, अन्यायी मनुष्य के अपराध के अनुसार ही दण्ड देना चाहिए।

राजा का स्वरूप—मनु ने यह अनुभव किया कि जगत् के कल्याण के निमित्त एक ऐसे सर्व प्रकार से योग्य व्यक्ति की परम आवश्यकता होती है जो इस सर्वसम्पन्न एवं शक्तिशाली दण्ड का सम्यक् प्रयोग करने में समर्थ है। दण्ड का सम्यक् प्रयोग करने के निमित्त जिस पुरुष का निर्माण किया गया उसको मनु ने राजा की संज्ञा दी है। यह व्यक्ति प्रजा का रंजन (प्रसन्न) करनेवाला होता है। इसी लिए उसको राजा की संज्ञा दी गयी है और उसके पद को 'राजपद' नाम से सम्बोधित किया गया है। राजा दण्ड को धारण करता है, उसका सम्यक् प्रयोग करता है और इस प्रकार अपने राज्य में धर्म की स्थापना करता है।

मनु के मतानुसार राजा का स्वरूप दण्डधारी धर्म-संस्थापक का है। वह स्वेच्छाचारी नहीं है। उसे राजधर्म के नियमों के अनुसार आचरण करना पड़ता है। राजधर्म के इन नियमों का वह निर्माता नहीं है और न वह उन में किसी प्रकार का भी संशोधन परिवर्तन अथवा परिवर्द्धन करने का अधिकारी है। इस दृष्टि से राज्य में राजपद अति महत्त्वपूर्ण होने पर भी, मनु के मतानुसार, वह परमाधिकार से रहित है। राज्य में राजा का स्थान सर्वोपरि नहीं है। वह स्थान और अधिकार धर्म को प्राप्त है। राज्य में दण्ड का स्थान धर्म के स्थान के उपरान्त है। अतः राजा का स्थान भी द्वितीय है, प्रथम कदापि नहीं।

इसके अतिरिक्त दण्ड धारण करने की सामर्थ्य के विषय में एक और सिद्धान्त की स्थापना मनु के द्वारा की गयी है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति दण्ड धारण करने की सामर्थ्य नहीं रखता। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति राजपद पाने का अधिकारी नहीं है। इस प्रकार मनु सामान्य जनता को राजपद पाने के अधिकार से वंचित रखने के पक्ष में हैं। अपने इस सिद्धान्त की पुष्टि वह इस प्रकार करते हैं—"सत्यवादी समीक्षा-परायण बुद्धिमान् तथा धर्म, अर्थ और काम इन विषयों के वास्तविक रहस्य का ज्ञाता व्यक्ति दण्ड धारण कर सकता है[1]। दण्ड महातेजपुंज

१ मानव ११।७०।

होता है। शास्त्रोक्त संस्कार-रहितों द्वारा दण्ड धारण नहीं किया जा सकता। राजधर्म का पालन न करने वाला राजा यदि दण्ड धारण कर भी लेता है तो वह दण्ड बन्धु-बान्धव-सहित उस राजा का नाश कर देता है[1]।" मनु के मतानुसार शुचि सत्यप्रतिज्ञ शास्त्रविहित आचरण करनेवाले सहायकोंवाले और बुद्धिमान् राजा के द्वारा दण्ड धारण एवं उसका प्रयोग किया जा सकता है[2]।

मंत्रिपरिषद्—राजा की स्वेच्छाचारिता का दमन करने और उसे आवश्यकतानुसार समय पर शासनसम्बन्धी कार्यों में सत्परामर्श एवं सहायता देने के लिए मनु मंत्रिपरिषद् का निर्माण करते हैं। मनु का मत है कि इस जगती-तल पर जो कुछ भी है वह ब्राह्मण ही है, क्योंकि ब्राह्मण ब्रह्मा का ज्येष्ठ और श्रेष्ठ पुत्र है[3]। परन्तु धार्मिक कृत्यों के सम्पादन में संलग्न होने के कारण ब्राह्मण अपनी ओर से अपने छोटे भाई राजन्य को सुशासन-हेतु राज्य सौंप देता है। ऐसा करते हुए वह राजन्य के शासनसम्बन्धी कार्यों के पर्यवेक्षण एवं उसे आवश्यकतानुसार सत्परामर्श तथा सहायता देने का अधिकार सुरक्षित रखता है जिससे राजा स्वेच्छाचारी न होने पाये और साथ ही राज्य का शासन-प्रबन्ध सुचारु रूप से होता रहे और इस प्रकार उसके अधीन प्रजा का आत्यन्तिक कल्याण हो सके। इसी लिए ब्राह्मणों का प्रतिनिधि राजा के समीप स्थायी रूप से रहता है। वह राजा के कार्यों का सावधानी-पूर्वक पर्यवेक्षण करता रहता है और इसी प्रकार राजा को आवश्यकतानुसार सत्परामर्श एवं सहायता प्रदानहेतु प्रतिक्षण उसके समीप ही रहता है। इस प्रकार यह ब्राह्मण राजा के मुख्य मंत्री अथवा प्रधान मंत्री के रूप में कार्य करने लगता है। इस लिए उसके संरक्षण में रहकर शासन करना एवं शासनसम्बन्धी विविध विषयों पर उससे परामर्श करना तथा उसकी सहायता लेना राजा का अनिवार्य कर्तव्य हो जाता है[4]।

मंत्रिपरिषद् के निर्माण का एक और महत्त्वपूर्ण कारण मनु के मतानुसार, राजा के समस्त शासन-कार्य की विशालता एवं उसकी गुरुता तथा बहुरूपता का होना है। इस महान् कार्य का सम्पादन एक-दो व्यक्तियों के द्वारा होना असम्भव है। इस कार्य में सत्परामर्श एवं सहायता की प्राप्ति के लिए विभिन्न विषयों के विशेषज्ञ अनेक व्यक्तियों की आवश्यकता होती है[5]। अतः राजा के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि वह ऐसे व्यक्तियों को स्थायी रूप से अपने समीप रखे जिससे आवश्यकता

१ वही, २८।७ ।
२ वही, ३१।७ ।
३ वही, ९३ ।१ ।
४ वही, ५८।७ ।
५ वही, ५५।७ ।

पड़ने पर उनसे तुरन्त सत्परामर्श एवं उचित सहायता प्राप्त हो सके। इसीलिए मंत्रिपरिषद् का निर्माण अनिवार्य है।

मंत्रिपरिषद् की सदस्य-संख्या—इस प्रकार मनु के मतानुसार मंत्रिपरिषद् के लिए विविध बुद्धि-वैभव-युक्त अनेक व्यक्तियों की आवश्यकता होती है। मनु ने इन सदस्यों की संख्या भी निर्धारित की है। उनका मत है कि मंत्रिपरिषद् में सात अथवा आठ सदस्य होने चाहिए[1]। वह न तो अति अल्प संख्यावाली मंत्रिपरिषद् के पोषक हैं और न बृहद् संख्यावाली के पक्षपाती हैं। इसका कारण यह ज्ञात होता है कि मनु के समक्ष इस विषय में मंत्र गुप्त रखने और वास्तविक मत के निर्णय की जटिल समस्या रही होगी। अल्प संख्यावाली मंत्रिपरिषद् मंत्र के वास्तविक स्वरूप का निर्णय करने में सदैव समर्थ नहीं हो सकती क्योंकि ऐसी मंत्रिपरिषद् में विविध ज्ञान एवं जीवन की अनेक समस्याओं का अनुभव प्राप्त मनुष्यों का प्रतिनिधित्व होना कठिन होता है। दूसरी ओर बृहद् संख्यक मंत्रिपरिषद् किसी समस्या पर भी उचित एवं वास्तविक निर्णय पर पहुँचने में असमर्थ रहती है और यदि निर्णय पर पहुँच भी गयी तो वह उसे गुप्त नहीं रख पाती। ऐसी परिस्थिति में मनु ने मध्य मार्ग का अनुसरण किया है।

सदस्य-योग्यता—ऊपर व्यक्त किया जा चुका है कि मंत्रिपरिषद् में विविध ज्ञान और अनेक प्रकार के अनुभवयुक्त व्यक्तियों की आवश्यकता होती है। उनका शारीरिक बौद्धिक, मानसिक एवं आत्मिक विकास सामान्य स्तर से बहुत ऊँचा होना चाहिए। इसकी परख के लिए कोई साधन होना चाहिए। मनु कहते हैं कि मंत्रिपरिषद् में सदस्यता प्राप्त करने के लिए सम्यक् परीक्षा होनी चाहिए। मनु इस विषय में स्पष्ट व्याख्या देते हैं कि राजा को मंत्रिपरिषद् में सुपरीक्षित व्यक्तियों को सदस्य बनाना चाहिए[2]।

इस विषय में दूसरी योग्यता मनु के मतानुसार, शास्त्रों का सम्यक् ज्ञान है। शास्त्र अनेक हैं। इनमें व्यक्तियों के जीवन से सम्बन्धित विविध समस्याओं का हेतुयुक्त समाधान किया जाता है। इस लिए शास्त्रों के सम्यक् ज्ञान के बिना मनुष्य जीवन की गुत्थियों के सुलझाने में असमर्थ रहेगा। ऐसी परिस्थिति में वह राज्य-शासनसम्बन्धी इस सर्वोच्च समिति की सदस्यता का अधिकारी नहीं माना जा सकता। सम्भवतः इसी लिए मनु स्पष्ट व्याख्या देते हैं—"मंत्रिपरिषद् की सदस्यता शास्त्रों के सम्यक् ज्ञानवाले पुरुष को मिलनी चाहिए[3]।"

१ मानव ५।४७। २ वही, ५।४७। ३ वही, ५।४७।

प्रशासन महान् कार्य है। इसके सम्पादन के लिए अनेक योजनाओं को कार्यान्वित करना पड़ता है। ये योजनाएँ चाहे कितनी महान् एवं कल्याणप्रद क्यों न हों परन्तु जबतक उनको कार्यान्वित न किया जायगा तबतक उनसे किसी अर्थ की सिद्धि नहीं हो सकती। अत इन योजनाओं को क्रियात्मक रूप देने के लिए क्रिया कुशल एवं दृढ़संकल्प व्यक्तियों की परम आवश्यकता होती है। जो व्यक्ति अस्थिर संकल्प होता है, संकल्प-विकल्प में पड़ा रहता है और किसी भी कार्य को पूरा नहीं कर पाता ऐसे व्यक्ति से शासन-कार्य में किसी प्रकार की भी सहायता नहीं मिल सकती। इसीलिए मनु मन्त्रि-परिषद् की सदस्यता के लिए लक्ष्य की प्राप्ति करने में कुशलता की योग्यता निर्धारित करते हैं[1]।

मन्त्रि-परिषद् की सदस्यता के लिए एक और योग्यता मनु के द्वारा निर्धारित की गयी है और वह है शौर्य गुण का होना। सामान्य व्यक्ति संकट-काल उपस्थित होने पर कर्तव्य-विमूढ़ हो जाता है, जिसके कारण उपस्थित संकट हटाया नहीं जा सकता। शौर्य-सम्पन्न पुरुष ऐसी परिस्थितियों में दृढ़ रहता है और घबराता नहीं है, अपने कर्तव्य का दृढ़ता-पूर्वक पालन कर, आये हुए संकट का मोचन करने में सफल होता है। इसी विचार से मनु यह व्यवस्था देते हैं कि परिषद् की सदस्यता हेतु शूर पुरुषों का वरण किया जाना चाहिए[2]।

उपर्युक्त शारीरिक बौद्धिक मानसिक एवं आत्मिक गुणों के अतिरिक्त रक्त की पवित्रता एवं वातावरण की शुद्धता तथा उसके प्रभाव की महत्ता को भी मनु ने स्वीकार किया है। ऐसा ज्ञात होता है कि मनु की यह धारणा थी कि उच्चकुल में जन्म लेने से उच्च आचरण के निर्माण की अधिक सम्भावना होती है। इस कारण मनु उचित समझते हैं कि मन्त्रि-परिषद् के सदस्यों की नियुक्तिहेतु उन पुरुषों की खोज करनी चाहिए, जिनमें मन्त्रि-परिषद् के लिए वाञ्छनीय योग्यताएँ तो हों ही उनका जन्म भी कुलीन वंश में हुआ हो[3]। वातावरण के प्रभाव एवं उसकी शुद्धता का व्यक्ति के आचरण एवं योग्यता पर जो महान् प्रभाव पड़ता है, उसे भी मनु स्वीकार करते हैं। उनका यह विश्वास है कि जो व्यक्ति जिस कार्य को परम्परागत करता चला आ रहा है उस कार्य के सम्पादन की क्षमता उनके वंशजों में भी किसी न किसी रूप में अवश्य बनी रहती है। इस सिद्धान्त के अनुसार राजा को अपनी मन्त्रि-परिषद् की सहायता के लिए उन व्यक्तियों की खोज करनी चाहिए, जिनके वंशज राज्य की सेवा करते चले आ रहे हैं। इनसे राजभक्त पुरुषों की भी

१ वही ५४।७। २ वही ५४।७। ३ वही ५४,६२।७। ४ वही ५४।७।

प्राप्ति हो जाती है। जो वंश-परम्परा से ही राजसेवा में संलग्न रहे हों, उनकी राजनिष्ठा स्थायी होती है।

इस प्रकार मंत्रि-परिषद् की सदस्यता के लिए सम्मतों के शारीरिक, बौद्धिक, मानसिक एवं आत्मिक विकास की जानकारी के लिए उनकी परीक्षा करने का उपक्रम तथा पूछना, कार्य-कुशलता एवं दृढ़ संकल्प, कुलीन तथा परम्परागत राज-सेवी वंश में उत्पन्न होना आदि योग्यताएँ आवश्यक हैं।

कार्य-प्रणाली—राज्य में शासनसम्बन्धी अनेक विषय होते हैं। मंत्रिपरिषद् का प्रत्येक सदस्य शासनसम्बन्धी इन सभी विषयों का पूर्ण ज्ञाता नहीं हो सकता। प्रत्येक सदस्य इनमें से किसी अथवा किन्हीं विषयों का विशेष ज्ञाता होता है। इस लिए मंत्रिपरिषद् का जो सदस्य जिस विषय का विशेषज्ञ होता है उसको वही विभाग शासनहेतु सौंपा जाता है। मनु भी इसी विचार के साथ चलते हैं। वह उचित मानते हैं कि शूर, दक्ष और कुलीन सदस्य को वित्त-विभाग, शुचि आचरण की विशेषता से युक्त सदस्य को रत्न-खनि-विभाग और सदस्य को अन्तर्निवेश विभाग और सम्पूर्ण शास्त्रों के ज्ञाता मनोवैज्ञानिक शुद्ध आचरण के युक्त तथा चतुर और कुलीन व्यक्ति को सन्धि-विग्रह-विभाग का अधिष्ठाता बनाना चाहिए। मंत्रिपरिषद् के अमात्य नाम के सदस्य को दण्ड-विभाग (सेना-विभाग) और राजा को राष्ट्र एवं कोष स्वयं अपने अधीन रखना चाहिए।

विभाग-प्रथा का अनुसरण करने से शासन-सत्ता का विकेन्द्रीकरण भी हो जाता है, प्रजा के अधिकार-क्षेत्र की किसी अंश में वृद्धि हो जाती है और राजा के अधिकार-क्षेत्र की सीमा कुछ संकीर्ण हो जाती है। सम्भव है, मनु ने इस सिद्धान्त को समझा हो और इसलिए भी मंत्रि-परिषद् की कार्य-प्रणाली में इस सिद्धान्त को अपनाने के लिए व्यवस्था दी हो।

मनु का मत है कि शासनसम्बन्धी किसी भी कार्य का आरम्भ करने के पूर्व उस कार्य के गुण-दोषों की भली-भाँति विवेचना हो जानी चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु शासनसम्बन्धी प्रत्येक समस्या मंत्रि-परिषद् के सदस्यों के समक्ष प्रस्तुत की जानी चाहिए। मनु के मतानुसार उक्त समस्या पर मंत्रि-परिषद् के प्रत्येक सदस्य का पृथक्-पृथक् मत लेना चाहिए। उनका सामूहिक मत भी लेना चाहिए। ऐसा करने के उपरान्त राजा को जिस अवस्था में अपना (राज्य का) कल्याण जान पड़े उसके अनुसार उस समस्या के समाधान अथवा कार्य को रचनात्मक रूप देना

१ मानव ७।५४,५५,५६,५७।

चाहिए[1]। परन्तु राज्य के परम महत्त्वपूर्ण विषयों में अन्तिम मन्त्रणा मन्त्रिपरिषद् के सर्वश्रेष्ठ मन्त्री से प्राप्त करनी चाहिए और तदनुसार कार्य करना चाहिए[2]।

मनु ने मन्त्रणा के विषयों की ओर भी संकेत किया है। इस संकेत के अनुसार सामान्य सन्धि-विग्रह स्थान समुदय रक्षा प्राप्त अर्थ के विघ्नों के शमन के उपाय और षाड्गुण्ययुक्त परममर्म आदि मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों की मन्त्रणा के मुख्य विषय है[3]। मनु राज्य के कल्याण के लिए, मन्त्र का गुप्त रहना परम आवश्यक बतलाते है[4]। इसलिए उन्होंने मन्त्र गुप्त रहने के लिए अनेक साधनों एवं उपायों का उल्लेख किया है।

व्यवहार-स्थापना—मनुष्य सामाजिक प्राणी है। वह समाज में जन्म लेता है जीता और मरता है। समाज के सभी प्राणी एक स्तर के नहीं होते। भले-बुरे, विद्वान्-मूर्ख परोपकारी-स्वार्थी आदि सभी श्रेणियों के लोग होते है। जो भले है समाज में भला व्यवहार करते है परन्तु जो बुरे है वे इसके विपरीत आचरण करते है। इन बुरे लोगों के कारण समाज में बुराइयाँ बढ़ जाती है जिसका परिणाम परस्पर संघर्ष एवं कलह होता है। समाज से इस संघर्ष एवं कलह को निर्मूल करने के लिए बुरे प्राणियों को नियन्त्रण में रखना अनिवार्य हो जाता है। परन्तु इस कार्य की सफलता के लिए यह जान लेना आवश्यक है कि समाज में कौन व्यक्ति अपराधी है उसने किस मात्रा में और किस प्रकार का अपराध किया है एवं उस अपराध के अनुरूप उसको कितना और किस प्रकार का दण्ड मिलना उचित होगा। बस इन्हीं विषयों के ज्ञान हेतु न्याय-व्यवस्था की स्थापना की जाती है। प्राचीन भारत में न्याय-व्यवस्था को व्यवहार और इसकी स्थापना को व्यवहार-स्थापना के नाम से सम्बोधित किया गया है। मनु भी न्याय-व्यवस्था को व्यवहार के नाम से सम्बोधित करते है। व्यवहार शब्द की व्याख्या करते हुए कात्यायन लिखते है—'विनानार्थेऽवसन्देहे हरण हार उच्यते। नाना सदेह हरणाद्व्यवहार इति स्मृत[5]'। इस प्रकार उनके मतानुसार व्यवहार से तात्पर्य उस कार्य से है जिसके द्वारा नाना प्रकार के सदेह दूर किये जा सकें।

व्यवहार-क्षेत्र—मनु न्यायपालिका का क्षेत्र भी निर्धारित करते है। उनके मतानुसार न्यायपालिका का क्षेत्र व्यवहार के अट्ठारह विषयों तक सीमित है जिनको वह अट्ठारह मार्ग अथवा पद के नाम से सम्बोधित करते है। व्यवहार के ये अट्ठारह

१ मनु ५७।७। २ वही ५८।७। ३ वही ५६,५८।७।
४ वही १४८।७। ५ वही १४८।

विषय हैं—ऋण लेकर न देना अथवा बिना दिये मांगना, निक्षेप (धरोहर) बिना स्वामी किसी वस्तु का विक्रय, साझे का व्यापार अथवा कर्म, दिये हुए दान को वापस लेना, वेतन का न देना, प्रतिज्ञा भंग करना, क्रय-विक्रय सम्बन्धी विवाद, स्वामी और पशुपाल के विवाद, सीमाविवाद, कठोरवचन का प्रयोग, मारपीट, चोरी, डाका, परस्त्रीहरण, स्त्री-पुरुष के धर्म की व्यवस्था, दायभाग और द्यूत—इन्हीं अट्ठारह विषयों से सम्बन्धित विवाद-ग्रस्त समस्याओं के निराकरण हेतु व्यवहार की स्थापना की जाती है।

न्यायालयों का संगठन—व्यवहार के लिए न्यायालयों का प्रमुख स्थान होता है। मनु भी इस महत्त्व को स्वीकार करते हैं। वह विभिन्न प्रकार के न्यायालयों की स्थापना की ओर संकेत करते हैं। उनके मतानुसार राज्य में सबसे बड़ा न्यायालय धर्मसभा है। इस न्यायालय में राजा कतिपय विद्वान् ब्राह्मण एवं मन्त्रियों के परामर्श एवं सहायता से विवाद-ग्रस्त विषयों में निर्णय हेतु बैठता है। राजा मुख्य न्यायाधीश के स्थान पर बैठता है। उसके इस पद को धर्माधिकरण अथवा धर्मस्थ कहते हैं। इस धर्मसभा के नीचे एक और धर्मसभा का उल्लेख मानव-धर्मशास्त्र में है। सम्भवतः यह सभा धर्मसभा सहयोगी होगी। इस न्यायालय में वेद के ज्ञाता तीन ब्राह्मण और राजा द्वारा अधिकृत एक विद्वान् ब्राह्मण, ये चार न्यायाधीश बैठकर विवादग्रस्त विषयों पर चिन्तन कर निर्णय देते थे। इस प्रकार मानव धर्मशास्त्र में इन दो श्रेणी के न्यायालयों का उल्लेख है। इन न्यायपीठों के अतिरिक्त मानव-धर्मशास्त्र के अनुसार, इन सभाओं में प्राड्विवाक नाम का अधिकारी भी होता था जिसका कर्तव्य वादी प्रतिवादी एवं साक्षी आदि के प्रस्तुत वाद-सम्बन्धी आवश्यक सूचना का उनसे ग्रहण करना बतलाया गया है।

मनु कुलधर्म श्रेणीधर्म गणधर्म जातिधर्म तथा देशधर्म को मान्यता देते हैं और यह व्यवस्था देते हैं कि इन विभिन्न धर्मों का प्रतिपालन राजा को करना चाहिए[३]। इसका यह तात्पर्य है कि उक्त स्थानीय संस्थाएँ इन धर्मों के अनुसार आचरण करने का प्रयत्न करती थीं और जो व्यक्ति इनका उल्लंघन करता था वह दण्ड का भागी होता था। निर्णय देने के लिए न्याय-संस्थाएँ अथवा तत्सम्बन्धी न्यायालय होने चाहिए। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मनु के मतानुसार कुल, श्रेणी, गण, जाति और विशेष देशीय न्यायालय अवश्य रहे होंगे। कुल-न्यायालय में कुल के सदस्यों की विवादग्रस्त समस्याएँ, श्रेणी-न्यायालय में श्रेणी के सदस्यों से सम्बन्धित

१ वही ४-७८। २ वही ७.१।८। ३ वही ४।१।८।

और इसी प्रकार जाति, गण, जनपद, ग्राम के न्यायालयों में तत्सम्बन्धी व्यक्तियों के विवाद-ग्रस्त विषय निर्णय हेतु प्रस्तुत किये जाते थे और उनपर इन न्यायालयों में विचार होने के उपरान्त निर्णय किये जाते थे। इस प्रकार राज्य में न्यायालयों की एक लम्बी शृंखला थी जिसकी सबसे छोटी कड़ी कुल-न्यायालय और सबसे बड़ी तथा अन्तिम कड़ी राजा की अध्यक्षता में बैठने वाली धर्मसभा थी।

कार्य-प्रणाली—न्यायालयों में किस प्रकार की कार्य-प्रणाली का अवलम्बन करना चाहिए, इस विषय में भी मनु ने अपना मत प्रकट किया है। उन्होंने धर्मसभा की कार्य प्रणाली का विशद वर्णन किया है। इसके अनुसार राजा अथवा राजा द्वारा अधिकृत ब्राह्मण तथा धर्मसभा के अन्य सभ्यों को वस्त्राभूषणों से सुसज्जित एवं अलंकृत होकर सभाभवन में अपना निर्दिष्ट आसन ग्रहण करना चाहिए[1]। इस सभा में राजा अथवा उसके द्वारा अधिकृत ब्राह्मण को धर्मासन (मुख्य न्यायाधीश के आसन) पर बैठना चाहिए। धर्मसभा का दैनिक कार्य लोकपालों को प्रणाम करके प्रारम्भ होना चाहिए[2]। धर्मसभा में न्यायाधीशों एवं अन्य कर्मचारियों का व्यवहार अर्थी प्रत्यर्थी एवं साक्षियों के प्रति शिष्ट एवं विनीत होना चाहिए[3]।

जो व्यक्ति विवाद-ग्रस्त विषय प्रार्थी के रूप में न्यायालय के समक्ष निर्णय हेतु प्रस्तुत करता था और जिस व्यक्ति अथवा जिन व्यक्तियों के विरुद्ध वह विवाद होता था मनु उन्हें क्रमशः अर्थी एवं प्रत्यर्थी नाम से सम्बोधित करते हैं। अर्थी की उक्त प्रार्थना पर विचार किया जाता था और जब धर्मसभा को पूर्ण सन्तोष हो जाता था कि अर्थी की प्रार्थना सभा द्वारा निर्णय देने योग्य है, तब उसकी प्रार्थना विचार हेतु स्वीकार कर ली जाती थी। धर्मसभा अपनी सुविधानुसार उक्त विषय पर विचार करने एवं तदनुसार निर्णय देने के लिए तिथि निर्दिष्ट कर देती थी जिसकी सूचना अर्थी एवं प्रत्यर्थी दोनों को दी जाती थी। अर्थी एवं प्रत्यर्थी दोनों अपने पक्ष की पुष्टि के प्रमाणों के साथ निर्दिष्ट तिथि एवं समय पर धर्मसभा के समक्ष प्रस्तुत होते थे। यदि किसी विवाद में अर्थी अथवा प्रत्यर्थी की उपस्थिति सन्देहजनक समझी जाती अथवा धर्मसभा द्वारा दिए गए निर्णय का पालन करने में किसी प्रकार की रुकावट देख पड़ती तो ऐसी परिस्थिति में धर्मसभा चाहती तो सम्बन्धित व्यक्तियों से प्रतिभू माँगा जा सकता था। प्रतिभू का इस प्रकार एकमात्र कर्तव्य यह माना गया है कि वह जिसके लिए प्रतिभू बना है उसको न्यायालय में समय पर उपस्थित करे और यदि वह ऋण अथवा दण्ड का प्रश्न अर्थी प्रत्यर्थी अथवा साक्षी से निर्धारित

१ मानव ९।८ । २ वही ९।१।८ । ३—वही १ । ९।८ ४ वही ७।९।८ ।

समय अथवा स्थान पर भुगतान करने के लिए प्रतिभू बना है तो उस पर उस ऋण अथवा ब्याज के धन के भुगतान का पूर्ण दायित्व रहता था ।

धर्मसभा के समक्ष न्याय-सम्बन्धी कार्य का आधिक्य होता था । इस लिए अभि-योगों को सुनने एवं उन पर निर्णय देने के लिए धर्मसभा के समक्ष प्रस्तुत होने के निमित्त एक विशेष क्रम का अवलम्बन किया जाता था । अभियोगों के प्रस्तुत करने के इस क्रम के अनुसार कतिपय अभियोगों के लिए प्राथमिकता दी जाती थी । इस प्राथमिकता के निर्धारित सिद्धान्त थे । इनके अनुसार अभियोग के महत्व एवं अभि-योग से सम्बन्धित व्यक्तियों के वर्ण का विशेष ध्यान रखा जाना चाहिए अर्थात् जो अभियोग जितना अधिक महत्वशाली होगा वह उतना ही शीघ्र धर्मसभा के समक्ष निर्णयार्थ प्रस्तुत होना चाहिए । इसी प्रकार ब्राह्मण वर्ण से सम्बन्धित अभियोग अन्य वर्णों से सम्बन्धित अभियोगों की अपेक्षा अधिक शीघ्र प्रस्तुत होने चाहिए, ऐसा मनु का मत है[1] ।

विवादग्रस्त विषयों के निर्णय हेतु प्रमाणों की परम आवश्यकता बतलायी गयी है। मनु प्रमाणों को तीन श्रेणियों में विभाजित करते हैं । लेख (documentary evidence) साक्ष्य (witness evidence) और भोग (possession evidence)। लेखों की सत्यता एवं वास्तविकता की परख हेतु मनु अनेक उपायों एवं साधनों का उल्लेख करते हैं[2]। भोग प्रमाण में भी वह भोग करने की अवधि विवाद-ग्रस्त विषय के अनुसार ही निर्धारित करते हैं । इन तीनों प्रकार के प्रमाणों में महत्व की दृष्टि से सबसे प्रथम स्थान लेख को, फिर साक्ष्य को और सबसे अन्तिम स्थान भोग को दिया गया है । साक्षियों के विषय में मनु का मत है कि किसी विवादग्रस्त विषय की पुष्टि में कम-से-कम तीन साक्षियों का साक्ष्य अवश्य होना चाहिए, परन्तु विशेष परिस्थितियों में इससे कम भी साक्षी लिये जा सकते थे । साक्षी किस प्रकार के व्यक्ति होने चाहिए, इनमें सबसे प्रथम प्रतिबन्ध यह है कि साक्षी न्यायालय द्वारा निर्दिष्ट होने चाहिए । ऐसा न हो कि किसी भी व्यक्ति को तुरन्त लाकर साक्ष्य हेतु उपस्थित कर दिया जाय जिसको पूर्व-निर्दिष्ट नहीं किया गया है । उसी व्यक्ति को मनु साक्षी की श्रेणी में परिगणित करते हैं जिसने विवादग्रस्त घटना को अपनी आँखों से देखा है अथवा तत्सम्बन्धी विषयों को अपने कानों से सुना है[5] । अभियोगों में साक्षियों का परख परिष्कृत सिद्धान्तों के आधार पर होना चाहिए । इन सिद्धान्तों में सर्वप्रथम

१ मनु १९८।८। २ वही २७।८। ३ वही १९८।८।
४ वही १४३-१४९, ९ ।८। ५ वही ७४।८।

सिद्धान्त सदाचरण बतलाया गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार वही व्यक्ति साक्षी बनाये जाने चाहिए जो सब वर्णों में आप्त पुरुष हो[1]। दूसरा सिद्धान्त परिवार की सम्पन्नता का है। इसके अनुसार स्त्री-पुत्र-सम्पन्न गृहस्थ साक्ष्य देने का अधिकारी बतलाया गया है[2]। साक्ष्य-सम्बन्धी तीसरा सिद्धान्त निवास का था। इस सिद्धान्त के अनुसार घटनास्थल के समीप का स्थायी निवासी साक्ष्य हेतु वरण किया जाना चाहिए।[3] जो व्यक्ति विदेशी अथवा परदेशी है वह साक्षी नहीं समझा गया है। साक्षी सर्वधर्मवित् होना चाहिए । सर्वधर्मवित् से मनु का तात्पर्य देशधर्म जाति धर्म श्रेणीधर्म गणधर्म और कुलधर्म आदि का ज्ञाता हो। इन धर्मों के ज्ञान न होने से साक्षी अपनी अनभिज्ञता के कारण भूल कर सकता है। साक्ष्य के सिद्धान्तों में एक प्रमुख सिद्धान्त यह भी बतलाया गया है कि साक्षी सवर्ण होना ज्यादा अच्छा है अर्थात् द्विजो का साक्ष्य उनके सदृश द्विजो को शूद्रो का साक्ष्य सज्जन शूद्र को और इसी प्रकार चाण्डाल का साक्ष्य चाण्डाल को देना चाहिए[4]। स्त्रियो के साक्षी स्त्रियाँ को ही होना चाहिए, ऐसा मनु का मत है[5]।

साक्ष्य के लिए मनु ने कुछ व्यक्तियो को अयोग्य माना है। इस विषय में सर्व प्रथम सिद्धान्त अर्थसिद्धि का है। अर्थात् उस व्यक्ति का साक्ष्य अमान्य समझा गया है जिसका किसी प्रकार का अर्थ उस व्यक्ति से सिद्ध होना जान पडता है जिसके लिए वह साक्ष्य दे रहा है[6]। मित्र सेवक शत्रु, रोगी महापातक आदि से दूषित अन्यथा असत्य साक्ष्य देनेवाले पुरुष का साक्ष्य अमान्य बतलाया गया है[7]। कारीगर, नट श्रोत्रिय ब्रह्मचारी और सन्यासी को साक्ष्य-कार्य से बहिष्कृत किया गया है । दुःखी मद्यपान किये हुए, पागल क्षुधा-तृषा से पीड़ित थका काम से पीड़ित तथा क्रोध-युक्त व्यक्ति स्थिरबुद्धि नहीं होते। इस लिए उन पर आस्था नहीं की जा सकती। चोर सत्य भाषण नहीं करता। इसी कारण इन सभी व्यक्तियो को साक्षी बनाने का निषेध किया गया है। इसी प्रकार परतन्त्र कुख्यात दस्यु, निषिद्ध कर्म करनेवाला वृद्ध, बालक चाण्डाल और जिनकी इन्द्रियाँ स्वस्थ न हो ऐसे व्यक्तियो को साक्षी बनाने का निषेध किया गया है। जो व्यक्ति अकेला है अर्थात् जिसके परिवार में अन्य व्यक्ति नहीं है वह भी साक्ष्य हेतु अमान्य बतलाया गया है[8]। स्त्री-स्वभाव चपल

१ मा ६३।८। २ मा ७२।८। ३ मा ६२।८।
४ मा ६३।८। ५ मा ६८।८। ६ मा ६८।८।
७ मा ६४।८। ८ मा ६५।८।
९ मा ६७।८। १ मा ६६।८।

होता है, अतः इन्हें भी साक्ष्य देने के अयोग्य समझा गया परन्तु किन्हीं विशेष परिस्थितियों में इन सामान्य नियमों एवं सिद्धान्तों में शिथिलता कर देने का भी विधान किया गया है।

साक्षी को साक्ष्य देने के पूर्व इस विषय की शपथ लेनी पड़ती थी कि वह सत्य ही कहेगा। इस शपथ का स्वरूप वर्णानुसार निश्चित था। इसके अतिरिक्त साक्ष्य लेने के पूर्व साक्षी के समक्ष ऐसे दृष्टान्त भी प्रस्तुत किए जाते थे जिनमें सत्य साक्ष्य देने से पुण्य और मिथ्या साक्ष्य देने से महान पाप होने के इस सिद्धान्त की पुष्टि होती थी[१]। इन दृष्टान्तों को प्रस्तुत करने का एकमात्र उद्देश्य साक्षी को भयभीत करना था जिससे वह धर्मभीरु बन कर सत्य साक्ष्य ही दे।

मनु ने प्रमाणों को मुख्य दो श्रेणियों में विभक्त किया है जिन्हें वह मानुष-प्रमाण और दिव्य-प्रमाण के नाम से सम्बोधित करते हैं। मानुष-प्रमाण के अन्तर्गत पूर्वोक्त तीन प्रकार के (लेख साक्षी भोग) प्रमाण परिगणित किये गये हैं। दिव्य-प्रमाण से मनु का तात्पर्य शपथ लेना एवं कठोर परीक्षाओं द्वारा सत्य और असत्य की विवेचना करना है। ये कठोर परीक्षाएँ अग्नि को ग्रहण करना, जल में डुबोना आदि के रूप में मानी गयी हैं। मनु का मत है कि जब किसी विवाद-ग्रस्त विषय में मतभेद हो और उसमें सत्य-असत्य का निर्णय असम्भव जान पड़े और मानुष-प्रमाणों का अभाव हो, तो ऐसी अनिश्चित परिस्थिति में दिव्य-प्रमाणों का आश्रय लेना चाहिए[२]। दिव्य प्रमाण भी वर्णक्रम के अनुसार अलग-अलग निर्धारित किये गये हैं।

विवादग्रस्त विषयों में असत्य एवं मिथ्या साक्ष्य देनेवाले व्यक्ति को समुचित दण्ड मिलना चाहिए, इस सिद्धान्त की पुष्टि भी मनु ने की है[३]।

निर्णय के पुनर्विलोकन की व्यवस्था भी मनु ने दी है। मनु का मत है कि अभियोगों के अवलोकन-कार्य में यदि अमात्य अथवा प्राड्विवाक ने भूल की है (अन्यथा निर्णय दिया है) तो ऐसी परिस्थिति में राजा को स्वयं (पुनः) अवलोकन करना चाहिए और अन्यथा निर्णय (भ्रमयुक्त निर्णय) देनेवाले को दण्ड देना चाहिए। जिन-जिन विवादों में साक्षियों ने मिथ्या साक्ष्य दिया हो, उस विवाद के निर्णय पर पुनः चिन्तन करना चाहिए और पूर्व-निर्णय को निर्णय नहीं समझना चाहिए[४]। इस प्रकार इन व्यवस्थाओं के द्वारा मनु निर्णय के पुनर्विचार (appeal) के सिद्धान्त की स्थापना करते हैं।

१ मनु ८८।८। २ मनु ८१,८९।८।
३ मनु १ ७।११ ।८। ४ मनु ११४ ११५।८।
५. मनु ११८।११९।८। ६. मनु २३४ ११७।८।

धर्म-मूल—विविध धर्मों की व्याख्या कर अपराधी के अपराध की मात्रा के अनुरूप दण्ड का निर्धारण करना एवं विवाद-ग्रस्त विषयों में निर्णय देना न्यायपालिका का प्रधान कर्तव्य होता है। इसलिए न्यायपालिका के स्वरूप एवं उसके कर्तव्यों आदि के अध्ययन हेतु धर्म के स्वरूप का भी बोध होना आवश्यक है। धर्म के स्वरूप के बोध के लिए धर्म-मूल का ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य है। मनु ने धर्म मूल चार बतलाये हैं जिन्हें वह धर्म के प्रत्यक्ष लक्षण (साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्) के नाम से सम्बोधित करते हैं। ये चार धर्म-मूल वेद स्मृति सदाचार और आत्मतुष्टि हैं[1]। मनु श्रुति को वेद और धर्मशास्त्र को स्मृति मानते हैं। उनके मतानुसार ये दोनों धर्म-मूल निर्विवाद हैं क्यों कि इन्हीं से धर्म का प्रकाश हुआ है[2]। शिष्ट पुरुषों द्वारा जो आचरण किया जाता है उसे उन्होंने सदाचार की संज्ञा दी है[3]। मनु ब्रह्म देश को अपने समय का सब से श्रेष्ठ देश मानते हैं। इसीलिए उन्होंने ब्रह्म देश के लोगों के आचार को श्रेष्ठ माना है। इसी आधार पर ब्रह्म देश में परम्परा से प्राप्त वर्णों और वर्ण-सङ्करों का जो आचार मनु के समय में था उसी आचार को वह आदर्श आचार मानते और उसे सदाचार कहते हैं[4]। देशधर्म जातिधर्म श्रेणीधर्म पक्षधर्म कुलधर्म आदि धर्मों का प्रधान मूल सदाचार होता है। इसलिए सदाचार को धर्म-मूलों में महत्त्वपूर्ण माना गया है। चौथा धर्म-मूल आत्मतुष्टि अथवा आत्म-प्रियता है। आत्मा का स्वरूप निर्मल एवं पवित्र है। आत्मा मनुष्य को धर्म-पथ की ओर प्रेरित करता रहता है। मनुष्य पाप की ओर तभी जाता है जब वह आत्महनन करता अर्थात् आत्मा की प्रेरणा की उपेक्षा करता है। इसीलिए मनु ने आत्मप्रिय कार्य धर्ममूलक बतलाया है। वेद स्वतः प्रमाण माना गया है। इसी आधार पर मनु ने व्यवस्था दी है कि यदि वेद में किसी विषय में दो मत हैं तो वे दोनों मत धर्मानुकूल ही हैं, दोनों विकल्प से अनुष्ठेय हैं[5]। इस प्रकार वेद सर्वप्रधान धर्म-मूल है। वेदानुकूल होने से ही स्मृति (धर्मशास्त्र) सदाचार और आत्मतुष्टि धर्म-मूल माने गये हैं[6]।

न्यायपालिका की स्वाधीनता—मानव-धर्मशास्त्र में न्यायपालिका का जो स्वरूप दिया गया है उसका अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि मनु न्यायपालिका को कार्यपालिका एवं विधिपालिका के अनावश्यक प्रभाव से मुक्त रखने के पक्ष में है। मनु प्रतिपादित राज्य में न्याय-कार्य का अधिक अंश स्थानीय न्यायालयों द्वारा सम्पन्न होता

१ मा १२।२   २ मा १।१२   ३ मा ६।१२
४ मा १८।२   ५ मा १।१२   ६ मा ६।१२

है। इन न्यायालयों में तत्सम्बन्धी संस्थाओं द्वारा ही न्यायाधीश नियुक्त किये जाते हैं। ये संस्थाएँ जाति श्रेणी गण पूग आदि हैं और इन्हीं के द्वारा अपने-अपने क्षेत्र में न्यायाधिकारों की नियुक्ति की जाती है। इन में जातिधर्म गणधर्म श्रेणीधर्म कुलधर्म देशधर्म आदि के आधार पर अपने-अपने अधिकार-क्षेत्र के अनुसार निर्णय किये जाते हैं। ये स्थानीय न्यायालय इस प्रकार, कार्यपालिका एवं विधिपालिका के अनुचित प्रभावों से मुक्त रह कर अपने-अपने क्षेत्र में स्वाधीनता-पूर्वक कार्य करते हैं। मनु के मतानुसार राज्य की सबसे बड़ी न्याय-संस्था धर्मसभा है। इसमें सन्देह नहीं कि इस न्यायालय में राज्य की कार्यपालिका का प्रधान अधिकारी (राजा) मुख्य न्यायाधीश (धर्मस्थ) का आसन ग्रहण करता है। परन्तु उसके साथ विद्वान् एवं पवित्र ब्राह्मण भी धर्मसभा में बैठते हैं जो धर्म की व्याख्या करते हैं। इन ब्राह्मणों के द्वारा धर्म की की गयी व्याख्या के आधार पर ही राजा को प्रस्तुत विवाद ग्रस्त विषयों में निर्णय देना पड़ता है। इस प्रकार राज्य की कार्यपालिका के प्रधान अधिकारी को स्वेच्छानुसार निर्णय देने का अधिकार रहता ही नहीं। राजा विधि निर्माण करने के अधिकार से तो वंचित है ही।

इस तरह मनु ने न्यायपालिका की स्वाधीनता प्रमाणित की है और उसको कार्यपालिका एवं विधिपालिका के कुप्रभावों से नितान्त मुक्त रखने का सफल प्रयास किया है।

दण्ड-विधान—मनु ने अपराधों के अनुरूप अनेक प्रकार के दण्डों का विधान किया है। इन दण्डों के अनेक प्रकार एवं अनेक रूप हैं। ये दण्ड वाग्दण्ड धिग्दण्ड धनदण्ड कायदण्ड अथवा वधदण्ड कारागारदण्ड[1] जाति-बहिष्कारदण्ड प्रायश्चित्त दण्ड निर्वासनदण्ड[2] सम्पत्तिदण्ड[3] आदि हैं। वाणी द्वारा समझाना-बुझाना अर्थात् अपराधी को उसके अपराध से परिचित कर उसे समझा-बुझाकर छोड़ देना वाग्दण्ड माना गया है। अपराधी द्वारा किये गये अपराध को प्रकट कर उसे बुरा-भला कह कर मुक्त कर देना धिग्दण्ड बतलाया गया है। अपराधी से दण्ड रूप में धन ग्रहण कर उसे मुक्त कर देना धनदण्ड अथवा अर्थदण्ड माना गया है। काय-दण्ड अथवा वधदण्ड के अन्तर्गत विविध प्रकार के शारीरिक दण्ड बेंत या रस्सी से मारना अंग-भंग करना एवं मृत्युदण्ड परिगणित किये गये हैं। राज्य में कारागारों के निर्माण की ओर संकेत किया गया है। मनु कारागार को बन्धन-गृह के नाम

१ मा ११९।८   २ मा ११।८   ३ मा ९१९।९
४ मा १८६।५९।११   ५ मा   ६ मा ९।११९

से सम्बोधित करते हैं। उन्होंने व्यवस्था दी है कि राजा को अपने राज्य में राजमार्गों के समीप बन्धन-गृहों का निर्माण करना चाहिए और उसको इन बन्धन-गृहों का निरीक्षण समय-समय पर करना चाहिए[1]। इस व्यवस्था के आधार पर यह स्पष्ट है कि मनु ने एक श्रेणी के कतिपय अपराधियों को बन्धन-गृह में रखकर उनसे दण्ड की अवधि का भुगतान कराना उचित समझा है। मनु ने कतिपय अपराधों के लिए जातिबहिष्कार-दण्ड भी निर्धारित किया है। कुछ के लिए प्रायश्चित्त का विधान किया गया है। यह प्रायश्चित्त अपराध की लघुता एवं गुरुता के अनुसार सुसाध्य एवं क्लिष्टसाध्य अनेक प्रकार का हो सकता है। इन प्रायश्चित्तों का अनुष्ठान कर अपराधी आत्म-शुद्धि कर सकता है। कुछ अपराधों के लिए अपराधी की सम्पत्ति हरण कर लेने के दण्ड का विधान किया गया है[2]। कुछ ऐसे अपराध भी बतलाये गये हैं जिनके लिए अपराधी को निर्वासन-दण्ड दिया जा सकता है।

मनु ने संक्षेप में दण्ड के दस स्थान माने हैं—लिंग, उदर, जिह्वा, हाथ, पैर, नेत्र, नासिका, कान, धन और देह। उनका मत है कि अनुबन्ध को समझ कर देश-काल और परिस्थिति के अनुसार अपराध की लघुता एवं गुरुता का विचार करना और अपराधी की सामर्थ्य के अनुरूप दण्ड देना चाहिए[3]।

दण्ड-दान-सिद्धान्त—मनु ने अपराधियों के लिए नाना प्रकार एवं नाना रूप में दण्ड-विधान किया है। परन्तु दण्ड-विधान सोच-समझ कर करना चाहिए। मनु का मत है कि अधर्म-पूर्वक दण्ड-प्रदान कभी नहीं करना चाहिए। अधर्म से दण्ड देने से इस संसार में अयश एवं अकीर्ति होती है और परलोक में स्वर्ग का नाश होता है। जो राजा दण्ड के अयोग्य व्यक्तियों को दण्ड देता है और दण्डनीयों को दण्ड नहीं देता है वह अयश प्राप्त करता है और नरक जाता है[5]। इस दृष्टि से मनु का यह निश्चित मत है कि दण्ड निश्चित सिद्धान्तों के आधार पर दिये जाने चाहिए। इन सिद्धान्तों का मनु ने संक्षेप में उल्लेख किया है। दण्ड प्रदान करने के पूर्व अपराध का प्रथम अपराध की मात्रा, उसके प्रकार एवं स्वरूप, अपराधी की सामर्थ्य, देश-काल और परिस्थिति पर गम्भीरतापूर्ण विचार कर लेना चाहिए और इसके उपरान्त दण्ड प्रदान किया जाना चाहिए[6]। मनु द्वारा प्रतिपादित दण्ड प्रदान में एकरूपता उस रूप में दिखलाई नहीं पड़ती जैसी कि आधुनिक काल में दिखलाई पड़ती है। एक ही अपराध के लिए सभी अपराधियों को समान ही दण्ड मिलना चाहिए, मनु इस

१ मा २८८।९ २ मा १२५।८ ३ मा १२६।८
४ मा १२७।८ ५ मा १२८।८ ६ मा १२६।८

सिद्धान्त को नहीं मानते। समाज में विभिन्न स्तर के लोग होते हैं। उनके आचार, विचार, शिक्षा ज्ञान आदि में अन्तर होता है। इस अन्तर के अनुरूप ही उनके द्वारा किये जाने वाले अपराध के लिए पृथक्-पृथक् दण्ड होना चाहिए। मूर्ख और विद्वान् को समान दण्ड देना उचित न होगा ऐसा मनु का मत है। परन्तु दण्ड की इस अनेकरूपता में भी एकरूपता मानी गयी है। एक ही अपराध करने वाले मूर्ख और विद्वान् के दण्ड में बाह्य अन्तर अवश्य रहता है परन्तु दोनों का उद्देश्य एक ही है। विद्वान् पर वाक्-दण्ड सम्भवतः वही प्रभाव डालता है जो कि मूर्ख पर काय-दण्ड अथवा अर्थदण्ड। इसलिए दोनों के दण्डों में अन्तर दिखलाई पड़ते हुए भी दोनों का उद्देश्य एक ही रहता है।

पुलिस-व्यवस्था—राज्य का प्रधान कर्तव्य अपने अधीन प्रजा के जीवन सम्पत्ति एवं स्वतन्त्रता की रक्षा करना है। परन्तु उनकी रक्षा का भय बाह्य आक्रमणों एवं आन्तरिक विघ्न-बाधाओं से विशेष रूप में होता है। आन्तरिक विघ्न-बाधाओं से उनकी रक्षा हेतु राज्य अनेक उपायों एवं साधनों का आश्रय लेता है। इन उपायों एवं साधनों में पुलिस-व्यवस्था की स्थापना भी एक सफल साधन सिद्ध हुआ है। मनु ने भी राज्य में आन्तरिक शान्ति के लिए पुलिस-व्यवस्था की स्थापना का प्रतिपादन किया है।

मनु ने पुलिस के लिए संस्कृत भाषा के "रक्षाधिकृत" शब्द का प्रयोग किया है[1]। उन्होंने राज्य की सम्पूर्ण पुलिस को दो मुख्य भागों में विभाजित किया है जिन्हें अपराध-अनुसन्धान विभाग और सामान्य पुलिस विभाग इन दो श्रेणियों में परिलक्षित किया जा सकता है। प्रथम विभाग के अन्तर्गत कार्य करने वाले रक्षाधिकृत राज्य में चरों की भाँति कार्य करते हुए दिखलाये गये हैं। वे अपनी वास्तविक वेष-भूषा में जनसाधारण के सम्पर्क में नहीं आते थे। उनके कार्य गोपनीय एवं गुप्त रीति से होते थे जिनका पता जनसाधारण को होने नहीं पाता था। यह राज्य में अपराध अपराधी एवं उनके सहायकों आदि की खोज में संलग्न रहते थे और इस बात का प्रयत्न करते रहते थे कि अपराधी को अपराध करते हुए पकड़ा लिया जाय। इस विभाग में विशेष कुशाग्र बुद्धि सत्यनिष्ठ एवं विश्वासपात्र व्यक्तियों की नियुक्ति करने का प्रयत्न किया जाता था। उन्हें इस कार्य की विशेष प्रशिक्षा देने की व्यवस्था की जाती थी। इस विभाग के अधीन कई और उपविभागों के संघटन की व्यवस्था मनु ने की है। इन विभिन्न उपविभागों का कार्य-क्षेत्र सरकारी कर्मचा-

१ मा ९-२७२

रियों नगर व्यापारियों-व्यवसायियों और गुप्त रीति से चोर, जार तथा डकैतों आदि के दैनिक कार्यों का पता लगाते रहना निर्धारित किया गया है। संक्षेप में इस विभाग का कर्तव्य राज्य में जो अपराध अपराधियों द्वारा किये जा रहे हैं, राज्य के कर्मचारी प्रजाजन का जो उत्पीड़न एवं शोषण कर रहे हैं राज्य के अनेक व्यापारी एवं व्यवसायी जो प्रजाजन को ठगते हैं और जो चोर, जार तथा डाकू आदि जनता को पीड़ा पहुँचाते हैं उनकी सूचना राजा को प्रतिदिन प्राप्त कराना होना चाहिए। इसीलिए मनु ने इस विभाग के अन्तर्गत कार्य करने वाले चरों को राजा के चक्षु कहकर सम्बोधित किया है[1]।

पुलिस के दूसरे विभाग के कर्मचारियों को खुले रूप में जनता के सम्पर्क में रहकर अपने कर्तव्यों का पालन करना चाहिए, ऐसा मनु का मत है। इस विभाग के रक्षाधिकारियों को राज्य में विभिन्न स्थानों एवं क्षेत्रों में सावधानी से कार्य करना चाहिए। रक्षाधिकारी प्रजा की रक्षा सम्बन्धी कार्य सुविधापूर्वक कर सकें इस हेतु दो, तीन अथवा पाँच ग्रामों के मध्य पुलिस की एक चौकी (गुल्म) की स्थापना करनी चाहिए और प्रत्येक चौकी पर आवश्यकतानुसार रक्षाधिकारियों की नियुक्ति कर देनी चाहिए। सम्पूर्ण राज्य में पुलिस की चौकियों की स्थापना होनी चाहिए। राज्य में जिन स्थानों में अपराधों के होने की आशंका हो वहाँ रक्षाधिकारियों की नियुक्ति की जानी चाहिए। कुछ रक्षाधिकारियों को रात्रि में पहरा देने (Patrol) का कार्य सौंप देना चाहिए[2]। मनु ने कुछ विशेष स्थान बतलाये हैं जहाँ रक्षाधिकारियों की विशेष नियुक्ति की जानी चाहिए। इनमें सभा, प्रपा, हलवाई की दुकान, वेश्यालय, मद्यशाला, विशेष उत्सव-स्थान, जीर्णभवन, पुराने उद्यान, शिल्पगृह आदि हैं[3]।

इस प्रकार मनु ने पुलिस व्यवस्था की स्थापना, उसके संगठन एवं संचालन की योजना प्रस्तुत की है जो वर्तमानकालीन आधुनिक व्यवस्था से किन्हीं अंशों में मिलती-जुलती है।

कोष की उपयोगिता—राज्य-संचालन महान् कार्य है। इसके लिए प्रचुर धन की आवश्यकता होती है। धन के बिना छोटे-मोटे कार्य भी नहीं हो सकते। फिर भला राज्य-संचालन-जैसा महान् कार्य किस प्रकार सम्पन्न हो सकता है। धन की इसी आवश्यकता के कारण प्राचीन भारतीय राजनीति-ग्रन्थकारों ने सप्ताङ्ग राज्य

१ म० २५८-२६१।९ २ म० २६६।९
३ म० २६६।९ ४ म० २६४-२६५।९

का एक प्रधान अंग कोष माना है। मनु ने भी राज्य के सात अंगों में कोष को भी एक अंग बतलाया है जिसकी वृद्धि के लिए राजा को निरन्तर प्रयत्नशील होना चाहिए।

कोष-वृद्धि के सिद्धान्त—राज्य संचालन हेतु कोष-वृद्धि होनी चाहिए। परन्तु कोष-वृद्धि प्रजा से कर के रूप में अर्थ-संचय द्वारा होती है। इसलिए राजकोष की वृद्धि-हेतु प्रजा से अर्थ-संचय करना राजा का एक प्रधान कर्तव्य होता है। परन्तु राजा को अपने इस कर्तव्य का पालन निर्धारित सिद्धान्तों के आधार पर करना चाहिए। कोष के निमित्त प्रजा से धन-संचय करने के सिद्धान्तों की ओर मनु ने संकेत भी किये हैं। इन संकेतों के आधार पर मनु ने निम्नलिखित सिद्धान्तों की स्थापना की है—

(अ) प्रजा-रक्षण सिद्धान्त—मनु ने राजा को राजकोष के लिए प्रजा से धन संचय करने का अधिकार प्रजा-रक्षण सम्बन्धी राजा की सामर्थ्य पर आधारित किया है। मनु का मत है कि जो राजा प्रजा-रक्षण-कार्य न करता हुआ प्रजा से कोष वृद्धि के निमित्त कर ग्रहण करता है उसके विरुद्ध प्रजा विद्रोह करती है और मरने के उपरान्त जब वह परलोक गमन करता है तब वहाँ जाकर उसे नरक-वास करना पड़ता है[1]। इसी प्रसंग में दूसरे स्थल पर मनु ने इस प्रकार व्यवस्था दी है—प्रजा की रक्षा न करता हुआ यदि राजा प्रजा से करों (Taxes) के द्वारा धन-संचय करता है तो ऐसा राजा नरकगामी होता है और वह प्रजा के सम्पूर्ण पापों के भार का वहन करने वाला बन जाता है[2]।

मनु द्वारा दी गयी इन व्यवस्थाओं के आधार पर इस सिद्धान्त की स्थापना होती है कि राजा को अपने अधीन प्रजा से कर-ग्रहण करने का अधिकार तभी तक वैध माना गया है जब तक राजा प्रजा-रक्षण-सम्बन्धी अपने कर्तव्य का पालन निरन्तर करता रहता है। राजा ज्यों ही प्रजा-रक्षण-सम्बन्धी अपने इस कर्तव्य-पालन में प्रमाद करने लगता है वह अपने इस अधिकार से भी वंचित हो जाता है।

(आ) लाभ पर कर लगाने का सिद्धान्त—राजकोष की वृद्धि हेतु प्रजा पर कर लगाने का दूसरा प्रमुख सिद्धान्त जिसकी ओर मनु मानव-धर्मशास्त्र में संकेत करते हैं, लाभ पर कर लगाने का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार किसी व्यवसाय अथवा आय के अन्य साधनों में जो पूँजी लगायी जाती है उस पर कर नहीं लगता।

१ मा २५४।१९   २ मा १०७,१ ८।८

इस पूँजी के लगाने से जो लाभ होता है उसमें से व्यय आदि को निकाल कर जो शुद्ध बचत होती है उस पर कर लगाना विधि-विहित माना गया है। इस सिद्धान्त की स्थापना करते हुए मनु इस प्रकार व्यवस्था देते हैं—क्रय-विक्रय, मार्ग-व्यय, भरण-पोषण-व्यय, सुरक्षा-व्यय और उनके निर्वाह-व्यय का सम्यक प्रकार देखकर व्यापारियों पर कर लगाने चाहिए[1]।

मनु इस व्यवस्था के द्वारा लाभ पर कर लगाने के सिद्धान्त की स्थापना करते हैं और मूलधन एवं व्यवसाय-सम्बन्धी अन्य व्ययों में जो धन लगाया गया है उसे कर से मुक्त रखने के समर्थक हैं।

(ग) राष्ट्रीय योजना-सिद्धान्त—प्रजा पर कर लगाने का तीसरा सिद्धान्त जिसकी मनु ने स्थापना की है राष्ट्रीय योजनाओं को कार्यान्वित करने के आधार पर है। राष्ट्र को सुसम्पन्न एवं समृद्ध बनाने के लिए राजा को अनेक योजनाएँ बनानी पड़ती और उन्हें समयानुसार कार्यान्वित करना पड़ता है। परन्तु इन योजनाओं के कार्यान्वित होने के लिए समुचित धन की आवश्यकता होती है। राजा यह धन करों के रूप में अपनी प्रजा से प्राप्त करता है। इसी विचार से मनु ने भी राजा को योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए अपने अधीन प्रजा पर कर लगाने का अधिकार विधिविहित माना है। परन्तु राजा के इस अधिकार पर मनु यह प्रतिबन्ध लगाते हैं कि ये योजनाएँ प्रजा के कल्याण की वृद्धि करने वाली होनी चाहिए अर्थात् इन योजनाओं के कार्यान्वित होने से राष्ट्र की सुसम्पन्नता एवं उसकी समृद्धि का पूर्ण योग होना चाहिए[2]।

इस प्रकार मनु राष्ट्रीय योजना-सिद्धान्त के आधार पर राजा को कर-वृद्धि करने का अधिकार देने के पोषक हैं।

(घ) व्यथा-मुक्ति-सिद्धान्त—मनु का मत है कि राजकोष के निमित्त प्रजा से करों के रूप में धनसंचय हेतु ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए जिससे प्रजा से धन-संचय तो कर लिया जाय परन्तु यह धन देने में उसे किसी प्रकार का क्लेश न अनुभव होने पावे। इसी लिए मनु प्रजा पर कर लगाने में व्यथा-मुक्ति-सिद्धान्त का आश्रय लेना उचित समझते हैं। अपने इस सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिए वह बछड़ा, जोंक और षट्पद (भौंरा) का उदाहरण देते हुए व्यवस्था देते हैं—बछड़ा अपनी माता का पय-पान अल्प-अल्प एवं धीरे-धीरे इस प्रकार करता है कि गाय उसे पय-पान कराने में लेश मात्र भी क्लेश अथवा व्यथा का अनुभव नहीं कर पाती अपितु आनन्दित

१ मनु० १२७।७ २ मनु० १२८।७

होती है। जल-वास पुर-पाय शरीर में चिपटकर धीरे-धीरे एवं धीमे-धीमे रक्त पान करती है और तृप्त होकर पृथक् हो जाती है परन्तु पशु को इस विषय का लेश मात्र भी बोध नहीं होने पाता कि उसके शरीर से रक्त-पान किया गया है। षट्पद पुष्प पर बैठकर इस प्रकार मधुपान करता है कि पुष्प को इस विषय का भास भी नहीं होने पाता कि उससे उसका मधु ग्रहण किया जा रहा है। मनु का मत है कि राजा को अपने अधीन प्रजा पर कर लगाने और उसके ग्रहण करने में इन्हीं उदाहरणों का आश्रय लेना चाहिए[1]।

(ग) अधिक कर-निषेध-सिद्धान्त—मनु इस सिद्धान्त का विरोध करते हैं कि प्रजा पर उसकी सामर्थ्य से अधिक कर लगाये जायें। उनके मतानुसार राजा में प्रजा के धन-हरण की लिप्सा राजा और प्रजा दोनों का नाश करती है। मनु का आदेश है कि राजा को अपनी प्रजा पर उचित मात्रा में कर लगाना चाहिए जिससे राज्य का शासन विधिवत् संचालित होता रहे और साथ ही प्रजा का भी मूलोच्छेदन न होने पाये। प्रजा से उसकी सामर्थ्य के बाहर कर लेना अथवा उससे इतनी अल्प मात्रा में लेना जिससे राज्य-संचालन कार्य विधिवत् संचालित न हो सके इन दोनों प्रकार की नीतियों का अनुसरण करने का निषेध मनु ने किया है। प्रथम नीति का अनुसरण प्रजा का मूलोच्छेद करता है और दूसरी नीति का आश्रय लेने से राज्य का नाश होता है। इसलिए राजा को ऐसी नीति का अनुसरण करना चाहिए जिससे प्रजा और राजा दोनों का कल्याण सम्भव हो। मनु प्रजाशोषण के विरुद्ध अपना मत प्रदर्शन हेतु इस प्रकार व्यवस्था देते हैं—जो राजा मूर्खतावश अपने अधीन राष्ट्र का शोषण करता है वह राज्य से शीघ्र भ्रष्ट होकर अपने बन्धु-बान्धव एवं स्वयं अपना नाश करता है[2]। जिस प्रकार शरीर का शोषण करने से प्राणियों के प्राण क्षीण हो जाते हैं उसी प्रकार राष्ट्र के शोषण से राजाओं के प्राण क्षीण हो जाते हैं[3]।

इस प्रकार मनु ने अधिक कर-निषेध-सिद्धान्त की स्थापना की है।

कोष-संचय के साधन—राजकोष में जो धन-धान्य तथा अन्य आवश्यक सामग्री संगृहीत की जाती थी उसका प्रधान अंश प्रजा से कर रूप में प्राप्त किया गया धन-धान्य एवं अन्य सामग्री होती थी। मनु ने इनमें से कतिपय करों का उल्लेख किया है। उनके मतानुसार यह कर बलि शुल्क दण्ड भाग आदि हैं। इनका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है।

१ मनु १२९।७
२ मनु १११।७
३ मनु ११२।७

(अ) बलि—प्रजा-रक्षण हेतु राजा द्वारा जो व्यवस्था की जाती है उसके कार्यान्वय के लिए राजा को धन-धान्य एवं अन्य आवश्यक सामग्री की आवश्यकता पड़ती है। इस धन-धान्य एवं सामग्री को राजा प्रजा से कर रूप में प्राप्त करता है। यही कर मनु द्वारा बलि नाम से सम्बोधित किया गया है। यह कर विशेष रूप में ग्राम-वासी जनता पर लगाया जाना चाहिए, ऐसा मनु का मत ज्ञात पड़ता है। मनु बलि नाम के कर ग्रहण करने का अधिकारी उसी राजा को मानते हैं जो प्रजा-रक्षण की समुचित व्यवस्था करता है। प्रजा-रक्षण कार्य में प्रमाद करने वाला राजा इस कर के ग्रहण करने का अधिकारी नहीं है। इस सिद्धान्त की स्थापना करते हुए मनु ने स्पष्ट व्यवस्था दी है—जो राजा अपने अधीन प्रजा की रक्षा नहीं करता और उससे बलि नाम का कर ग्रहण करता है उसको सम्पूर्ण प्रजा का समस्त पाप का ग्रहण करने वाला जानना चाहिए। इसी प्रसंग में उन्होंने बलि कर की दर भी स्पष्ट कर दी है। इसके अनुसार यह कर लाभ का छठा भाग निर्धारित किया गया है[1]। ग्रामिक नाम के ग्राम के अधिकारी को अपने अधीन ग्रामवासियों से अन्न पान ईंधनादि के रूप में बलि एकत्र कर सम्बन्धित अधिकारी के पास राजकोष के निमित्त प्रति वर्ष अथवा प्रतिमास भेजते रहना चाहिए[2]। यद्यपि मनु ने इस प्रसंग में बलि शब्द का प्रयोग नहीं किया है, परन्तु प्रसंग से ऐसा ही ज्ञात होता है। इसी प्रसंग में अन्य स्थल पर वह स्पष्ट व्यवस्था देते हैं कि राजा को राष्ट्र से बलि के संचय हेतु आप्त पुरुषों की नियुक्ति करनी चाहिए[3]। मनु द्वारा दी गयी इस व्यवस्था से भी यही ज्ञात होता है कि बलि नाम का कर आधुनिक मालगुजारी के रूप में ग्रामवासियों पर लगाया जाता था। मनु अन्यत्र इस सिद्धान्त की स्थापना करते हैं कि बलि कर प्रजा-रक्षण हेतु ही लगाना उचित है। इस विषय में वह स्पष्ट व्यवस्था देते हैं—"जो राजा चोरों आदि से प्रजा की रक्षा नहीं करता है और उनसे बलि ग्रहण करता है ऐसे राजा की प्रजा उससे वैर करती है और वह स्वर्ग से भी च्युत हो जाता है[4]।

(आ) शुल्क—राजकोष की वृद्धि हेतु शुल्क (कर) को भी मनु ने एक प्रधान साधन माना है[5]। उनके मतानुसार शुल्क कर उन व्यापारिक सामग्री एवं उन वस्तुओं पर लगना चाहिए जो बाजारों अथवा हाटों में विक्रय हेतु लाया करती है। इस प्रकार यह कर आधुनिक चुंगी (Octroi) कर से मिलता जुलता है। शुल्क की दर पर भी मनु ने अपना मत प्रकट किया है। उनके मतानुसार व्यापारी के लाभ

१ म० ३०८।८ २ म० ११८।७ ३ म० ८०।७
४ म० ३०७।८ ५ म० १२७।७

का बीसवां भाग राजा को शुल्क कर मिलना चाहिए[1]। शुल्क-ग्रहण की सुविधा हेतु शुल्क-ग्रहण स्थान बतलाये गये हैं। मनु इस विषय में मौन हैं कि शुल्क-ग्रहण-स्थान कहाँ होने चाहिए। परन्तु प्रसंग से ज्ञात होता है कि वह बाजार अथवा हाटों को जाने वाले मार्गों पर अथवा राज्य या नगरों की सीमा पर ऐसी चौकियों के निर्माण के पक्ष में थे। इन्हीं चौकियों पर विक्रय हेतु बाजारों एवं हाटों में जाने वाली सामग्री तथा वस्तुओं पर निर्धारित दर के अनुसार शुल्क ग्रहण किये जाने की व्यवस्था थी। मनु उस व्यक्ति के लिए दण्ड निर्धारित करते हैं जो शुल्क-स्थान (शुल्कगृह) पर बिना शुल्क भुगतान किये हुए दूसरे मार्ग से बाजार में पहुँच कर वस्तु अथवा सामग्री का क्रय-विक्रय करता है। मनु द्वारा दी गयी यह व्यवस्था इस विषय की पुष्टि करती है कि मनु ने शुल्क-ग्रहण हेतु शुल्क-चौकियों (चुंगीघर) की स्थापना का प्रतिपादन किया है। मनु ने शुल्क के बिना भुगतान किये हुए माल की बिक्री करने वाले व्यापारी को कितना दण्ड मिलना चाहिए इस विषय पर भी अपना मत दिया है। वह व्यवस्था देते हैं कि यदि कोई व्यक्ति शुल्क चौकी पर शुल्क का बिना भुगतान किये हुए अपने माल की बिक्री करता है, अथवा वह अन्य का माल क्रय करता है अथवा निर्धारित समय के अतिरिक्त क्रय विक्रय करता है अथवा वस्तु या तौल-माप में झूठ बोलता है तो उस व्यक्ति पर निर्धारित शुल्क कर का आठ गुना अथवा जितने मूल्य की वस्तु के लिए झूठ बोलता है उसका आठ गुना दण्ड होना चाहिए[2]। मनु के मत से जब व्यापारी का भी लाभ हो तब यह कर लगाया जाना चाहिए, अन्यथा नहीं। क्रय-विक्रय तथा सम्बन्धी व्यय व्यापारी के मार्ग-व्यय एवं भोजन आदि व्यय को ध्यान में रख कर शुल्क का निर्धारण किया जाना चाहिए[3]। व्यापारी और राजा दोनों को फल प्राप्त हो, ऐसा विचार कर राजा को कर लगाना उचित है।

(ख) दण्ड-कर—राजकोष की वृद्धि के निमित्त बताये गये साधनों में उन्होंने दण्ड को भी स्थान दिया है। मनु दण्ड के दस स्थान मानते हैं। दण्ड के ये दस स्थान लिंग उदर, जीभ हाथ पैर, नेत्र कान नाक शरीर और धन बतलाये गये हैं[4]। इस प्रकार दण्ड का एक स्थान धन राज्य नागरिकों के लिए विधि निर्माण करता है। इन विधियों का पालन नागरिकों के लिए आवश्यक होता है। इन विधियों को

१ मनु ८।३९८ २ मनु ८।४००
३ मनु ८।४०१ ४ मनु ८।१२५
५ मनु ८।१२९ ६ मनु ८।१२८

ग करने वाले नागरिकों को राज्य की ओर से दण्ड दिया जाना चाहिए। इन दण्डों में अर्थ-दण्ड भी है। उन्होंने यह भी व्यवस्था दी है कि अपराधी के अपराध के अनुबन्ध को समझ कर देश-काल परिस्थिति एवं अपराधी की सामर्थ्य के अनुसार दण्ड देना चाहिए। यही बात अर्थ-दण्ड के विषय में भी लागू होती है। अर्थ-दण्ड द्वारा प्राप्त धन राजकोष में संचित किया जाना चाहिए [1]।

मनु केवल उसी राजा को अर्थ-दण्ड से धनप्राप्ति करने का अधिकारी मानते हैं जो अपने अधीन प्रजा की सम्यक रक्षा में रत रहता है। इसलिए मनु के मतानुसार अर्थ-दण्ड द्वारा प्राप्त धन प्रजा-रक्षण-कार्य में व्यय होना चाहिए। इसके विपरीत जो राजा इस धन का उपयोग प्रजा-रक्षण-कार्य में नहीं करता वह नरक-गामी होता है [2]।

मनु ने मानव-धर्मशास्त्र में अर्थ-दण्ड के अनेक उदाहरण दिए हैं। अर्थ-दण्ड के इन उदाहरणों से ज्ञात होता है कि राजकोष में अर्थदण्ड द्वारा प्राप्त धन का प्रमुख भाग होता था। मनु ने मिथ्या भाषण करनेवाले व्यक्ति को कतिपय परिस्थितियों में अर्थ-दण्ड देने की व्यवस्था दी है। इस विषय में वह यह आदेश देते हैं कि लोभ के कारण मिथ्या साक्ष्य देने पर एक हजार पण का दण्ड दिया जाना चाहिए, और मोह के कारण मिथ्या साक्ष्य देने से प्रथम साहस दण्ड और भय से मिथ्या साक्ष्य देने पर दो मध्यम साहस मैत्री के कारण मिथ्या साक्ष्य देने से प्रथम साहस का चार गुना दण्ड देना चाहिए[3]। ग्राम अथवा देश के संघों में जो पुरुष किसी नियम का वचन देकर फिर पूरा नहीं करता ऐसे पुरुष को राज्य से निर्वासित कर देना चाहिए, और प्रतिज्ञा के भंग करनेवाले उस निर्वासित को पकड़वा कर प्रथम चार सुवर्ण (सिक्का विशेष) छ निष्क और एक चाँदी का शतमान दण्डरूप में ग्रहण करना चाहिए [4]। जिस खेत में बाड़ लगी हुई है जो मार्ग के पास स्थित है ऐसे खेत में अथवा ग्राम के समीपवर्ती खेत में चरवाहा साथ होने पर भी पशु चरें तो चरवाहे पर एक सौ पण दण्ड होना चाहिए [5]। द्विजातियों को अपने समान वर्ण के द्वारा गाली आदि देने पर बारह पण दण्ड मिलना चाहिए। न कहने योग्य शब्दों के प्रयोग पर उसको दो गुना दण्ड देना चाहिए [6]।

मनु ने अर्थ-दण्ड के विषय में इसी प्रकार की अनेक व्यवस्थाएँ दी हैं। चोरी साहस व्यभिचार, मिथ्या साक्ष्य हिंसा आदि अपराधों के निमित्त यहाँ अन्य प्रकार

१ मा ११६।८ २ मा १ ७।८ ३ मा १२।८
४ मा २१९-२१।८ ५ मा २४।८ ६ मा २६९।८

का भुगतान करना चाहिए[1]। परन्तु दैवी कारण-वश होनेवाली हानि का भुगतान करने के लिए नाविकों को विवश नहीं करना चाहिए। इस प्रकार की हानि तो स्वयं नौकारूढ़ व्यक्ति को ही भोगनी होगी। मनु के अनुसार नाव के द्वारा तरण सम्बन्धी व्यवहार में ऐसा ही निर्णय मान्य है[2]।

(च) पशु-कर—पशु-व्यापारी पर पशु-कर लगाना चाहिए। मनु के मतानुसार यह कर लाभ का पचासवाँ भाग होना चाहिए[3]। इस प्रकार पशु-कर भी राजकोष की वृद्धि का एक साधन है।

(छ) आकर-कर—मनु ने आकर-कर की ओर भी संकेत किया है। इस विषय में मनु यह व्यवस्था देते हैं—"राजा को प्रजा से सुवर्ण के लाभ का पचासवाँ भाग राजकोष की वृद्धि-हेतु प्राप्त करना चाहिए[4]।"

(ज) श्रम-जीवी एवं शिल्पी-कर—राज्य में जो श्रम एवं शिल्पकला द्वारा धन कमाते हैं, उनसे उसका कुछ भाग राज्य को भी प्राप्त होना चाहिए, ऐसा मनु का मत है। उनके मत से यह कर धन के रूप में न प्राप्त कर, श्रम एवं कला के ही रूप में प्राप्त करना उचित होगा। इस दृष्टि से यह कर राजकोष का प्रत्यक्ष साधन नहीं माना जा सकता। हाँ इसे परोक्ष साधन मान लेने में कोई आपत्ति नहीं है। इस कर के विषय में मनु व्यवस्था देते हैं—"लोहार, बढ़ई आदि शिल्पी एवं शूद्र जो श्रम करके अपनी आजीविका कमाते हैं उनसे महीने में एक दिन राजा को कुछ काम करा लेना चाहिए[5]।

इस प्रकार श्रमजीवी एवं शिल्पी जनता पर तत्सम्बन्धी कर लगाने के सिद्धान्त की स्थापना मनु ने की है। सम्भवतः कर के इस स्वरूप ने आगे चलकर बेगार का रूप धारण किया जो बाद में प्रजा-पीड़न का साधन बन गया और जिसके निर्मूलन हेतु आधुनिक युग में बेगार-निरोध-सम्बन्धी कानून बनाने पड़े।

विभागीय आय-पद्धति—आधुनिक काल में जनतान्त्रिक राज्यों में इस पद्धति को अपनाने का विशेष प्रयत्न किया जाता है कि प्रत्येक विभाग यथासम्भव स्वावलम्बी बना रहे। प्रत्येक विभाग का संगठन एवं संचालन इस विधि से किया जाय कि उस विभाग से जो आय हो उसी से उसका पोषण हो सके। इसमें सन्देह नहीं कि राज्य में कतिपय विभाग ऐसे भी होते हैं जो आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी नहीं होते। दूसरी ओर कतिपय विभाग ऐसे भी होते हैं जिनकी आय उनके व्यय से कहीं अधिक

१ मा ४०८।८ २ मा ४ ९।८ ३ मा ११ ७०
४ मा ११ ७ ५ मा ११८।०

होती है। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या मनु भी इस प्रकार की विभागीय न्याय-व्यवस्था-पद्धति के पोषक थे ? मनु ने स्पष्ट रूप में यह कहीं नहीं लिखा है कि विभागीय व्यय-पद्धति का अवलम्बन करना चाहिए। परन्तु इस विषय में इतना अवश्य है कि उन्होंने कतिपय ऐसे संकेत दिये हैं जिनके आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि मनु भी इस सिद्धान्त के पोषक रहे होंगे। उन्होंने यह व्यवस्था दी है कि बलि दण्ड और शुल्क करों की आय प्रजा की रक्षा में व्यय होनी चाहिए। इस प्रकार मनु द्वारा दी गयी इस व्यवस्था से ज्ञात होता है कि बलि दण्ड और शुल्क द्वारा प्राप्त धन का अधिक अंश प्रजा-रक्षण-कार्य में व्यय होना चाहिए। ग्रामों में अधिपतियों का कर्तव्य निर्धारित करते हुए मनु ने यह स्पष्ट आदेश दिया है कि वह ग्रामिक अपने अधीन ग्रामों से धन-धान्य-ईंधनादि राजांश एकत्र कर राजकोष के निमित्त भरते रहें और इस ग्राम में यदि किसी प्रकार की अशान्ति उत्पन्न हो जाय तो उन्हें उसकी सूचना तुरन्त अपने ऊपर के अधिकारियों को देनी चाहिए। इससे स्पष्ट है कि ग्राम में शान्ति-व्यवस्था की स्थापना में उक्त धन-धान्य आदि का व्यय किया जाता होगा। इसी प्रकार प्रजा के अधिकार-रक्षा हेतु न्याय-व्यवस्था के क्षेत्र में दण्ड द्वारा प्राप्त धन और व्यापार एवं व्यवसाय क्षेत्र में प्रजा की सुविधा एवं उनके हितों की रक्षा में शुल्क द्वारा प्राप्त धन व्यय होना चाहिए।

बाजारों का प्रबन्ध एवं संचालन—बाजारों एवं हाटों को व्यवस्थित करने और उनके नियमानुसार संचालित तथा नियमन-हेतु मनु ने कतिपय व्यवस्थाएँ दी हैं। मनु ने उन व्यक्तियों के लिए दण्ड का विधान किया है जो क्रय-विक्रय-सम्बन्धी निर्धारित नियमों का उल्लंघन करते हैं। इस विषय में मनु ने एक यह नियम निर्धारित किया है कि राजा द्वारा निषिद्ध व्यापारिक सामग्री के बेचने अथवा बाजारों के अतिरिक्त अन्य स्थानों पर ले जाकर विक्रय करनेवाले का सर्वस्वहरण कर लिया जाना चाहिए।

बाजार एवं हाट के प्रबन्ध और उनके संचालन का एक यह नियम बतलाया गया है कि राजा को बाजार एवं हाट में प्रत्येक वस्तु अथवा सामग्री के विक्रय की दर आने-जाने का व्यय, स्थान तथा वृद्धि और क्षय इन समस्त विषयों का विचार कर निश्चित करनी चाहिए। मनु का मत है कि राजा को पाँच-पाँच दिन अथवा पक्ष-पक्ष के लिए वस्तुओं एवं अन्य सामग्री की विक्रय-दर प्रत्यक्ष नियत करते रहना चाहिए[३]। मनु तीर्थ-स्थान के मार्गों में नौका-चढ़ी के व्यापारियों को मुक्त रखना

१ मा ११९।८ २. मा ४ ३।८ ३ मा ४ ९।८

चाहते हैं। इसलिए उन्होंने व्यवस्था दी है कि बाजारों में माप-तौल के जिन साधनों का उपयोग किया जाय राज्य की ओर से उनका भली-भाँति निरीक्षण प्रति छः मास के उपरान्त होना चाहिए[1]। मनु ने बाजार में शुद्ध वस्तु एवं सामग्री प्राप्त हो इसकी व्यवस्था-हेतु नियम निर्धारित किये हैं। उन्होंने बाजार में विक्रय-हेतु वस्तु या सामग्री में दूसरी मिलती-जुलती वस्तु या सामग्री को मिलाकर बेचने का निषेध किया है। तौल-माप में कम देने का भी उन्होंने निषेध किया है। इस विषय में वह व्यवस्था देते हैं—"एक वस्तु दूसरी वस्तु के रूप में मिलती-जुलती हो तो ऐसी वस्तु को दूसरी वस्तु के बदले छल से बेचना उचित नहीं है। सारहीन तौल-माप में कम और बिना दिखलाये हुए वस्तु या सामग्री का बाजार में विक्रय करना अनुचित है[2]।

इस प्रकार उन्होंने बाजारों एवं हाटों के संगठन तथा संचालन में व्यापारियों, व्यवसायियों एवं राज्य तथा जनता सबके हित को दृष्टि में रखा है।

राष्ट्र-संगठन—प्राचीन भारत में राज्य के दो प्रमुख विभाजन किये गये हैं। इन दोनों विभाजनों को पुर या दुर्ग और राष्ट्र कहा गया है[3]। दूसरे स्थल पर मनु ने इन विभाजनों को पुर और राष्ट्र बतलाया है। इस प्रकार मनु पुर और दुर्ग एक पर्यायवाची मानते हैं जिससे तात्पर्य राजधानी (Capital) से है।

राष्ट्र में ग्रामों की बहुलता होती है। अतः इन ग्रामों को संगठित करने के लिए मनु ने दशमलव-सिद्धान्त को अपनाया है। मनु शासन की दृष्टि से ग्राम को राज्य का घटक मानते हैं। इसके उपरान्त दस ग्रामों, सौ ग्रामों और सहस्र ग्रामों के संगठन होने चाहिए, ऐसा मनु का मत है। ग्राम के शासन-हेतु उन्होंने एक अधिकारी की नियुक्ति की व्यवस्था की है। इस अधिकारी को ग्राम में शान्ति स्थापना की व्यवस्था करनी चाहिए। यदि उसके अधीन ग्राम में शान्ति-भंग होने की किसी प्रकार भी संभावना जान पड़े तो उसको इसकी सूचना दस ग्रामों के अधिपति को तुरन्त देनी चाहिए[4]। अन्न, पान, इन्धनादि जो कुछ भी ग्राम की प्रजा राजांश के रूप में देते हैं उन सबका उसे संचय करना चाहिए और फिर उन्हें राजकोष के लिए भेजते रहना चाहिए। ग्राम के इस अधिपति को मनु ग्रामिक नाम से सम्बोधित करते हैं[5]। ग्राम के उपरान्त दस ग्रामों का संगठन बतलाया गया है। दस ग्रामों के क्षेत्र का अधिपति दशग्रामपति है। इस अधिकारी को अपने अधीन दस ग्रामों

१ मा ४०३।८ २ मा २०३।८ ३ मा २९।७ ४ मा ११६।७
५ मा ११६।७ ६ मा १२८।७ ७ मा ११६।७ ८ मा ११६।७

के सुशासन एवं रक्षाप्रबंध करने की उचित व्यवस्था करनी चाहिए। दस ग्रामों के क्षेत्र के उपरान्त उसके लगभग दोगुना बड़ा क्षेत्र बतलाया गया है। यह बीस ग्रामों का क्षेत्र है। इस क्षेत्र का अधिपति विंशग्रामाधिपति अथवा विंशी का अपने क्षेत्र में वही कर्तव्य है जो कि दशग्रामाधिपति का अपने क्षेत्र में होता है[1]। यही क्रम सौ ग्रामों के क्षेत्रों एवं सहस्र ग्रामों के क्षेत्रों में भी है और उनके अधिपति शत-ग्रामाधिपति और सहस्रग्रामाधिपति कहे जाते हैं[2]। सहस्र ग्राम के अधिपति को राजा के एक सचिव के अधीन होना चाहिए[3]।

इन विभिन्न अधिकारियों के वेतन भी मनु ने निर्धारित किये हैं। केवल ग्रामिक का वेतन नहीं दिया गया है। इन अधिकारियों के वेतन-निर्धारण में जागीर सिद्धान्त को अपनाया गया है। मनु ने इन के लिए नकद वेतन निर्धारित नहीं किया है। उनके मतानुसार दस ग्रामों के अधिपति को उसकी सेवा के लिए एक कुल का भोग करना चाहिए, बीस ग्रामों के अधिपति को एक ग्राम का और सहस्र ग्रामों के अधिपति को एक नगर का भोग करना चाहिए[4]। इसका तात्पर्य यह है कि इन अधिपतियों को क्रमशः एक कुल पाँच कुल एक ग्राम और एक नगर से जो राजाय देय हो वह इन्हें भोग-हेतु मिलना चाहिए। बस यही इनके वेतन माने गये हैं। इस प्रसंग में कुल से मनु का क्या तात्पर्य है? इसे उन्होंने स्पष्ट नहीं किया है। परन्तु कुल्लूक भट्ट ने अन्य स्मृतियों का आश्रय लेते हुए कुल शब्द की व्याख्या यों की है कि छः बैल का एक मध्यम हल होता है। ऐसे दो हलों से जोती जानेवाली भूमि को 'कुल' संज्ञा दी गयी है। चनेश्वर ने कुल को एक हल से जोती जाने वाली भूमि माना है।

राष्ट्र में ग्राम-बस्तियों के अतिरिक्त नगरों का भी मनु ने उल्लेख किया है। नगरों की संख्या ग्रामों की अपेक्षा अति अल्प रही होगी। इसीलिए नगरों के प्रबन्ध की ओर मनु ने विशेष ध्यान नहीं दिया है। मनु प्रत्येक नगर के प्रबन्ध के लिए एक अधिकारी की नियुक्ति की व्यवस्था देते हैं। इस अधिकारी को वह सर्वार्थचिन्तक नाम देते हैं। इस अधिकारी का मुख्य कर्तव्य अपने अधीन नगर-निवासियों के समस्त अर्थों का चिन्तन कर उन्हें उनकी प्राप्ति कराना जान पड़ता है[5]। इस कर्मचारी की स्थिति एवं इसके कर्तव्यों की ओर संकेत करते हुए वह इस प्रकार आदेश देते हैं—"सर्वार्थचिन्तक नाम के राजकर्मचारी को अन्य राजकर्मचारियों के

१ मा ११६।७० २ मा ११५।७० ३ मा ११७।७०
४ मा ११९।७० ५ मा १२१।७०

मध्य परिक्रमा (दौरा) करते हुए उनके बीच इस प्रकार रहना चाहिए, जैसे नक्षत्रों के मध्य एक ग्रह घोर रूप धारण कर, उन पर शासन करता है[1]। इस सर्वार्थ चिन्तक को अपने अधीन समस्त प्रजा के सुख-दुख का निरन्तर ज्ञान रखना चाहिए। मनु सर्वार्थचिन्तक के अधीन गुप्तचर रखने की भी व्यवस्था देते हैं। उसको इन गुप्तचरों द्वारा अपने अधीन जनता के विषय में पूरी जानकारी रखनी चाहिए और इस प्रकार दुष्ट कर्मचारियों से प्रजा की रक्षा करते रहना चाहिए, क्योंकि राजा द्वारा नियुक्त किये गये राजकर्मचारियों में प्रजा के धनहरण करने वाले और वंचक भी होते हैं[2]। जो पापबुद्धि कर्मचारी कार्यार्थियों से धन लेते हैं उन कर्मचारियों का सर्वस्व हरण कर, उन्हें अपने राज्य से बहिष्कृत कर देना चाहिए[3]।

नगर के कर्मचारियों एवं अधिकारियों के वेतन के विषय में मनु मौन हैं। अतः इस विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

पुर—राज्य की राजधानी का आधार दुर्ग होना चाहिए। मनु ने छः प्रकार के दुर्ग बतलाये हैं—"धनुदुर्ग महीदुर्ग जलदुर्ग वृक्षदुर्ग सेनादुर्ग और गिरिदुर्ग। इन दुर्गों में किसी एक दुर्ग का आश्रय लेकर पुर बसाना चाहिए[4]। पुर में जिस दुर्ग का आश्रय लिया गया है उस दुर्ग को आयुध धन-धान्य वाहन ब्राह्मणों शिल्पियों यन्त्रों सुन्दर जल और ईंधनादि से सुसम्पन्न रखना चाहिए[5]। इस दुर्ग के मध्य में राजा का वास-स्थान होना चाहिए। राजा का यह वास-स्थान सब ऋतुओं के फल-पुष्प वाले वृक्षों एवं स्वच्छ जलयुक्त और चारों ओर दीवारों से सुरक्षित होना चाहिए[6]। ऐसे गृह में रानी-सहित राजा को निवास करना चाहिए।[7]

जिस भूमि में नगर बसाया जाय उसके लक्षणों का भी उल्लेख मनु ने किया है। इस भू भाग में अनेक प्रकार के वृक्ष घास जल धान्य आदि की उपज की पूर्ण सुविधा होनी चाहिए। वहाँ पर सद् आर्यजन वास करते हों रोगादि उपद्रवों से मुक्त देखने में रमणीय और पुष्पयुक्त और हर प्रकार से सम्पन्न एवं स्वास्थ्यप्रद होना चाहिए।

मनु ने पुर की शासन-व्यवस्था पर अपने विचार प्रकट नहीं किये हैं। अतः इस विषय पर मौन रहना ही उचित होगा।

अन्तरराज्य-सम्बन्ध—मानवधर्मशास्त्र के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उसके

१ मा १२१।० २ मा १२२,१२३।० ३ मा १२४।०
४ मा ७ ।० ५ मा ७३।० ६ मा ७६।०
७ मा ७७।० ८ मा ६९।०

रचना-काल में भारत छोटे-बड़े अनेक राज्यों में विभक्त था। इन राज्यों में परस्पर किस प्रकार के सम्बन्ध होने चाहिए, इस विषय पर मनु ने अपने विचार व्यक्त किये हैं। मनु के इन विचारों से ऐसा ज्ञात होता है कि इन सम्बन्धों की व्यवस्था में मण्डल-सिद्धान्त का आश्रय लेना उन्होंने उचित समझा है। स्थिति सामर्थ्य और पारस्परिक व्यवहार आदि की दृष्टि से मनु ने इन राज्यों को चार श्रेणियों में परिगणित किया है—मध्यम राज्य शत्रुराज्य मित्रराज्य और उदासीन राज्य[1]। इन चार राज्यों के पृथक्-पृथक् और सम्मिलित मण्डल बतलाये गये हैं। प्रत्येक राज्य का पड़ोसी राज्य उसका शत्रुराज्य होता है और शत्रुराज्य से परे उससे सटा हुआ राज्य उसका मित्र बतलाया गया है। प्रत्येक राज्य का एक लघुमण्डल होता है जिसमें राज्य उसका शत्रुराज्य और उसका मित्रराज्य तीन राज्य होते हैं। इनमेंसे एक मूल प्रकृति राज्य का स्वामी और प्रथम राज्य की अन्य पाँच प्रकृतियाँ शत्रुराज्य की छः प्रकृतियाँ और इसी प्रकार मित्रराज्य की छः प्रकृतियाँ अर्थात् कुल अट्ठारह प्रकृतियों का लघुमण्डल माना गया है। इन अट्ठारह प्रकृतियों में एक मूल प्रकृति और शेष सत्रह शाखा प्रकृतियाँ मानी गयी हैं। इसी प्रकार मध्यम-राज्य शत्रुराज्य मित्रराज्य और उदासीन-राज्य इनमें से प्रत्येक के शत्रुराज्य और मित्रराज्य इन सबको मिलाकर जो बृहत्मण्डल बनता है उसमें चार मूल प्रकृतियाँ (मध्यमराज्य शत्रुराज्य मित्रराज्य और उदासीन राज्यों के चार राजा) और इनमें से प्रत्येक की सत्रह-सत्रह प्रकृतियाँ अर्थात् कुल अड़सठ शाखा-प्रकृतियाँ मानी गयी हैं। इस प्रकार बृहत्मण्डल में चार मूल प्रकृतियाँ और अड़सठ शाखा प्रकृतियाँ अर्थात् कुल बहत्तर प्रकृतियाँ हुईं, जिनके प्रकार की पूर्ण जानकारी राजा को होनी चाहिए, ऐसा मनु का मत है । मध्यम राज्य और उदासीन राज्य का क्या स्वरूप है, इस विषय पर मनु मौन है।

उपाय—इस राज्य-मण्डल की प्रकृतियों के प्रति विजयाभिलाषी राजा को किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए, इस विषय में मनु चार उपाय और षाड्गुण्यनीति का आश्रय लेना उचित समझते हैं। ये चार उपाय साम आदि बतलाये गये हैं । ये उपाय भारतीय राजशास्त्र में प्रसिद्ध हैं, जिन्हें साम दाम भेद और दण्ड नाम से सम्बोधित किया गया है। इन्हीं चार उपायों को मनु ने सामादि लिखकर व्यक्त किया है। इन उपायों के उचित प्रयोग से राजा को सिद्धि मिलती है। इन उपायों के उचित प्रयोग के विषय में मनु ने इस प्रकार व्यवस्था दी है—"विजय के अभिलाषी

१ मा १५५।७ २ मा १५८।७ ३ मा १७६।७

राजा को अपने परिस्थितियों को साम आदि समस्त उपायों के द्वारा वश में करना चाहिए[1]। यदि वह प्रथम तीन उपायों (साम दाम और भेद) के द्वारा वश में न हो तो ऐसी परिस्थिति में चौथे उपाय अर्थात् दण्ड के द्वारा उनका दमन करना चाहिए[2]। मनु अपने पूर्व के कतिपय पण्डितों का मत देते हुए व्यवस्था देते हैं "विचक्षण सामादि चार उपायों में राष्ट्र की वृद्धि के निमित्त साम और दण्ड दो उपायों की प्रशंसा करते हैं।[3] जिस प्रकार खेती निरानेवाला कृषक धान्यों की रक्षा करता है और ऐसा करने के लिए तृणों का उन्मूलन करता है उसी प्रकार राजा को धर्म-विरुद्ध आचरण धारण करनेवालों का दण्ड के द्वारा दमन करना चाहिए[4]। मनु दण्ड-प्रयोग को विवशता का साधन मानते हैं। इस विषय में उन्होंने इस प्रकार व्यवस्था दी है—"साम दाम और भेद, इनमें से एक-एक से अथवा तीनों के एकसाथ प्रयोग द्वारा शत्रु पर विजय-प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए, युद्ध से नहीं। इन तीनों उपायों के द्वारा जब सिद्धि प्राप्त न हो तब दण्ड का आश्रय लेना उचित होगा[5]।"

षाड्गुण्य मत—उपर्युक्त चार उपायों से घनिष्ठ सम्बन्ध रखनेवाले मत अथवा नीति को मनु षाड्गुण्य मत के नाम से सम्बोधित करते हैं। मनु इस मत के छः गुण मानते हैं। वे सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और संश्रय हैं[6]। इन गुणों का प्रयोग समय परिस्थिति एवं स्थान के अनुसार करना चाहिए। इन गुणों के उचित प्रयोग पर राजा की विजय निर्भर है।

(क) सन्धि—मनु ने सन्धि की परिभाषा नहीं की है। अतः मनु द्वारा वर्णित सन्धि का वास्तविक स्वरूप क्या है, इस विषय पर सप्रमाण कुछ भी कहा नहीं जा सकता। परन्तु उन्होंने सन्धि के भेद बतलाये हैं जिन्हें वह समानयानकर्मा सन्धि और असमानयानकर्मा सन्धि के नाम से सम्बोधित करते हैं। इन दोनों प्रकार की सन्धियों से मनु का क्या तात्पर्य है यह स्पष्ट नहीं है। परन्तु जैसा कि इन दोनों पदों के अर्थ से बोध होता है, उससे सन्धि के ये दो प्रकार यान पर आश्रित हैं। इस दृष्टि से समानयानकर्मा सन्धि से मनु का तात्पर्य उस गठबन्धन से है जिसके अनुसार दो राजा वचनबद्ध होते हैं कि वे दोनों एक ही साथ शत्रु पर आक्रमण करेंगे। इसके विपरीत जब दो राजा इस उद्देश्य से सन्धि करते हैं कि उन

१. मा ७।१०७ २. मा ७।१०८ ३. मा ७।१०९
४. मा ७।११० ५. मा ७।१९८, २०० ६. मा ७।१६०
७. मा ७।१६१

दोनों में एक को एक ओर से और दूसरे को दूसरी ओर से शत्रु पर आक्रमण करना होगा तो इस प्रकार की सन्धि असमानयानकर्मा सन्धि होगी।

राजा को सन्धि गुण का आश्रय किन परिस्थितियों में लेना चाहिए इस विषय में मनु इस प्रकार व्यवस्था देते हैं—"भविष्य में अपना आधिक्य (लाभ) हो जाएगा ऐसा निश्चय हो और वर्तमान समय में अपनी दुर्बलता एवं पीड़ा जान पड़े तो ऐसी परिस्थिति में सन्धि गुण का आश्रय लेना श्रेयस्कर होगा[1]।

(ख) विग्रह—मनु ने षाड्गुण्य मत का एक गुण विग्रह माना है। विग्रह से मनु का तात्पर्य अपकार करने से जान पड़ता है। किन परिस्थितियों में राजा को विग्रह गुण का आश्रय लेना चाहिए, इस विषय में मनु ने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—"जब राजा को ऐसा अनुभव हो कि उस की सम्पूर्ण प्रकृतियाँ (मन्त्री, पुरोहित एवं कोषादि) हृष्ट-पुष्ट हैं और स्वयं अति उत्साहपूर्ण है तो विग्रह गुण का आश्रय लेना उचित होगा[2]।" मनु विग्रह दो प्रकार का मानते हैं जिन्हें वह स्वयंकृत विग्रह और मित्र के अर्थसाधन हेतु किया गया विग्रह कहते हैं। स्वयंकृत विग्रह वह विग्रह है जिसको अपने शत्रु पर विजय-प्राप्ति-हेतु समय-असमय किसी भी काल में स्वयं किया जाता है। विग्रह का दूसरा प्रकार, मनु के मतानुसार, वह है जिसमें अपने मित्र के उपकार के निमित्त उसके अपकारी शत्रु से विग्रह किया जाता है[3]।

(ग) यान—षाड्गुण्य मत का तीसरा गुण यान माना गया है। मनु ने यान गुण की भी परिभाषा नहीं दी है। परन्तु उन्होंने यान के भेदों का उल्लेख किया है। इस उल्लेख के अनुसार एकाकी यान और मित्र-संहत यान दो प्रकार के यान बतलाये गये हैं। यान से मनु का तात्पर्य शत्रु पर आक्रमण करने से है। ये आक्रमण दो प्रकार के होते हैं। प्रथम प्रकार के आक्रमण में विजयाभिलाषी राजा शत्रु राजा पर मित्र की सहायता लिये बिना स्वयं ही आक्रमण करता है। दूसरे प्रकार में वह अपने मित्र की सहायता प्राप्त कर शत्रु पर आक्रमण हेतु प्रस्थान करता है। मनु ने इस प्रकार, यान के प्रथम प्रकार को एकाकी यान और दूसरे प्रकार को मित्र-संहत यान की संज्ञा दी है[4]। राजा को यान गुण का आश्रय ऐसी परिस्थिति में लेना उचित होगा जब कि राजा अपनी सेना को हृष्ट-पुष्ट और शत्रु-सेना को इसके विपरीत पाता है[5]।

(घ) आसन—किसी समय अथवा परिस्थिति की प्रतीक्षा में मौन बैठे रहना

१ मा १६९।७० २ मा १७०।७० ३ मा १६९।७०
४ मा १६९।७० ५ मा १७१।७०

आसन कहलाता है। मनु आसन गुण भी दो प्रकार का मानते हैं। आसन का प्रथम प्रकार उसे बतलाया गया है जबकि राजा अपने पूर्व कर्म के कारण क्षीण होकर चुप-चाप बैठ रहता है। दूसरा प्रकार मित्र के अनुरोध से राजा का मौन बैठ रहना है। मनु आसन ग्रहण करने की परिस्थिति का उल्लेख करते हुए बतलाते हैं कि जब राजा अपनी सेना एवं वाहन से क्षीण हो जाय तब धीरे-धीरे प्रयत्नपूर्वक शत्रु को शान्त करता हुआ आसन गुण को ग्रहण कर ले[४]।

(ड) संश्रय—अपने को दूसरे के आश्रय में समर्पित करना संश्रय अथवा आश्रय गुण माना गया है। मनु ने इस गुण की भी परिभाषा नहीं की है परन्तु उन्होंने यह व्यवस्था दी है कि जब शत्रु-सेना का प्रबल आक्रमण हो (और स्वयं दुर्ग में रहने पर भी सुरक्षित न हो) तो ऐसी परिस्थिति में किसी धार्मिक बलवान् राजा का आश्रय ग्रहण करना चाहिए[५]। मनु संश्रय के भी दो प्रकार बतलाते हैं। प्रथम संश्रय उस स्थिति को बतलाया गया है जब शत्रु से पीड़ित राजा अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए किसी अन्य राजा की शरण लेता है। दूसरा वह प्रकार है जिसके अनुसार पीड़ित राजा सज्जनों के साथ व्यपदेशार्थ अन्य राजा की शरण लेता है। ऐसा स्मृतियों में वर्णित है।

(च) द्वैध अथवा द्वैधीभाव—अर्थ-सिद्धि के लिए सेना के कुछ भाग को किसी स्थान पर सेनापति के अधीन स्थापित कर स्वयं अन्यत्र वास करना द्वैध गुण कहलाता है। अर्थात् किसी से विग्रह और किसी से मेल करना द्वैध कहलाता है। द्वैध गुण भी मनु दो प्रकार का मानते हैं[६]। द्वैधीभाव गुण का आश्रय राजा को किन परिस्थितियों में लेना चाहिए, इस विषय में मनु इस प्रकार व्यवस्था देते हैं—जब राजा शत्रु को अति बलवान् पाता है तो ऐसी परिस्थिति में उसे अपनी सेना को दो भागों में विभक्त कर अपना कार्य साधना चाहिए अर्थात् एक स्थान पर युद्ध करे और दूसरे स्थान पर शान्त रहे। सेना को इस प्रकार दो भागों में विभक्त कर युद्ध-संचालन करने को षाड्गुण्य मन्त्र के ज्ञाताओं ने द्वैध गुण की संज्ञा दी है, ऐसा मनु का मत है[७]।

सेना के अंग—मनु ने सप्ताङ्ग राज्य का एक अंग दण्ड माना है। उन्होंने दण्ड शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया है। मनु इस जगत् की स्थिति दण्ड के अधीन मानते हैं। उन्होंने दण्ड के बाह्य रूप को सेना अथवा बल माना है।

१ मनु १६६।७ २ मनु १७२।७ ३ मनु १७३।७ ४ मनु १६८।७
५ मनु १६७।७ ६ मनु १७३।७ ७ मनु १५।७

मनु ने इस ओर संकेत किया है कि राजा का अपना बल षडंगी होता है[1]। परन्तु उन्होंने ऐसा कहीं भी स्पष्ट नहीं बतलाया है कि बल के ये छः अंग कौन-कौन हैं। उन्होंने मानवधर्मशास्त्र में वर्णित युद्ध के प्रकरण में पांच प्रकार की सेना का उल्लेख किया है और सेना के ये पांच प्रकार रथ, हस्ति, अश्व, नौ-सेना और पैदल हैं। इस विषय में मनु व्यवस्था देते हैं—"समर-भूमि में रथ और अश्व-सेना को युद्ध करना चाहिए, पानी के स्थानों में हस्ती और नौ-सेना को, वृक्ष लताओं से घिरे स्थानों में धनुषों से और कण्टकादि-रहित भूमि में खड्ग-चर्मादि आयुधों से (पैदल सेना) द्वारा युद्ध होना चाहिए[2]। सेना का छठा अंग भारवाहकादि होते हैं। इस प्रकार मनु सेना के रथ, हस्ति, अश्व, नौ सेना, पैदल और भारवाहकादि ये छः अंग मानते हैं।

युद्ध-काल—मनु इस पक्ष में नहीं हैं कि वर्ष में किसी समय भी युद्ध-घोषणा की जा सकती है। उन्होंने युद्ध-घोषणा करने में भारत के जल-वायु एवं भूमि की दशा को ध्यान में रखकर युद्धकाल का निर्णय किया है। उनका मत है कि राजा को मार्गशीर्ष, फाल्गुन अथवा चैत्र मास में युद्ध करना चाहिए[3]। इस प्रकार उन्होंने युद्ध-काल का निर्धारण कर दिया है। परन्तु वह इस नियम को अति कठोर बनाना उचित नहीं समझते। उन्होंने विशेष परिस्थितियों में इस निर्धारित युद्धकाल के अतिक्रमण किये जाने की भी अनुमति दी है। इस विषय में उन्होंने व्यवस्था दी है कि जब राजा अपनी विजय निश्चित समझता हो अथवा जब शत्रु विपत्ति में संलग्न हो, इन परिस्थितियों में निर्धारित युद्ध-काल का अतिक्रमण कर युद्ध-घोषणा की जा सकती है[4]।

सेना-गमन—युद्ध के लिए सैन्यसंचालन किस विधि से किया जाय, इस विषय पर भी मनु ने अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये हैं—"अपने मूल (पुर और राष्ट्र) की सम्यक् रक्षा की व्यवस्था कर, और युद्ध-यात्रा की समस्त सामग्री का समुचित प्रबन्ध कर, गुप्तचरों को मार्ग में नियत कर, तीन प्रकार के मार्गों (सम, विषम और [illegible]) और षड्विध बल के साथ सांग्राम-विधि से धीरे-धीरे शत्रु के पुर की ओर गमन करना चाहिए[5]। तदनुसार एवं मार्ग के प्रकार को देख कर व्यूह निर्माण कर सेना को गमन करना चाहिए। इस प्रकार के गमन में दण्डव्यूह, शकटव्यूह, वराह-व्यूह, मकरव्यूह, सूचीव्यूह, गरुडव्यूह में से किसी भी व्यूह का आश्रय लेकर सेना को गमन करना चाहिए[6]। परन्तु राजा को सदैव पद्मव्यूह में रहना चाहिए[7]।

युद्ध-संचालन—युद्ध-संचालन पर भी मनु ने अपने विचार व्यक्त किये हैं। ये विचार

१ म० १८५।७ २ म० १९२।७ ३ म० १८२।७ ४ म० १८३।७
५ म० १८४,१८५।७ ६ म० १८७।७ ७ म० १८८।७

संक्षेप में इस प्रकार दिये गये हैं—"युद्ध-स्थल में राजा को सेना टोलियों अथवा दलों में आवश्यकतानुसार विभाजित कर देनी चाहिए। इनके नायक आप्त पुरुष होने चाहिए। इन टोलियों के पृथक्-पृथक् नाम रख देने चाहिए, जिससे उन्हें सुविधापूर्वक सम्बोधित किया जा सके और युद्ध के लिए आदेश दिये जा सकें[1]। अल्प सेना होने पर संहत युद्ध करना चाहिए, विशाल सेना होने पर फैल-फैलकर युद्ध करने का आदेश देना चाहिए। मनु व्यूहों का आश्रय लेकर युद्ध करना हितकर मानते हैं। इसी लिए उन्होंने आदेश दिया है कि समय और परिस्थिति के अनुसार सूची अथवा वज्रव्यूह आदि बनाकर रणस्थल में युद्ध करना चाहिए[2]।

मनु ने अपने समय के कुछ ऐसे भू-भागों के नाम भी दिये हैं जहाँ के सैनिक विशेष रूप में वीरपुरुष माने गये हैं। यह भू-भाग कुरुक्षेत्र मत्स्य पाञ्चाल और शूरसेन बतलाये गये हैं। मनु आदेश देते हैं कि इन भू-भागों में उत्तम योद्धाओं को सेना के अग्रभाग में रखना चाहिए[3]। इन योद्धाओं को उत्साहित करते रहना चाहिए। इनकी हर समय जाँच करते रहना और इनकी चेष्टाओं से परिस्थिति का बोध करते रहना चाहिए[4]।

अवरोध तथा उत्पीडन नीति—मनु कहते हैं कि शत्रु को निर्बल बनाने के लिए अवरोध एवं उत्पीडन नीति का आश्रय लेना चाहिए। यह व्यवस्था देते हैं—"शत्रु के राष्ट्र को घेर कर उसका उत्पीडन करना चाहिए। शत्रु के अन्न जल चारा और ईंधनादि को नष्ट कर देना चाहिए[5]। राष्ट्र के जलाशयों नगर के प्राकारों तथा परिखाओं को भी नष्ट कर देना चाहिए। रात्रि के समय शत्रु-राष्ट्र को विशेष भासित करना चाहिए[6]।"

युद्ध-नियम—मनु युद्ध को वीरता-प्रदर्शन-सम्बन्धी क्रिया मानते हैं। युद्ध में छल-कपट अथवा धूर्तता का आश्रय लेकर, अपने विपक्षी योद्धा का वध करने का निषेध मनु ने किया है। उन्होंने कुछ ऐसी परिस्थितियों का उल्लेख किया है जिन में मरण-स्थल में मनुष्य का वध वर्जित माना गया है। इन परिस्थितियों के निर्धारण में मनु ने कतिपय सिद्धान्तों को अपने समक्ष रखा है और इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर युद्ध के नियमों का निर्धारण भी किया है।

युद्ध के नियमों में एक नियम मनु के मतानुसार, यह है कि समर्थ योद्धा को समर्थ योद्धा से ही युद्ध करना चाहिए। आयुध अथवा वाहन के अभाव के कारण

१ मनु० ७।१९० २ मनु० ७।१९१ ३ मनु० ७।१९३
४ मनु० ७।१९४ ५ मनु० ७।१९५ ६ मनु० ७।१९६

जो व्यक्ति युद्ध करने में असमर्थ हो, ऐसे व्यक्ति की असमर्थता से लाभ उठा कर उसका वध कर देना धर्म-युद्ध के विरुद्ध है। इस विषय में दूसरा नियम यह बतलाया गया है कि अपने शत्रु अथवा विपक्षी को भली प्रकार सचेत कर युद्ध करना चाहिए। असावधान अथवा अचेत का वध नहीं करना चाहिए। जो व्यक्ति युद्ध नहीं कर रहा है उसका भी वध नहीं होना चाहिए। जिस व्यक्ति ने पराजय स्वीकार कर ली है और विजेता की शरण ग्रहण कर ली है ऐसा व्यक्ति भी अवध्य घोषित किया गया है। पुरुषत्व हीन व्यक्तियों से युद्ध करना वर्जित माना गया है। जो व्यक्ति युद्ध करना नहीं चाहता अथवा युद्ध से भयभीत हो गया है और रण से भागना चाहता है ऐसे व्यक्तियों का वध धर्म-युद्ध के नियमों के विरुद्ध है। इन नियमों के अतिरिक्त मनु इस सिद्धान्त का भी प्रतिपादन करते हैं कि युद्ध में ऐसे आयुधों का प्रयोग नहीं करना चाहिए, जिनसे मनुष्य को विशेष पीड़ा पहुँचती है। और जिनका प्रयोग नृशंसता के प्रदर्शन के लिए किया जाता है[१]।

इस प्रकार मनु युद्ध में छल-कपट एवं धूर्तता का आश्रय लेकर शत्रु का क्रूरता एवं नृशंसता-पूर्ण वध उचित नहीं समझते। वीरता का प्रदर्शन करते हुए, नियमानुसार शत्रु को पराजित करना ही मनु धर्मयुद्ध मानते हैं।

लूट-सामग्री के वितरण का नियम—लूट के माल का किस प्रकार वितरण होना चाहिए, इस सम्बन्ध में मनु ने कुछ सिद्धान्त निर्धारित किये हैं। इन सिद्धान्तों का निर्धारण करने में उन्होंने लूट के माल को दो भागों में विभक्त किया है। लूट के माल के ये दो भाग माल की उपयोगिता के महत्व के आधार एवं सुरक्षा की दृष्टि से किये गये हैं। लूट का कुछ माल ऐसा होता है जो अधिक महत्वपूर्ण होता है और जो सामान्य पुरुषों के पास रहना उचित नहीं होता। इसलिए इस प्रकार की लूट के माल पर विजेता राजा का अधिकार माना गया है[२]। लूट के माल का दूसरा भाग सामान्य माल से सम्बन्धित होता है। इस माल का वितरण सैनिकों में होना चाहिए, ऐसा मनु का मत है। इस सामान्य माल के वितरण में मनु दो मुख्य सिद्धान्तों का उल्लेख करते हैं। लूट के इस सामान्य माल को भी उन्होंने दो श्रेणियों में परिगणित किया है। प्रथम श्रेणी में वह माल है जो व्यक्तिगत योद्धा अपने प्रति द्वन्द्वी योद्धा को पराजित कर तथा उसकी सामग्री को छीन कर प्राप्त करता है। दूसरी श्रेणी में मनु लूट के उस माल की गिनती करते हैं जो योद्धाओं की एक टोली अथवा समस्त सेना शत्रु से छीन कर लाती है। प्रथम श्रेणी के माल पर विजेता

१ मा ११,९४।० २ मा ९ ।० ३ मा ९७।०

योद्धा का अधिकार माना गया है।[1] दूसरी श्रेणी का माल सम्बन्धित टोली अथवा सेना में सभी को वितरित किया जाना चाहिए, ऐसा मनु का मत है।[2]

पराजित राजा के प्रति व्यवहार—मनु इस पक्ष में जान पड़ते हैं कि विजेता राजा का पराजित राजा के प्रति सज्जनता का व्यवहार होना चाहिए। विजेता राजा का एक भी ऐसा कार्य नहीं होना चाहिए जिससे पराजित राजा अथवा उसकी प्रजा को किसी प्रकार की हार्दिक वेदना अथवा विजेता राजा के प्रति घृणा उत्पन्न हो। राज्य के लोगों एवं उनके धर्म परम्पराओं तथा मर्यादाओं को मान्यता देनी चाहिए। वहाँ के प्रधान व्यक्तियों का सत्कार धन द्वारा करना चाहिए। उस राज्य में सुशासन-व्यवस्था स्थापित करनी चाहिए पराजित राजा के राज्य का अपहरण नहीं करना चाहिए, अपितु उसके वंश में उत्पन्न सुयोग्य व्यक्ति को वहाँ का राजा बनाना चाहिए। उस राजा से सन्धि करके उसे अपना मित्र बनाना चाहिए।[3] मनु का मत है कि राजा की उन्नति सुवर्ण और भूमि से उतनी नहीं होती जितनी भविष्य में दुर्बल राजा से भी सहायता प्राप्त होने की सम्भावना से होती है।[4]

इस प्रकार पराजित राजा के प्रति विजेता राजा के सज्जनतापूर्ण व्यवहार करने की पुष्टि मनु ने की है।

●

१ मनु ७।९६ २ मनु ७।९७ ३ मनु ७।२०१-२०३ ४ मनु ७।२०८

२

भीष्म

शान्ति पर्व का रचना-काल

भारतीय पण्डितों का एक वर्ग ऐसा है जो महाभारत का रचना-काल अति पुरातन मानता है। इन पण्डितों की धारणा है कि महाभारत ग्रन्थ व्यास-प्रणीत है, जिसकी रचना महाभारत युद्ध के समय ही हुई थी। वे मानते हैं कि सम्पूर्ण महाभारत ग्रन्थ की रचना एक साथ ही हुई है। उनके मतानुसार महाभारत-युद्ध कलियुग और द्वापर के सन्धिकाल में हुआ और उसी काल में व्यास ने महाभारत की रचना की। शान्ति पर्व महाभारत का एक अंग भाग है इसलिए इन पण्डितों के मतानुसार शान्ति पर्व भी उसी काल की रचना है।

परन्तु आधुनिक युग के अन्य विद्वान् इन पण्डितों के मत का खण्डन करते हैं और यह खण्डन हेतुयुक्त है। महाभारत की पोथी जिस रूप में आज उपलब्ध है, उस रूप में यह इतनी पुरानी नहीं है। इस पोथी का रचना-काल कलियुग और द्वापर का सन्धिकाल नहीं माना जा सकता। महाभारत संकलित ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में किसी एक विशेष समय की ही सामग्री नहीं है। यह प्राचीन भारत का एक विशेष प्रकार का इतिहास है जिसके मूल पाठ में समय-समय पर वृद्धि एवं विकास होता रहा है। इस मूल ग्रन्थ को उसके प्रस्तुत रूप में आने में बहुत समय लगा है। महाभारत का कुछ अंश निश्चयपूर्वक मौर्य-काल के पूर्व का है। इसका कुछ अंश ऐसा भी है जो गुप्त काल में जोड़ा गया है। इस प्रकार इसे किसी एक निश्चित समय एवं व्यक्ति का रचा हुआ नहीं माना जा सकता। शान्ति पर्व का अधिक अंश मौर्य-काल के पश्चात् ही मूल ग्रन्थ में जोड़ा गया है। परन्तु शान्ति पर्व में वर्णित राजशास्त्रसम्बन्धी मूल विषय-वस्तु का प्रमुख अंश मौर्य-काल के पूर्व का है। इस दृष्टि से शान्ति पर्व में भीष्म के मुख से राजशास्त्रसम्बन्धी जो विचार निकले हैं, वे मौर्य-काल के पूर्व के विचार हैं और भीष्म कौटिल्य से पूर्व के राजशास्त्र-विचारक हैं। ये विचार मौर्य काल के पूर्व भारतीय जनता में कथा-कहानियों के रूप में प्रचलित थे अथवा कतिपय प्राचीन ग्रन्थों में पाये जाते थे। इन्हीं विचारों को उक्त कथा कहानियों एवं अन्य ग्रन्थों से पृथक कर शान्ति पर्व के रूप में जनता के समक्ष प्रस्तुत किया गया है। इसलिए शान्ति पर्व अपने संकलन-काल के पूर्व की सामग्री रखने के कारण विषय-वस्तु की दृष्टि से मौर्य-काल के पूर्व का है। यदि कोई लेखक सूर, तुलसी, मीरा आदि के पदों को इस समय संकलित कर पुस्तक रूप

में जाता है तो इस पुस्तक की विषयवस्तु इस समय की नहीं मानी जा सकती। साथ ही वह एक काल की भी नहीं मानी जा सकती। वह विषय-वस्तु उतनी ही पुरानी समझी जायगी जितने कि सूर, तुलसी मीरा आदि कवि पुराने हैं। ठीक यही नियम शान्ति पर्व के रचना-काल पर चरितार्थ होता है। शान्ति पर्व में राजशास्त्र सम्बन्धी जो विषय-वस्तु है, वह शान्ति पर्व के संकलन काल से बहुत पूर्व की है। हाँ शान्ति पर्व का संकलन मौर्य और गुप्त काल के बीच में किसी समय हुआ माना जाता है।

भीष्म के राजशास्त्र सम्बन्धी विचारों का समय

भीष्म के मुख से राजशास्त्र-सम्बन्धी जिन विचारों का वर्णन शान्ति पर्व में किया गया है उसकी वर्णन-शैली की एक विशेषता है। भीष्म पहले किसी सिद्धान्त का उल्लेख करते हैं जो युधिष्ठिर के प्रश्न रूप में होता है। इसके उपरान्त भीष्म उस सिद्धान्त की पुष्टि प्राचीन काल की किसी ऐतिहासिक घटना द्वारा या प्राचीन काल के किसी सम्वाद अथवा दृष्टान्त को उद्धृत करके करते हैं। इस प्रकार वह सिद्ध करते हैं कि राजशास्त्र-सम्बन्धी जिस सिद्धान्त की स्थापना शान्ति पर्व में की जा रही है वह शान्ति पर्व के संकलन काल के पूर्व भारतीय जनता में विद्यमान था और उसको मान्यता भी दी जा चुकी थी। शान्ति पर्व में संकलित ग्रन्थ होने के कारण इस प्रकार की शैली का अपनाया जाना उचित ही था।

शान्ति पर्व में राज्य की उत्पत्ति के विषय तीन सिद्धान्तों का उल्लेख है। ये सिद्धान्त हैं—समाज-अनुबन्धवाद (Social Contract Theory) दैवी सिद्धान्त (Divine Theory) और राज्य का आवयविक स्वरूप (Organic Nature of the State)। समाज अनुबन्धवाद-सिद्धान्त की स्थापना करते हुए भीष्म प्राचीन काल का इतिहास देकर कहते हैं कि हमने सुना है (न श्रुतम्) और फिर वह राज्य की उत्पत्ति अनुबन्ध के आधार पर हुई है ऐसा वर्णन करते हैं। इस प्रकार शान्ति पर्व में समाज अनुबन्धवाद सिद्धान्त की स्थापना की पुष्टि में राजा मान्धाता और इन्द्र एवं राजा वसुमना और बृहस्पति के सम्वाद दिये गये हैं जो शान्ति पर्व की रचना-काल से बहुत पूर्व के हैं। राज्य के आवयविक सिद्धान्त की स्थापना राज्य को सप्तांग अथवा सप्तात्मक मान कर की गयी है। परन्तु सप्तांग राज्य की कल्पना भारत में प्राचीन है। मनु ने भी अपने मानवधर्मशास्त्र में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। इस प्रकार राज्य की उत्पत्ति के ये तीनों सिद्धान्त शान्ति पर्व के संकलन काल के बहुत पूर्व भारत में प्रचलित थे। इस दृष्टि से भीष्म शान्ति पर्व के संकलन-काल के पूर्व माने जायँगे।

शान्ति पर्व में इस का बड़ा रोचक चित्र खींचा गया है। राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त की पुष्टि में अंग देश के राजा द्युतिमान् वसुहोम और राजा मान्धाता के प्राचीन इतिहास का उल्लेख किया गया है (अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्। अङ्गेषु राजा द्युतिमान्वसुहोम इतिश्रुतः)

इतना ही नहीं शान्ति पर्व में ऐसे भी प्रसंग हैं जो शान्ति पर्व के बहुत पूर्व रचित ग्रन्थों से उद्धृत किये गये हैं। इनमें आदर्श राज्य का जो चित्र खींचा गया है वह केकय राज्य के राजा और राक्षस के मध्य हुए संवाद के आधार पर है। परन्तु इसकी विषय-वस्तु छान्दोग्य उपनिषद् से उठाकर ज्यों-की-त्यों रख दी गयी है।

शान्ति पर्व के रचना काल से भीष्म के समय का निर्धारण करना उचित न होगा। शान्ति पर्व में राजशास्त्र-सम्बन्धी जो सिद्धान्त दिये गये हैं उनकी प्राचीनता के आधार पर भीष्म का समय निश्चित करना न्यायसंगत होगा। ये सिद्धान्त शान्ति पर्व के रचना-काल के बहुत पूर्व भारत में प्रचलित थे। इसलिए भीष्म को कौटिल्य के पूर्व परन्तु मनु के पश्चात् का राजशास्त्र-विचारक मानना उचित होगा।

भीष्म के विषय में कतिपय आपत्तियाँ

भीष्म को प्राचीन भारत के राजशास्त्र-विचारकों की श्रेणी में स्थान देने में कतिपय आपत्तियाँ उठायी जा सकती हैं। इनमें एक आपत्ति यह हो सकती है कि भीष्म की ऐतिहासिकता में विद्वानों के एक वर्ग को, सन्देह है। विद्वानों का यह वर्ग भीष्म को कल्पना मात्र मानता है। इस विषय में विचारणीय बात यह है कि महाभारतकार ने भीष्म की ऐतिहासिकता प्रमाणित की है। उन्होंने भीष्म एवं उनके वंश का इतिहास दिया है। महाभारतकार ने जहाँ भीष्म को अपने युग का वीर योद्धा माना है वहीं उन्होंने उनको राजशास्त्र का विशेष पण्डित भी बतलाया है। इसलिए महाभारतकार ने जिस व्यक्ति को इन राजनीतिक विचारों का श्रेय दिया है हमें उसी व्यक्ति को भीष्म मान लेने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

भीष्म के विषय में दूसरी आपत्ति यह की जा सकती है कि शान्ति पर्व व्यास की कृति मानी जाती है। इसलिए शान्ति पर्व में वर्णित राजशास्त्र-सम्बन्धी विचार भीष्म के न मान कर व्यास के मानना उचित होगा। परन्तु इस विषय में यह उल्लेखनीय है कि व्यास ने विचारों का सम्पूर्ण श्रेय भीष्म को ही दिया है। इसलिए शान्ति पर्व में वर्णित इन विचारों को भीष्म के विचार ही मानना उचित होगा।

भीष्म के राजनीतिक विचार

राजनीतिक क्षेत्र में भीष्म की विशेष देन है। उनके राजनीतिक विचार शान्ति पर्व में दिये हुए हैं। उनके और पाण्डु-पुत्र युधिष्ठिर के मध्य जो संवाद हुआ है

शान्ति पर्व में दण्ड का बड़ा रोचक चित्र खींचा गया है। दण्ड की उत्पत्ति के सिद्धान्त की पुष्टि में अंग देश के राजा द्युतिमान् वसुहोम और राजा मान्धाता के प्राचीन इतिहास का उल्लेख किया गया है (यथाप्युदाहरन्तीम मितिहासं पुरातनम्। अंगेषु राजा द्युतिमान्वसुहोम इतिश्रुत)

इतना ही नहीं शान्ति पर्व में ऐसे भी प्रसंग हैं जो शान्ति पर्व के बहुत पूर्व रचित ग्रन्थों से उद्धृत किये गये हैं। उनमें आदर्श राज्य का जो चित्र खींचा गया है वह कैकय राज्य के राजा और राक्षस के मध्य हुए संवाद के आधार पर है। परन्तु इसकी विषय-वस्तु छान्दोग्य उपनिषद् से उठाकर ज्यों-की-त्यों रख दी गयी है।

शान्ति पर्व के संकलन काल से भीष्म के समय का निर्धारण करना उचित न होगा। शान्ति पर्व में राजशास्त्र-सम्बन्धी जो सिद्धान्त दिये गये हैं उनकी प्राचीनता के आधार पर भीष्म का समय निश्चित करना न्यायसंगत होगा। ये सिद्धान्त शान्ति पर्व के संकलन-काल के बहुत पूर्व भारत में प्रचलित थे। इसलिए भीष्म को कौटिल्य के पूर्व परन्तु मनु के पश्चात् का राजशास्त्र-विचारक मानना उचित होगा।

भीष्म के विषय में कतिपय आपत्तियाँ

भीष्म को प्राचीन भारत के राजशास्त्र-विचारकों की श्रेणी में स्थान देने में कतिपय आपत्तियाँ उठायी जा सकती हैं। इनमें एक आपत्ति यह हो सकती है कि भीष्म की ऐतिहासिकता में विद्वानों के एक वर्ग को सन्देह है। विद्वानों का यह वर्ग भीष्म को कल्पना मात्र मानता है। इस विषय में विचारणीय बात यह है कि महाभारतकार ने भीष्म की ऐतिहासिकता प्रमाणित की है। उन्होंने भीष्म एवं उनके वंश का इतिहास दिया है। महाभारतकार ने जहाँ भीष्म को अपने युग का वीर योद्धा माना है वहीं उन्होंने उनको राजशास्त्र का विशेष पण्डित भी बतलाया है। इसलिए महाभारतकार ने जिस व्यक्ति को इन राजनीतिक विचारों का श्रेय दिया है उसी व्यक्ति को भीष्म मान लेने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

भीष्म के विषय में दूसरी आपत्ति यह भी की जा सकती है कि शान्ति पर्व व्यास की कृति मानी जाती है। इसलिए शान्ति पर्व में वर्णित राजशास्त्र-सम्बन्धी विचार भीष्म के न मान कर व्यास के मानना उचित होगा। परन्तु इस विषय में यह उल्लेखनीय है कि व्यास ने विचारों का सम्पूर्ण श्रेय भीष्म को ही दिया है। इसलिए शान्ति पर्व में वर्णित इन विचारों को भीष्म के विचार ही मानना उचित होगा।

भीष्म के राजनीतिक विचार

राजनीतिक क्षेत्र में भीष्म की विशेष देन है। उनके राजनीतिक विचार शान्ति पर्व में दिये हुए हैं। उनके और पाण्डु-पुत्र युधिष्ठिर के मध्य जो संवाद हुआ है

के स्वरूप में लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं है। इन नरेशों के अनुसार राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है। उसके कामों का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व ईश्वर पर ही निर्भर है, प्रजा पर कदापि नहीं। प्रजा को आँख बन्द कर अपने राजा की उचित या अनुचित सभी प्रकार की आज्ञाओं का पालन करना चाहिए। प्रजा को राजा की आज्ञा का विरोध करने का लेशमात्र भी अधिकार नहीं है। यदि दुर्भाग्यवश प्रजा को किसी बुरे राजा के शासन में रहना पड़ा तो इसमें राजा का कोई दोष नहीं माना जाता। ईश्वर ने प्रजा को उसके दूषित कर्मों के अनुसार उन पर शासन करने के लिए जान-बूझकर ऐसे राजा को भेजा है। इसलिए उस बुरे राजा की आज्ञाओं का पालन करना उस प्रजा का परधर्म है। परन्तु भीष्म के विचार इस मत के विरोधी हैं। भीष्म के मतानुसार राजा ईश्वर का प्रतिनिधि नहीं है। वह देव अवश्य है परन्तु उसका देवत्व उसके दिव्य चरित्र पर आधारित है। वह अपने कामों के लिए स्वयं उत्तरदायी है। उसकी आज्ञा तभी तक मान्य है जब तक वह विधि-विहित (धर्मानुसार) है। विधि विरुद्ध उसकी आज्ञाएँ अमान्य हैं। राजा स्वयं राजधर्म की सीमा में आबद्ध है। वह उस सीमा के अतिक्रमण करने का अधिकारी नहीं है।

समाज-अनुबन्धवाद—राज्य की उत्पत्ति का दूसरा सिद्धान्त जिसमें आस्था है और जिसका उल्लेख शान्तिपर्व में है—समाज अनुबन्धवाद (Social Contract Theory) है। यों तो इस सिद्धान्त की कल्पना वैदिक युग में हो चुकी थी परन्तु शान्तिपर्व में इस सिद्धान्त का जो स्वरूप दिया गया है वह इसके पूर्ण विकास का है। मनुष्य जीवन के दो युगों को पार कर, तीसरे युग में प्रविष्ट होता है। सर्व प्रथम वह प्राकृत युग में रहता है, परन्तु समय व्यतीत होने पर उसके जीवन में परिवर्तन होता है। प्राकृत युग का जीवन उसके लिए असह्य हो जाता है और ऐसी परिस्थिति में वह प्राकृत युग का त्याग कर सामाजिक जीवन के युग में प्रविष्ट होता है। परन्तु इसमें कुछ बाधाएँ उपस्थित हो जाती हैं जिनके निराकरण हेतु वह राजनीतिक समाज का संघटन करता और राज्य का निर्माण करता है। यों मनुष्य दो युगों को पारकर तीसरे युग में पहुँचता है। इस युग में अनुबन्ध के आधार पर राज्य एवं सरकार का निर्माण होता है। शान्तिपर्व में इस अनुबन्ध की जो शब्दावली दी गयी है वह निश्चित है। यह अनुबन्ध राजा और जनता के प्रतिनिधियों के मध्य होता है। अनुबन्धकर्ता दोनों पक्ष (राजा और प्रजा के प्रतिनिधि) इस अनुबन्ध के प्रतिबन्धों (Conditions) का पालन करेंगे ऐसी प्रतिज्ञा करते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि शान्तिपर्व में वर्णित समाज-अनुबन्धवाद के सिद्धान्त में उस सिद्धान्त के सभी मूलतत्त्व निहित हैं।

हो जाता है। इन पञ्च देवों की शाश्वत मात्राओं को संगृहीत कर राजा के रूप में एक विशिष्ट देव का निर्माण हुआ है, जो इन देवों में से प्रत्येक देव से बड़ा है। भीष्म ऐसा मानते हैं कि इसका कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं है। मनु का दैवी राजा विशिष्ट देव है जिसका निर्माण आठ प्रधान देवों की शाश्वत मात्राओं को संगृहीत कर किया गया है और जो इन प्रधान आठ देवों में से प्रत्येक से बड़ा है।

भीष्म राजा को देवत्व देना तभी उचित समझते हैं जब उक्त राजा के चरित्र का विकास देव-चरित्र के रूप में हो गया हो। जिन राजाओं का चरित्र इतना विकसित नहीं हो सका है वे देवत्व के अधिकारी नहीं हैं। इस दृष्टि से भीष्म के मतानुसार सभी राजा देव नहीं माने जा सकते। जो राजा देवपद को प्राप्त नहीं हुए हैं वे दैवी राजा की अपेक्षा छोटे एवं कम महत्त्व के हैं। इसलिए इन्हें दैवी राजा के समक्ष नतमस्तक होना चाहिए। भीष्म राजा पृथु को दैवी राजा मानते हैं क्योंकि इसमें स्वयं विष्णु ने प्रवेश किया है। अर्थात् राजा पृथु के चरित्र का विकास विष्णु-चरित्र में हुआ है। अन्य राजा पृथु के समक्ष उसके सत्कार एवं सम्मान हेतु नतमस्तक होते हैं। इस सिद्धान्त की पुष्टि में वह स्पष्ट व्यवस्था देते हैं कि जो धर्मपरायण राजा है वह मनुष्यों का देव और अधिपति है।[2] इस प्रकार भीष्म इस विषय में भिन्न मत रखते हैं। मनु बालक राजा को भी महत् देव का स्थान देते हैं यद्यपि उसके चरित्र का विकास अभी हुआ ही नहीं। मनु ने ऐसा प्रतिबन्ध नहीं लगाया है कि केवल धर्म-परायण राजा ही देवत्व को प्राप्त होता है।

भीष्म के मतानुसार राजा देव है क्योंकि वह धर्मपरायण है। वह पञ्चदेवमय है जो आवश्यकतानुसार, समय-समय पर पृथक्-पृथक् उक्त पाँच देवों का रूप धारण करता रहता है। वह न तो विशिष्ट देव ही है और न सर्वदेव ही। मनु सामान्य राजा को भी, जब तक उसमें विशेष दुर्गुण न हों, देवत्व देने में लेशमात्र भी संकोच नहीं करते यहाँ तक कि बालक राजा ही क्यों न हो। भीष्म को ऐसा मान्य नहीं है। इस दृष्टि से भारतीय राजशास्त्र के इतिहास में भीष्म द्वारा प्रतिपादित राजा की दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त अपनी विशेषता रखता है। राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त की स्थापना पाश्चात्य देशों के कतिपय विद्वानों ने भी की है। इस सिद्धान्त के जिस स्वरूप पर इंग्लैण्ड के स्टुअर्ट शासक कतिपय राजा और फ्रान्स के प्रसिद्ध नरेश लुई चतुर्दश मुग्ध थे उसमें और प्राचीन भारतीय इस सिद्धान्त

१ शा ५९ से ४५।६८
२ शा ११८।१२
३ शा ४१९
४ शा ८७

करने के लिए बाध्य करने में समर्थ हो। इसलिए वह भगवान् विष्णु की शरण में जाते हैं और प्रार्थना करते हैं कि वह मनुष्यों में सर्वश्रेष्ठ मनुष्य का कथित करने की कृपा करें जिसको वे लोग अपना राजा बना लें[1]। भगवान् विष्णु उन्हें एक ऐसे पुरुष का कथित कर देते हैं—जिसे वे लोग अपना राजा बना लेते हैं। परन्तु राजपद लेने के पूर्व वह उस पुरुष और अपने मध्य एक अनुबन्ध (contract) करते हैं[2]। इस अनुबन्ध के अनुसार भावी राजा प्रतिज्ञा करता है कि वह अपने अधीन प्रजा की रक्षा करेगा उक्त दण्डनीतिशास्त्र में वर्णित नियमों के अनुसार व्यवस्था करेगा और वह स्वयं कभी इन नियमों का उल्लंघन कर स्वेच्छाचारी न होगा। दूसरी ओर प्रजा के प्रतिनिधि भी प्रतिज्ञा करते हैं कि वे अपने इस राजा के शासन में रहेंगे और उसकी तन मन और धन से सदैव सहायता करते रहेंगे।

समाज-अनुबन्धवाद का दूसरा स्वरूप—शान्ति-पर्व में समाज-अनुबन्धवाद का जो दूसरा स्वरूप है उसमें प्राकृत युग सुख शान्ति और सुमति का नहीं है। इस युग में मनुष्यों का कोई स्वामी (राजा) नहीं है। सबल मनुष्य निर्बल मनुष्य को निरन्तर नष्ट करता रहता है। इस युग में मात्स्यन्याय प्रचलित है[3]। इस जीवन में मनुष्य त्राहि त्राहि करता है और उससे मुक्त होने की चेष्टा करता है। मनुष्य एकत्र होते हैं और सदाचरण-सम्बन्धी कतिपय नियमों का निर्माण करते हैं और यह आशा करते हैं कि इन नियमों के अनुसार आचरण करने से उनका जीवन सुख शान्ति और सुमति के जीवन में परिवर्तित हो जायगा और मनुष्य अपने पूर्व के मात्स्यीय जीवन से सभ्य एवं सुसंस्कृत जीवन में प्रवेश कर सकेगा। उन्होंने एकत्र होकर पारस्परिक सहयोग एवं सम्मति से नियमों का निर्माण किया जिनका उद्देश्य सदाचरण था और जिनका आधार जनता की स्वीकृति मात्र थी। इनके मूल में कोई सत्ता न थी। अतः ये सदाचरण सम्बन्धी नियम नियम ही रहे, विधि (Law) का रूप धारण न कर सके। इसलिए मनुष्य ने अनुभव किया कि समाज में एक ऐसी सत्ता होनी चाहिए जो लोगों को सदाचरण-सम्बन्धी नियमों के अनुसार आचरण करने के लिए बाध्य करे। यह सत्ता इतनी शक्ति-सम्पन्न होनी चाहिए जो इन नियमों को भंग करने वाले व्यक्तियों को समुचित दण्ड देने में समर्थ हो। इसलिए वे ब्रह्मा की शरण में जाते हैं उनसे प्रार्थना करते हैं कि वह उनके लिए एक स्वामी (राजा) बनायें[4]। ब्रह्मा ने उनकी प्रार्थना स्वीकार की और उनके समक्ष मनु को प्रस्तुत

१ शा ८७।४१। २ शा १ १से १ ७।९९। ३ शा १७।१७। ४ शा १८।१९।१७। ५. शा ९।१७।

शान्तिपर्व में समाज-अनुबन्धवाद के दो स्वरूप हैं। एक में मनुष्य का प्राकृत युग सुख शान्ति और सुमति का है। परन्तु दूसरे में प्राकृत युग दुःख अशान्ति और कलह का है। इस प्रकार एक का प्राकृत युग इंग्लैण्ड के तत्त्ववेत्ता लाक (Locke) ने जो प्राकृत युग का चित्र खींचा है उसके समान है। परन्तु दूसरे का प्राकृत युग हाब्स (Hobbes) द्वारा वर्णित प्राकृत युग के तुल्य है।

समाज-अनुबन्धवाद का प्रथम स्वरूप—मनुष्य के प्राकृत युग को भीष्म सत्ययुग के नाम से सम्बोधित करते हैं। यह युग सुख शान्ति और सुमति का युग है। इस युग में प्रत्येक मनुष्य स्वधर्म-पालन में रत है और दूसरों को उनके धर्म-पालन में अपनी सामर्थ्य के अनुसार सहायता करता है। उस युग में न राजा ही है और न राज्य। मनुष्य का राजनीतिक जीवन अज्ञात है। परन्तु वह सामाजिक जीवन व्यतीत करता है। इस युग में धर्म ही प्रधान है और लोग धर्म को सामने रखकर एक-दूसरे की रक्षा में रत रहते हैं।

परन्तु मनुष्य इस स्थिति में अधिक काल तक नहीं रहने पाता। उसमें असुर वृत्तियां जो अभी तक सुषुप्तावस्था में थीं जाग्रत होती हैं और विकार उत्पन्न करती हैं। मनुष्य-जीवन में बहुत बड़ा परिवर्तन हो जाता है। वह लोभ मोह, क्रोध काम आदि असुर वृत्तियों का शिकार हो जाता है। इस प्रकार सत्ययुग का पतन होने लगता है और धीरे-धीरे उसका लोप हो जाता है। मनुष्य दुःख अशान्ति और पारस्परिक कलह के युग में प्रवेश करता है। कुछ समय के उपरान्त वह अपने इस जीवन से विरक्त हो जाता है और उससे बाहर भाग निकलने का सक्रिय प्रयत्न करता है। उसके इस प्रयत्न का यह फल होता है कि देवगण उसपर दया करते हैं। वे मनुष्य-जीवन के इस परिवर्तन से ब्रह्मा को परिचित करते हैं और उसे भारमय जीवन से मुक्त करने के लिए भगवान् ब्रह्मा से प्रार्थना करते हैं[3]। ब्रह्मा उनकी प्रार्थना से द्रवित होकर दण्डनीति-प्रधान एक वृहत् ग्रन्थ का निर्माण कर देवों को देते हैं। और उन्हें यह आदेश देते हैं कि मनुष्यों को इस ग्रन्थ में वर्णित उनके जीवन-सम्बन्धी नियमों के अनुसार आचरण करना चाहिए। ऐसा करने से वे पुनः अपने सत्ययुग के जीवन में प्रविष्ट हो सकेंगे। इस ग्रन्थ को पाकर देवगण यह सोचने लगे कि इन नियमों को मनुष्य-समाज में कार्यान्वित करने के लिए एक दण्डधारी की आवश्यकता है जो दण्ड द्वारा अनुचित मनुष्यों को दण्डित कर उन्हें इन नियमों के पालन

१ शा १४।५९। २ शा १६-१९।५९।
३ शा २२।५९। ४ शा २५-२८।५९।

करने के लिए बाध्य करने में समर्थ हो। इसलिए वह भगवान् विष्णु की शरण में जाते हैं और प्रार्थना करते हैं कि वह मनुष्यों में सर्वश्रेष्ठ मनुष्य को कल्पित करने की कृपा करें जिसको वे लोग अपना राजा बना लें[1]। भगवान् विष्णु उन्हें एक ऐसा पुरुष को कल्पित कर देते हैं—जिसे वे लोग अपना राजा बना लेते हैं। परन्तु राजपद देने के पूर्व वह उस पुरुष और अपने मध्य एक अनुबन्ध (contract) करते हैं[2]। इस अनुबन्ध के अनुसार भावी राजा प्रतिज्ञा करता है कि वह अपने अधीन प्रजा की रक्षा करेगा उक्त दण्डनीतिशास्त्र में वर्णित नियमों के अनुसार व्यवस्था करेगा और वह स्वयं कभी इन नियमों का उल्लंघन कर स्वेच्छाचारी न होगा। दूसरी ओर प्रजा के प्रतिनिधि भी प्रतिज्ञा करते हैं कि वे अपने इस राजा के शासन में रहेंगे और उसकी तन मन और धन से सदैव सहायता करते रहेंगे।

समाज-अनुबन्धवाद का दूसरा स्वरूप—शान्ति-पर्व में समाज-अनुबन्धवाद का जो दूसरा स्वरूप है उसमें प्राकृत युग सुख शान्ति और सुमति का नहीं है। इस युग में मनुष्यों का कोई स्वामी (राजा) नहीं है। सबल मनुष्य निर्बल मनुष्य को निरन्तर नष्ट करता रहता है। इस युग में मात्स्यन्याय प्रचलित है[3]। इस जीवन में मनुष्य त्राहि-त्राहि करता है और उससे मुक्त होने की चेष्टा करता है। मनुष्य एकत्र होते हैं और सदाचरण-सम्बन्धी कतिपय नियमों का निर्माण करते हैं और यह आशा करते हैं कि इन नियमों के अनुसार आचरण करने से उनका जीवन सुख शान्ति और सुमति के जीवन में परिवर्तित हो जायगा और मनुष्य अपने पूर्व के नारकीय जीवन से सभ्य एवं सुसंस्कृत जीवन में प्रवेश कर सकेगा। उन्होंने एकत्र होकर पारस्परिक सहयोग एवं सम्मति से नियमों का निर्माण किया जिनका उद्देश्य सदाचरण था और जिनका आधार जनता की स्वीकृति मात्र थी। इनके मूल में कोई सत्ता न थी। अत ये सदाचरण सम्बन्धी नियम नियम ही रहे विधि (Law) का रूप धारण न कर सके[4]। इसलिए मनुष्य ने अनुभव किया कि समाज में एक ऐसी सत्ता होनी चाहिए जो लोगों को सदाचरण-सम्बन्धी नियमों के अनुसार आचरण करने के लिए बाध्य करे। यह सत्ता इतनी शक्ति-सम्पन्न होनी चाहिए जो इन नियमों को भंग करने वाले व्यक्तियों को समुचित दण्ड देने में समर्थ हो। इसलिए वे ब्रह्मा की शरण में जाते हैं उनसे प्रार्थना करते हैं कि वह उनके लिए एक स्वामी (राजा) बतलायें[5]। ब्रह्मा ने उनकी प्रार्थना स्वीकार की और उनके समक्ष मनु को प्रस्तुत

१ शा ८७।५१। २ शा १३ से १७।५९। ३ शा १७।६७।
४ शा १८।१२।६७। ५ शा २।६७।

किया जिसे उन्होंने अपना राजा बनाया[1]। इस प्रकार राज्य का निर्माण सामाजिक जीवन के संगठन को स्थायी एवं सुदृढ़ रखने मात्र के लिए होता है। इसलिए प्रजा राजा को केवल उतने ही अधिकार प्रदान करती है जितने कि राजा के लिए स्व धर्म के सम्पादन हेतु आवश्यक समझे गये[2]। इस विधि से जिस राजा का निर्माण होता है वह निरंकुश राजा नहीं है। उसके अधिकार सीमित हैं। यदि वह अपने अधिकारों का दुरुपयोग करता है अथवा अपने क्षेत्राधिकार का अतिक्रमण करता है तो इस दशा में उसको राजपद से च्युत करने की क्रिया वैध समझी जायगी।

इस दृष्टि से हाब्स (Hobbes) और भीष्म के विचारों में बड़ा अन्तर है। हाब्स का मत है कि मनुष्य ने आत्म-रक्षा के लिए अपने समस्त अधिकार उस व्यक्ति को प्रदान कर दिये जिसको उन्होंने अपना स्वामी (राजा) स्वीकार किया था। उनके सिद्धान्त के अनुसार ये अधिकार किसी प्रकार भी वापस नहीं लिये जा सकते। हाब्स के मतानुसार मनुष्य दो ही स्थितियों में रह सकता है। चाहे वह अराजकता के युग में वास करे अथवा सुसंगठित राज्य की स्थिति में। जिस समय मनुष्य के वैयक्तिक अधिकार उसी के पास होते हैं मनुष्य में स्वार्थ की प्रबल इच्छा जाग्रत हो जाती है जो अराजकता के युग का निर्माण करती है। परन्तु जब मनुष्य के सम्पूर्ण अधिकार एक ही व्यक्ति को सौंप दिये जाते हैं तो मनुष्य के जीवन का यह युग सुव्यवस्थित राजनीतिक युग में परिणत हो जाता है। ऐसे युग में सुख शान्ति और सुरक्षा वास करती है। इस प्रकार हाब्स निरंकुशवाद (absolutism) की स्थापना करते हैं। उनके मत से राजा के विरुद्ध विद्रोह करना किसी परिस्थिति में भी न्यायपूर्ण एवं वैध नहीं है। परन्तु भीष्म राजा की निरंकुशता के विरोधी हैं। उनके मतानुसार राजा की आज्ञा का पालन करना तभी तक न्यायपूर्ण है जब तक उसकी आज्ञा धर्मानुकूल है। उसकी एक भी क्रिया धर्म-विरुद्ध हो जाने पर वह राजपद से च्युत किये जाने योग्य हो जाता है। भीष्म के मतानुसार अपने अधीन प्रजा की रक्षा न करने वाला राजा प्रजा द्वारा उसी प्रकार त्याज्य है जिस प्रकार कि समुद्र में टूटी हुई नौका त्याज्य होती[4] है।

दूसरी ओर भीष्म के विचार फ्रांस के तत्ववेत्ता रूसो (Rousseau) के तत्सम्बन्धी विचारों से भी भिन्न हैं। रूसो प्राकृत युग के मनुष्य को भावुक मानते हैं और उसे विवेकहीन पुरुष समझते हैं। उनके मतानुसार विचार-शक्ति एवं विवेक

१ शा ११।६७।
२ शा ११ १४ २५।६७।
३ शा ५७ ४५।५७।
४ शा वही।

के अभाव के कारण उसको सुख-दुख का बोध नहीं होता और इसीलिए वह मूढ़ मनुष्य की भाँति अपने को सुखी मानता है। रूसो के प्राकृत युग का मनुष्य बुद्धि तत्त्व पर निर्भर न होकर भावनाओं से प्रेरित जीवन व्यतीत करता है। परन्तु भीष्म के सत्य युग के मनुष्य में विवेक है। वह अपनी और अपने पड़ोसी की भलाई-बुराई समझता है और स्वधर्म पालन में रत हो सुख शान्ति और सुमति का जीवन व्यतीत करता है। रूसो के राज्य के निर्माण की आधार शिला जनता की सामान्य अभिरुचि (General will) है। परन्तु भीष्म स्वर्ण युग (सत्ययुग) के निर्माण हेतु ब्रह्मा को श्रेय देते हैं जो उन्हें विधिसंग्रह सौंपकर आदेश देते हैं कि वह अपना आचरण इस विधि-संग्रह में दिये गये नियमों के अनुकूल करें। इस प्रकार भीष्म जिस राज्य की स्थापना करते हैं उसकी आधार-शिला ब्रह्मा द्वारा निर्मित विधि है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि रूसो जिस राज्य का निर्माण करना चाहते हैं उसका आस्तित्व जनता की सामान्य अभिरुचि (General will) पर निर्भर है परन्तु भीष्म के राज्य का अस्तित्व उस विधि-संग्रह पर आश्रित है जिसका सर्जन ब्रह्मा ने लोककल्याण के निमित्त किया है। इसका तात्पर्य यह है कि यह विधि पवित्र नित्य एवं सर्वश्रेष्ठ है और भीष्म के राज्य का अस्तित्व इन्हीं विधियों पर आश्रित है।

इस प्रकार भीष्म के राज्य की उत्पत्ति समाज-अनुबन्धवाद सिद्धान्त के आधार पर हुई है। इस सिद्धान्त के दो स्वरूप हैं। एक का प्राकृत युग स्वर्ण युग (सत्ययुग) और दूसरे का युग अशान्ति और कलह का युग है। एक में मनुष्य स्वयं विधि निर्माण करता है और उसे क्रियात्मक रूप देने के लिए ब्रह्मा द्वारा बतलाये गये पुरुष को अपना राजा स्वीकार करता है। परन्तु दूसरे में मनुष्य-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के विधिवत् नियमन एवं नियन्त्रण हेतु ब्रह्माद्वारा जीवन-सम्बन्धी नियमों का निर्माण होता है जिनको क्रियात्मक रूप देने के लिए विष्णु द्वारा एक व्यक्ति कल्पित किया जाता है और उसे जनता अपना राजा स्वीकार कर लेती है।

राज्य का आवयविक स्वरूप—शान्तिपर्व में राज्य की उत्पत्ति के वर्णन के साथ ही राज्य के स्वरूप की ओर भी संकेत किया गया है। इस संकेत के आधार पर ऐसा ज्ञात होता है कि भीष्म राज्य के आवयविक स्वरूप में आस्था रखते हैं। राज्य के स्वरूप के विषय में भीष्म के विचार मनु के तत्सम्बन्धी विचारों से समानता रखते हैं। भीष्म का मत है कि राज्य का स्वरूप सप्ताङ्ग अथवा सप्तात्मक है। भीष्म के सप्तात्मक राज्य के सात अंग आत्मा (राजा) अमात्य कोष दण्ड मित्र जनपद और पुर हैं[१]। इस प्रकार भीष्म और मनु दोनों के विचार समान हैं। अन्तर

१ शा १४ ६६।१६।

किया जिसे उन्होंने अपना राजा बनाया[1]। इस प्रकार राज्य का निर्माण सामाजिक जीवन के संचालन की स्वामी एवं सम्पूर्ण रखने मात्र के लिए होता है। इसलिए जनता राजा को केवल उतने ही अधिकार प्रदान करती है जितने कि राजा के लिए इन कार्यों के सम्पादन हेतु आवश्यक समझे जायें[2]। इस विधि से जिस राजा का निर्माण होता है वह निरंकुश राजा नहीं है। उसके अधिकार सीमित हैं। यदि वह अपने अधिकारों का दुरुपयोग करता है अथवा अपने सीमाधिकार का अतिक्रमण करता है तो इस दशा में उसको राजपद से च्युत करने की क्रिया वैध समझी जायगी।

इस दृष्टि से हाब्स (Hobbes) और भीष्म के विचारों में बड़ा अन्तर है। हाब्स का मत है कि मनुष्य ने आत्म-रक्षा के लिए अपने समस्त अधिकार उस व्यक्ति को प्रदान कर दिये जिसको उन्होंने अपना स्वामी (राजा) स्वीकार किया था। उनके सिद्धान्त के अनुसार ये अधिकार किसी प्रकार भी वापस नहीं लिये जा सकते। हाब्स के मतानुसार मनुष्य दो ही स्थितियों में रह सकता है। चाहे वह अराजकता के युग में वास करे अथवा सुव्यवस्थित राज्य की स्थिति में। जिस समय मनुष्य के वैयक्तिक अधिकार उसी के पास होते हैं मनुष्य में स्वार्थ की प्रबल इच्छा जाग्रत हो जाती है जो अराजकता के युग का निर्माण करती है। परन्तु जब मनुष्य के सम्पूर्ण अधिकार एक ही व्यक्ति को सौंप दिये जाते हैं तो मनुष्य के जीवन का यह युग सुव्यवस्थित राजनीतिक युग में परिणत हो जाता है। ऐसे युग में सुख शान्ति और सुरक्षा वास करती है। इस प्रकार हाब्स निरंकुशवाद (absolutism) की स्थापना करते हैं। उनके मत से राजा के विरुद्ध विद्रोह करना किसी परिस्थिति में भी न्याययुक्त एवं वैध नहीं है। परन्तु भीष्म राजा की निरंकुशता के विरोधी हैं। उनके मतानुसार राजा की आज्ञाओं का पालन करना तभी तक न्याययुक्त है जब तक उसकी आज्ञा धर्मानुकूल है। उसकी एक भी क्रिया धर्म-विरुद्ध हो जाने पर वह राजपद से च्युत किये जाने योग्य हो जाता है। भीष्म के मतानुसार अपने अधीन प्रजा की रक्षा न करने वाला राजा प्रजा द्वारा उसी प्रकार त्याज्य है जिस प्रकार कि समुद्र में टूटी हुई नौका त्याज्य होती[3] है।

दूसरी ओर भीष्म के विचार फ्रांस के तत्ववेत्ता रूसो (Rousseau) के तत्सम्बन्धी विचारों से भी भिन्न हैं। रूसो प्राकृत युग के मनुष्य को साधु मानते हैं और उसे विवेकहीन पुरुष बतलाते हैं। उनके मतानुसार विचार-शक्ति एवं विवेक

१ शां २१।६७। २ शां ११,१४ २५।१०।
३ शां ६७ ३५।५७। ४ शां वही।

है उसी प्रकार राजा के अभाव में प्रजा भी नाश को प्राप्त हो जाती है। जिस
र ग्वाला रहित पशु अन्धकार में इधर-उधर भटक कर नष्ट हो जाते हैं इसी
र राजा के बिना प्रजा भी नष्ट हो जाती है[1]। राजा के अभाव में बलवान्
ों का धन पुत्र (धन दारा आदि) अपहरण कर लेते हैं और यदि उनको कोई
करने से रोकने की चेष्टा करता है तो उसका भी वध कर डालते हैं[2]। राजा
भूभाग में कोई भी व्यक्ति धन दारा आदि को अपने अधिकार में रखने में
र्थ नहीं हो पाता और न कोई निर्बल मनुष्य यह कह सकता है कि अमुक धन
का है। न किसी के पास स्त्री रहने पाती न पुत्र न धन और न अन्य सामग्री।
र राजा जगत् की रक्षा में प्रवृत्त न हो तो सब ओर अज्ञान एवं अन्याय की
पकता हो जायगी। यदि राजा प्रजा-पालन का भार अपने ऊपर न ले तो लोग
ता-पिता, वृद्ध, आचार्य, अतिथि और गुरु तक को पीड़ा देने में प्रवृत्त दिखाई
दें[3]। जो धनवान् होते उनको नित्य वध और बन्धन का दुःख सहन करना
ड़ता। इस प्रकार भीष्म राजा की स्थिति में सारे जगत् की स्थिति मानते हैं
और इसीलिए उनके मतानुसार राजा का महत्त्व एवं उसकी आवश्यकता कभी
भुलाई नहीं जा सकती[4]।

भीष्म इस प्रकार, जगत की सुव्यवस्था उसके सम्यक् विकास एवं सम्वर्धन के लिए राजपद का निर्माण होना अनिवार्य मानते हैं।

राजा का स्वरूप—राजा के स्वरूप के विषय में भीष्म के विचार वही हैं जो कि मनु ने मानवधर्मशास्त्र में इसी प्रसंग में व्यक्त किये हैं। भीष्म भी राजा को दण्ड का प्रतीक मानते हैं। राजा दण्ड धारण करता है और अपने अधीन प्रजा में उसका सम्यक् प्रयोग करता है। उसको दण्ड-प्रयोग करने का अधिकार दिया गया है। परन्तु वह दण्ड प्रयोग करने में स्वच्छन्द नहीं है। उसे राजधर्म की सीमा में आबद्ध रहना पड़ता है। यदि वह इस सीमा का अतिक्रमण करता हुआ पाया जायगा तो स्वयं दण्ड का भागी हो जायगा। राजा दण्ड-प्रयोग कर अपने अधीन प्रजा को उन नियमों के अनुसार आचरण करने के लिए बाध्य करता है जो कि लोक-कल्याण हेतु ब्रह्मा ने स्वयं बनाये थे अथवा जिनका निर्माण जनता ने सर्व-सम्मति के साथ किया था। इस प्रकार राजा अपने अधीन राज्य में विधि-रक्षक का स्थान ग्रहण करता है, परन्तु उसको विधि-निर्माण का लेशमात्र भी अधिकार नहीं

१ शा १ से ११ तक।६८। २ शा १३।६८ ३ शा १५।६८
४ शा १०।६८। ५ शा १६।६८। ६ शा १७।६८।

केवल इतना है कि भीष्म स्वामी को आत्मा, सुहृद् को मित्र और राष्ट्र को अवयव नाम से सम्बोधित करते हैं । मनु में इतनी और विशेषता है कि उन्होंने राज्य के इन अंगों की आपेक्षिक उपयोगिता पर भी अपने विचार प्रकट किये हैं । परन्तु भीष्म इस विषय में मौन हैं। भीष्म द्वारा प्रतिपादित राज्य के आवयविक स्वरूप का पाश्चात्य देशों के विचारकों द्वारा प्रतिपादित तत्सम्बन्धी सिद्धान्त से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। जैसा कि मनु द्वारा प्रतिपादित इस सिद्धान्त के विषय में कहा जा चुका है कि भारतीय आवयविक सिद्धान्त का उद्गम-स्थान ऋग्वेद का पुरुषसूक्त है जिसमें एक का अनेक रूप में प्रकट होने के सिद्धान्त का भी आश्रय लिया गया है वैसे ही भीष्म द्वारा प्रतिपादित इस सिद्धान्त का भी मूल स्रोत यही है।

इस प्रकार भीष्म राज्य के आवयविक स्वरूप की ओर संकेत करते हैं। परन्तु यह संकेत मात्र ही है। इस संकेत के आधार पर राज्य के आवयविक स्वरूप के सिद्धान्त को पूर्ण रूप से स्थिर नहीं किया जा सकता। इसीलिए यह स्पष्ट नहीं कहा जा सकता कि इस सिद्धान्त के विषय में भीष्म की वास्तविक धारणा क्या थी है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि भीष्म राज्य के आवयविक स्वरूप में आस्था रखते हैं।

राजा का महत्त्व एवं उसकी आवश्यकता—भीष्म राजपद को महान् महत्त्वपूर्ण एवं परम आवश्यक मानते हैं। राजा के महत्त्व एवं उसकी आवश्यकता पर जो विचार भीष्म ने शान्तिपर्व में व्यक्त किये हैं वे लगभग वही हैं जो कि मनु ने इस विषय पर मानवधर्मशास्त्र में व्यक्त किये हैं। भीष्म भी मनु की भाँति ही धर्म की व्यवस्था राजा के अधीन मानते हैं। उन का मत है कि राजा के भय के कारण ही प्रत्येक प्राणी स्वधर्म-पालन करता है और लोकमें व्यवस्था स्थिर रहती है[2]। राजा मर्यादाहीन पुरुषों को दण्ड के द्वारा शुद्ध कर अपने अधीन प्रजा को शुद्ध एवं पवित्र बनाये रखता है जिससे प्रजा मर्यादाओं का उल्लंघन नहीं करने पाती । राजा के महत्त्व एवं उसी के पद की आवश्यकता प्रमाणित करने के लिए भीष्म ने अनेक दृष्टान्त दिये हैं। जिस प्रकार सूर्य अथवा चन्द्रमा के उदय न होने पर समस्त प्राणी गाढ़ान्धकार में लीन हो जाते हैं और परस्पर एक दूसरे के पहचानने में भूल करने लगते हैं जिस प्रकार अल्प जल वाले तड़ाग में मछली एवं जल पक्षी के अभाव में पक्षी परस्पर नाश में संलग्न रहते हैं और अल्प काल में ही अभाव को प्राप्त हो

१ मा ९९।७० । २ मा २९९।७० ।
३ मा ८।१४ । ४ मा ९।१४ ।

राज्य रहना चाहिए[1]। लोकरंजन कार्य के अनेक रूप हैं और उनका सम्पादन भी इसी प्रकार अनेक साधनों द्वारा होता है। कतिपय रूपों का वर्णन शान्ति पर्व में भीष्म द्वारा किया गया है।

(क) वर्णाश्रम-व्यवस्था का सुसंचालन—मनुष्य के वैयक्तिक एवं समष्टि जीवन के सामञ्जस्यिक विकास के निमित्त प्राचीन काल में ऋषि-मुनियों द्वारा वर्णाश्रम-व्यवस्था का निर्माण हुआ है। यह व्यवस्था पुरातन काल से चली आ रही है। यह व्यवस्था इतनी पुरातन है कि इसे शाश्वत कहा जाता है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत समाज में कार्य-विभाग एवं मनुष्य के जीवन के विभाग इस कुशलता से किये गये हैं जिससे मनुष्य का वैयक्तिक विकास और समाज का सामूहिक विकास चरम सीमा तक पहुँच सके। इस व्यवस्था को अक्षुण्ण रूप में स्थिर रखना एवं जनता को इस व्यवस्था के अनुसार आचरण करने के लिए प्रेरित करना एवं अधिक-से-अधिक सुविधा देना राजा का परम कर्तव्य बतलाया गया है। अपने प्रति एवं अपने समाज के प्रति मनुष्य के जो-जो कर्तव्य निर्धारित किये गये हैं उनका पालन उसी विधि से होना चाहिए। इस व्यवस्था के पालन में प्रमाद नहीं करना चाहिए। इसलिए अपने अधीन प्रजा में वर्ण-संकर एवं धर्म-संकर की प्रवृत्तियों का रोकना राजा का परम धर्म भीष्म के द्वारा निर्धारित किया गया है।

राजा के इस प्रधान कर्तव्य के विषय में जो विचार भीष्म ने प्रकट किये हैं वे मनु के तत्सम्बन्धी विचारों से भी समानता रखते हैं। मनु ने राजा के इस कर्तव्य के विषय में संकेत रूप में अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये हैं—सनातन से जो धर्म लोगों के लिए निर्धारित किये गये हैं उनके अनुसार अपने-अपने धर्म में चलने के लिए जिस वर्णाश्रम-व्यवस्था का निर्माण हुआ है उस व्यवस्था की रक्षा करने वाले राजा का सर्जन प्रभु ने स्वयं किया[3]। इस प्रकार वर्णाश्रम-व्यवस्था का संचालन करना एवं उसकी रक्षा करते रहना राजा का प्रधान कर्तव्य है। राजा के कर्तव्य के विषय में मनु और भीष्म के विचार समान ही हैं।

(ख) प्रजा-रक्षण—प्रजा-परिपालन एवं प्रजा-परिरक्षण राजा के परम कर्तव्य बतलाये गये हैं। इसीलिए भीष्म ने राज्य में प्राणिमात्र की रक्षा करना राजा का परम-धर्म बतलाया है[4]। जिस राजा की अभिलाषा है कि वह अपने राज्य पर दीर्घ काल तक शासन करे उसके लिए प्रजा की वास्तविक रक्षा के अतिरिक्त अन्य मार्ग नहीं

१ शा ५७।४१। २ शा १५।५७।
३ मानव १५।७। ४ शा ३।१२।

है। इस दृष्टि से भीष्म राज्य में सर्वोपरि स्थान राजपद को नहीं देते। उनके मतानुसार राज्य में सर्वोपरि स्थान विधि का माना गया है। राजा का स्थान विधि के उपरान्त आता है। इसके अतिरिक्त राजा अपने अधीन प्रजा के निमित्त आदर्श आचरण का प्रेरक है। वह आदर्श की साक्षात् मूर्ति माना गया है।

राजा के कर्तव्य—भीष्म ने राजा के कर्तव्यों का संकेत रूप में उल्लेख किया है। उनके मतानुसार राज्य एक महान् भार है। इस भार के वहन करने में अयोग्य पुरुष समर्थ नहीं हो सकता। जो कार्य कठिन परिश्रम-साध्य है उस कार्य को कोमल मनुष्य किस प्रकार विधिवत् सम्पन्न कर सकता है[१]। इसलिए इस गुरु भार को वहन करने के लिए कुशल एवं समर्थ वाहक की आवश्यकता होती है। इस वाहक में विशेष गुण होने चाहिए। उसमें शारीरिक मानसिक आत्मिक और बौद्धिक सभी प्रकार के विशेष गुण होने परमावश्यक हैं। राजा का चरित्र अपने अधीन प्रजा के लिए आदर्श होता है। इसलिए राज्य-भार को सुचारु वहन करने और प्रजा के लिए आदर्श चरित्र प्रस्तुत करने के लिए उसे आत्म-विजय के लिए निरन्तर प्रयत्न करते रहना चाहिए। भीष्म इस विषय में अपना मत देते हुए स्पष्ट कहते हैं कि राजा का सर्वप्रथम कर्तव्य आत्मविजय करना है। जिस राजा ने आत्मविजय नहीं की वह अपने शत्रुओं पर स्वोकर विजय प्राप्त कर सकता है[२]। आत्मविजय से भीष्म का तात्पर्य पाँच ज्ञानेन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने से है। भीष्म का मत है कि जो राजा जितेन्द्रिय होता है वही शत्रु-विजय में समर्थ हो सकता है[३]। वह राजा के लिए सबसे बड़ा धन सदाचार मानते हैं[४]। इसलिए भीष्म के मतानुसार राजा का सर्वप्रथम कर्तव्य यथोचित आचरण की प्राप्ति हेतु निरन्तर प्रयत्नशील रहना है। इस महान् कर्तव्य के अतिरिक्त राजा के लिए कुछ और कर्तव्य बतलाये गये हैं। राजा के इन कर्तव्यों को भीष्म ने लोकरंजन कार्यों के नाम से सम्बोधित किया है। इन लोकरंजन कार्यों का विधिवत् सम्पादन करना राजा का सनातन धर्म बतलाया गया है[५]। लोकरंजन कार्यों का सम्पादन करने में राजा को किस नीति का अवलम्बन करना चाहिए इस विषय में भीष्म ने गर्भिणी स्त्री का दृष्टान्त दिया है। जिस प्रकार गर्भिणी स्त्री अपने मन को प्रिय लगने वाली वस्तु का परित्याग कर गर्भस्थ शिशु के कल्याण में निरन्तर संलग्न रहती है उसी प्रकार राजा को भी सर्वदा अपने हितकारी कार्यों का परित्याग कर लोकरंजन कार्यों में निरन्तर

१ शा ११।५८। २ शा ७।१९। ३ शा ५।११।
४ शा ११।५७। ५ शा ११।५७।

दण्ड-प्रयोग करता रहता है वह धर्म की प्राप्ति करता है। उचित दण्ड की व्यवस्था को स्थापना करना राजा का सनातन धर्म है[1]। मनु की दृष्टि में भी व्यवहार स्थापन-कार्य राजा का परम कर्तव्य है। इसी तथ्य की पुष्टि इस बात से होती है कि उन्होंने मानवधर्मशास्त्र में व्यवहार-स्थापन-कार्य का बड़ा महत्त्व दिया है और इसीलिए उन्होंने अपने इस ग्रन्थ के आठवें अध्याय में राजा के पथप्रदर्शन हेतु व्यवहार-स्थापन के विषय में अपने विचार भली-भाँति व्यक्त किये हैं।

इस प्रकार भीष्म राज्य में व्यवहार-व्यवस्था की स्थापना और उसके संचालन की उचित व्यवस्था करना राजा के लिए एक प्रमुख कर्तव्य निर्धारित करते हैं।

(घ) राजकर्मचारियों की नियुक्ति की व्यवस्था—राज्य-संचालन महान् कार्य है। यह एक या दो व्यक्तियों द्वारा सम्पादित नहीं हो सकता। इसके लिए विविध योग्यता के अनेक व्यक्तियों की आवश्यकता होती है। भीष्म ने भी इस तथ्य को स्वीकार करते हुए अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये हैं—अकेला मनुष्य राज्य पर शासन करने में समर्थ नहीं है। सहाय-हीन राजा अर्थ प्राप्त करने या प्राप्त किये गये अर्थ की रक्षा में समर्थ नहीं हो सकता[2]। परन्तु इस विषय में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात योग्यता एवं कार्यक्षमता के अनुकूल कार्यों के सम्पादन हेतु इन पुरुषों की नियुक्ति है। इस व्यवस्था की स्थापना राजा द्वारा होनी चाहिए, ऐसा भीष्म का मत है। इस दृष्टि से राज्यकर्मचारियों की नियुक्ति की सुव्यवस्था करना राजा का प्रमुख कर्तव्य है। उनका मत है कि जो पुरुष जिस पद के योग्य है उसकी नियुक्ति उसी पद के लिए की जानी चाहिए। इस विषय में भीष्म अपना मत व्यक्त करते हुए कहते हैं—शरभ के पद पर शरभ सिंह के पद पर सिंह, व्याघ्र के पद पर व्याघ्र और तेंदुआ के पद पर तेंदुआ की नियुक्ति करनी उचित है[3]। जो सेवक जिस कार्य के योग्य है उसको उसी कार्य के सम्पादन हेतु नियुक्त करना उचित होगा। कर्मक्रम के अभिज्ञाता को इस नियम के विरुद्ध सेवकों की नियुक्ति करना उचित नहीं है। जो बुद्धिहीन राजा इस नियम का अतिक्रमण करके विरुद्ध रीति से अपने सेवकों की नियुक्ति करता है वह प्रजारञ्जन-कार्य-सम्पादन में समर्थ नहीं हो सकता[4]। मूर्ख, क्षुद्र, बुद्धिहीन, इन्द्रियलोलुप और अकुलीन पुरुषों को राज्य-संचालन-कार्य हेतु नियुक्त करना गुणवान् राजा का कर्तव्य नहीं है[5]। साधु, सत्कुल में उत्पन्न ज्ञानी अभिज्ञ पवित्र और दक्ष को नियुक्ति करनी चाहिए।

१ शा ३।६९। २ शा ११।११५। ३ शा ५।११९। ४ शा ६।११९।
५ शा ७।११९। ६ शा ८।११९। ७ शा ९।११९।

है क्योंकि प्रजा की रक्षा ही प्रजा को प्रसन्न करने का मूल कारण है, ऐसा भीष्म का मत है[1]। आन्तरिक एवं बाह्य बाधाओं से प्रजा को सुरक्षित रखना राजा का परमकर्तव्य है। भीष्म के मतानुसार वह राजा सर्वश्रेष्ठ है जिसके अधीन राज्य में प्रजा निर्भय होकर इस प्रकार विचरण करती है जिस प्रकार कि पुत्र अपने पिता के घर में निर्भय विचरते रहते हैं[2]। अपने अधीन प्रजा की रक्षा करने में असमर्थ राजा भीष्म की दृष्टि में उसी प्रकार व्यर्थ होता है जिस प्रकार काठ का हाथी चमड़े का मृग बच्च पुरुष ऊसर क्षेत्र वर्षा न करने वाले बादल और वेद-विहीन ब्राह्मण होता है ।

इस प्रकार भीष्म प्रजा-रक्षण कर्म को राजा के परम कर्तव्य के अन्तर्गत मानते हैं और यह बतलाते हैं कि राजा को अपने राज्य में ऐसी सुव्यवस्था स्थापित करनी चाहिए जिससे उसके अधीन प्रजा आन्तरिक विघ्न-बाधाओं बाह्य आक्रमणों एवं अन्य आपदाओं से सुरक्षित रहे।

(घ) व्यवहार-स्थापन-कार्य—मनुष्य लोभ के वश अन्य मनुष्यों के अधिकार हरण की चेष्टा करने लगता है जिसके कारण मनुष्य-मनुष्य में कलह की उत्पत्ति होती है। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के अधिकार-क्षेत्र पर आक्रमण न कर सके और इस प्रकार राज्य में आन्तरिक शान्ति भंग न होने पाये इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु व्यवहार की सुव्यवस्था एवं इसके सुसंचालन की परम आवश्यकता होती है। भीष्म इस कर्तव्य की ओर संकेत करते हुए अपने विचार इस प्रकार व्यक्त करते हैं—राजा को अभियोगों के सुनने एवं उनपर निर्णय देने के लिए महान् अनुभवी और विविध विषयों के ज्ञाता विद्वान् पुरुषों की नियुक्ति करनी चाहिए और इस प्रकार व्यवहार-स्थापन-कार्य (न्याय-व्यवस्था की स्थापना) करना चाहिए । इस क्षेत्र में किसी का पक्षपात नहीं होना चाहिए। यहाँ तक कि राजा के पुत्र-पौत्रों का भी यदि दोष पाया जाय तो उनको भी उनके दोष के अनुसार ही दण्ड मिलने की व्यवस्था होनी चाहिए[5]। राजधर्म के अनुसार प्रजापालन करने वाले राजा के समक्ष उसके माता-पिता भ्राता भार्या और पुरोहित में कोई भी अदण्ड्य नहीं होता[6]। राज्य में व्यवहार-व्यवस्था का लोप हो जाने से राजा को न तो स्वर्ग की ही प्राप्ति होती है और न यश की ही । भीष्म का मत है कि जो राजा राज्य में धर्मानुसार

१ शा ४१।५७।
२ शा ११।५७।
३ शा ४१।७८।
४ शा २८।६६
५ शा २।६९।
६ शा ९।१११।
७ शा ३२।६६।

दण्ड-प्रयोग करता रहता है वह धर्म की प्राप्ति करता है। उचित दण्ड की व्यवस्था की स्थापना करना राजा का सनातन धर्म है[1]। मनु की दृष्टि में भी व्यवहार स्थापन-कार्य राजा का परम कर्तव्य है। इसी तथ्य की पुष्टि इस बात से होती है कि उन्होंने मानवधर्मशास्त्र में व्यवहार-स्थापन-कार्य को बड़ा महत्त्व दिया है और इसीलिए उन्होंने अपने इस ग्रन्थ के आठवें अध्याय में राजा के पथप्रदर्शन हेतु व्यवहार-स्थापन के विषय में अपने विचार भली-भाँति व्यक्त किये हैं।

इस प्रकार भीष्म राज्य में व्यवहार-व्यवस्था की स्थापना और उसके संचालन की उचित व्यवस्था करना राजा के लिए एक प्रमुख कर्तव्य निर्धारित करते हैं।

(च) राजकर्मचारियों की नियुक्ति की व्यवस्था—राज्य-संचालन महान् कार्य है। यह एक या दो व्यक्तियों द्वारा सम्पादित नहीं हो सकता। इसके लिए विविध योग्यता के अनेक व्यक्तियों की आवश्यकता होती है। भीष्म ने भी इस तथ्य को स्वीकार करते हुए अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये हैं—अकेला मनुष्य राज्य पर शासन करने में समर्थ नहीं है। सहाय-हीन राजा अर्थ प्राप्त करने या प्राप्त किये गये अर्थ की रक्षा में समर्थ नहीं हो सकता[2]। परन्तु इस विषय में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात योग्यता एवं कार्यक्षमता के अनुकूल कार्यों के सम्पादन हेतु इन पुरुषों की नियुक्ति है। इस व्यवस्था की स्थापना राजा द्वारा होनी चाहिए, ऐसा भीष्म का मत है। इस दृष्टि से राजकर्मचारियों की नियुक्ति की सुव्यवस्था करना राजा का प्रमुख कर्तव्य है। उनका मत है कि जो पुरुष जिस पद के योग्य है उसकी नियुक्ति उसी पद के लिए की जानी चाहिए। इस विषय में भीष्म अपना मत व्यक्त करते हुए कहते हैं—शरभ के पद पर शरभ सिंह के पद पर सिंह बाघ के पद पर बाघ और तेन्दुआ के पद पर तेन्दुआ की नियुक्ति करनी उचित है[3]। जो सेवक जिस कार्य के योग्य है उसको उसी कार्य के सम्पादन हेतु नियुक्त करना उचित होगा। कर्मफल के अभिलाषी को इस नियम के विरुद्ध सेवकों की नियुक्ति करना उचित नहीं है। जो बुद्धिहीन राजा इस नियम का अतिक्रमण करके विरुद्ध रीति से अपने सेवकों की नियुक्ति करता है वह प्रजारञ्जन-कार्य-सम्पादन में समर्थ नहीं हो सकता[4]। मूर्ख क्षुद्र बुद्धिहीन इन्द्रियलोलुप और अकुलीन पुरुषों को राज्य-संचालन-कार्य हेतु नियुक्त करना गुणवान् राजा का कर्तव्य नहीं है[5]। साधु, सत्कुल में उत्पन्न ज्ञानी अनिन्दक पवित्र और दक्ष की नियुक्ति करनी चाहिए[6]।

१ मा ३।६९। २ मा १३।११५। ३ मा ५।११९। ४ मा ६।११९।
५ मा ७।११९। ६ मा ८।११९। ७ मा ५।११९।

इस प्रकार भीष्म ने राज्य-संचालन हेतु योग्य सदाचारी तथा कुलीन व्यक्तियों का चयन एवं राज्य के विभिन्न विभागों में उनकी यथायोग्य नियुक्ति करना राजा का कर्तव्य निर्धारित किया है।

(ङ) कार्य-निरीक्षण की व्यवस्था करना—लोक में इस प्रकार के अति अल्प पुरुष होते हैं जिनके कार्यों के निरीक्षण की आवश्यकता नहीं होती। कार्य के निरीक्षण एवं उसके मूल्यांकन के बिना कर्मचारी प्रमादी हो जाता है। फिर योग्य कर्मचारियों को प्रोत्साहन नहीं मिलता और अयोग्य कर्मचारियों के सुधार हेतु भी व्यवस्था नहीं हो पाती। इसलिए कर्मचारियों के कार्यों एवं उनके आचरण तथा व्यवहार के निरीक्षण की उचित व्यवस्था होनी चाहिए। भीष्म भी इससे सहमत हैं और इसीलिए उन्होंने राजा के कर्तव्यों का निर्धारण करते हुए उसका एक प्रमुख कर्तव्य यह बतलाया है कि उसे अपने राज्य के कर्मचारियों के कार्यों उनके आचरण एवं व्यवहार के निरीक्षण की व्यवस्था करनी चाहिए। भीष्म इस विषय में अपना मत व्यक्त करते हुए कहते हैं—राजा को अपने अधीन कर्मचारियों के कार्यों का निरीक्षण करते रहना चाहिए[1]। जिन कर्मचारियों को अधिकार पर नियुक्त किया गया है उनके कार्यों का प्रत्यक्ष एवं परोक्ष विधि से निरीक्षण राजा द्वारा होना चाहिए। ब्रह्मा ने लोक-कल्याण के लिए जिस दण्डनीतिशास्त्र का निर्माण किया था और जिसका उल्लेख भीष्म ने किया है उसमें राजा का एक प्रधान कर्तव्य यह भी बतलाया गया है कि राजा को अपने अधीन कर्मचारियों के कार्यों का निरीक्षण करना चाहिए।

(च) आर्थिक कल्याण-व्यवस्था—राज्य को सुव्यवस्थित रखने और जनता को सुखी एवं सन्तुष्ट रखने के लिए आर्थिक कल्याण-व्यवस्था होनी चाहिए। राज्य की आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार की होनी चाहिए जिसके अनुसार किसी भी व्यक्ति का विकास धनाभाव के कारण अवरुद्ध न होने पावे। प्रत्येक नागरिक की आर्थिक स्थिति इस प्रकार की होनी चाहिए जिसके अनुसार वह कम-से-कम अपनी दैनिक सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। राज्य में अर्थ-वितरण-कार्य इस प्रकार कदापि नहीं होना चाहिए जिसमें समाज के दो ऐसे वर्ग बन जायें जिनमें आर्थिक दृष्टि से इतना अन्तर हो कि उनमें परस्पर संघर्ष उत्पन्न हो जाय और वह राज्य के नाश का कारण हो। इसी लिए भीष्म राजा का एक प्रमुख कर्तव्य यह निर्धारित करते हैं कि उसे अपने अधीन राज्य में आर्थिक कल्याण की व्यवस्था करनी चाहिए। भीष्म का

१ शा १२।५७।　　२ शा ९८।९१।　　३ शा ५७।९१।

त है कि राजा को अपने राज्य में इस प्रकार की व्यवस्था की स्थापना करनी चाहिए जिसके अनुसार अप्राप्त अर्थ का लाभ प्राप्त अर्थ की वृद्धि और प्राप्त अर्थ की वृद्धि का वितरण सम्यक प्रकार से पात्रों में किया जा सके[१]। भीष्म उस राज्य को निन्दित समझते हैं जहाँ लोग वृत्ति एवं व्यवसाय-रहित होकर भिक्षा-वृत्ति धारण करने के लिए विवश हो जाते हैं। उन्होंने केकय राज्य को उत्तम राज्य माना है। इस राज्य में जहाँ और अच्छे गुण बतलाये गये हैं वहीं यह भी बतलाया गया है कि उस राज्य में प्रजा के समक्ष आर्थिक संकट उपस्थित नहीं होने पाता था। भीष्म बतलाते हैं कि इस राज्य में भिक्षावृत्ति का अधिकार केवल ब्रह्मचारियों को था। ये ब्रह्मचारी गुरुकुलों में अपने गुरुओं के आश्रित रहकर वेदाध्ययन करते हुए ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते थे[२]। भीष्म स्पष्ट व्यवस्था देते हैं—अपने अधीन राज्य में राजा को व्यवसाय रहित एवं अपने भरण-पोषण के साधन-हीन व्यक्तियों के भरण-पोषण की सुव्यवस्था करनी चाहिए[३]। भीष्म ने उस राजा को श्रेष्ठ माना है जो अपने राज्य में वृत्तिहीन पुरुषों के भरण-पोषण की व्यवस्था करता है और वृत्तिवालों की देख रेख करता है[४]। राजा को अपने राज्य में अनाथ वृद्ध दुर्बल दुःखी असहाय और स्त्रियों के भरण-पोषण की व्यवस्था करनी चाहिए[५]। भीष्म युधिष्ठिर का ध्यान आर्थिक कल्याण व्यवस्था की ओर आकृष्ट करते हुए उपदेश देते हैं—युधिष्ठिर! तुम अपने राज्य में याचक और दस्यु लोगों को वास न करने देना। ये लोग प्राणियों के कल्याण की इच्छा न करके अनिष्ट आचरण मात्र किया करते हैं[६]। भीष्म ने अपने इस सिद्धान्त की पुष्टि में मनु के मत का भी उद्धरण दिया है। भीष्म कहते हैं कि मनु इस प्रकार की व्यवस्था स्थापित कर गये हैं कि आपत्काल के अतिरिक्त दूसरे समय में राज्य में किसी व्यक्ति को भी दूसरे से याचना नहीं करनी चाहिए[७]। इसका तात्पर्य यह है कि राज्य की आर्थिक व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए जिसके अनुसार राज्य का एक भी व्यक्ति अपने भरण-पोषण के लिए भिक्षावृत्ति धारण करने को विवश न होने पावे।

(ख) सार्वजनिक कार्यों की देख-रेख—प्रत्येक राज्य में कुछ कार्य कुछ स्थान और कुछ वस्तुएँ सार्वजनिक होती हैं अर्थात् इनके सम्मिलित उपभोग का अधिकार सम्पूर्ण जनता को एक समान होता है। यह कार्य स्थान एवं वस्तुएँ किसी एक व्यक्ति

१ शा ५७,५३।५१। २ शा ५२।७७। ३ शा ५३।५१।
४ म. ११।५७। ५. शा १८।७७।
६. शा २४।८८। ७. शा १६।८८।

की अधिकार-सीमा के परे होती है। सार्वजनिक उत्सव, एवं समारोह मनाने की सुव्यवस्था करना, जीर्ण प्राचीन भवनों के स्मारकों के उद्धार, देवमन्दिर, तालाब, प्रपा, कूप आदि के जीर्णोद्धार एवं नवनिर्माण की व्यवस्था करना, सार्वजनिक सभा-गृहों के निर्माण एवं उनके सुसंस्करण आदि की व्यवस्था करना राजा का कर्तव्य बतलाया गया है।[1] इस प्रकार भीष्म ने राजा के विविध कर्तव्यों में इसे भी सम्मिलित किया है।

(ज) लोकक व्यवसायों के निरोध की व्यवस्था—प्रत्येक राज्य में कतिपय ऐसे भी व्यवसाय होते हैं जिनमें जनता के शोषण की सम्भावना रहती है। इनमें मादक द्रव्यों का विक्रय, वेश्यावृत्ति आदि मुख्य हैं। भीष्म ने इन व्यवसायों का निरोध करना राजा का कर्तव्य बतलाया है। उन्होंने मद्यशाला, वेश्यागृह, और कुटनी, कुशीलव तथा कितव आदि के वासस्थान राज्य के उपघातक माने हैं। उनका मत है कि ये सत्पुरुषों के क्लेश का कारण होते हैं। इसलिए राजा को ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए जिससे ये सत्पुरुषों को क्लेश न पहुँचा सकें। इनका विधिवत् नियमन कर इन्हें राज्य में उचित स्थान पर रखने की व्यवस्था करनी चाहिए। भीष्म मनुष्य की दुर्बलताओं को समझते हैं और इसलिए वह राजा को सावधान करते हुए कहते हैं कि उन्हें मद्य, मांस, वेश्या आदि के व्यवसायों पर भली-भाँति नियंत्रण रखने की व्यवस्था करनी चाहिए, क्योंकि मनुष्य कामासक्त होने पर उचित और अनुचित कार्य का विचार नहीं करता।[2] मद्य, मांस, परस्त्री और परधन में लोग अनायास ही आसक्त हो जाते हैं।

इस प्रकार भीष्म राजा के विविध कर्तव्यों का उल्लेख करते हैं। ये कर्तव्य उनके क्रमानुसार दो श्रेणियों में सुविधापूर्वक विभक्त किये जा सकते हैं। प्रथम श्रेणी में वे कर्तव्य परिगणित किये गये हैं जिनका सम्बन्ध राजा की आत्मविजय से है। दूसरी श्रेणी में उन्होंने राजा के उन कर्तव्यों को स्थान दिया है जिनका सम्बन्ध लोक-कल्याण अथवा लोकरंजक कार्यों से है।

मन्त्रिपरिषद् की आवश्यकता एवं उपयोगिता—मन्त्रिपरिषद् राजा के लिए अत्यन्त आवश्यक एवं परम उपयोगी है, इस विषय में भीष्म के विचार अलग नहीं हैं जो मनु के हैं। भीष्म राज्य का मूल राजा के मन्त्रियों द्वारा दी गयी मन्त्रणा मानते हैं। इसलिए राज्य की स्थिति हेतु योग्य मन्त्रियों को रखना और उनसे मन्त्रणा प्राप्त कर तदनुसार पालन करना राजा के लिए अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त मनु

१ शा ६९।५१। २ शा १४।१५।११।८८। ३. शा ४०।८।१

मत के अनुसार ही भीष्म भी इस तथ्य को भली-भाँति समझते हैं कि समस्त गुणों से सम्पन्न कोई एक पुरुष ही ऐसा सम्भव नहीं[1]। इसलिए भीष्म ने अनेक शास्त्रों के ज्ञाता एवं अनुभवी तथा सदाचरण में रत अनेक पुरुषों के शासन कार्य में लगा देने का विधान करते हुए मन्त्रिपरिषद् की उपयोगिता एवं आवश्यकता बतलायी है। भीष्म ने भी मनु की भाँति ही अमात्य (मन्त्री) को सप्ताङ्ग राज्य का एक अङ्ग मानकर *मन्त्रिपरिषद् की अनिवार्यता सिद्ध की है।*

सदस्य-संख्या—मनु ने मन्त्रिपरिषद् में सात अथवा आठ सदस्य रखने की व्यवस्था दी है। परन्तु भीष्म मनु के इस मत का समर्थन नहीं करते। राजा को इतनी अल्पसंख्यक सदस्यता वाली मन्त्रिपरिषद् के निर्माण करने की अनुमति भीष्म ने नहीं दी है। उनके मतानुसार मन्त्रिपरिषद् में सैंतीस सदस्य होने चाहिए[2]। इस दृष्टि से भीष्म मन्त्रिपरिषद् की सदस्य-संख्या के विषय में प्राचीन भारतीय राजशास्त्र विचारकों में विशेष स्थान रखते हैं। प्राचीन भारत के किसी भी राजशास्त्र-विचारक ने इतनी बड़ी सदस्य-संख्यावाली मन्त्रिपरिषद् का विधान नहीं किया है।

मन्त्रिपरिषद् के निर्माण के सिद्धान्त—भीष्म द्वारा प्रतिपादित मन्त्रिपरिषद् की सदस्य-संख्या की विशेषता के अतिरिक्त उसके निर्माण में भी कतिपय विशेषताएँ हैं जो प्राचीन भारतीय अन्य राजशास्त्र-विचारकों द्वारा प्रतिपादित मन्त्रिपरिषद् में नहीं पायी जातीं। इन विशेषताओं में सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसके निर्माण में समाज के विभिन्न वर्गों को प्रतिनिधित्व देने का प्रयास है। भीष्म द्वारा प्रतिपादित मन्त्रिपरिषद् में चारों वर्णों के सुयोग्य व्यक्ति होने चाहिए। प्राचीन भारतीय समाज में वैश्य वर्ग को जनता के भरण-पोषण का भार सौंपा गया था। इसलिए समाज को इस वर्ग का विशेष सहयोग प्राप्त करना आवश्यक हो जाता है। सम्भवतः इसी कारण भीष्म ने मन्त्रिपरिषद् में अन्य वर्गों के सदस्यों की अपेक्षा इस वर्ग के अधिक सदस्य रखने का समर्थन किया है। उनके मतानुसार मन्त्रिपरिषद् में कुल सैंतीस सदस्य होने चाहिए : चार ब्राह्मण, आठ क्षत्रिय, इक्कीस वैश्य, तीन शूद्र और एक सूत (charioteer)। इस प्रकार भीष्म मन्त्रिपरिषद् के निर्माण में वर्णानुसार प्रतिनिधित्व के समर्थक हैं और वैश्य वर्ग को उसमें सबसे अधिक प्रतिनिधित्व देने के पक्ष में हैं।[3]

इस परिषद् के निर्माण में दूसरी विशेषता यह है कि मन्त्रिपरिषद् में विभिन्न वर्णों का प्रतिनिधित्व निर्धारित करते हुए भी विभिन्न वर्णों के सदस्यों की योग्यताएँ ऐसी

१ शा ५।८५। २ शा ७ से ११ तक। ८५। ३ वहीं।

की अधिकार-सीमा के परे होती है। सार्वजनिक उत्सव एवं समारोह मनाने की सुव्यवस्था करना पवित्र प्राचीन भवनों के स्मारकों के उद्धार, देवमन्दिर, सभामण्डप, तथा कूप आदि के जीर्णोद्धार एवं नवनिर्माण की व्यवस्था करना सार्वजनिक धर्मा-गृहों के निर्माण एवं उनके सुसज्जीकरण आदि की व्यवस्था करना राजा का कर्तव्य बतलाया गया है।[१] इस प्रकार भीष्म ने राजा के विविध कर्तव्यों में इसे भी सम्मिलित किया है।

(ख) शोषक व्यवसायों के निरोध की व्यवस्था—प्रत्येक राज्य में अवश्य ऐसे भी व्यवसाय होते हैं जिनमें जनता के शोषण की सम्भावना रहती है। इनमें मादक-द्रव्यों का विक्रय वेश्यावृत्ति आदि मुख्य हैं। भीष्म ने इन व्यवसायों का निरोध करना राजा का कर्तव्य बतलाया है। उन्होंने मद्यशाला वेश्यागृह और कुट्टनी, दुर्गन्धि तथा कितव आदि के व्यवसाय राज्य के उपघातक माने हैं। उनका मत है कि ये सब पुरुषों के क्लेश का कारण होते हैं। इसलिए राजा को ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए जिससे ये सब पुरुषों को क्लेश न पहुँचा सकें। इनका विधिवत् नियमन कर इन्हें राज्य में उचित स्थान पर रखने की व्यवस्था करनी चाहिए। भीष्म मनुष्य की दुर्बलताओं को समझते हैं और इसलिए वह राजा को सावधान करते हुए कहते हैं कि उन्हें सब मद्य वेश्या आदि के व्यवसायों पर भली-भाँति नियन्त्रण रखने की व्यवस्था करनी चाहिए, क्योंकि मनुष्य कामासक्त होने पर उचित और अनुचित कार्य का विचार नहीं करता।[२] सब काम परस्त्री और परधन में लोभ अनायास ही उत्पन्न हो जाते हैं।

इस प्रकार भीष्म राजा के विविध कर्तव्यों का उल्लेख करते हैं। ये कर्तव्य उनके मतानुसार दो श्रेणियों में सुविधापूर्वक विभक्त किये जा सकते हैं। प्रथम श्रेणी में वे कर्तव्य परिगणित किये गये हैं जिनका सम्बन्ध राजा की आत्मविजय से है। दूसरी श्रेणी में उन्होंने राजा के उन कर्तव्यों को स्थान दिया है जिनका सम्बन्ध लोक-कल्याण अथवा लोकरंजक कार्यों से है।

मन्त्रिपरिषद् की आवश्यकता एवं उपयोगिता—मन्त्रिपरिषद् राजा के लिए अत्यन्त आवश्यक एवं परम उपयोगी है, इस विषय में भीष्म के विचार समान नहीं हैं जो मनु के हैं। भीष्म राज्य का मूल राजा के मन्त्रियों द्वारा दी गयी मन्त्रणा मानते हैं।[३] इसलिए राज्य की स्थिति हेतु भीष्म मन्त्रियों को रखना और उनसे मन्त्रणा प्राप्त कर तदनुसार पालन करना राजा के लिए अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त मनु

१ शा० १७५।१। २ म० १४।१६।११।८८। ३ शा० ४५।८३।

इस प्रकार मन्त्र संवरण एवं उसके गुप्त रखने तथा शासन-कार्य में सुव्यवस्था लाने के लिए भीष्म ने इस प्रणाली का प्रतिपादन किया है।

कार्य-प्रणाली—भीष्म के मतानुसार परम अन्तरंग समिति के सदस्य ही राजा के वास्तविक मंत्री हैं। इन सदस्यों का सम्पर्क हर समय राजा से रह सकता है। इन सदस्यों से परामर्श किये बिना राजा की शासन-सम्बन्धी कोई भी योजना कार्यान्वित नहीं करनी चाहिए, ऐसा भीष्म का मत है। अन्तरंग समिति का प्रधान राजा को होना चाहिए। राजा को इन मंत्रियों से संयुक्त एवं वियुक्त दोनों प्रकार की मन्त्रणा लेने का अधिकार होता है। राज्य के अत्यन्त गोपनीय एवं महत्त्वपूर्ण विषय इस समिति के समक्ष विचारार्थ प्रस्तुत होने चाहिए। प्रत्येक विषय की विवेचना होनी चाहिए। इन मन्त्रियों के सामूहिक एवं व्यक्तिगत निर्णय तथा राजा का स्वयं अपना तद्विषयक निर्णय राजगुरु के समक्ष प्रस्तुत होना चाहिए। राजगुरु का निर्णय लेकर राजा को वह अन्तिम निर्णय मंत्रिपरिषद् की स्वीकृति हेतु प्रस्तुत करना चाहिए।[1]

इस प्रकार मंत्रिपरिषद् अपनी छोटी समितियों के द्वारा राजा को श्रेष्ठ मन्त्रणा देकर उसका पथ-प्रदर्शन करती थी। साथ ही राजा के समस्त दैनिक कार्यों की देख रेख कर उसकी स्वेच्छापूर्ण प्रवृत्ति पर नियन्त्रण भी रखती थी।

सदस्यों की योग्यताएँ—भीष्म ने मंत्रिपरिषद् के सदस्यों की वर्गानुकूल कतिपय विशेष योग्यताओं का तो उल्लेख किया ही है साथ ही उन्होंने कतिपय ऐसी योग्यताओं का भी उल्लेख किया है जो मंत्रिपरिषद् के सभी सदस्यों के लिए आवश्यक हैं। योग्यताएँ कुलीन कुल में उत्पन्न होना, अमात्य-वंश में जन्म, राज्य का निवासी होना, लोक-प्रिय होना, आयुष्मान् होना और भद्र चरित्र का धारण करना आदि हैं।[2] उन्होंने मंत्रिपरिषद् के सदस्यों की योग्यता जानने के लिए परीक्षा-प्रणाली का निर्धारण किया है। इस विषय में भीष्म इस प्रकार व्यवस्था देते हैं—मंत्रिपरिषद् के सदस्य सुपरीक्षित होने चाहिए।[3] इस परीक्षा का स्वरूप कैसा होना चाहिए, इस विषय में भीष्म का मत है कि मंत्रिपरिषद् के सदस्यों की योग्यता की परीक्षा हेतु उपधाप्रणाली का आश्रय लेना चाहिए।[4] मंत्रिपरिषद् के सदस्यों के लिए कुलीन वंश एवं अमात्य-वंश में जन्म-सम्बन्धी योग्यताएँ तभी तक मान्य समझी गयी हैं जब तक कि उक्त कुल एवं वंश में योग्य व्यक्ति प्राप्त हो सकें। अयोग्य व्यक्ति इन

१ शा ८५।५४।८३।   २ शा ८३।१८,२१,४१।८३।
३ शा ११।८३।   ४. शा १२।८३।

इस प्रकार मन्त्र संवरण एवं उसके गुप्त रखने तथा शासन-कार्य में सुव्यवस्था लाने के लिए भीष्म ने इस प्रणाली का प्रतिपादन किया है।

कार्य-प्रणाली—भीष्म के मतानुसार परम अन्तरंग समिति के सदस्य ही राजा के वास्तविक मंत्री हैं। इन सदस्यों का सम्पर्क हर समय राजा से रह सकता है। इन सदस्यों से परामर्श किये बिना राजा को शासन-सम्बन्धी कोई भी योजना कार्यान्वित नहीं करनी चाहिए, ऐसा भीष्म का मत है। अन्तरंग समिति का प्रधान राजा को होना चाहिए। राजा का इन मंत्रियों से संयुक्त एवं वियुक्त दोनों प्रकार की मन्त्रणा करने का अधिकार होता है। राज्य के अत्यन्त गोपनीय एवं महत्त्वपूर्ण विषय इस समिति के समक्ष विचारार्थ प्रस्तुत होने चाहिए। प्रत्येक विषय की विशद विवेचना होनी चाहिए। इन मन्त्रियों के सामूहिक एवं व्यक्तिगत निर्णय तथा राजा का स्वयं अपना तद्विषयक निर्णय राजगुरु के समक्ष प्रस्तुत होना चाहिए। राजगुरु का निर्णय लेकर राजा को वह अन्तिम निर्णय मन्त्रिपरिषद् की स्वीकृति हेतु प्रस्तुत करना चाहिए।[1]

इस प्रकार मन्त्रिपरिषद् अपनी छोटी समितियों के द्वारा राजा को श्रेष्ठ मन्त्रणा देकर उसका पथ-प्रदर्शन करती थी। साथ ही राजा के समस्त दैनिक कार्यों की देख रेख कर उसकी स्वच्छन्दतापूर्ण प्रवृत्ति पर नियन्त्रण भी रखती थी।

सदस्यों की योग्यताएँ—भीष्म ने मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों की वर्णानुकूल कतिपय विशेष योग्यताओं का तो उल्लेख किया ही है साथ ही उन्होंने कतिपय ऐसी योग्यताओं का भी उल्लेख किया है जो मन्त्रिपरिषद् के सभी सदस्यों के लिए वांछनीय हैं। योग्यताएँ कुलीन कुल में उत्पन्न होना, अमात्य-पद में जन्म, राज्य का निवासी होना, वाक्-प्रिय होना, आयुष्मान् होना और भद्र चरित्र का धारण करना आदि हैं[2]। उन्होंने मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों की योग्यता जानने के लिए परीक्षा-प्रणाली का निर्धारण किया है। इस विषय में भीष्म इस प्रकार व्यवस्था देते हैं—मन्त्रिपरिषद् के सदस्य सुपरीक्षित होने चाहिए[3]। इस परीक्षा का स्वरूप कैसा होना चाहिए, इस विषय में भीष्म का मत है कि मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों की योग्यता की परीक्षा हेतु उपधाप्रणाली का आश्रय लेना चाहिए। मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों के लिए कुलीन वंश एवं अमात्यपद में जन्म-सम्बन्धी योग्यताएँ तभी तक मान्य समझी गयी हैं जब तक कि उस कुल एवं वंश में योग्य व्यक्ति प्राप्त हो सकें। अयोग्य व्यक्ति इन

१ शा ५२,५४।८३।   २ शा १,८,१८,२१,४१।८३।
३ शा १९।८३।   ४ शा २३।८३।

गुणों एवं मदों में उत्तम होने पर भी मन्त्रिपरिषद् का सदस्य नहीं बनाया जा सकता था।

सदस्यों की अयोग्यताएं—भीष्म ने कतिपय ऐसी अयोग्यताओं की ओर भी संकेत किया है जिनके कारण मन्त्रिपरिषद् की सदस्यता प्राप्त नहीं की जा सकती थी। इन अयोग्यताओं में राज्य का निवासी न होना, शासन-कार्य से विरक्तता, अमित्र-सेवन, अनुभव-हीनता, अस्थिर चञ्चलता, कुटिल स्वभाव, पापाचारी का पुत्र होना, मूर्ख, अधर्मीय पद शासन-संचालक, क्रोधी, लोभी आदि होना है।

इस प्रकार भीष्म ने मन्त्रिपरिषद् के लिए सदस्यता की जो योग्यताएं और अयोग्यताएं निर्धारित की हैं वे उपयुक्त एवं समयानुकूल हैं।

विधि-निर्माण-योजना—भीष्म विधि की प्रधानता में आस्था रखते हैं। उनके मतानुसार विधि के पालन में रहने से मनुष्य सुखी रहता है। इसीलिए भीष्म ने व्यवस्था दी है कि राज्य में धर्मशास्त्रों के अनुसार न्याय-व्यवस्था की स्थापना होनी चाहिए जिससे सभी के साथ समान व्यवहार हो सके[1]।

भीष्म ने विधि की परिभाषा कहीं नहीं की है और न उन्होंने कहीं आधुनिक युग के राजशास्त्र-विचारकों की भांति विधि का वर्गीकरण ही किया है। इसलिए भीष्म द्वारा वर्णित विधि-निर्माण-योजना की विवेचना इस दृष्टि से नहीं की जा सकती। इतना अवश्य है कि भीष्म ने विधि के मुख्य स्रोतों की ओर संकेत किया है। इन संकेतों के आधार पर ज्ञात होता है कि भीष्म द्वारा वर्णित विधि मुख्य चार श्रेणियों में परिगणित की जा सकती है जिन्हें दैवसम्मत, ऋषिसम्मत, लोकसम्मत, और शासनसम्मत-विधि की संज्ञा दी जा सकती है।

विधि-स्रोत—भीष्म के मतानुसार विधि-स्रोत चार हैं। ये चार स्रोत हैं—ब्रह्मा, ऋषि, जनता और स्थानीय संस्थाएं। विधि के इन चार स्रोतों का संक्षिप्त वर्णन यहां किया जाएगा।

(क) दैवसम्मत विधि-स्रोत—राज्य की उत्पत्ति के विषय में भीष्म ने जो वर्णन किया है और जिसका उल्लेख शान्तिपर्व में है यह वही है जिसका उल्लेख प्रसंगान्तर से पहले किया जा चुका है अर्थात् सुमति के युग के बाद जब कुमति का युग आया तो मनुष्य को इस दुःख से मुक्त करने के लिए देवों ने ब्रह्मा से प्रार्थना की और ब्रह्मा ने उनके कल्याण के लिए एक लाख अध्याय वाले विशाल ग्रन्थ की रचना की। मनुष्यों ने इन नियमों के पालन करने का प्रयत्न किया परन्तु काम क्रोध लोभ आदि

१ शा ९६।२८।१ १६।१६।१७।१८।११।८१। २ शा १७१।७।

के बाद मनुष्य इनका पालन न कर सका। अतः उन्हें इनके लागू करने के लिए शक्ति-सम्पन्न सत्ता के निर्माण की आवश्यकता पड़ी। इस सत्ता का निर्माण हो जाने पर इन नियमों ने विधि का रूप धारण किया। इस वर्णन से ज्ञात होता है कि भीष्म विधि-निर्माण के देवसम्मत-स्रोत में आस्था रखते हैं। और इस आधार पर वह यह मानते हैं कि मनुष्य-कल्याण के निमित्त जिन विधियों का निर्माण हुआ है उनमें कुछ ऐसी भी हैं जिनका निर्माण ब्रह्मा ने स्वयं किया है।

(ख) आर्ष-स्रोत—मानव-जीवन प्रगतिशील है। देश काल और परिस्थिति के अनुसार उसमें परिवर्तन होना स्वाभाविक है। इसलिए मानव-जीवन को देश काल और परिस्थिति के अनुसार अनुशासित और नियमित करने के लिए ऋषि-मुनि नियम बनाते आ रहे हैं, जो विधि का रूप धारण करते रहते हैं। ये ही विधि आर्षस्रोत से निकली हुई मानी गयी हैं।

शान्तिपर्व का एक अंश प्रायश्चित्त के साधनों के विषय में है। नाना प्रकार के इन प्रायश्चित्तों का उद्देश्य मनुष्य को उसके द्वारा किये गये पापों से मुक्त करना बतलाया गया है। प्रायश्चित्त का विधान मनुष्य के पापों के अनुसार किया गया है। ऋषि मुनियों ने इन प्रायश्चित्तों का विधान किया है। भीष्म इन प्रायश्चित्तों को मान्यता देते हैं और इस प्रकार इनको विधि का आर्ष-स्रोत मानते हैं। इसके अतिरिक्त भीष्म का यह भी मत है कि विधि (धर्म) सम्बन्धी संशय उत्पन्न होने पर वेद-शास्त्र के ज्ञाता दस अथवा धर्मशास्त्र के ज्ञाता तीन ब्राह्मण जो व्यवस्था दें उसको ही धर्म मानकर स्वीकार करना चाहिए[1]। शान्तिपर्व में भीष्म ने कुछ ऐसे ऋषि-मुनियों के नाम भी दिये हैं जो विधि-निर्माता हैं[2]।

लोकसम्मत विधि-स्रोत—शान्तिपर्व में कतिपय ऐसी विधियों के निर्माण की ओर संकेत किया गया है जिनका स्रोत जनता की सम्मति है। भीष्म इस विषय में युधिष्ठिर से कहते हैं कि उन्होंने सुना है कि आदिकाल में राजा और राज्य कुछ भी न था। उस समय प्रजा नष्ट होती रहती थी। लोग मात्स्यन्याय में प्रवृत्त होकर परस्पर नाश में संलग्न थे। उनका जीवन असहायमय था। इसलिए उन्होंने एकत्र होकर विधियों का निर्माण किया जो कठोरभाषी, दण्डपरायण और कामी पुरुषों को नियन्त्रण में रखने के विषय में थीं[3]। उन्होंने विधियों को लागू करने के लिए राजा का वरण किया। इस प्रकार यह घटना सिद्ध करती है कि भीष्म के मतानुसार विधि के अनेक स्रोत में लोकसम्मत-विधि-स्रोत भी है।

१ शा २।३६।   २ शा ५।३।५८।   ३ शा ६८।१९,१७।

संस्था-सम्मत विधि-स्रोत—प्राचीन भारतीय शासन का एक महत्त्वपूर्ण लक्षण शासन-सत्ता का विकेन्द्रीकरण है। यही कारण है कि प्राचीन भारत में ऐसी अनेक स्थानीय संस्थाओं का प्रादुर्भाव हुआ जिनके आश्रित जनता के जीवन का बहुत बड़ा भाग संचालित होता रहा। उनके जीवन के इस अंग को विधिवत् संचालित होने के लिए उन्हें कतिपय नियमों का निर्माण करना पड़ता था। कालान्तर में वे नियम राज्य द्वारा मान्यता प्राप्त कर लेते थे और विधि का रूप धारण कर लेते थे। इस प्रणाली से राज्य के विधि-समूह में इन्हें स्थान मिलता रहता था। इस प्रकार जनता का जीवन अनेक वर्गों एवं समुदायों तथा जातियों आदि में विभक्त रहता था। प्रत्येक वर्ग समुदाय एवं जाति के जीवन में कुछ-न-कुछ विशेषता रहती थी। इस विशेषता को स्थायी रूप देने के लिए इन विभिन्न समुदायों में कुछ प्रथाएँ, परम्पराएँ आदि प्रचलित हो जाती थी जिनका उल्लंघन दण्डनीय समझा जाता था। ये परम्पराएँ एवं प्रथाएँ कालान्तर में राज्य द्वारा मान्यता प्राप्त कर लेती और इस प्रकार विधि का रूप धारण कर लेती थी।

भीष्म ने इन स्थानीय संस्थाओं में से कुछ संस्थाओं की ओर संकेत करते हुए परोक्ष रूप में भी यह बतलाया है कि इन संस्थाओं द्वारा इस प्रकार, विधि-निर्माण कार्य निरन्तर होता रहता था। भीष्म ने इन्हें कुलधर्म जातिधर्म देशधर्म की संज्ञा दी है।[1] और वह इन धर्मों को शास्वत मानते हैं और व्यवस्था देते हैं कि चारों आश्रमों के पालन करने से मनुष्य जिस पुण्य का भागी होता है वह पुण्य राजा को इन धर्मों (विधि) के पालन करने मात्र से प्राप्त हो जाता है।

कोष और उसकी उपयोगिता—भीष्म ने भी मनु के समान ही सप्तांग राज्य का एक महत्त्वपूर्ण अंग कोष बतलाया है। राज्य के लिए कोष का महत्त्व एवं उसकी उपयोगिता पर भीष्म के विचार लगभग वही हैं जो कि मनु ने मानवधर्मशास्त्र में व्यक्त किये हैं। भीष्म का मत है कि राजाओं को सचेष्ट होकर कोष की रक्षा करनी चाहिए क्योंकि कोष राजाओं का मूल एवं उनकी वृद्धि का कारण होता है[2]। राजाओं का मूल कोष और सेना है। सेना का मूल कोष है। सेना समस्त धर्मों का मूल है और धर्म ही प्रजा का मूल होता है। इसलिए सबके मूल कोष की वृद्धि करनी चाहिए[3]।

कोष-संचय सिद्धान्त—परन्तु जहाँ भीष्म ने कोष की उपयोगिता के गुणगान किये हैं वहीं उन्होंने इस ओर भी समुचित ध्यान दिया है कि कोष-वृद्धि के निमित्त

१ शा १२।६६। २. शा १२।११९। ३ शा १२।१३३ ।

र्थ-सञ्चय कार्य में राजा को स्वच्छन्द नहीं होना चाहिए। यदि अर्थ-सञ्चय-कार्य में राजा को स्वतन्त्र कर दिया जायगा तो प्रजा को क्लेश प्राप्ति की ही अधिक सम्भावना रहेगी। इसी उद्देश्य से भीष्म ने राजा के इस अधिकार पर समुचित प्रतिबन्ध लगाये हैं। उन्होंने कुछ ऐसे सिद्धान्तों की ओर संकेत किया है जिनके आधार पर प्रजा से राजकोष के लिए अर्थ-सञ्चय किया जाना चाहिए। इनमें से कतिपय सिद्धान्त इस प्रकार हैं—

(क) प्रजा-परिपुष्टि-सिद्धान्त—राजकोष के हेतु धन-सञ्चय करने के जो साधन भीष्म ने निर्धारित किये हैं उनमें एक प्रमुख सिद्धान्त प्रजा-परिपुष्टि-सिद्धान्त भी है। इस सिद्धान्त के अनुसार कर लगाने के पूर्व प्रजा को हर प्रकार से सम्पन्न एवं समृद्ध होकर राजा के लिए धन-दान हेतु स्वयं उत्सुक हो तभी कर लगाने चाहिए। भीष्म ने इस सिद्धान्त की पुष्टि में गाय माता और माली के दृष्टान्त दिये हैं। गाय से दूध पाने के अभिलाषी को गाय दुहने के पूर्व उसकी सेवा-सुश्रूषा कर उसे तृप्त करना चाहिए। जब वह अपना दूध दुहाने के लिए स्वयं आतुर हो तब उसका दूध दुहना चाहिए[1]। माता अपने बच्चे को दूध पिलाने में तभी प्रसन्न होती है जब वह स्वयं तृप्त हो। दुःखी भूखी-प्यासी एवं चिन्तित माता अपने पुत्र को दूध पिलाने में प्रसन्न नहीं होती। प्रजा माता के समान है। उससे धन प्राप्त करने के लिए उसे पहले प्रत्येक प्रकार से परिपुष्ट एवं तृप्त करना आवश्यक है[2]। इसी प्रकार माली अपने अधीन वाटिका के वृक्षों की भली-भाँति सेवा-सुश्रूषा करता है। उनको खाद पानी देकर पुष्ट करता है। वह उन्हें अनेक विधि से सजाता है और फिर उनके फलों एवं खिले फूलों का जो कि भूमि पर टपक कर नष्ट होने वाले हैं सञ्चय करता है। इसी प्रकार राजा को चाहिए कि अपनी प्रजा को भली-भाँति परिपुष्ट समृद्ध एवं सम्पन्न कर उससे स्वल्प करों द्वारा राजकोष के निमित्त धन-सञ्चय करे। उसे कोयला बनाने वाले के समान व्यवहार नहीं करना चाहिए। कोयला बनाने वाले वृक्ष को मूल से ही नष्ट कर देते हैं[3]।

इस प्रकार भीष्म ने प्रजा-परिपुष्टि-सिद्धान्त के आधार पर राजकोष के निमित्त धन-सञ्चय करने का आदेश दिया है।

(ख) व्यथा-मुक्त-सिद्धान्त—राजकोष के निमित्त धन-सञ्चय का दूसरा सिद्धान्त भीष्म के मतानुसार व्यथा-मुक्त-सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त से भीष्म का तात्पर्य यह है कि प्रजा पर इस विधि से कर लगाये जाने चाहिए जिससे उसे लेश मात्र भी

१ शा १८।१७७।१। २ शा १९।७१। ३. शा २।७१।

व्यथा का अनुभव न होने पावे। करदाता को इस विषय का लेशमात्र भी बोध न होने पावे कि उस पर किस मात्रा में कब और किसके द्वारा कर लगाया गया या उसका वसूल किया गया। इस सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने मार्जार भ्रमर और जल-जोंक के दृष्टान्त दिये हैं। मार्जार अपने मुख में दाँतों के बल अपने शिशु को पकड़ कर उसे एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाती है, परन्तु शिशु को पता नहीं चलने पाता कि वह किस समय किसके द्वारा और कब एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया गया। भ्रमर पुष्प पर बैठकर पुष्प का मधु-पान कर उड़ जाता है, परन्तु पुष्प को इसका लेशमात्र भी पता नहीं चलता। जल-जोंक पशु के शरीर में चिपट कर रक्त पान कर उसके शरीर से पृथक् हो जाती है, परन्तु पशु को इस विषय का बोध नहीं होने पाता[1]।

मनु ने भी व्यथा-मुक्त-सिद्धान्त का उल्लेख इसी रूप में किया है। इस प्रकार इस दृष्टि से भीष्म ने मनु के मत का समर्थन किया है।

(घ) लाभ पर कर-सिद्धान्त—भीष्म ने मनु की भाँति ही इस विषय का प्रतिपादन किया है कि राजा को अपने अधीन प्रजा पर कर लगाते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कर मूल धन पर न लगे। जो पूंजी व्यवसाय अथवा व्यापार में लगायी गयी है उस पर जो लाभ हो उसी पर कर लगाना उचित होगा। उन्होंने स्पष्ट व्यवस्था दी है कि उत्पत्ति लाभ वृत्ति एवं शिल्प-कार्य को देखकर शिल्प कार्य अथवा शिल्पी पर कर निर्धारित करना चाहिए[2]। जिस प्रकार प्रजा का नाश न हो राजा को उसी प्रकार उपाय करना चाहिए। उसके कर्म और उसके फल को भली-भाँति देखकर तदनुसार कर लगाना चाहिए[3]। राजा को व्यापार, वैश्यों के निमित्त क्रय उत्पन्न व्यय और योग-क्षेम देखकर कर लगाना चाहिए[4]। इस प्रकार भीष्म मनु के समान ही लाभ पर कर लगाने पोषक हैं।

(ङ) प्रजा-रक्षण-सिद्धान्त—राजा का सर्वप्रथम कर्तव्य प्रजा-रक्षण है। प्रजा-रक्षण हेतु धन की आवश्यकता होती है। इसलिए इस कार्य के निमित्त धन-संचय हेतु प्रजा पर कर लगाने का अधिकार राजा को दिया गया है। वह स्पष्ट व्यवस्था देते हैं कि राजा को प्रजा से उसकी आय कर के रूप में ग्रहण कर उसके द्वारा प्रजा की रक्षा करनी चाहिए। जो राजा अपने इस कर को प्रजा से ग्रहण करता है, परन्तु उसकी प्रजा की भली-भाँति रक्षा नहीं करता वह राजा प्रजा का चोर है[5]। इस

१ शा ४ ६, ८८। २. शा १२।८७। ३. शा १६ १७, १०८७।
४ शा ३५।८७ ५ शा १ ७।१११।

प्रकार भीष्म ने इस प्रसंग में मनु के इस मत की पुष्टि की है कि जो राजा प्रजा से कर ग्रहण करता है परन्तु उस धन से प्रजा की रक्षा नहीं करता वह शीघ्र नरक-गामी होता है[1]।

(ख) वेतन-सिद्धान्त—भीष्म राजा को प्रजा का वेतन-भोगी सेवक मानते हैं। इसलिए राजा को प्रजा की सेवार्थ धन की आवश्यकता पड़ती है। वह यह धन प्रजा पर कर लगाकर प्राप्त करता है। इसलिए जो राजा प्रजा के योग-क्षेम की समुचित व्यवस्था नहीं करता और इस प्रकार अपने निर्धारित कर्तव्यों का पालन नहीं करता वह अपना वेतन पाने के अधिकार से च्युत हो जाता है। इसी आधार पर भीष्म ने युधिष्ठिर को स्पष्ट बतलाया है कि बलि शुल्क दण्ड आदि करों के द्वारा जो धन राजा प्राप्त करता है वह राजा का वेतन होता है[2]।

(ग) अधिक कर-निषेध-सिद्धान्त—भीष्म ने भी मनु के समान ही प्रजा पर, उसकी सामर्थ्य से अधिक कर लगाने का निषेध किया है। वह अधिक कर लगाने का निषेध करते हुए कहते हैं कि प्रजा की सामर्थ्य समय एवं परिस्थिति को देख-कर नियमानुसार कर लगाने चाहिए[3]। भीष्म उस राजा को निन्दनीय मानते हैं जिसके अधीन प्रजा करों के भार से दुखी रहती है। इस विषय में भीष्म एक दृष्टान्त देते हैं जो गाय के अतिदोहन से सम्बन्धित है। गाय के अतिदोहन से गाय का बछड़ा दुर्बल एवं निकम्मा हो जाता है। और जब बछड़े को भूखा न रखकर गाय का दोहन किया जाता है तो बछड़ा हृष्ट-पुष्ट एवं बलिष्ठ रहता है। गाय का अति-दोहन करने से गाय के बछड़े की जो दशा हो जाती है वही दशा अधिक कर लगने से प्रजा की हो जाती है ।

(घ) शनैः-शनैः कर-वृद्धि-सिद्धान्त—भीष्म का मत है कि प्रारम्भ में कर की दर अति अल्प होनी चाहिए। कर की दर में वृद्धि अचानक नहीं होनी चाहिए। कर-वृद्धि शनैः शनैः एवं अल्प-अल्प मात्रा में होनी चाहिए[4]। यह वृद्धि इस प्रकार की जानी चाहिए कि करदाता को इस प्रकार की गयी कर-वृद्धि का बोध न होने पाये। कर-वृद्धि के इस सिद्धान्त की पुष्टि में भीष्म बछड़े को भार वहन योग्य बनाने का दृष्टान्त देते हैं। बछड़े को पहले बनाया और यत्न से भारवहन कराया जाता है तत्पश्चात् शनैः-शनैः अल्प-अल्प भार-वृद्धि करते-करते उसे भार-वहन योग्य कर लिया जाता है। ठीक इसी नीति का पालन कर-वृद्धि हेतु होना चाहिए[5]।

१ मा १०७।८।   २ मा १।७१।   ३ मा० २१,२१।८०।
४ मा १८,२१,२१।८०   ५. मा ७।८८।   ६. मा ८।८८।

यदि इस नीति के विरुद्ध व्यवहार किया जायगा तो बछड़ा अयोग्य हो जायगा। इसी प्रकार प्रजा पर एकाएक कर-भार आ जाने से वह आक्रान्त होकर नष्ट हो जायगी या विद्रोही बन जायगी। इसीलिए राजा को अपने अधीन प्रजा पर कर लगाने एवं उसके वसूल में इसी नीति का अवलम्बन करना चाहिए[1]।

(ख) आपत्कालीन कर-वृद्धि-सिद्धान्त—यदि राज्य में किसी आपत्ति के कारण अथवा शत्रु से युद्ध करने के कारण राजकोष रिक्त हो गया है और राज्य के लिए धन की आवश्यकता है तो ऐसी परिस्थिति में राजा को अपने अधीन प्रजा पर विशेष कर लगाने का अधिकार है ऐसा भीष्म का मत है। परन्तु कर लगाने के पूर्व राजा को इस परिस्थिति का बोध अपनी प्रजा को करा देना चाहिए और राज्य में ऐसा जनमत उत्पन्न कर देना चाहिए जिससे प्रजा स्वयं राजकोष के निमित्त कर रूप में धन देने के लिए अपनी अनुमति दे दे। इस सिद्धान्त की पुष्टि भीष्म ने इस प्रकार की है—"हे राजन् (युधिष्ठिर)! यदि शत्रु के राज्य पर आक्रमण करने से तुम्हारा बहुत धन व्यय हो चुका हो तो तुम प्रजा को समझा कर ब्राह्मण को छोड़कर अन्य लोगों पर कर लगाकर धन का संग्रह कर सकते हो[2]। भीष्म इसी प्रसंग में युधिष्ठिर को इस प्रकार आदेश देते हैं—"राजा को इस विषय की सूचना कि उसको राज्य के निमित्त धन की आवश्यकता है, प्रजा को देनी चाहिए। इसके अनन्तर, राज्य में भय उपस्थित है इस विषय को प्रकाशित करना चाहिए। उपस्थित धन नष्ट होने से तुम लोग मेरे समीप से उस धन को पुनः प्राप्त कर लोगे। परन्तु शत्रु बलपूर्वक इस राज्य से जो धन ग्रहण करेगा तुम फिर न पा सकोगे। देखो! संकट उपस्थित होने पर धन को अत्यन्त प्रिय समझना उचित नहीं है। इस प्रकार के मधुर एवं युक्ति-युक्त वचनों से प्रजा में धन देने के पक्ष में जनमत उत्पन्न कर प्रजा से धन-ग्रहण करना चाहिए[3]।

विविध कर—भीष्म ने राजकोष की वृद्धि हेतु विविध प्रकार के करों के लगाने एवं उनके द्वारा धन संचय करने का आदेश दिया है। इन करों में बलि पशु-कर, हिरण्य-कर, शुल्क एवं आकर-कर, लवण-कर और तरण-कर मुख्य हैं।

(क) बलि—भीष्म जीविका के तीन मुख्य साधन मानते हैं। ये तीन साधन कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य हैं[4]। इन व्यवसायों के सुसंचालन एवं इनको लोकोपयोगी बनाने के लिए राज्य को उचित व्यवस्था करनी चाहिए। इन व्यवसायों के

१ शा ९।८८।
२ शा ११।७१।
३ शा १६।२५, १८७।
४ शा ७।८९।

संगठन सचालन विकास एव लोककल्याणमय बनाने के मार्ग में जो विघ्न-बाधाएँ उपस्थित हों उनका शमन करने की व्यवस्था करना राज्य का परम धर्म है। परन्तु राज्य के इस कर्तव्य-पालन के हेतु धन की परम आवश्यकता होती है। इस माग सफलता की पूर्ति हेतु इन व्यवसायों पर कर लगाने का अधिकार राजा को दिया गया है।

कृषि-व्यवसाय की सुव्यवस्था एव कृषक जनता को चोर, डाकुओं एव अन्य शत्रुओं से सुरक्षित रखने के लिए राजा को अनेक योजनाएँ कार्यान्वित करनी पड़ती हैं। इसलिए राजा अपने अधीन कृषक जनता से कृषि की उपज के अनुसार मासिक अथवा वार्षिक कर ग्रहण करता है। यह कर धन-धान्य एव अन्य सामग्री की उपज का छठवाँ भाग होना चाहिए। इस कर को भीष्म 'बलि' नाम से सम्बोधित करते हैं[1]। भीष्म ने इस कर से प्राप्त धन-धान्य एव अन्य सामग्री को राजा का वेतन माना है[2]। परन्तु उन्होंने इस वेतन का अधिकारी उसी राजा को माना है जो प्रजा की सम्यक रक्षा करता है और इस धन-धान्य एव अन्य सामग्री का प्रजा-पालन हेतु व्यय करता है। मनु ने भी बलि-कर का इसी अर्थ में किया है। इस प्रकार बलि-कर के विषय में मनु और भीष्म समान मत रखते हैं।

(ख) पशु-कर—भीष्म ने कृषि-व्यवसाय के उपरान्त गो-रक्षा अथवा पशु पालन व्यवसाय को महत्त्व दिया है। इस व्यवसाय के संगठन उसकी वृद्धि एव विकास के निमित्त यथासम्भव सुविधा प्रदान करना राजा का कर्तव्य बतलाया गया है। इसलिए इस व्यवसाय के धारण करने वालो एव उससे लाभ उठाने वाली जनता पर एक प्रकार का कर लगाने की व्यवस्था भीष्म ने दी है। इस कर को भीष्म ने पशु-कर के नाम से सम्बोधित किया है। पशु से जो लाभ होता है उसका पचासवाँ भाग इस कर की दर रूप में निर्धारित किया गया है। इस विषय में भीष्म और मनु का मतैक्य है।

(ग) शुल्क—व्यापार की सुव्यवस्था करने के अधिकार से राजा को वणिकों पर कर लगाने का अधिकार दिया गया है। व्यापारियों को अपना माल विक्रय हेतु, हाटो एव बाजारों में ले जाना पड़ता है। राज्य को इस प्रकार मार्गों एव हाटो तथा बाजारो में व्यापारियो की सुविधा हेतु सुव्यवस्था करनी होती है। इसलिए इन व्यापारियो के माल के अनुसार इन्हें एक प्रकार का कर देना ही चाहिए। भीष्म ने इस कर को शुल्क की सज्ञा दी है। शुल्क-ग्रहण करने के स्थान निर्धारित

१ शा ९५।६९। २ शा १।७१। ३ शा २३।१७।

होने चाहिए, ऐसा भीष्म का मत है। इस कर की दर के विषय में भीष्म मौन हैं। उन्होंने यह व्यवस्था अवश्य दी है कि इस कर का संचय राजा के हितैषी आप्त पुरुषों के द्वारा होना चाहिए[1]। शुल्क कर आधुनिक चुंगी कर के रूप में वर्णित है। मनु ने भी इस कर का उल्लेख किया है। उन्होंने शुल्क कर की दर भी दी है।

(घ) हिरण्य-कर—भीष्म ने हिरण्य-कर को भी मान्यता दी है। पर यह स्पष्ट नहीं है कि यह कर हिरण्य की उत्पत्ति अथवा व्यापार किस पर लगना चाहिए। भीष्म ने जो वर्णन किया है उससे केवल इतना ज्ञात होता है कि हिरण्य पर कर लगना चाहिए और यह कर हिरण्य के लाभ का पचासवाँ भाग होना चाहिए[2]।

(ङ) दण्ड—भीष्म ने राजकोष की वृद्धि का एक साधन दण्ड (fines) रूप में प्राप्त धन भी माना है। यह धन कर की श्रेणी में परिगणित नहीं किया जा सकता। परन्तु यह धन राजकोष की वृद्धि का एक साधन अवश्य माना गया है। अपराधों की गुरुता एवं लघुता के अनुसार अनेक प्रकार के आर्थिक दण्डों का विधान भीष्म द्वारा किया गया है।

(च) आकर-कर—राज्य में जो खनिज पदार्थ खानों से प्राप्त होते हैं उनका भी व्यापार होता है। इन पदार्थों पर राज्य की ओर से कर लगना चाहिए। यह कर किन खनिज पदार्थों पर और किस दर से लगना चाहिए, इस विषय पर भी भीष्म ने अपना मत प्रकट नहीं किया है। उन्होंने केवल यह व्यवस्था दी है कि इस कर (आकर-कर) द्वारा प्राप्त धन राजकोष में जमा करना चाहिए। राजा को अपने हितैषी आप्त पुरुषों के द्वारा इस कर के अन्तर्गत धन-संचय कराना चाहिए[3]।

(छ) लवण-कर—भीष्म ने लवण-कर लगाने की भी व्यवस्था दी है। ऐसा ज्ञात होता है कि भीष्म के पूर्व यह कर मान्य नहीं समझा जाता था। मनु ने इस कर का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है। इस कर की दर के विषय में भी भीष्म मौन हैं। केवल अन्य करों का उल्लेख करते हुए उन्होंने लवण-कर का भी उल्लेख कर दिया है[4]।

(ज) तरण-कर—राज्य में आवागमन की सुविधा हेतु नदी, नालों एवं अन्य जल-स्थानों को पार करने के लिए राजा को समुचित प्रबन्ध करना चाहिए। इस प्रबन्ध के लिए राजा को तरण-कर लगाने का अधिकार दिया गया है। भीष्म के मतानुसार यह कर उन्हें पार करने के साधनों का उपयोग करने वाले व्यक्तियों

१ शा २९।९९। २ शा ३१।१७। ३ शा ७।११६।
४ शा २९।९९। ५ शा ११।६९।

पर लगना चाहिए। इस कर की दर के विषय में भी भीष्म मौन है। मनु ने इस कर पर विशेष प्रकाश डाला है। उन्होंने इसकी दरें भी दी हैं। इस प्रकार भीष्म ने जीविका के अनेक साधनों तथा प्रजारंजन-कार्य-सम्पादन हेतु सुव्यवस्था करने के लिए विविध करों के द्वारा धन-धान्य तथा अन्य आवश्यक सामग्री के संचय की सुन्दर योजना दी है।

पुर और जनपद

शासन की दृष्टि से राज्य दो मुख्य विभागों में विभक्त किया गया है। भीष्म इन दो भागों को पुर और जनपद के नाम से सम्बोधित करते हैं। पुर से भीष्म का तात्पर्य उस नगर अथवा दुर्ग से है जो राज्य की राजधानी है। राज्य-क्षेत्र को पृथक कर देने के उपरान्त राज्य का जो भाग अवशेष रहता है उसे वह जनपद कहते हैं। राज्य के इन दोनों क्षेत्रों में शासन-सम्बन्धी योजना किस प्रकार लागू की जानी चाहिए, इस विषय पर भीष्म का मत नीचे दिया जाता है।

पुर—राजशास्त्र के कतिपय आचार्यों ने पुर और दुर्ग को समान अर्थवाची माना है। *परन्तु भीष्म ऐसा नहीं मानते। भीष्म के मतानुसार पुर में दुर्ग का होना आवश्यक है*, परन्तु दुर्ग ही पुर है ऐसा वह नहीं मानते। दुर्ग पुर का एक अंग मात्र है[1]।

भीष्म ने पुर के शासन सम्बन्धी अधिकारियों एवं कर्मचारियों का कहीं भी स्पष्ट वर्णन नहीं किया है। अतः इस विषय पर विशेष प्रकाश नहीं डाला जा सकता। परन्तु प्रसंग से ज्ञात पड़ता है कि पुर की शासन-व्यवस्था केन्द्रीय अधिकारी वर्ग के अधीन थी। इसी लिए भीष्म को इस ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता नहीं जान पड़ी।

भीष्म ने पुर की रक्षा पर विशेष ध्यान दिया है। पुर को शत्रु के आक्रमणों से सुरक्षित रखने के लिए वह उसके चारों ओर प्राकार एवं परिखा (गहरी खन्दक) का होना आवश्यक बतलाते हैं[2]। पुर में दुर्ग होना चाहिए। मनु के समान ही उन्होंने भी छ प्रकार के दुर्गों का उल्लेख किया है—*धन्वदुर्ग महीदुर्ग गिरिदुर्ग मनुष्यदुर्ग* मृत्तिकादुर्ग और वनदुर्ग। देश काल और परिस्थिति के अनुसार इनमें से किसी एक दुर्ग का राजधानी में निर्माण होना चाहिए । उन्होंने यह भी बतलाया है कि राजधानी में किस प्रकार के लोगों को भिन्न-भिन्न स्थान पर बसाना उचित होगा । इनके अतिरिक्त उस सामग्री एवं उन साधनों के, राजधानी में जुटाने का भी उल्लेख किया गया है जो राज्य में शासन-संचालन के लिए वांछनीय होते हैं[5]।

१ शा ६।८६। २ शा ६।८९। ३ शा ५।८६।
४ शा ७,१६,१७।८६। ५ शा ८-१५।८६।

पुर में उसकी रक्षा एवं उसके निवासियों के भरण-पोषण के निमित्त पर्याप्त समस्त सामग्री प्रचुर मात्रा में होनी चाहिए जिससे समय पड़ने पर पुर स्वावलम्बी रह सके और अपनी रक्षा स्वयं कर सके। पुर में न्याय-व्यवस्था की समुचित स्थापना की जानी चाहिए जिससे पुरवासियों में असन्तोष उत्पन्न न होने पाये।

जनपद-संगठन—जनपद में शासन-व्यवस्था की स्थापना हेतु जनपद की छोटी और बड़ी विभिन्न बस्तियों को अलग वर्गों में विभक्त किया गया है। जनपद शासन की यह योजना दशमलव सिद्धान्त के आधार पर की गयी है। शासन की इकाई ग्राम है, ग्राम के ऊपर दस ग्रामों का संगठित क्षेत्र है। इसके उपरान्त बीस-बीस ग्रामों के क्षेत्र हैं तदुपरान्त सौ-सौ ग्रामों के संगठित क्षेत्र और फिर एक हजार ग्रामों का संगठन कर उन्हें राजा के मन्त्रिमण्डल के एक सदस्य के अधीन किया गया है। इस प्रकार जनपद के संगठन की योजना वही है जो कि मनु ने मानवधर्मशास्त्र में दी है। ऐसा ज्ञात होता है कि मानवधर्मशास्त्र से उक्त योजना का वर्णन ज्यों का त्यों लेकर शान्तिपर्व में ज्यों-का-त्यों रख दिया गया है। जनपद के शासन सम्बन्धी विभाग उसके अधिकारी एवं अधिकारियों के कर्तव्य और अधिकारों का वर्णन दोनों ग्रन्थों में कुछ हेर-फेर के साथ समान ही है।

जनपद में ग्रामों के अतिरिक्त नगर भी होने चाहिए, ऐसा भीष्म का मत है। इन नगरों की संख्या अल्प ही होती है। इन नगरों के शासन हेतु सर्वार्थचिन्तक नाम के अधिकारियों की नियुक्ति की व्यवस्था दी गयी है। इनके कर्तव्य और अधिकारों का भी वर्णन भीष्म ने संक्षेप में दिया है[१]। यह वर्णन भी अक्षरशः वही है जो मनु ने मानवधर्मशास्त्र में दिया है।

इस प्रकार भीष्म द्वारा वर्णित पुर और जनपद की शासन-योजना मनु द्वारा दी गयी तत्सम्बन्धी योजना पर ही आधारित है।

युद्ध के विषय में भीष्म के विचार—भीष्म महाभारत कालीन विख्यात योद्धा माने गये हैं। उनका अधिकांश जीवन युद्धों में व्यतीत हुआ था। उन्होंने अनेक युद्धों में भाग लिया और उनमें विजयी हुए थे। इस प्रकार वे युद्ध के दुष्परिणामों को भली-भाँति जानते थे। इसी लिए भीष्म को अपने जीवन के अन्तिम दिनों में युद्ध से अरुचि हो गयी थी। शरशय्या पर पड़े हुए भीष्म युद्ध की निन्दा करते हुए दिखलाये गये हैं। युद्ध के विषय में उन्होंने जो विचार अपने पौत्र युधिष्ठिर के समक्ष रखे हैं उनसे ज्ञात पड़ता है कि उन्होंने युद्ध को विवशता का साधन माना है।

१ मनु ७,४४,१ १८०।   १ शा० १०—१४।८०।

जब अन्य किसी साधन से अर्थ-सिद्धि होती हुई दिखाई न पड़ती हो तभी युद्ध का आश्रय लेना चाहिए।

केवल राज्य-वृद्धि की इच्छा हेतु युद्ध घोषित करने का भीष्म ने विरोध किया है। वह अपने इस सिद्धान्त की पुष्टि में बृहस्पति द्वारा दी गयी व्यवस्था का समर्थन करते हुए कहते हैं—बुद्धिमान् राजा को राज्य-विस्तार की कामना से युद्ध नहीं करना चाहिए। बृहस्पति ने राज्य की वृद्धि साम दान और भेद इन तीन उपायों के आश्रित मानी है। राजा साम दान और भेद उपायों के द्वारा जिस कार्य को सिद्ध कर सकता है उसी में उसको सन्तोष करना चाहिए। इसी में राजा की निपुणता है[1]। राजा को अपने अपकारी जन का युद्ध द्वारा कभी दमन नहीं करना चाहिए, क्योंकि मूढ़ और असमर्थ का आश्रय बालक ही किया करते हैं।[2] युद्ध निषेध-सिद्धान्त की पुष्टि में भीष्म ने वामदेव के मत का उद्धरण दिया है और इस उद्धरण के अनुसार वह युधिष्ठिर के युद्ध-निषेध-सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए कहते हैं—राजा को बिना युद्ध किये हुए ही विजय प्राप्त करनी चाहिए। युद्ध के द्वारा जो विजय प्राप्त होती है उसे पण्डित जन निकृष्ट कहा करते हैं।[3]

विधि-सम्मत युद्ध—भीष्म जैसा कि ऊपर कहा गया है युद्ध-निषेध-सिद्धान्त के पोषक हैं। परन्तु उन्होंने कुछ ऐसी परिस्थितियाँ भी बतलायी हैं जिनमें युद्ध-घोषणा उनके मतानुसार विधि-सम्मत होगी। इन परिस्थितियों में एक यह है जिस के कारण लोकरक्षा कार्य में विघ्न उपस्थित हो रहा हो। लोकरक्षा कार्य राजा का एक प्रमुख कर्तव्य बतलाया गया है। यदि राजा के इस कर्तव्य-पालन में विघ्न-बाधाएँ उपस्थित होती हैं तो उनका दमन करने के लिए राजा को युद्ध घोषित करने का अधिकार दिया गया है।

इस विषय में दूसरी परिस्थिति यह है जब राजा के प्रजा-रक्षण-कार्य में बाधा उपस्थित होती है। ऐसी परिस्थिति में अपने अधीन प्रजा की रक्षा हेतु युद्ध-घोषणा विधि-सम्मत बतलायी गयी है।[4] धर्म-परायण जनता की रक्षा हेतु भी युद्ध घोषित किया जाना चाहिए। इस प्रकार की युद्ध-घोषणा भीष्म के मतानुसार विधिसम्मत है।[5] शरणागत की रक्षा हेतु भी युद्ध करना विधि-सम्मत बतलाया गया है।[6]

इस प्रकार, भीष्म ने लोकरक्षा प्रजारक्षण शिष्ट-रक्षा शरणागत-रक्षा एवं धर्म ही धर्म निमित्त के हेतु युद्ध घोषित करना विधिसम्मत माना है। राज्य-लिप्सा

१ शा ११ २४।६६।   २ शा ७०१ ३।   ३ शा ११९४।
४ शा १ ११।८९।   ५ शा १६।६६।
६ शा १२।६६।   ७ शा २१।६६

पुर में उसकी रक्षा एवं उसके निवासियों के भरण-पोषण के निमित्त आवश्यक समस्त सामग्री प्रचुर मात्रा में होनी चाहिए जिससे समय पड़ने पर पुर स्वावलम्बी रह सके और अपनी रक्षा स्वयं कर सके। पुर में न्याय-व्यवस्था की समुचित स्थापना की जानी चाहिए जिससे पुरवासियों में असन्तोष उत्पन्न न होने पाये।

जनपद-संगठन—जनपद में शासन-व्यवस्था की स्थापना हेतु जनपद की छोटी और बड़ी विभिन्न बस्तियों को अनेक वर्गों में विभक्त किया गया है। जनपद शासन की यह योजना दशमलव सिद्धान्त के आधार पर की गयी है। शासन की इकाई ग्राम है, ग्राम के ऊपर दस ग्रामों का सम्मिलित क्षेत्र है। इसके उपरान्त बीस-बीस ग्रामों के क्षेत्र हैं तदुपरान्त सौ-सौ ग्रामों के सम्मिलित क्षेत्र और फिर एक हजार ग्रामों का संगठन कर इन्हें राजा के मन्त्रिमण्डल के एक सदस्य के अधीन किया गया है। इस प्रकार जनपद के संगठन की योजना वही है जो कि मनु ने मानवधर्मशास्त्र में दी है। ऐसा ज्ञात होता है कि मानवधर्मशास्त्र से उक्त योजना का वर्णन उसी रूप में लेकर शान्तिपर्व में ज्यों-का-त्यों रख दिया गया है। जनपद के शासन सम्बन्धी विभाग उनके अधिकारी एवं अधिकारियों के कर्तव्य और अधिकारों का वर्णन दोनों ग्रन्थों में कुछ हेर-फेर के साथ समान ही है[1]।

जनपद में ग्रामों के अतिरिक्त नगर भी होने चाहिए, ऐसा भीष्म का मत है। इन नगरों की संख्या अनेक ही होती है। इन नगरों के शासन हेतु सर्वार्थचिन्तक नाम के अधिकारियों की नियुक्ति की व्यवस्था दी गयी है। इनके कर्तव्यों और अधिकारों का भी वर्णन भीष्म ने संक्षेप में किया है। यह वर्णन भी अक्षरशः वही है जो मनु ने मानवधर्मशास्त्र में दिया है।

इस प्रकार भीष्म द्वारा वर्णित पुर और जनपद की शासन-योजना मनु द्वारा दी गयी तत्सम्बन्धी योजना पर ही आश्रित है।

युद्ध के विषय में भीष्म के विचार—भीष्म महाभारत कालीन विख्यात योद्धा माने गये हैं। उनका अधिकांश जीवन युद्धों में व्यतीत हुआ था। उन्होंने अनेक युद्धों में भाग लिया और उनमें विजयी हुए थे। इस प्रकार वे युद्ध के दुष्परिणामों को भली भाँति जानते थे। इसी लिए भीष्म को अपने जीवन के अन्तिम दिनों में युद्ध से अरुचि हो गयी थी। शरशय्या पर पड़े हुए भीष्म युद्ध की निन्दा करते हुए दिखलाये गये हैं। युद्ध के विषय में उन्होंने जो विचार अपने पौत्र युधिष्ठिर के समक्ष रखे हैं उनसे ज्ञात पड़ता है कि उन्होंने युद्ध को विवशता का साधन माना है।

१ शा० ८४।६१।८०।   २ शा० १०–२१।८०।

सेना-संगठन—भीष्मने षडंग राज्य का एक प्रधान अंग दण्ड माना है। यह दण्ड के दो स्वरूप मानते हैं—प्रकाश दण्ड और अप्रकाश दण्ड। प्रकाश दण्ड सेना अथवा बल है जिसके भीष्म ने आठ अंग माने हैं[1]। सेना के ये आठ अंग भीष्म के मतानुसार, रथारोही गजारोही अश्वारोही नौकारोही पैदल, विष्टि (भार वाहक) चर और उपदेशक बतलाये गये हैं[2]।

अप्रकाश दण्ड—अप्रकाश दण्ड से भीष्म का तात्पर्य उन उपायों एवं साधनों के प्रयोग से है जिनके द्वारा गुप्त विधि से शत्रु का अन्त किया जाता है। उन्होंने अप्रकाश दण्ड के अनेक भेद किये हैं जैसे—जपम और अजपम चूर्ण योग वस्त्र और भोजन में विष मिलाकर शत्रु का प्राणान्त करना।

भीष्म ने सेना के संगठन उसके प्रशिक्षण युद्ध-कौशल सेना के विभिन्न अधिकारी एवं कर्मचारी गण आदि का वर्णन नहीं किया है। इस लिए इन विषयों पर भीष्म के जो विचार रहे होंगे उनके विषय में कुछ भी कहा नहीं जा सकता।

गणतन्त्र पर भीष्म का मत

भीष्म राजतन्त्रात्मक राज्यों में विशेष आस्था रखते हैं। इसी लिए उन्होंने राजतन्त्रात्मक राज्यों का विशेष वर्णन किया है। परन्तु इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि वह गणतन्त्रात्मक पद्धति से अपरिचित थे। उन्होंने गणतन्त्रात्मक पद्धति का भी संक्षिप्त परिचय दिया है। यह संक्षिप्त वर्णन शान्तिपर्व में आये हुए एक विशेष प्रसंग में उपलब्ध है। यह प्रसंग गणतन्त्रात्मक पद्धति के स्पष्ट परिचय के लिए पर्याप्त नहीं है। गणराज्यों की आपत्तियों एवं उनकी दुर्बलताओं के विषय में कतिपय समस्याओं के समाधान का इस प्रसंग में प्रयास किया गया है। इस लिए गणतन्त्रात्मक शासन-पद्धति के विषय में भीष्म के जो विचार रहे होंगे उनके जानने के लिए एक मात्र इसी साधन का आश्रय लेना होगा। शान्तिपर्व में ऐसी प्रामाणिक सामग्री का अभाव है जिसके आधार पर निश्चय-पूर्वक यह कहा जा सके कि जिन गणराज्यों से भीष्म परिचित थे उनका वास्तविक स्वरूप क्या था उनकी शासन-पद्धति की क्या विशेषता थी एवं उस समय कौन-कौन-से गण एवं संघ राज्य अथवा राजसंघ थे। परन्तु शान्तिपर्व में गण एवं संघ राज्यों का जो वर्णन किया गया है उससे इतना अवश्य प्रकट होता है कि भीष्म को गण एवं संघ राज्यों के संगठन तथा उनके संचालन के विषय में अच्छा ज्ञान था।

गणराज्य—शान्तिपर्व के अन्तर्गत एक ऐसा प्रसंग आता है जिसमें राजा युधिष्ठिर

१ शा ४ ।५९।   २ शा ४१।५९।

अथवा वैर-शोधन मात्र के निमित्त युद्ध घोषित कर प्राणियों का वध करा देना भीष्म के मतानुसार न्याययुक्त नहीं है।

विधि सम्मत युद्ध की विधि—निर्धारित विधि के अनुसार निश्चित स्थान एवं समय पर युद्ध करना प्राचीन भारत में धर्म-युद्ध माना गया है। भीष्म ने भी धर्म-युद्ध के कतिपय नियमों का वर्णन किया है। ये नियम कुछ विशेषताओं के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं हैं जिनका उल्लेख मानव-धर्मशास्त्र में है। राजा का युद्ध राजा से ही होना चाहिए। इसलिए अन्य किसी भी व्यक्ति को राजा के समक्ष युद्ध हेतु उपस्थित नहीं होना चाहिए। शरण में आये हुए का वध नहीं करना चाहिए।[१] दो शत्रुओं की सेनाओं के मध्य यदि ब्राह्मण शान्ति-अवलम्बन हेतु आदेश दे तो दोनों दलों को शान्ति अवलम्बन कर युद्ध से निवृत्त हो जाना चाहिए[२]। शरणागत अथवा अल्पवय का वध नहीं करना चाहिए। जिस योद्धा का कवच टूट गया हो उस पर अथवा जो वाहन-हीन हो उस पर शस्त्र प्रहार नहीं करना चाहिए। यदि ऐसा पुरुष अपने राज्य अथवा गृह में पाया जाय तो उसकी विधिवत् चिकित्सा करनी चाहिए और व्रण रहित हो जाने पर उसको मुक्त कर देना चाहिए।[४] युद्ध में वृद्ध बालक स्त्री और रथ के पृष्ठ भाग में रहने वाले पुरुषों (रथरक्षकों) का वध नहीं करना चाहिए।[५] मुख में तृण ग्रहण कर "मैं आप का हूँ" ऐसा वचन कहने वाले का वध नहीं करना चाहिए। इसके अतिरिक्त युद्ध से असम्बन्धित किसी कारण व्यक्ति किसी विषय के विशेषज्ञ सेवक रण से भागे हुए व्यक्ति के वध का निषेध किया गया है। भीष्म दूत को अवध्य मानते हैं। उनके मतानुसार दूत का वध करने वाला राजा सचिवों सहित नरक गामी होता है और उसके पितर भ्रूण हत्या पाप के भागी होते हैं[८]।

इस प्रकार जिस युग में भीष्म रहते थे और उस युग में युद्ध की जो समस्याएँ एवं परिस्थितियाँ थीं तथा उनके अनुसार युद्ध के नियमों का जो प्रचलन था उसका संक्षिप्त वर्णन शान्तिपर्व में भीष्म के मुख से हुआ है। यह समयोचित है। वास्तव में वह वीरता का युग था। और युद्ध वीरता-प्रदर्शन का कार्य समझा जाता था। इसी दृष्टिकोण से युद्ध के इन नियमों का वर्णन हुआ था। आधुनिक युग के युद्ध-नियमों से इसकी तुलना नहीं की जा सकती।

१ शा ७।९६। २ शा ३।९६। ३ शा ८।९६।
४ शा १२-१३।९५। ५ शा ४८।९८। ६ शा ४५।९८।
७ शा १०-११।९१। ८ शा २६।१०।८५।

रहता है और इस संघर्ष में ये लोग क्रोध मोह अथवा लोभ के कारण एक दूसरे से द्वेष करने लगते हैं और पारस्परिक बात-चीत करना बन्द कर देते हैं जिससे भेद उत्पन्न हो जाता है और वो गणों के पराभव का कारण बन जाता है। इस वर्णन के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि ये राज्य गणतन्त्रात्मक राज्य (Republican states) हैं।

इसी विषय में यह भी उल्लेखनीय है कि जब किसी राज्य में जनता समान अधिकार भोगने की अधिकारिणी होती है तो इस जनता के लिए कठोर अनुशासन का आश्रय लेना आवश्यक हो जाता है। अन्यथा राज्य में अशान्ति फैलने की आशंका रहती है। भीष्म ने यह व्यवस्था दी है कि गणों की जनता को अपने पुत्रों एवं भ्राताओं आदि को नियन्त्रण में रखना चाहिए। यदि वे किसी प्रकार का अपराध करते हैं तो अपराध के अनुसार ही उनको दण्ड मिलना चाहिए। इन राज्यों का यह लक्षण भी इन्हें गणतन्त्रात्मक राज्य सिद्ध करता है।

गणों में एक विशेष कठिनाई मन्त्र गुप्त रहने की है। इन राज्यों में सभी नागरिक राज्य की नीति पर अपना मत प्रकट करने का समान अधिकार रखते हैं। इन राज्यों का यह लक्षण भी इन्हें लोकतन्त्री व्यवस्था होने का पोषक है।

इस प्रकार जिन गणों की ओर भीष्म ने शान्तिपर्व के इस प्रसंग में संकेत किया है वे गणराज्य (Republican states) ही हैं। इन राज्यों में प्रभुता जनता में निहित मानी गयी है। यह जनता राज्य की शासन-सम्बन्धी समस्त छोटी-बड़ी समस्याओं पर निर्णय देने का समान अधिकार रखती है।

संघ-नीति—महाभारत के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस युग में भारत के अधिक भागों में राजतन्त्रात्मक शासन-पद्धति का अवलम्बन किया गया था। ऐसा ज्ञात होता है कि राजतन्त्र काफी सबल एवं पुष्ट दशा में था। परन्तु यत्र-तत्र कतिपय ऐसे राज्य भी थे जिनमें गणतन्त्रात्मक प्रणाली का अनुसरण किया गया था। इस प्रकार के राज्यों की संख्या अल्प थी। जनगणना एवं क्षेत्र-विस्तार दोनों की दृष्टि से राज्य बहुत छोटे थे। इसलिए अपने अस्तित्व के विषय में सदा उन्हें चिन्ता लगी रहती थी। इस भय की निवृत्ति हेतु भीष्म इन राज्यों द्वारा संघनीति का अनुसरण किया जाना उचित समझते हैं। इस नीति से उनका तात्पर्य यह है कि पास-पड़ोस के गणराज्य परस्पर मिल कर उनका एक संघ स्थापित कर लें और अपनी रक्षा एवं अन्य ऐसे शासन-विषय जिनका सम्बन्ध उन सभी राज्यों से है इस संघ की सरकार को सौंप दें। इस प्रकार उनकी संयुक्त शक्ति शत्रु के आक्रमणों से उन्हें सुरक्षित रखने में समर्थ हो सकेगी। इसी लिए गणराज्यों को सावधान करते हुए भीष्म ने ओजपूर्ण शब्दों में इस सिद्धान्त की पुष्टि की है कि इन राज्यों का कल्याण संघीभूत

भीष्म से गणों की वृद्धि और पतन के कारण पूछते हैं। इसके उत्तर में भीष्म ने इस विषय में अपना मत प्रकट किया है। भीष्म के मत से गणतन्त्रात्मक राज्यों में धर्मशास्त्रों के अनुसार न्याय-व्यवस्था की स्थापना और इस व्यवस्था को मान्यता देना, राज्य में बालकों एवं युवकों को विनयशील बनाकर उनको अनुशासित रखना और उन्हें अपराधके अनुसार दण्ड देना, चरों की उचित नियुक्ति और उत्तम मन्त्र का वरण करना तथा कोष-संचय हेतु प्रयत्नशील होना, बुद्धिमान्, शूरवान्, महान् उत्साही कार्यपरायण तथा पुरुषार्थी पुरुषों का उचित सम्मान करना, भेद, भय एवं वर्जन निग्रह और बल का त्याग करना, गण के मुखियों का विशेष सत्कार करना, कुलवृद्धों की उपेक्षा न करना, गण के मुखियों का परस्पर सहयोगी होना, चर-विभाग और मन्त्रणा के प्रधान के अधीन रहना, अकस्मात् क्रोध, मोह, और स्वाभाविक लोभ का त्याग करना गणराज्यों की वृद्धि के कारण माने गये हैं[१]। इसी वर्णन में यह भी बतलाया गया है कि गणराज्यों में जाति और कुल की दृष्टि से सभी लोग समान समझे जाते हैं[२]।

प्रश्न यह उठता है जिन गणों का भीष्म ने वर्णन किया है वे राजनीतिक संस्थाएं हैं अथवा अन्य प्रकार के जनसमुदायों के अन्तर्गत आते हैं? गणों के जो लक्षण दिये गये हैं उनका स्वरूप राजनीतिक है। उदाहरण के लिए, भीष्म इन गुणों के लिए चरों की उत्तम-व्यवस्था एवं मन्त्र-सम्वरण की उचित व्यवस्था का निर्धारण करते हैं। कोष-संचय में रत रहना, मन्त्र को गुप्त रखना, धर्मशास्त्रों के अनुसार न्याय-व्यवस्था की स्थापना करना, शासन-अनुष्ठान का यथानुसार आयत देना। ऐसे लक्षण हैं जो गणों को राजनीतिक संस्थाएं सिद्ध करते हैं। इस प्रकार गणों को राज्य मानना ही उचित होगा।

इन गणराज्यों में किस प्रकार की शासन-पद्धति का अनुसरण किया जाता था इस विषय पर भी गण सम्बन्धी उपर्युक्त वर्णन प्रकाश डालता है। इस वर्णन में शासन-भार गण-मुखियों और गण-सभाओं के द्वारा वहन किया जाता है ऐसा वर्णित है। राजा को इन गणों में स्थान नहीं दिया गया। इस प्रकार गणराज्य इस प्रकार के राज्य हैं जिनमें राज्य का प्रधान अधिकारी वंश-परम्परा-गत नहीं होता। इन गण राज्यों में एक और विशेष लक्षण यह बतलाया गया है कि इन राज्यों के निवासी अधिकार की दृष्टि से समान हैं। जाति अथवा कुल की दृष्टि से कोई भी निवासी छोटा-बड़ा नहीं है। यहां की जनता में राज्य के विविध पदों पर पहुंचने के लिए परस्पर संघर्ष

१ शा ४ ८१।९१।   २ शा १०-२४।१ ७।

है। अन्धक वृष्णि कुकुर, भोज और यादव गणराज्यों की जनता अपने कल्याण के निमित्त उनकी आश्रित है[1]। कृष्ण को संघ-मुख्य नाम से सम्बोधित किया गया है[2]। नारद के मतानुसार कृष्ण ही एक ऐसे महापुरुष हैं जो इस सर्वसंयुक्त संघ का भारवहन करने में समर्थ हैं[3]।

इन संघों के वर्णन से ज्ञात होता है कि इनमें विभिन्न दल भी हैं। एक दल के नेता बभ्रु बतलाये गये हैं[4]।

इससे यह स्पष्ट है कि भीष्म राजतन्त्र और गणतन्त्र दोनों प्रकार की शासन-पद्धतियों के मर्मज्ञ हैं।

●

१ शा २९।८१। २ शा २५।८१।
३ शा २१।८१। ४ शा १७।८१।

होने में है[1]। वह इन राज्यों को एक दूसरे से अलग रहने का विरोध करते हैं[2]।

संघ-सरकार की रूप-रेखा—भीष्म ने ऐसे दो संघों का परिचय दिया है। इनमें एक संघ छोटा और दूसरा उससे बड़ा है। पहला संघ अन्धक और वृष्णि इन दो गणराज्यों के संघीभूत होने से निर्मित हुआ है[3]। दूसरे संघ के अन्तर्गत पाँच गणराज्य अन्धक वृष्णि यादव कुकुर और भोज हैं। ये दोनों संघ आधुनिक गुजरात प्रदेश में स्थित बतलाये गये हैं। इस प्रकार संघीभूत हुआ प्रत्येक गणराज्य अपने संघ का घटक माना गया है। इस घटक राज्य को अपने आन्तरिक शासन में स्वतन्त्रता दी गयी है। आन्तरिक शासन का भार उस घटक राज्य के निवासियों पर ही निर्भर बतलाया गया है। संघीभूत हुए समस्त घटक राज्यों से सम्बन्धित शासन-विषयों का शासन अधिक सुचारु रूप से होने के निमित्त संघ को हस्तान्तरित कर देने की व्यवस्था दी गयी है। इन विषयों में सबसे महत्त्वपूर्ण विषय उनकी रक्षा का प्रश्न बतलाया गया है।

संघीय-सभा—इन संघों का जो वर्णन भीष्म ने शान्तिपर्व में किया है उससे ज्ञात होता है कि संघ में प्रभुताधारी संस्था संघ की सभा मानी गयी है। इस सभा में संघ के अन्तर्गत संघीभूत हुए राज्यों के प्रतिनिधि सदस्य हैं। सदस्य बहुमत से शासन-सम्बन्धी समस्याओं पर वाद-विवाद द्वारा निर्णय देते हुए बतलाये गये हैं। इन वाद-विवादों में एक दल दूसरे दल को नीचा दिखाने का प्रयत्न करता हुआ वर्णित है। इस सभा का अध्यक्ष राजा और उपाध्यक्ष उपराजा के नाम से सम्बोधित किये गये हैं। यह स्मरण रहे कि राजतन्त्रात्मक राज्यों में उपराजा नहीं होता। उसके स्थान पर युवराज होता है। प्रत्येक दल इस ओर प्रयत्नशील दिखलाया गया है कि उसका नेता अध्यक्ष-पद प्राप्त कर ले। इसलिए अन्धक-वृष्णि-संघ में यह संघर्ष इस सीमा तक पहुँचा हुआ है कि कृष्ण-जैसे नीतिनिपुण नेता को इसके निराकरण के उपाय देवर्षि नारद से जानने की आवश्यकता प्रतीत हुई। देवर्षि नारद इस संघर्ष के शमन हेतु अनायस शस्त्र का प्रयोग करने की व्यवस्था देते हैं। इस अनायस शस्त्र से उनका तात्पर्य उस व्यवहार एवं आचरण से है जिसके द्वारा जिह्वा के दुरुपयोग पर नियन्त्रण होता है और दूसरे के हृदय पर विजय प्राप्त होती है[4]।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि संघों में संघीय-सभा सर्वोच्च सत्ताधारी राजनीतिक संस्था मानी गयी है। वर्णन से ऐसा ज्ञात होता है कि कृष्ण इसी संघ के अध्यक्ष

१ म १११।१०७। २ म १०।१ ७। ३ वा ८।८१
४ म १५।८१। ५. म ३।२।८ । ६. म १९ से ११ तक।८११

है। अन्धक, वृष्णि, कुकुर, भोज और यादव गणराज्यों की जनता अपने कल्याण के निमित्त उनकी आश्रित है[1]। कृष्ण को संघ-मुख्य नाम से सम्बोधित किया गया है[2]। नारद के मतानुसार कृष्ण ही एक ऐसे महापुरुष हैं जो इस संघर्षयुक्त संघ का भारवहन करने में समर्थ हैं[3]।

इन संघों के वर्णन से ज्ञात होता है कि इनमें विभिन्न दल भी थे। एक दल के नेता बभ्रु बतलाये गये हैं[4]।

इससे यह स्पष्ट है कि भीष्म राजतन्त्र और गणतन्त्र दोनों प्रकार की शासन पद्धतियों के मर्मज्ञ हैं।

●

१ शा २९।८१। २ शा २५।८१।

३ शा २१।८१। ४ शा १७।८१।

४

कौटिल्य

कौटिल्य का संक्षिप्त परिचय

अर्थशास्त्र में कतिपय ऐसे संकेत मिलते हैं जिनके आधार पर उसके रचयिता कौटिल्य माने जा सकते हैं। यह वही कौटिल्य हैं जिन्होंने राजा (चन्द्रगुप्त मौर्य) के निमित्त शास्त्रों का अध्ययन और लोक-प्रचलित अनेक प्रकार के शासन सम्बन्धी प्रयोगों का मनन कर शासन-विधि का निर्माण किया था[1]। उन्होंने अर्थशास्त्र-सम्बन्धी बिखरी हुई सामग्री को संगृहीत कर प्रस्तुत सरल और सुबोध अर्थशास्त्र की रचना की[2]। यह कौटिल्य वही व्यक्ति हैं जिन्होंने क्रोध (अमर्ष) के कारण नन्दवंशीय राजा से शास्त्र, शस्त्र और भूमि का उद्धार किया और अर्थशास्त्र की रचना की[3]।

विष्णुपुराण में कौटिल्य के विषय में इस प्रकार वर्णन किया गया है—कौटिल्य नाम का एक ब्राह्मण नन्दवंश का अन्त करेगा। नन्दवंश का अन्त होने पर मौर्य नरेश पृथ्वी का भोग करेंगे। कौटिल्य ही चन्द्रगुप्त मौर्य को मगध राज्य के राजपद पर अभिषिक्त करेगा[4]। इस वर्णन से ज्ञात होता है कि कौटिल्य नाम का ब्राह्मण चन्द्रगुप्त मौर्य का राजगुरु था। उसने नन्दवंश का नाश कर चन्द्रगुप्त मौर्य को मगध राज्य के नरेश-पद पर अभिषिक्त किया था। सम्भवतः यह वही कौटिल्य हैं जो मौर्य साम्राज्य के संस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य के राजगुरु एवं नन्दवंश के उन्मूलक थे। इन्हीं कौटिल्य ने चन्द्रगुप्त मौर्य के पथ-प्रदर्शन हेतु अर्थशास्त्र की रचना की थी।

इस विषय की पुष्टि कामन्दकीयनीतिसार के प्रणेता कामन्दक दूसरे शब्दों में इस प्रकार करते हैं—"जिसने अति प्रतिष्ठाशील प्रतिष्ठित कुल में महर्षियों के समान प्रसिद्ध वंश में जन्म लिया है, जो पृथ्वी में विख्यात है, जो अग्नि के समान तेजस्वी है, जिसने एक वेद के समान ही ऋक्, यजु, साम और अथर्व इन चारों वेदों का अध्ययन किया है, जो वज्र और अग्नि के समान तेजस्वी है, जिसके वज्र-प्रहार से सुवर्ण श्रीमान् नन्दवंश रूप पर्वत समूल नष्ट हो गया, जो पराक्रम में साक्षात् कार्तिकेय के समान है, जिसने अकेले ही मन्त्रशक्ति के प्रभाव से चन्द्रगुप्त को साम्राज्य दिया

१ श्लोक १५ अ १ अधि २ अर्थशास्त्र।
२ वार्ता १ अ १ अधि १ अर्थशास्त्र।
श्लोक ११४ अ १ अधि १ अर्थशास्त्र।
३ श्लोक ८ अ १ अधि १५ अर्थशास्त्र।
४ वाक्य २६ से २८ अ २४ अंश ४ विष्णुपुराण।

जिसने महासमुद्र-रूप अर्थशास्त्र से अमृत-रूप नीतिशास्त्र निकाला उस असीम बुद्धि-सम्पन्न विष्णुगुप्त के निमित्त नमस्कार है[1]।

कामन्दक के इन वाक्यों एवं विष्णुपुराण तथा अर्थशास्त्र के उपर्युक्त उद्धरणों के आधार पर ज्ञात होता है कि कौटिल्य का ही दूसरा नाम विष्णुगुप्त था। यह वही विष्णुगुप्त थे जिन्होंने नन्दवंश का नाश कर चन्द्रगुप्त मौर्य को मगध का राजा बनाया था। उन्हीं विष्णुगुप्त अथवा कौटिल्य ने अर्थशास्त्र की अन्य पोथियों से अर्थशास्त्र सम्बन्धी सामग्री संगृहीत कर एक नवीन अर्थशास्त्र की रचना की थी[2]।

महामहोपाध्याय गणपति शास्त्री ने कौटिल्य के इन नामों की सार्थकता सिद्ध करते हुए बतलाया है कि कौटिल्य शब्द अशुद्ध है। इसके स्थान पर कौटल्य शब्द का प्रयोग उचित होगा। कौटल्य शब्द का सम्बन्ध कौटल गोत्र से है। कौटल गोत्र के प्रवर्तक कौटल ऋषि हैं। विष्णुगुप्त इसी गोत्र से सम्बन्धित थे इसलिए उन्हें कौटल्य नाम से सम्बोधित किया गया है। विष्णुगुप्त उनका वास्तविक नाम था।

शंकराचार्य ने भी कामन्दक नीतिसार की व्याख्या करते हुए यही बतलाया है कि विष्णुगुप्त नाम उन्हें नामकरण संस्कार के समय दिया गया था। परन्तु उनके जन्म-स्थान और गोत्र के आधार पर उनको क्रमश चाणक्य और कौटल्य नाम से सम्बोधित किया गया है।

दशकुमारचरित के रचयिता संस्कृत के प्रसिद्ध लेखक दण्डी ने भी इसी मत की पुष्टि अपने ग्रन्थ में इस प्रकार की है—"दण्डनीतिशास्त्र का अध्ययन कर आचार्य विष्णुगुप्त ने मौर्यों के निमित्त उस दण्डनीतिशास्त्र को छ सहस्र श्लोकयुक्त ग्रन्थ में संक्षिप्त किया। इस अर्थशास्त्र का सम्यक अध्ययन एवं अनुष्ठान करने से अभिलषित फल की प्राप्ति होती है[3]। अर्थशास्त्र के प्रथम अधिकरण के प्रथम अध्याय में भी इस विषय का उल्लेख है कि अर्थशास्त्र में छ सहस्र श्लोक हैं[4]। दण्डी के इन वाक्यों से भी यही सिद्ध होता है कि विष्णुगुप्त ने प्राचीन अर्थशास्त्रों को संगृहीत कर चन्द्रगुप्त मौर्य के पथ-प्रदर्शन हेतु एक नवीन अर्थशास्त्र की रचना की थी। इस प्रकार दण्डी भी उन विष्णुगुप्त को अर्थशास्त्र का रचयिता मानते हैं जिन्होंने चन्द्रगुप्त मौर्य को मगध का राजा बनाया था और नन्दवंश का नाश किया था। यह विष्णुगुप्त

१ श्लोक २ से ६ तक, सर्ग १ कामन्दकीय नीतिसार।
२ वार्ता १ अ १ अधि १ अर्थशास्त्र।
३ अध्याय उच्छ्वास—दशकुमारचरित।
४ वार्ता १६१ अ १ अधि १ अर्थशास्त्र।

इस प्रकार, अर्थशास्त्र और विष्णुपुराण के कौटिल्य ही हैं। कादम्बरी ग्रन्थ के प्रणेता बाण ने भी यह स्वीकार किया है कि कौटिल्य ने अर्थशास्त्र की रचना की थी।

'नीतिवाक्यामृत' में चाणक्य नाम के ब्राह्मण को नन्दवंश का उन्मूलन करने वाला बतलाया गया है। चाणक्य ने तीक्ष्णदूत-प्रयोग से नन्दवंश का उन्मूलन किया था। पञ्चतन्त्र के रचयिता ने भी चाणक्य को अर्थशास्त्र का प्रधान प्रणेता माना है[3]।

देवदत्तशास्त्री अर्थशास्त्र की भूमिका नाम की अपनी पुस्तक में विष्णुगुप्त के चाणक्य एवं कौटिल्य नामों की सार्थकता पर अपना मत प्रकट करते हुए लिखते हैं—"चणक गोत्र में उत्पन्न होने के कारण विष्णुगुप्त चाणक्य कहलाये और उनके मन में कूटक बुद्धि होने के कारण वह कौटिल्य कहलाये।

इस प्रकार उपर्युक्त प्रामाणिक सामग्री के आधार पर इस विषय में लेश मात्र भी सन्देह नहीं रहता कि कौटिल्य जो चन्द्रगुप्त मौर्य के राजगुरु थे और जिन्होंने नन्दवंश का अन्त किया था अर्थशास्त्र के रचयिता हैं। उन्हीं कौटिल्य के ही विष्णुगुप्त और चाणक्य दो और नाम थे। एक ही व्यक्ति के अनेक नाम होना आश्चर्य नहीं है। प्राचीन भारत में इस प्रकार का प्रचलन रहा है। आज भी हिन्दू परिवारों में एक ही व्यक्ति के तीन नाम होना साधारण-सी बात है। एक राशि का नाम, दूसरा घर का नाम और तीसरा प्रचलित नाम ये तीन प्रकार के नाम एक ही व्यक्ति के आधुनिक समय में भी होते हैं। इसलिए इस विषय में दो मत नहीं हो सकते कि चन्द्रगुप्त मौर्य के राजगुरु कौटिल्य नाम के एक ब्राह्मण थे जिन्होंने अर्थशास्त्र की रचना की है। चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन के शासन-काल का प्रारम्भ ३२१ अथवा ३२४ वर्ष ईसा से पूर्व माना जाता है। अतः अर्थशास्त्र का रचना-काल भी इसी तिथि के समीप मानना न्यायसंगत होगा। इस प्रकार कौटिल्य मौर्य काल के राजशास्त्र-विचारक हैं।

प्रस्तुत अर्थशास्त्र का रचना-काल—कौटिल्य के नाम से जो अर्थशास्त्र आज उप-लब्ध है वह कौटिल्य प्रणीत है अथवा किसी अन्य की कृति है इसका निर्णय करना

१ किं वा तेषां साम्प्रतं येषामतिनृशंसप्रायोपदेशनिर्घृणं कौटिल्यशास्त्रं प्रमाणम्।
—कादम्बरी।

२ श्रूयते हि किल चाणक्यस्तीक्ष्णदूतप्रयोगेणैकं नन्दं जघानेति।
—नीतिवाक्यामृत।

३ ततो धर्मशास्त्राणि मन्वादीनि अर्थशास्त्राणि चाणक्यादीनि कामशास्त्राणि
—वात्स्यायनादीनि। पञ्चतन्त्र।

सरल नहीं है। यह एक ऐसी जटिल समस्या है जिसके समाधान हेतु विभिन्न मत है। कतिपय विद्वान् अर्थशास्त्र की इस पोथी को मौर्यकाल की रचना नहीं मानते। उनका कहना है कि इस अर्थशास्त्र में कुछ ऐसी सामग्री है जो मौर्य-काल के पश्चात् की है इसलिए वह इस अर्थशास्त्र को मौर्यकाल के पश्चात् की रचना मानते हैं। इन विद्वानो में जाली विंटरनित्स ए बी कीथ प्रभृति अर्थशास्त्र को तीसरी सदी ईसवी की कृति मानते हैं। आर जी भण्डारकर ने अर्थशास्त्र को ईसा की प्रथम शताब्दी का ग्रन्थ माना है।

परन्तु डा शामशास्त्री और डा काशीप्रसाद जायसवाल उपर्युक्त विद्वानो के इन मत से सहमत नहीं है। उन्होने इस सिद्धान्त की स्थापना करने का प्रयत्न किया है कि प्रस्तुत अर्थशास्त्र वही अर्थशास्त्र है जिसकी रचना चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रधान मत्री एव राजगुरु कौटिल्य ने मौर्य राजाओ के पथ-प्रदर्शन हेतु की थी। इस श्रेणी के विद्वानो में डा शामशास्त्री और डा काशी प्रसाद जायसवाल के अतिरिक्त फ्लीट, गणपति-शास्त्री एन एन ला डी आर भण्डारकर, आर के मुकर्जी एच सी राय चौधरी वी ए स्मिथ एफ डब्ल्यू टामस प्रभृति मुख्य है। इस श्रेणी के विद्वानों ने उन आक्षेपो के समाधान का प्रयत्न किया है जो प्रस्तुत अर्थशास्त्र को मौर्यकाल की रचना न होने की पुष्टि में किये गये हैं।

इतना होने पर भी यह विषय अब भी विवाद-ग्रस्त बना हुआ है। प्रस्तुत अर्थशास्त्र को मौर्यकालीन मान लेने में एक आपत्ति यह भी की जा सकती है कि दश कुमारचरित के प्रणेता दण्डी ने अर्थशास्त्र को श्लोकबद्ध देखा था ऐसा उनके द्वारा दिये गये वर्णन से ज्ञात होता है। उनके कथनानुसार अर्थशास्त्र में छ हजार श्लोक थे। प्रस्तुत अर्थशास्त्र सूत्र एव श्लोकयुक्त है। इस अर्थशास्त्र के समस्त सूत्रो और श्लोको की संयुक्त सख्या छ हजार से न्यून है। दण्डी के इस कथन से ऐसा प्रतीत होता कि कौटिल्य ने जिस श्लोकबद्ध अर्थशास्त्र की रचना की थी और जो दण्डी के समय तक प्रचलित रहा वही दण्डी के पश्चात् किसी समय किसी दूसरे पण्डित द्वारा नवीन संस्करण के रूप में प्रस्तुत किया गया। अर्थशास्त्र का वही सस्करण आज हमारे बीच है।

परन्तु इस सिद्धान्त की स्थापना में एक बड़ा सन्देह यह है कि प्रस्तुत अर्थशास्त्र के कतिपय सूत्र दण्डी के पूर्व के ग्रन्थो में ज्यो-के-त्यों पाये जाते हैं। डा शामशास्त्री ने इस विषय में वात्स्यायन के कामसूत्र से कतिपय सूत्रो का इस अर्थशास्त्र के तत्ति पयक सूत्रो से मिलान करते हुए सिद्ध किया है कि ये सूत्र कौटिल्य के अर्थशास्त्र के आधार पर ही आश्रित हैं। इन प्रसङ्गो के अनुसार यह मानना न्यायसंगत होगा कि

कौटिल्यप्रणीत अर्थशास्त्र इस्वी के पूर्व भी शुद्ध और स्वोपज्ञ था। इसी प्रकार जैन साहित्य से भी कुछ ऐसे उद्धरण शा   शामशास्त्री ने दिये हैं जो इसी तथ्य की पुष्टि करते हैं।

उपर्युक्त सामग्री के आधार पर निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि कौटिल्य का अर्थशास्त्र सर्वप्रथम केवल स्वोपज्ञ ही था। इस प्रकार, प्रस्तुत अर्थशास्त्र वही अर्थशास्त्र है जिसकी रचना कौटिल्य ने की अथवा वह पश्चात् का एक संस्करण है, यह समस्या अभी जटिल ही बनी हुई है। इसके वास्तविक समाधान-हेतु नवीन शोध एवं पुष्ट प्रमाणों की नितान्त आवश्यकता है। प्रस्तुत अर्थशास्त्र चाहे मौर्यकाल की रचना हो अथवा उसके पश्चात् किसी समय का नवीन संस्करण हो परन्तु इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि इस अर्थशास्त्र में राजशास्त्र-सम्बन्धी जिन सिद्धान्तों की स्थापना की गयी है वे मौर्यकालीन ही हैं। इस दृष्टि से प्रस्तुत अर्थशास्त्र में राजशास्त्र-सम्बन्धी जिन सिद्धान्तों की स्थापना है उनके संस्थापक कौटिल्य ही हैं और वह प्राचीन भारतीय राजशास्त्र के इतिहास में प्रधान राजनीतिक विचारधारा के प्रधान विचारक हैं।

कौटिल्य के राजनीतिक विचार

यह पहले लिखा जा चुका है कि प्राचीन भारत में कई राजनीतिक विचार-धाराएँ प्रवाहित रही हैं। इनमें एक अर्थ-प्रधान विचारधारा भी है। इस विचारधारा के अनेक विचारकों में एकमात्र कौटिल्य ही ऐसे विचारक हैं जिनके राजनीतिक विचार आज हमें सुलभ हैं। उनके ये विचार उनके अर्थशास्त्र नाम के ग्रन्थ में दिये हुए हैं। कौटिल्य के इन राजनीतिक विचारों की व्याख्या एवं समीक्षा यहाँ की जायगी।

अर्थशास्त्र की परिभाषा—कौटिल्य के मतानुसार मनुष्य की वृत्ति (जीविका) को अर्थ कहते हैं। वह मनुष्यवती (मनुष्यों से बसी हुई) भूमि को भी अर्थ ही मानते हैं। इसलिए उनके मतानुसार अर्थशास्त्र वह शास्त्र है जिसमें मनुष्यवती भूमि के लाभ और उसके पालन करने के उपायों का वर्णन किया गया हो। मनुष्यवती भूमि को प्राप्त करने और इस भूमि के निवासियों का पालन-पोषण करने के उपायों एवं साधनों का सम्यक् ज्ञान देना इस शास्त्र का उद्देश्य है।

शुक्रनीति में भी अर्थशास्त्र की परिभाषा की गयी है। यह परिभाषा भी लगभग वही है जो कि कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में दी है। शुक्र के मतानुसार वृत्ति और

१ अर्थ. भाग ६, अ १ अधि १५।   २. अर्थ २,१।१५।
३ अर्थ १,१।१५।

स्मृति के अनुकूल जिस शास्त्र में राजनीति का वर्णन हो तथा धर्म और युक्तिपूर्वक अर्थ के उपार्जन के नियमो का वर्णन हो वह अर्थशास्त्र है[1]। शुक्र के मतानुसार आधुनिक राजशास्त्र (Political Sci nce) और आधुनिक अर्थशास्त्र (Economics) दोनो विषय अर्थशास्त्र के अन्तर्गत आते है। अर्थशास्त्र की परिभाषा की दृष्टि से शुक्र ने कौटिल्य का ही अनुसरण किया है।

अर्थशास्त्र का क्षेत्र—अर्थशास्त्र के क्षेत्र का प्रसार मनुष्यवती भूमि की प्राप्ति और उस भूमि के सम्यक पालन करने के उपायो एव साधनो तक होता है। इस दृष्टि से अर्थशास्त्र का सम्बन्ध मनुष्य के केवल आर्थिक जीवन तक ही सीमित नही है। अर्थशास्त्र मनुष्य के उन क्रिया-क्षेत्रो की सीमा में ही आबद्ध नही रहता जिनमें वह धन-उत्पादन उसके वितरण और उसके उपभोग से सम्बन्धित कार्यों के सम्पादन हेतु उद्योग करता है। अर्थशास्त्र मनुष्यजीवन के इन क्रिया-क्षेत्रा तक तो अपना अधिकार रखता ही है, इसके अतिरिक्त वह इन क्षेत्रो की सीमा से कही आगे तक अपना क्षेत्राधिकार स्थापित करता है। वह मनुष्यवती भूमि की प्राप्ति के उपाय एव साधन बत जाता है, और उन उपायो द्वारा प्राप्त की गयी भूमि की सुव्यवस्था जनता में स्थापित कर उसके भरण-पोषण के सम्यक उपायो एव साधनो को भी प्रस्तुत करता है। इस प्रकार अर्थशास्त्र राजशास्त्र को भी अपने क्षेत्राधिकार के ही अन्तर्गत कर लेता है और राजशास्त्र अर्थशास्त्र का ही अग बन जाता है। इस दृष्टि से अर्थशास्त्र के अन्तर्गत राजशास्त्र (Political Science) और आधुनिक अर्थशास्त्र Economics) दोनो विषयो का समावेश होता है। इतना ही नही अपितु समाजशास्त्र (Sociology) का भी बहुत कुछ अश अर्थशास्त्र के क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत माना गया है।

राज्य की उत्पत्ति—राज्य की उत्पत्ति के विषय में कौटिल्य ने केवल एक सिद्धान्त की ओर सकेत किया है। वह है समाज-अनुबन्धवाद। राजा की उत्पत्ति के विषय में कौटिल्य ने एक प्रसग में अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया—'पूर्व काल में एक ऐसा युग था जब प्राणियो में मात्स्यन्याय का प्राबल्य था। जल में जिस प्रकार बडी मछलियाँ छोटी और निर्बल मछलियो को निरन्तर नष्ट करती रहती है, उसी प्रकार उस युग में सबल मनुष्य निर्बल मनुष्यो के नाश में निरन्तर सलग्न रहते थे। इस मात्स्यन्याय से दुखी मनुष्यो ने विवस्वान् के पुत्र मनु को अपना राजा बनाया[2]। उन लोगो ने अन्न की उपज का छठवाँ भाग व्यापार द्वारा प्राप्त धन का दसवाँ भाग और हिरण्य की आय का कुछ भाग (कर रूप में) राजा के लिए देने का निश्चय किया[3]।

१ शुक्र० २१६।४।   २ अर्थ ६।१३।१।   ३ अर्थ ७।१३।१।

परन्तु इन लोगों ने उसी समय यह भी स्पष्ट कर दिया कि इस भाग (कर द्वारा प्राप्त धन-धान्य) का अधिकारी वही राजा होगा जो उस धन-धान्य से प्रजा के योग-क्षेम की समुचित व्यवस्था करता रहेगा ।

अर्थशास्त्र में आए हुए उपर्युक्त वर्णन से ज्ञात होता है कि आदि काल में एक ऐसा युग था जब राजा एवं राज्य-व्यवस्था का निर्माण नहीं हुआ था। उस युग में मनुष्य अराजकता की अवस्था में था। मनुष्य अपने स्वार्थ-साधन हेतु दूसरे के नाश में संलग्न था। मनुष्य-जीवन अस्थिर, अरक्षित, यातनापूर्ण और पशुवत् था। सबल प्राणी निर्बल प्राणियों का नाश करते थे। इस प्रकार कौटिल्य के प्राकृत युग के वर्णन असमान नहीं हैं जो भीष्म के प्राकृत युग में उस समय उत्पन्न हो गये थे जब मनुष्य में आसुरी वृत्तियाँ आपत् अवस्था को प्राप्त हो गयी थीं[1]। ये वर्णन समान ही हैं जो इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता हॉब्स के प्राकृत युग में बतलाये गये हैं।

प्राकृत युग के इस जीवन से मनुष्य अत्यन्त दुःखी एवं असहाय था। वह किसी-न-किसी प्रकार अपने जीवन की इस अवस्था से मुक्त होने के लिए विकल था। लोगों ने सोचा कि कोई ऐसा शक्तिसम्पन्न व्यक्ति होना चाहिए जो उनके समाज से मात्स्य न्याय की प्रवृत्ति का दमन कर उसमें न्याय और सुरक्षा की व्यवस्था स्थापित कर सके। उन्होंने इसलिए विवस्वान् के पुत्र मनु को अपना राजा बनाया। इस प्रकार मनुष्य ने प्राकृत अवस्था को त्याग कर राजनीतिक व्यवस्था के अधीन रहना स्वीकार किया। इस विधि से राजा और राज्य का निर्माण हुआ।

परन्तु इन लोगों ने अपने इस राजा के साथ अनुबन्ध किया कि वह इनके योग-क्षेम के निमित्त निरन्तर प्रयत्नशील रहेगा। इस कार्य के सम्पादन हेतु ये लोग धन-धान्य आदि से अपने इस नूतन राजा की सहायता करते रहेंगे। इन्होंने उसी समय यह भी स्पष्ट कर दिया कि यदि उनका यह राजा अपने इस कर्तव्य से च्युत होगा तो ऐसी परिस्थिति में ये लोग धन-धान्य आदि की सहायता बन्द कर देंगे और इस प्रकार वह उनका राजा न रह सकेगा।

कौटिल्य ने इस प्रकार, राजा एवं राज्यव्यवस्था के निर्माण में यथार्थ अनुबन्ध वाद सिद्धान्त का आश्रय लिया है जिसका स्वरूप अधिक अंश तक वही है जैसा कि भीष्म ने वर्णन किया है और जो महाभारत के शान्तिपर्व में दिया गया है[2]। परन्तु कौटिल्य द्वारा प्रतिपादित इस सिद्धान्त में एक नवीनता है जो इस युग में जनतान्त्रिक राज्यों में विशेष रूप से पायी जाती है और वह है लोक-वित्त (Publio-Purse)

१ अर्थ ५।१।१।

२ श्लोक १७ अ ६७ शान्तिपर्व।

पर जनता का अधिकार। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रजा की पूर्व अनुमति के बिना उसपर कर लगाने तत्सम्बन्धी धनसंचय करने और उसका व्यय करने का निषेध किया गया है। इस प्रकार प्रजा ने इस वित्तीय अधिकार को अपने अधीन सुरक्षित कर राजा की निरंकुशता पर बहुत बड़ा प्रतिबन्ध लगा दिया। इस क्षेत्र में कौटिल्य की यह सूझ बड़े महत्त्व की है।

राज्य का स्वरूप—मनु और भीष्म के अनुसार ही कौटिल्य ने भी राज्य का आवयविक स्वरूप माना है। उन्होंने राज्य को सप्तप्रकृति-युक्त माना है। राज्य की यह सात प्रकृतियाँ स्वामी (राजा) अमात्य जनपद दुर्ग कोष दण्ड और मित्र हैं[1]। कौटिल्य ने इन प्रकृतियों को राज्य के अवयव कहकर सम्बोधित किया है[2]। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि कौटिल्य के मतानुसार राज्य एक ऐसा अवयवी है जिसका निर्माण सात अवयवों के संयोग से हुआ है। मनु और भीष्म की अपेक्षा कौटिल्य इस विषय में अधिक स्पष्ट है कि राज्य का आवयविक स्वरूप होता है। परन्तु उसके द्वारा प्रतिपादित राज्य के आवयविक सिद्धान्त का वास्तविक स्वरूप क्या था इस विषय का निरूपण करने के लिए अर्थशास्त्र में सम्यक् प्रामाणिक सामग्री का अभाव है। अतः इस विषय का ठीक-ठीक निरूपण करना असम्भव ही है।

परन्तु इसमें लेशमात्र सन्देह नहीं है कि कौटिल्य द्वारा प्रतिपादित राज्य का आवयविक स्वरूप नितान्त भारतीय है। इसका उद्गम-स्थान ऋग्वेद का पुरुषसूक्त है। कौटिल्य के राज्य के आवयविक स्वरूप का सिद्धान्त उस रूप में नहीं है जिसमें पाश्चात्य राजनीतिक विचारधारा के कतिपय विचारकों ने राज्य का आवयविक स्वरूप स्थापित किया है। इसलिए कौटिल्य के इस सिद्धान्त की तुलना तत्सम्बन्धी पाश्चात्य सिद्धान्त से करना भारी भूल होगी।

राजा का स्वरूप—कौटिल्य का विश्वास है कि मनुष्य एवं उसके समाज का परम कल्याण वर्णाश्रम धर्म की स्थापना और उसके विधिवत् पालन में निहित है। उनका मत है—जब वर्णाश्रम धर्म-व्यवस्था की मर्यादा स्थापित कर दी जाती है जगत् प्रसन्न रहता है और कभी दुखी नहीं होता। इसी वर्णाश्रम-व्यवस्था के अनुसार निर्धारित अपने-अपने धर्म का पालन करने से मनुष्य इस लोक में सुखपूर्वक जीवन-यात्रा करता हुआ मृत्यु के उपरान्त परमानन्द (मोक्ष) प्राप्त करता है जिसकी प्राप्ति ही मनुष्य मात्र के जीवन का ध्येय माना गया है[4]। परन्तु मनुष्य के स्वधर्मपालन के मार्ग में

१ वार्ता १ अ. १ अधि ६ अर्थ । २ श्लोक ६६ अ १ अधि ८ अर्थ ।
३ श्लोक १७ अ १ अधि १ अर्थ । ४ वार्ता १४ अ ३ अधि १ अर्थ ।

उसकी आसुरी वृत्तियाँ जिन्हें कौटिल्य ने षड्वर्ग के नाम से सम्बोधित किया है[1] बाधक होती हैं और उसे धर्ममार्ग से विचलित करती रहती हैं। इससे अराजकता तथा अव्यवस्था की स्थापना होती है[2]। मनुष्य को उसके इस पतन से उद्धार करने के लिए दण्ड और दण्ड-प्रयोग के नियमों का निर्माण किया जाता है। धर्मागम के अनुसार स्वधर्म के नियमों का उल्लंघन करने वाले को उसके दोष की मात्रा के अनुरूप दण्ड देकर धर्म-पथ पर चलाने के लिए एक विशेष सत्ता के निर्माण की आवश्यकता अनुभव की गयी। यह सत्ता राजा और उसका पद राजपद कहलाये। इस प्रकार कौटिल्य के मतानुसार राजा राज्य की कार्यपालिका का सर्वोच्च अधिकारी है। वह दण्ड का प्रतीक है और अपने अधीन प्रजा के कल्याण के निमित्त दण्ड धारण करता है और निर्धारित नियमों के अनुसार उसका प्रयोग करता है। इन नियमों का न तो वह निर्माता ही है और न उनमें संशोधन परिवर्तन अथवा उनका लोप करने का ही अधिकारी है। इसके अतिरिक्त राजा अपने अधीन प्रजा के लिए आदर्श चरित्र की मूर्ति है। उसका आचरण उसकी प्रजा के लिए अनुकरणीय एवं प्रेरणा और उत्साह का साधन माना गया है। राजा अपने प्रजा का परम हितू है। उसकी समस्त क्रिया अपनी प्रजा के कल्याण हेतु होती है। प्रजा के कल्याण में ही राजा का कल्याण माना गया है ।

इस प्रकार कौटिल्य के मतानुसार राजा दण्डधारी यम है जो अपने अधीन प्रजा में निर्धारित नियमों के अनुसार, दण्ड-प्रयोग कर उसे स्वधर्म-पालन के निमित्त बाध्य करता है। वह सदाचार की साक्षात् मूर्ति समझा जाता है और अपनी प्रजा के सम्मुख आदर्श पुरुष बनकर उसमें आदर्श चरित्र की प्राप्ति के लिए प्रेरणा का उद्बोधन करता है एवं उसमें उत्साहवर्धन करता है। इसीलिए कौटिल्य ने राजा के निमित्त कुछ ऐसे गुणों एवं योग्यताओं का निर्धारण किया है जिसकी प्राप्ति राजा को राजपद के योग्य बनाती है। कौटिल्य इन गुणों एवं योग्यताओं को आत्मसम्पद् अथवा स्वामि-सम्पद् के नाम से सम्बोधित करते हैं और व्यवस्था देते हैं कि राजा को इन योग्यताओं एवं गुणों को धारण करना चाहिए। आत्मसम्पद् अथवा स्वामिसम्पद् के अन्तर्गत उन्होंने शारीरिक, आत्मिक, मानसिक एवं बौद्धिक उन योग्यताओं एवं गुणों का उल्लेख किया है जो आदर्श राजा के लिए वांछनीय हैं[4]। ऐसा बहुधा देखा गया है कि राजा अपने पद का दुरुपयोग करने के कारण अपने कर्तव्यों का पालन करने

१ वार्ता १ अ ७ अधि १ अर्थ । २ वार्ता १५ अ १ अधि १ अर्थ ।
३ श्लोक ११ अ १९ अधि १ अर्थ । ४ वार्ता ६ अ १ अधि ६ अर्थ ।

में प्रमादी और प्रायः व्यसन-ग्रस्त भी हो जाते हैं। सम्भव है, इसी कारण कौटिल्य ने राजा की दिनचर्या निर्धारित कर यह व्यवस्था की है कि राजा को अपनी सामर्थ्य के अनुसार इस दिनचर्या के अनुकूल अपना दैनिक जीवन व्यतीत करना चाहिए[१]।

उत्तराधिकार-विधि—राज्य के उत्तराधिकार के प्रश्न पर भी कौटिल्य ने अपने विचार प्रकट किये हैं[२]। उनके मत से सामान्यतः शासन करनेवाले राजा के ज्येष्ठ पुत्र को राजपद का अधिकारी मानना चाहिए, परन्तु वह तभी राजपद का अधिकारी है जब राजोचित गुणों एवं योग्यताओं को धारण करे। इन गुणों एवं योग्यताओं के अभाव में राजा का ज्येष्ठ पुत्र राज्याधिकार से च्युत समझा जायगा[३]। इस सिद्धान्त की पुष्टि में कौटिल्य अपना मत इस प्रकार व्यक्त करते हैं—"राजा की मृत्यु हो जाने पर जो राजकुमार उत्तम गुणों से सम्पन्न हो उसको ही रिक्त राजपद देना चाहिए। यदि राजकुमार राजाओं के लिए जो निर्धारित गुण हैं, उनसे सम्पन्न हैं तो उस राजकुमार को सेनापति अथवा युवराजपद पर नियुक्त कर देना चाहिए"[४]। इस दृष्टि से कौटिल्य ने राजकुमारों को बुद्धिमान्, आहार्यबुद्धि और दुर्बुद्धि इन तीन श्रेणियों में परिगणित किया है[५]। जो राजकुमार सिखाने से धर्म और अर्थ की शिक्षा को विधिवत् ग्रहण कर लेता है, और उसका आचरण भी करता है, वह बुद्धिमान् कहलाता है[६]। जो धर्म और अर्थ को समझ तो लेता है, परन्तु तदनुसार आचरण नहीं करता वह आहार्यबुद्धि राजकुमार कहलाता है[७]। परन्तु जो राजकुमार नित्य विपत्ति लाने के उपाय सोचा करता है, और धर्म तथा अर्थ के विरुद्ध आचरण करता है वह दुर्बुद्धि होता है। कौटिल्य ने दुर्बुद्धि राजकुमार को राजपद देने का निषेध किया है। प्रथम दो प्रकार के राजकुमारों में सर्वप्रथम बुद्धिमान् को और उसके अभाव में आहार्यबुद्धि को राज्याधिकार प्राप्त है। यदि राजा को दुर्बुद्धि मात्र ही राजकुमार हो तो ऐसी परिस्थिति में उसके योग्य पुत्र को यह अधिकार प्राप्त हो सकेगा। इसके अभाव में राजा की पुत्री के योग्य पुत्र को अधिकार प्राप्त होगा[१०]।

इस प्रकार कौटिल्य के मतानुसार राजा के गुणवान् एवं योग्य राजकुमार को

१ वार्ता ७-२९ अ १९ अ १ अर्थ । २ वार्ता ५७ अ १७ अ १ अर्थ ।
३ वार्ता ५१ अ १७ अ १ अर्थ । ४ वार्ता ३८ अ ६ अ ५ अर्थ ।
५ वार्ता ४५ अ १७ अ १ अर्थ । ६ वार्ता ४६ अ १७ अ १ अर्थ ।
७ वार्ता ४७ अ १७ अ १ अर्थ । ८ वार्ता ४८ अ १७ अ १ अर्थ ।
९ वार्ता ४९ अ १७ अ १ अर्थ । १० वार्ता ५ ५१ अ १७ अ १ अर्थ ।

ही राज्याधिकार प्राप्त है, ऐसे पुत्र अथवा पौत्र के अभाव में पुत्री के पुत्र को राज्याधिकार प्राप्त है।

कौटिल्य ने राजकन्या और राजमहिषी को भी राजपद का अधिकारी माना है। वह व्यवस्था देते हैं—राजा की मृत्यु हो जाने पर राजकुमार, राजकुमार का पुत्र राजकन्या के पुत्र आदि के अभाव में राजकन्या अथवा गर्भिणी राजमहिषी को राजपद के लिए अभिषिक्त करना चाहिए। इस प्रकार कौटिल्य उत्तराधिकारी की सीमा का विस्तार राजवंश की स्त्रियों तक करते हैं।

राजा के पुत्र पौत्र अथवा पुत्री का पुत्र नहीं हो तो ऐसी परिस्थिति में कौटिल्य राज्य का शासन राजवंश के संरक्षण (Regency) में रखना उचित समझते हैं। इस विषय में वह अपना मत इस प्रकार व्यक्त करते हैं—"कुल संगठित राज्य का शत्रु द्वारा जीता जाना अति कठिन होता है। इस राज्य में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं होने पाती। राज्य-व्यवस्था विधिवत् चलती रहती है।[५]"

कौटिल्य ने रक्त की शुद्धता पर विशेष बल दिया है। उनके मतानुसार राजा का वह पुत्र जो राजा की पत्नि से उत्पन्न नहीं हुआ है राजा की वास्तविक सन्तति नहीं है। इस आधार पर वह राजा के इस पुत्र को राज्याधिकारी नहीं मानते। राजा का यह पुत्र अथवा देने मात्र का अधिकारी माना गया है।[६]

इस प्रकार उत्तराधिकार-प्रश्न पर कौटिल्य के जो विचार हैं उनका संक्षिप्त रूप यह है—राज्य का सर्वप्रथम अधिकारी राजा का ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ पुत्र है। उसके अभाव में राजा के अन्य योग्य राजकुमार को यह अधिकार प्राप्त है। इस राजकुमार के अभाव में राजकुमार के योग्य पुत्र अथवा राजा की पुत्री के पुत्र को राजपद का अधिकारी समझा गया है। इनके अभाव में राजकन्या अथवा गर्भिणी राजमहिषी को राज्याधिकारी बतलाया गया है। यदि इनका भी अभाव हो तो राजकुल के संरक्षण में राज्य का शासन होना चाहिए। राजा का अकुलीन पुत्र चाहे जितना योग्य क्यों न हो, राज्याधिकार से बहिष्कृत माना गया है, उसे केवल भत्ता लेने का अधिकार दिया गया है।

मन्त्रिपरिषद की उपयोगिता—कौटिल्य का मत है कि प्रत्येक कार्य का प्रारम्भ तद्विषयक मन्त्र-निर्णय के उपरान्त होना चाहिए।[१] राज्य में विविध विषयक कार्य

१ वार्ता ४१ अ. १ अ. ५ अर्थ। २ श्लोक ५५ अ. १७ अ. १ अर्थ।
३ वार्ता २१ अ. १७ अ. ७ अर्थ। ४ वार्ता १७,१८ अ. १७ अधि ७ अ।
५ वार्ता १ अ. १५ अ. १ अर्थ।

होते हैं और उसी प्रकार मन्त्रणा के भी विविध विषय होते हैं। परन्तु वास्तविक मन्त्र निर्णय एक व्यक्ति द्वारा चाहे वह मन्त्र-निर्णय में कितना कुशल क्यों न हो सम्भव नहीं। इसलिए मन्त्र-निर्णय में विविध विषयों के ज्ञाता अनेक पुरुषों से परामर्श लेने की आवश्यकता होती है। इसलिए राजा के समीप कुछ ऐसे विशेष योग्य व्यक्ति होने चाहिए, जो शासन-सम्बन्धी समस्याओं के वास्तविक मन्त्र-निर्णय में राजा को पूर्ण सहयोग दे सकें और उसे आवश्यकतानुसार समय-समय पर सत्परामर्श व सावधानित करते रहें। इस हेतु राज्य में मन्त्रिपरिषद् की आवश्यकता व्यक्त की गयी है।

मन्त्रिपरिषद् की आवश्यकता एवं उपयोगिता के विषय में दूसरा हेतु यह दिया गया है कि अमात्यगण कर्तव्य-पालन में प्रमादी होने से राजा की रक्षा करते हैं। इस विषय में कौटिल्य ने अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये हैं—"आमात्य गण समय-विज्ञान रूपी चाबुक से प्रमादग्रस्त राजा को सावधान करते हैं।[1] मन्त्रिपरिषद् की आवश्यकता एवं उपयोगिता की पुष्टि में कौटिल्य ने एक और हेतु दिया है और वह यह है कि अमात्यगण विपत्ति से राजा की रक्षा करते हैं"[2]। इसलिए राज्य को अनेक प्रकार की विपदाओं से बचाने के लिए मन्त्रिपरिषद् परम आवश्यक है।

कौटिल्य राज्य को दो पहिये वाली गाड़ी मानते हैं। इस गाड़ी के दो पहिये राजा और उसके मन्त्री हैं। गाड़ी एक पहिये के सहारे चल नहीं सकती। ठीक इसी प्रकार राज्य का विधिवत् सञ्चालन केवल राजा के सहारे पर नहीं किया जा सकता। इस प्रकार राज्य के सुसञ्चालन के लिए मन्त्रिपरिषद् की अनिवार्यता सिद्ध की गयी है।

मन्त्रिपरिषद् की सदस्य-संख्या—कौटिल्य ने मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों को सामान्यतः अमात्य नाम से सम्बोधित किया है। इन अमात्यों में कुछ विशिष्ट सदस्य भी बतलाये गये हैं जिन्हें राजा को मन्त्रणा देने का अधिकार दिया गया है। ये मन्त्री कितने होने चाहिए, इस विषय पर कौटिल्य ने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—"राजा को तीन अथवा चार मन्त्रियों से मन्त्रणा लेनी चाहिए[3] राजा को समय परिस्थिति तथा आवश्यकतानुसार मन्त्रियों को रखना चाहिए[4]।"

परन्तु इतने मात्र से यह बात नहीं होता कि कौटिल्य मन्त्रिपरिषद् में कितने सदस्यों का रखना उचित समझते हैं। उन्होंने अपने से पूर्व कतिपय आचार्यों के मत मन्त्रिपरिषद् की सदस्यता के विषय में उद्धृत किये हैं, वो इस प्रकार हैं—"मन्त्रिपरिषद्

१ वार्ता १४ अ ७ अ १ अर्थ । २ वार्ता १३ अ ७ अ १ अर्थ ।
३ वार्ता १० अ १५ अ १ अर्थ । ४ वार्ता ५५ अ १५ अ १ अर्थ ।

की सदस्य-संख्या के विषय में मनु के मतानुयायियों का एसा मत है कि मंत्रिपरिषद् में बारह सदस्य होने चाहिए[1]। बृहस्पति के अनुयायियों के अनुसार राजा की मंत्रिपरिषद् में सोलह सदस्य होने चाहिए[2]। उशना ऋषि के अनुयायियों के मतानुसार मंत्रिपरिषद् में बीस सदस्य रखने चाहिए[3]। इन्द्र की मंत्रिपरिषद् में एक सहस्र ऋषि सदस्य थे[4]। ये एक सहस्र ऋषि इन्द्र की आँखें माने गये हैं[5]। यही कारण है कि इन्द्र के दो ही आँखें होने पर भी वह लोक में सहस्राक्ष कहलाते हैं[6]।

इस प्रकार प्राचीन भारत के राजशास्त्र-विचारकों में मंत्रिपरिषद् की सदस्य-संख्या के विषय में एक मत नहीं है।

सदस्य-योग्यता—कौटिल्य के मतानुसार मंत्रिपरिषद् की सदस्यता सर्वसाधारण के लिए सुलभ नहीं है। वह मंत्रिपरिषद् की सदस्यता के लिए कतिपय विशेष योग्यताएँ निर्धारित करते हैं। इन योग्यताओं का वर्णन अमात्यसम्पत् के नाम से सम्बोधित किया गया है। वे योग्यताएँ इस प्रकार बतलायी गयी हैं—अपने ही जनपद और उत्तम कुल में उत्पन्न उत्तम बन्धु-बान्धवों से सम्पन्न, शिल्प-विद्या में कुशल तीव्र बुद्धियुक्त, विद्वान्, स्मृतिमान् चतुर, वक्ता प्रगल्भ कुशल प्रत्यक्ष, उत्साही प्रभावशाली, क्लेश सहन करने में समर्थ पवित्र स्नेही, दृढभक्तियुक्त शील, बल आरोग्य तथा सत्त्वसम्पन्न स्तब्धता तथा चपलता रहित, सर्वप्रिय, द्वेष एवं स्पर्धा वैर न करना अमात्य की सम्पदा है। अर्थात् मंत्रिपरिषद् की सदस्यता हेतु ये गुण एवं योग्यताएँ वाञ्छनीय मानी गयी हैं।

कौटिल्य ने मंत्रिपरिषद् के सदस्यों को उनके गुण एवं योग्यताओं के आधार पर, तीन श्रेणियों में विभक्त किया है। जिन सदस्यों में ये समस्त गुण एवं योग्यताएँ विद्यमान होती हैं वे उत्तम अमात्य होते हैं। जिनमें इन गुणों एवं योग्यताओं के एक चौथाई भाग का अभाव होता है, वे मध्यम और जिनमें उनका आधा भाग ही होता है, वे क्षुद्र अमात्य कोटि में समझे जाने चाहिए[7]।

कार्य-प्रणाली—अर्थशास्त्र में मंत्रिपरिषद् के विषय में जो वर्णन उपलब्ध है उससे ज्ञात होता है कि मंत्रिपरिषद् में एक अध्यक्ष होता था। मंत्रिपरिषद् की बैठकें इसी अध्यक्ष की देख-रेख में होती थीं। यह अध्यक्ष राजा नहीं होता था। राजा का

१ वार्ता ५१ अ १९ अ १ अर्थ । २ वार्ता ५४ अ १५ अ १ अर्थ ।
३ वार्ता ५४ अ १९ अ १ अर्थ । ४ वार्ता ६ अ १५ अ १ अर्थ ।
५ वार्ता ६१ अ १९ अ १ अर्थ । ६ वार्ता ६१ अ १५ अ १ अर्थ ।
७ वार्ता १ अ ९ अ १ अर्थ । ८ वार्ता ९ अ ९ अ १ अर्थ ।

सम्बन्ध मन्त्रियों से रहता था । अत्यन्त आवश्यक कार्य उपस्थित होने पर राजा मन्त्रि-परिषद् को बुलाता था[1] । सामान्यतः मन्त्रिपरिषद् की बैठकें स्वतन्त्र रूप में मन्त्रिपरिषद् के अध्यक्ष के अधीन होती थीं । कौटिल्य ने मन्त्रिपरिषद् के अध्यक्ष का पद बड़े महत्त्व का माना है । राज्य के अट्ठारह तीर्थों में मन्त्रिपरिषद् के अध्यक्ष को भी स्थान दिया गया है[2] ।

मन्त्रिपरिषद् में निर्णय बहुमत से होते थे । इस विषय में कौटिल्य ने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—"अति आवश्यक कार्य के उपस्थित होने पर राजा को मन्त्रिपरिषद् बुलानी चाहिए[3] । मन्त्रिपरिषद् की इस बैठक में जिस विषय की पुष्टि बहुमत द्वारा होती हो उसी निर्णय के कार्यान्वित करनेवाले उपायों को अपनाना चाहिए[4] ।"

मन्त्रिमंडल—मन्त्र-सम्वरण एवं मन्त्र-परामर्श की समस्या राजा के समक्ष अत्यन्त जटिल होती है । मन्त्रिपरिषद् के समस्त सदस्यों से परामर्श एवं मन्त्रणा लेने के पक्ष में कौटिल्य नहीं जान पड़ते । इस कार्य के लिए वह मन्त्रिपरिषद् के समस्त सदस्यों में तीन अथवा चार सर्वश्रेष्ठ सदस्यों को अलग कर लेना उचित समझते हैं । इन्हीं तीन अथवा चार सदस्यों को कौटिल्य राजा के मन्त्री मानते हैं । उन्होंने यह स्पष्ट व्यवस्था दी है कि मन्त्रिपरिषद् के सभी सदस्य राजा के मन्त्री नहीं बनाये जा सकते । इस सिद्धान्त की पुष्टि में कौटिल्य इस प्रकार व्यवस्था देते हैं—अमात्योचित गुण, देश, काल और कर्म को देखकर राजा किसी भी पुरुष को अमात्य-पद पर नियुक्त कर सकता है, परन्तु मन्त्रि-पद पर सहसा किसी भी व्यक्ति की नियुक्ति न करे[5] । इस व्यवस्था के होते हुए यह स्पष्ट है कि कौटिल्य मन्त्रिपद और अमात्य पद में अन्तर मानते हैं । मन्त्री मन्त्रिपरिषद् का सदस्य तो होता ही है साथ ही वह राजा को मन्त्रणा देने का भी अधिकार रखता है । अमात्य मन्त्रिपरिषद् का सदस्य है, परन्तु राजा को मन्त्रणा देने का अधिकारी मन्त्रिपरिषद् की सदस्यताभाव के आधार पर नहीं है । इस प्रकार राजा का मन्त्रिमण्डल पृथक् होना चाहिए, ऐसा कौटिल्य का मत है ।

राजा के मन्त्रिमण्डल में कितने मन्त्री होने चाहिए, इस विषय में कौटिल्य ने कतिपय आचार्यों के मत भी दिये हैं जो इस प्रकार हैं—भरद्वाज मुनि के अनुयायी

१ वार्ता ११ अ १५ अ १ अर्थ । २ वार्ता ८ अ १२ अ १ अर्थ ।
३ वार्ता ११ अ १५ अ १ अर्थ । ४ वार्ता १४ अ १५ अ १ अर्थ ।
५ वार्ता ११ अ ८ अ १ अर्थ ।

अत्यन्त गोपनीय विषयों में मंत्रियों से मन्त्रणा लेने का निषेध करते हैं[1] और स्वयं राजा को मन्त्र-निर्णय का अधिकारी मानते हैं, क्योंकि मंत्री के मंत्री भी होते हैं[2] और फिर उनके मंत्री होते हैं[3]। इस प्रकार मंत्रिपरम्परा के कारण मन्त्र गुप्त नहीं रहने पाता[4]। परन्तु आचार्य विशालाक्ष इस मत का खण्डन करते हुए व्यवस्था देते हैं कि राजा के अकेले ही मन्त्र निर्णय करने से मन्त्र-सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि एक व्यक्ति के विचार करने मात्र से मन्त्र सिद्ध नहीं किया जा सकता[5]। अज्ञात वस्तु का जानना ज्ञात का निश्चय करना निश्चित को दृढ़ बनाना मतभेद में सन्देह निवारण अर्थविशेष का ज्ञान होने पर शेष अर्थ का ज्ञान प्राप्त करना मंत्रियों का ही कार्य होता है। मंत्रियों से मन्त्रणा किये बिना राजाओं के कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती। इसलिए जो बुद्धि में वृद्ध हैं ऐसे पुरुषों से राजा को मन्त्रणा अवश्य करनी चाहिए[7]। बुद्धिमान् ही क्या राजा को तो सबके मत पूछना चाहिए, किसी के भी मत की अवहेलना नहीं करनी चाहिए। बुद्धिमान् राजा को तो बालक के भी सार्थक वाक्य को स्वीकार कर लेना चाहिए[8]। इस प्रकार आचार्य विशालाक्ष ने राजा के मंत्रिमण्डल के सदस्यों की संख्या पर कोई प्रतिबन्ध नहीं रखा है।

परन्तु पराशर मुनि के अनुयायी इस मत का खण्डन करते हैं। उनका मत है कि इस व्यवस्था से मन्त्र-रक्षा नहीं हो सकती। विशालाक्ष का यह मत मन्त्र-ज्ञान की सिद्धि करता है, परन्तु मन्त्र-रक्षण नहीं करता। उनका मत है कि राजा जिस कार्य को करना चाहता है तत्सम्बन्धी मंत्री से उस सम्बन्ध में मन्त्रणा ग्रहण करे। परन्तु पिशुनाचार्य इस मत का विरोध करते हैं। उनका मत है कि जो पुरुष भिन्न-भिन्न कार्यों में नियुक्त किये जायें उनके साथ राजा को मन्त्रणा करनी चाहिए। ऐसे व्यक्तियों से मन्त्रणा करने से मन्त्र-वृद्धि एवं उसकी रक्षा होती है। इस प्रकार पिशुनाचार्य के मतानुसार राज्य के प्रत्येक अध्यक्ष अथवा अभिमत पुरुष को मंत्रिमण्डल में स्थान मिलना चाहिए।

१ वार्ता १५ अ १५ अ १ अर्थ । २ वार्ता १६ अ १५ अ १ अर्थ ।
३ वार्ता १७ अ १४ अ १ अर्थ । ४ वार्ता १८ अ १५ अ १ अर्थ ।
५ वार्ता २ अ १५ अ १ अर्थ । ६ वार्ता २१ अ १५ अ १ अर्थ ।
७ वार्ता २३ अ १५ अ १ अर्थ । ८ वार्ता २४ अ १५ अ १ अर्थ ।
९ वार्ता २५ अ १५ अ १ अर्थ । १ वार्ता २६ अ १५ अ १ अर्थ ।
११ वार्ता ३३ अ १५ अ १ अर्थ ।
१२ वार्ता ३४ अ १५ अ १ अर्थ ।

आचार्य कौटिल्य ने इन मतों में से किसी को भी स्वीकार नहीं किया है[१]। वह इन मतों को अव्यवस्था के नाम से सम्बोधित करते हैं। उनके मतानुसार तीन अथवा चार मन्त्रियों से मन्त्रणा लेनी चाहिए। इस प्रकार कौटिल्य मन्त्रिमण्डल में तीन अथवा चार सदस्य रखना उचित समझते हैं। अपने इस मत की पुष्टि उन्होंने इस प्रकार की है—"एक ही मन्त्री के साथ मन्त्रणा करने से मतभेद के स्थानों में मन्त्र का निश्चय नहीं हो सकता[२]। अकेला मन्त्री बिना विचार किये हुए अपने इच्छानुसार कार्य कर सकता है[३]। दो मन्त्रियों के मध्य मन्त्र-निर्णय करना भी उचित नहीं क्योंकि दोनों के मिल जाने पर मन्त्र उचित रीति से सिद्ध नहीं हो सकता। दो व्यक्तियों का परस्पर मिल जाना स्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त दोनों में मत-भेद होने पर मन्त्र-निर्णय नहीं हो सकता और इस प्रकार कार्य का नाश हो जायगा[४]। यदि तीन अथवा चार मन्त्री होंगे तो इस प्रकार के अनर्थ के आने की बहुत ही कम सम्भावना होती है। कार्य विधिवत् होता रहता है ऐसा ही देखा गया है[५]। यदि मन्त्रणा के लिए चार से अधिक मन्त्री होंगे तो किसी विषय में निर्णय पर पहुँचना अति कठिन हो जायगा[६] और मन्त्र की रक्षा भी न हो सकेगी। देश काल और कार्यविशेष की आवश्यकता देखकर एक अथवा दो मन्त्रियों के साथ भी मन्त्रणा की जा सकती है[७]।

मन्त्रियों के वेतन—राज्य के कर्मचारियों एवं अधिकारियों के वेतन-निर्धारण सम्बन्धी सिद्धान्तों का उल्लेख कौटिल्य ने किया है। इन सिद्धान्तों में सर्वप्रथम सिद्धान्त यह बतलाया गया है कि वेतन का निर्धारण राज्य में विभिन्न पदों के महत्त्व के अनुसार होना चाहिए। राज्य में जो पद जितना अधिक महत्त्वपूर्ण है उसके लिए उतना ही अधिक वेतन दिया जाना चाहिए[८]। इस विषय में दूसरा सिद्धान्त कौटिल्य द्वारा यह निर्धारित किया गया है कि वेतन इतना होना चाहिए जिससे अधिकारी अथवा कर्मचारी एवं उसके परिवार का भरण-पोषण उनकी परिस्थिति के अनुसार,

१ वार्ता ३५ अ १५ अ १ अर्थ । २ वार्ता ३६ अ १५ अ १ अर्थ ।
३ वार्ता ३७ अ १५ अ १ अर्थ । ४ वार्ता ३८ अ १५ अ १ अर्थ ।
५. वार्ता ३९ अ १५ अ १ अर्थ । ६ वार्ता ४० अ १५ अ १ अर्थ ।
७ वार्ता ४१ अ १५ अ १ अर्थ । ८. वार्ता ४२ अ १५ अ १ अर्थ ।
९. वार्ता ४३ अ १५ अ १ अर्थ । १ वार्ता ४४ अ १५ अ १ अर्थ ।
११ वार्ता ४५ अ १५ अ १ अर्थ । १२ वार्ता ४६ अ १५ अ १ अर्थ ।
१३ वार्ता ३६ अ १५ अ १ अर्थ ।

अत्यन्त गोपनीय विषयों में मन्त्रियों से मन्त्रणा करने का निषेध करते हैं[1] और स्वयं राजा को मन्त्र-निर्णय का अधिकारी मानते हैं, क्योंकि मन्त्री के मन्त्री भी होते हैं[2] और फिर उनके मन्त्री होते हैं[3]। इस प्रकार मन्त्रिपरम्परा के कारण मन्त्र गुप्त नहीं रहने पाता[4]। परन्तु आचार्य विशालाक्ष इस मत का खण्डन करते हुए व्यवस्था देते हैं कि राजा के अकेले ही मन्त्र-निर्णय करने से मन्त्र-सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि एक व्यक्ति के विचार करने मात्र से मन्त्र सिद्ध नहीं किया जा सकता[5]। अज्ञात वस्तु का जानना ज्ञात का निश्चय करना निश्चित को दृढ़ बनाना मतभेद में संशय निवारण अर्थविशेष का ज्ञान होने पर शेष अर्थ का ज्ञान प्राप्त करना मन्त्रियों का ही कर्म होता है[6]। मन्त्रियों से मन्त्रणा किये बिना राजाओं के कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती। इसलिए जो बुद्धि में वृद्ध हैं, ऐसे पुरुषों से राजा को मन्त्रणा अवश्य करनी चाहिए[7]। बुद्धिमान् ही क्या राजा को तो सबके मत सुनना चाहिए, किसी के भी मत की अवहेलना नहीं करनी चाहिए। बुद्धिमान् राजा को तो बालक के भी सार्थक वाक्य को स्वीकार कर लेना चाहिए[8]। इस प्रकार आचार्य विशालाक्ष ने राजा के मन्त्रिमण्डल के सदस्यों की संख्या पर कोई प्रतिबन्ध नहीं रखा है।

परन्तु पराशर मुनि के अनुगामी इस मत का खण्डन करते हैं। उनका मत है कि इस व्यवस्था से मन्त्र-रक्षा नहीं हो सकती। विशालाक्ष का यह मत मन्त्र-ज्ञान की सिद्धि करता है, परन्तु मन्त्र-रक्षण नहीं करता। उनका मत है कि राजा जिस कार्य को करना चाहता है तत्सम्बन्धी मन्त्री से उस सम्बन्ध में मन्त्रणा ग्रहण करे[9]। परन्तु पिशुनाचार्य इस मत का विरोध करते हैं। उनका मत है कि जो पुरुष भिन्न-भिन्न कार्यों में नियुक्त किये जायें उनके साथ राजा को मन्त्रणा करनी चाहिए[10]। ऐसे व्यक्तियों से मन्त्रणा करने से मन्त्र-वृद्धि एव उसकी रक्षा होती है[11]। इस प्रकार पिशुनाचार्य के मतानुसार राज्य के प्रत्येक अध्यक्ष अथवा अभिमत पुरुष को मन्त्रिमण्डल में स्थान मिलना चाहिए।

१ वार्ता १५ अ १५ अ १ अर्थ । २ वार्ता १६ अ १५ अ १ अर्थ ।
३ वार्ता १७ अ १४ अ १ अर्थ । ४ वार्ता १८ अ १५ अ १ अर्थ ।
५ वार्ता २ अ १५ अ १ अर्थ । ६ वार्ता १२ अ १५ अ १ अर्थ ।
७ वार्ता २३ अ १५ अ १ अर्थ । ८ वार्ता २४ अ १५ अ १ अर्थ ।
९ वार्ता २५ अ १५ अ १ अर्थ । १० वार्ता २६ अ १५ अ १ अर्थ ।
११ वार्ता ३१ अ १५ अ १ अर्थ ।
१२ वार्ता ३४ अ १५ अ १ अर्थ ।

चरों की इन नौ श्रेणियों में प्रत्येक श्रेणी के चरों को कौटिल्य ने दो वर्गों में विभक्त किया है, जिनको वह बाह्यचर एवं आभ्यन्तरचर के नाम से सम्बोधित करते हैं। कौटिल्य के मतानुसार जब चर छत्र चँवर, पंखा पादुका आसन यान वाहन आदि को धारण कर, राजकीय सेवा-कार्य तथा अन्य राजकीय कर्मचारियों के आचरण-व्यवहार का पता लगाने के लिए नियुक्त होते हैं, तब वे बाह्यचर कहलाते हैं[1]। जो चर राजकर्मचारियों एवं अन्य लोगों के घरों में वैयावृत्ति ग्रहण कर, अपने चर-कार्य के सम्पादन में संलग्न रहते हैं उन चरों को कौटिल्य आभ्यन्तरचर की संज्ञा देते हैं[2]।

चर-संगठन—चर-संघटन का विशेष वर्णन अर्थशास्त्र में उपलब्ध नहीं है अतः इस विषय में सप्रमाण कुछ भी नहीं कहा जा सकता। कौटिल्य ने एकस्थल में यह व्यवस्था दी है कि भिक्षुकी नाम का चर अपना विवरण सम्बन्धित चर-संस्था के पास पहुंचा देवे[3]। इस व्यवस्था के आधार पर यह स्पष्ट है कि चरों को एक संस्था के अधीन चर-कार्य करना चाहिए। इसी विषय में यह व्यवस्था भी दी गयी है कि एक चर-संस्था में जो समाचार चर द्वारा प्रस्तुत किया जाय उसे दूसरी चर-संस्था से गुप्त रखना चाहिए[4]। इससे विदित होता है कि कौटिल्य इस पक्ष में हैं कि चरों की प्रत्येक श्रेणी की पृथक्-पृथक चर-संस्था होनी चाहिए। प्रत्येक चर-संस्था के अध्यक्ष का यह कर्तव्य होगा कि वह अपनी संस्था के अन्तर्गत कार्य करनेवाले चरों से प्राप्त समाचार के आधार पर, प्रतिदिन विवरण तैयार कर, राजा के समक्ष प्रस्तुत करे। इस प्रकार कौटिल्य ने चरों को सम्बन्धित चर-संस्था के अन्तर्गत कार्य करने की व्यवस्था दी है।

सांकेतिक लिपि—गुप्त बातों का रहस्य न खुलने पावे इस उद्देश्य से चर-विभाग में सांकेतिक गुप्त लिपि का भी प्रयोग करने का आदेश कौटिल्य द्वारा दिया गया है। कौटिल्य यह आदेश देते हैं कि चर-विभाग के अन्तर्गत जो समाचार अथवा सूचना एक चर दूसरे चर के पास अथवा चर-संस्था क अधिकारियों के निमित्त लिखकर भेजे उसके लिए उसे विशेष लिपि का आश्रय लेना चाहिए। इस लिपि को चर विभाग के अतिरिक्त अन्यत्र कोई भी व्यक्ति न समझ सके। इस विषय में अर्थशास्त्र में यह व्यवस्था दी गयी है—"संस्था के अन्तेवासी (चर-विशेष) अपनी गुप्त लिपि में लिखकर समाचार अथवा सूचना भेजें[5]।

१ वार्ता ९ अ १२ अ १ अर्थ । २ वार्ता ११ अ १२ अ १ अर्थ ।
३ वार्ता १२ अ १२ अ १ अर्थ । ४ वार्ता १४ अ १२ अ १ अर्थ ।
५. वार्ता १३ अ १२ अ १ अर्थ ।

रहित वस्तु का विक्रय साझे का व्यापार, दास वेतन का न देना प्रतिज्ञा भंग करना दासकर्म क्रयविक्रय-विवाद पशुस्वामी और पशुपालक-विवाद सीमाविवाद डाका चोरी मारपीट, कठोरवचन का प्रयोग भवन सम्बन्धी विवाद, और द्यूत आदि। इस प्रकार व्यवहार-क्षेत्र के निर्धारण में मनु और कौटिल्य में समानता है। इतना अवश्य है कि कौटिल्य ने कुछ विषयों में विशेष चमत्कार दिखलाया है।

न्यायालय—विवादग्रस्त विषयों के निर्णय-हेतु राज्य में विविध प्रकार के न्यायालयों की स्थापना होनी चाहिए, इस ओर कौटिल्य ने संकेत किये हैं। इन संकेतों से ऐसा ज्ञात होता है कि ये न्यायालय छोटे-बड़े विविध प्रकार के होने चाहिए। इन न्यायालयों में कुछ महत्त्वपूर्ण न्यायालयों की स्थापना दस ग्रामों के मध्य स्थित संग्रहण चार सौ ग्रामों के मध्यस्थित 'द्रोणमुख' आठ सौ ग्रामों के मध्य स्थित 'स्थानीय' नाम के नगरों में और जनपद की सीमा-सन्धियों पर की जानी चाहिए। इन न्यायालयों में तीन 'धर्मस्थ' (न्यायाधीश) और तीन 'अमात्य' विवादों के सुनने एवं उन पर निर्णय देने के लिए नियुक्त किये जाने चाहिए[1]। इस प्रकार राज्य के छोटे और बड़े विभिन्न नगरों में धर्मस्थ और अमात्ययुक्त न्यायालयोंकी स्थापना हेतु कौटिल्य ने व्यवस्था दी है।

स्थानीय महत्त्व के विवादों के निर्णय हेतु, कौटिल्य ने स्थानीय न्यायालयों की स्थापना की व्यवस्था दी है। उनका मत है कि ग्रामों में न्यायकार्य-सम्पादन ग्राम-वृद्धों एवं ग्राम-सामन्तों द्वारा होना चाहिए[2]। यदि किसी विवाद-ग्रस्त विषय में ग्राम-वृद्धों और सामन्तों में एक मत न हो तो ऐसी परिस्थिति में ग्राम के धार्मिक पुरुषों की अनुमति लेकर निर्णय कर देना चाहिए[3]। ग्राम-सीमा-सम्बन्धी विवादों पर निर्णय उन दोनों ग्रामों के सामन्त अथवा पंचग्रामी अथवा 'दशग्रामी' मिलकर दें[4]।

न्याय-क्षेत्र में कौटिल्य ने मध्यस्थ-सिद्धान्त को मान्यता दी है[5]। विवाद से सम्बन्धित दोनों एक अथवा व्यक्ति किसी व्यक्ति को मध्यस्थ बनाकर उससे विवाद ग्रस्त विषय पर निर्णय करा लें। यह निर्णय मान्य समझा जायेगा। मध्यस्थ द्वारा दिया गया निर्णय अन्तिम निर्णय समझना चाहिए।

न्यायालयों में कार्यप्रणाली—कौटिल्य ने अर्थी प्रत्यर्थी एवं साक्षियों आदि को, अपना पक्ष न्यायालय के समक्ष विधिवत् प्रस्तुत करने की पूर्ण सुविधा एवं स्वतन्त्रता

१ वार्ता १ अ १ अ ३ अर्थ । २ वार्ता १६ अ ९ अ ३ अर्थ ।
३ वार्ता १७ अ ९ अ ३ अर्थ९ । ४ वार्ता ११ अ ९ अ ३ अर्थ ।
५ वार्ता १८ अ ९ अ ३ अर्थ ।

चरों को दण्ड—कौटिल्य का मत है कि केवल एक चर द्वारा दी गयी सूचना पर ही राजा को विश्वास नहीं कर लेना चाहिए। जब कम-से-कम तीन चरों से एक ही सूचना प्राप्त हो अथवा समाचार की पुष्टि हो, तभी राजा का उस सूचना अथवा समाचार पर विश्वास करना उचित होगा। यदि कोई चर बार-बार असत्य समाचार लाता है, तो उसे गुप्त रीति से दण्ड देना चाहिए, अथवा पदच्युत कर देना चाहिए[1]।

इस प्रकार कौटिल्य ने स्पष्ट व्यवस्था दी है कि राज्य के शासन की सफलता बहुत कुछ चर-व्यवस्था की उत्तमता पर निर्भर है।

न्याय-व्यवस्था—कौटिल्य के मतानुसार मनुष्य का परम कर्तव्य स्वधर्म-पालन है। स्वधर्म-पालन मनुष्य को इस लोक में सुख और परलोक में अनन्त आनन्द की प्राप्ति कराता है। परन्तु स्वधर्म-पालन की योजना को कार्यान्वित करने के लिए न्याय-व्यवस्था की स्थापना की आवश्यकता होती है।

न्याय-कार्य को कौटिल्य ने दो क्षेत्रों में विभाजित किया है। मनुष्य-जीवन का वह भाग जिसमें नागरिकों का पारस्परिक सम्पर्क होता है उसके द्वारा उनके मध्य होनेवाले झगड़े के मूल कारणों को खोजकर उनकी विवेचना करना और इस विवेचना के आधार पर दोषी को दोष के अनुसार दण्ड देना तथा निर्दोषी को उसके अधिकार दिलाने की व्यवस्था करना प्रथम क्षेत्र के अन्तर्गत आता है। न्याय-कार्य के इस भाग को कौटिल्य ने 'व्यवहार' की संज्ञा दी है। मनुष्य-जीवन का दूसरा भाग वह है जिसमें उसका सम्पर्क राज्य के कर्मचारियों व्यापारियों एवं व्यवसायियों तथा अन्य विशेष कोटि के दुष्ट पुरुषों से होता है। मनुष्य-जीवन के इस क्षेत्र में इन व्यापारियों व्यवसायियों एवं दुष्ट लोगों के द्वारा मनुष्य के शोषण एवं पीड़न के पर्याप्त अवसर मिलते रहते हैं। इसलिए जनता को इस प्रकार के शोषण एवं पीड़न से सुरक्षित रखने के लिए न्याय-व्यवस्था की स्थापना की आवश्यकता पड़ती है। न्याय-व्यवस्था के इस क्षेत्र को कौटिल्य ने 'कण्टकशोधन' नाम से सम्बोधित किया है[2]।

व्यवहार-क्षेत्र—मनु ने व्यवहार का क्षेत्र निर्धारित कर व्यवहार के विषयों को सूचीबद्ध कर दिया है। परन्तु कौटिल्य ने उन्हें सूचीबद्ध न करके अलग पृथक्-पृथक् वर्णन किया है। वर्णन के आधार पर वे विषय इस प्रकार हैं—स्त्री-पुरुष के धर्म की व्यवस्था परस्त्री हरण एवं परस्त्री का परपुरुष से सम्बन्ध दायभाग अधिविवाह, पुनर्विवाह वास्तुविवाद ऋण लेकर न देना अथवा बिना दिये माँगना, निक्षेप, स्वामी-

१ वार्ता १७ अ १२ अ १ अर्थ । २ वार्ता १७ अ ११ अ १ अर्थ ।

जाती है, इसीलिए उन्होंने नारी जाति के लिए पुरुष की अपेक्षा कम आयु प्राप्त-
हारहेतु निर्धारित की है। कौटिल्य के मतानुसार बारह वर्ष की स्त्री और
ह वर्ष का पुरुष प्राप्तव्यवहार (Major) माने गये हैं। बारह वर्ष की उम्र से
क स्त्री और सोलह वर्ष से अधिक अवस्थावाला पुरुष अपराध करने पर दण्ड
भागी समझे जायेंगे।

कण्टकशोधन—कण्टकशोधन से कौटिल्य का तात्पर्य उस व्यवस्था की स्थापना
है जिसके द्वारा राज्य के व्यवसायियों राजकर्मचारियों एवं दुष्ट जनों से प्रजा
रक्षा हो सके। इस प्रकार कण्टकशोधन का क्षेत्राधिकार विशाल है।

राज्य में अनेक व्यवसायी होते हैं। यदि उनपर नियन्त्रण न रखा जाय तो वह
जा का शोषण एवं पीड़न करने लगते हैं। कम तौलना बिक्री के माल में मिलावट
रना बढ़िया माल के स्थान में घटिया वस्तु देना निर्धारित मूल्य से अधिक मूल्य
ना कच्चे माल पर जितना पक्का माल तैयार हो उससे कम देना आदि के द्वारा
व्यवसायी भोली प्रजा को ठगकर उनका शोषण एवं उत्पीड़न करते रहते हैं।
न व्यवसायियों में जो ठग होते हैं, उनसे प्रजा की रक्षाहेतु कौटिल्य उनपर नियन्त्रण
खना उचित समझते हैं। व्यवसायियों को राज्य के नियन्त्रण में रखने के लिए
छ विशेष नियमों के निर्माण की आवश्यकता पड़ती है। इसलिए उन्होंने कतिपय
से नियमों का उल्लेख किया है, जिनके अनुसार इन व्यवसायियों को आचरण करना
अनिवार्य बतलाया गया है। साथ ही यह भी व्यवस्था की गयी है कि जो व्यवसायी
इन नियमों का उल्लंघन करता हुआ पाया जायगा, उसको समुचित दण्ड दिया
जायगा। कौटिल्य ने इन व्यवसायों का अध्ययन कर, उन स्थलों एवं अवसरों की
खोज की जहाँ तथा जब व्यवसायी भोली प्रजा को ठग सकता है। इसलिए उन्होंने ऐसे
नियमों का निर्माण किया जिनसे इन स्थलों एवं अवसरों पर प्रजा सचेत एवं सावधान
हो जाय और अपनी रक्षा कर सके। इस प्रकार इन व्यवसायियों के दाँव-पेंच से प्रजा की
रक्षा की व्यवस्था उन्होंने की है[3]। बाजारों में माल निश्चित करने नाप-तौल के साधनों
में पसेरी-धड़ी की देख-भाल आदि की भी समुचित व्यवस्था का आयोजन किया
है[4]। बढ़िया माल में घटिया माल अथवा उसी प्रकार की दूसरी कम मूल्य की वस्तु
का मिश्रण कर के बेचना दण्डनीय घोषित किया गया है[5]। इस प्रकार कौटिल्य ने

१ वार्ता १ १ अ ३ अ ४ अर्थ । २ वार्ता १ अ १ अधि ४ अर्थ ।
३. वार्ता ११ १७ १८ अ १ अधि ४ अर्थशास्त्र ।
४ वार्ता ९, ११ अ २ अ ४ अर्थ । ५ वार्ता १६ अ २ अधि ४ अर्थ ।

की है। उनके इस अधिकार के हरण करनेवाले न्यायाधीश अथवा न्यायालय के कर्मचारी को दण्ड का भागी माना गया है। जो न्यायाधीश अथवा कर्मचारी अभियोगों के सुनने उनसे सम्बन्धित सभी प्रत्यर्थी साक्षी आदि के वक्तव्यों पर विचार कर निर्णय देने अथवा उनके वक्तव्यों के लिखने आदि में प्रमाद करता है अथवा उनके प्रति अशिष्ट व्यवहार करता है तथा उन्हें तंग या पीड़ित करता है उसको कौटिल्य ने दण्ड का पात्र माना है[१]। यदि विवाद-ग्रस्त घटना को हुए अधिक काल व्यतीत हो गया है तो उसका अभियोग काल-बाधित माना गया है[२] परन्तु कौटिल्य ने इस सिद्धान्त को मान्यता नहीं दी है। उनके मतानुसार अपराधी को भी छोड़ना नहीं चाहिए। घटना चाहे कितनी पुरानी क्यों न हो गयी हो, प्रमाणित हो जाने पर दोषी को दण्ड मिलना ही चाहिए।

कलह होने पर जो न्यायालय की शरण प्रथम लेता है, उसको सच्चा समझना चाहिए, क्योंकि वह दुःख-सहन करने में विवश होकर ही न्यायालय की शरण लेता है, ऐसा कतिपय आचार्यों का मत है[३]। परन्तु कौटिल्य इस मत का समर्थन नहीं करते[४]। उनका मत है कि न्यायालय में पहले अथवा पीछे आने मात्र का कुछ भी महत्त्व नहीं होता। जो व्यक्ति साक्ष्य द्वारा सच्चा प्रमाणित हो जाय उसी को सच्चा समझना चाहिए[५]।

न्यायप्रणाली लगभग वही बतलायी गयी है जो मनु ने मानवधर्मशास्त्र में व्यक्त की है। कौटिल्य ने भी व्यवहार-क्षेत्र में साक्ष्य पर आस्था रखने की व्यवस्था दी है। उन्होंने साक्ष्य को लिखित प्रमाण साक्षी प्रमाण और भुक्त प्रमाण तीन श्रेणियों के अन्तर्गत विभक्त किया है। इन प्रमाणों की सत्यता की परीक्षाहेतु उन्होंने अनेक साधन एवं उपायों का विधान किया है। इन प्रमाणों के अतिरिक्त महत्त्वपूर्ण अभियोगों में आवश्यकतानुसार चरों के द्वारा प्राप्त सूचना भी निर्णय देने में सहायक मानी गयी है[६]।

प्राप्त-व्यवहार—कितनी अवस्था प्राप्त कर लेने के उपरान्त मनुष्य व्यवहार-योग्य समझा जाना चाहिए, इस विषय पर भी कौटिल्य ने अपना मत प्रकट किया है। उनकी ऐसी धारणा जान पड़ती है कि पुरुष की अपेक्षा नारी में समझ पहले

१ वार्ता १५,१६,१७ अ ९ अधि ३ अर्थ ।
२ वार्ता २८ अ १९ अ ३ अर्थ । ३ वार्ता २९ अ १९ अ ३ अर्थ ।
४ वार्ता ३ अ १९ अ ३ अर्थ । ५ वार्ता ११ अ १९ अ ३ अर्थ ।
६ वार्ता ११ अ १९ अ ३ अर्थ । ७ वार्ता ५१ अ १ अ ३ अर्थ ।

आ जाती है इसीलिए उन्होंने नारी-जाति के लिए पुरुष की अपेक्षा कम आयु प्राप्त-व्यवहारहेतु निर्धारित की है। कौटिल्य के मतानुसार बारह वर्ष की स्त्री और सोलह वर्ष का पुरुष प्राप्तव्यवहार (Major) माने गये हैं[1]। बारह वर्ष की उम्र से अधिक स्त्री और सोलह वर्ष से अधिक अवस्थावाला पुरुष अपराध करने पर दण्ड के भागी समझे जायेंगे[2]।

कण्टकशोधन—कण्टकशोधन से कौटिल्य का तात्पर्य उस व्यवस्था की स्थापना से है जिसके द्वारा राज्य के व्यवसायियों राजकर्मचारियों एवं दुष्ट जनों से प्रजा की रक्षा हो सके। इस प्रकार कण्टकशोधन का क्षेत्राधिकार विशाल है।

राज्य में अनेक व्यवसायी होते हैं। यदि उनपर नियन्त्रण न रखा जाय तो वह प्रजा का शोषण एवं पीड़न करने लगते हैं। कम तौलना विक्री के माल में मिलावट करना बढ़िया माल के स्थान में घटिया वस्तु देना निर्धारित मूल्य से अधिक मूल्य लेना कच्चे माल पर जितना पक्का माल तैयार हो उससे कम देना आदि के द्वारा ये व्यवसायी भोली प्रजा को ठगकर उनका शोषण एवं उत्पीड़न करते रहते हैं। इन व्यवसायियों में जो ठग होते हैं उनसे प्रजा की रक्षाहेतु कौटिल्य उनपर नियन्त्रण रखना उचित समझते हैं। व्यवसायियों को राज्य के नियन्त्रण में रखने के लिए कुछ विशेष नियमों के निर्माण की आवश्यकता पड़ती है। इसलिए उन्होंने कतिपय ऐसे नियमों का उल्लेख किया है, जिनके अनुसार इन व्यवसायियों को आचरण करना अनिवार्य बतलाया गया है। साथ ही यह भी व्यवस्था की गयी है कि जो व्यवसायी इन नियमों का उल्लंघन करता हुआ पाया जायगा, उसको समुचित दण्ड दिया जायगा। कौटिल्य ने इन व्यवसायों का अध्ययन कर, उन स्थलों एवं अवसरों की खोज की, जहाँ तथा जब व्यवसायी भोली प्रजा को ठग सकता है। इसलिए उन्होंने ऐसे नियमों का निर्माण किया जिनसे इन स्थलों एवं अवसरों पर प्रजा सचेत एवं सावधान हो जाय और अपनी रक्षा कर सके। इस प्रकार इन व्यवसायियों के शोषण-पेषण से प्रजा की रक्षा की व्यवस्था उन्होंने की है[3]। बाजारों में माल बिकवाने नाप-तौल के साधनों में घटती-बढ़ती की रोक-थाम आदि की भी समुचित व्यवस्था का आयोजन किया है[4]। बढ़िया माल में घटिया माल अथवा उसी प्रकार की दूसरी कम मूल्य की वस्तु का मिश्रण कर के बेचना दण्डनीय घोषित किया गया है[5]। इस प्रकार कौटिल्य ने

१ वार्ता १ २ अ ३ अ ३ अर्थ । २ वार्ता ३ अ ३ अधि ३ अर्थ ।
३ वार्ता ११ १७ १८ अ ३ अधि ४ अर्थशास्त्र ।
४ वार्ता २,१९ अ २ अ ४ अर्थ । ५ वार्ता १६ अ २ अधि ४ अर्थ ।

अपचारियों द्वारा किये जानेवाले शोषण एवं पीड़न से प्रजा की रक्षा के उपायों का विधान किया है।

राज्य में प्रजापरिपालन एवं प्रजारञ्जन-कार्य के सम्पादन-हेतु अनेक कर्मचारियों की नियुक्ति की जाती है। परन्तु स्वार्थरत होकर कुछ कर्मचारी अपने इस कर्तव्य-पालन से च्युत होकर, प्रजापीड़न एवं शोषण में संलग्न हो जाते हैं। इन कर्मचारियों के दोषपूर्ण कार्यों से प्रजा की रक्षाहेतु कौटिल्य चरों की नियुक्ति करना उचित समझते हैं। ये चर इन कर्मचारियों को उत्कोच (घूस) लेने का लालच देवें, राज्य का द्रव्य हरण करना एवं प्रजा-पीड़न-सम्बन्धी अन्य कार्य करने को उत्साहित करें, और फिर अवसर आने पर उन्हें दोषयुक्त कार्यों में संलग्न व्यक्तियों को पकड़वा दें। कार्य गुप्त रीति से हो जिससे पता न चलने पाये कि इसमें चरों का हाथ है। इन दुष्ट कर्मचारियों को इनके दोष के अनुसार, दण्ड दिलाकर राज्य के कर्मचारियों के आचरण की निरन्तर शुद्धि होती रहनी चाहिए, जिससे राज्य-कर्मचारी अपने कर्तव्यों का पालन करते हुए प्रजा का कल्याण करते रहें।

इसी प्रकार दुष्ट जनों के कारण राज्य में शान्ति एवं सुरक्षा भंग होती रहती है, और लोग निर्भय होकर सुख से अपना जीवन व्यतीत नहीं कर पाते। ऐसे दुष्ट जनों में चोर, डाकू, व्यभिचारी, वञ्चक, घातक आदि की गिनती की गयी है। ये अपने दाँव-पेंच में फँसा कर प्रजा को निरन्तर पीड़ित करते रहते हैं। इन दुष्ट जनों से प्रजा की रक्षाहेतु पुलिस, चर आदि का उपयोग करना कौटिल्य ने उचित समझा है। चर गुप्त रीति से इन दुष्ट जनों के आचरण का अवलोकन कर तत्सम्बन्धी सूचना रक्षा तक पहुँचाते रहें। पुलिस इन दुष्ट जनों के निग्रह में तत्पर रहे।

इस प्रकार कौटिल्य ने दुष्ट राजकर्मचारियों एवं राज्य के दुष्ट पुरुषों से प्रजा की रक्षा की व्यवस्था की है और इसे 'कण्टकशोधन' नाम दिया है।

दण्ड-सिद्धान्त—दोषी को दण्ड देने में किन सिद्धान्तों का आश्रय लेना चाहिए, इस विषय पर कौटिल्य ने कतिपय संकेत किये हैं। इनसे ज्ञात होता है कि दण्ड का निश्चय करने में अपराध की मात्रा, अपराधी की सामर्थ्य, अपराधी का वर्ग, अपराधी एवं उसके सुधार आदि को ध्यान में रखा है।

दण्ड के प्रकार—अपराधी को उसके द्वारा किये गये अपराध के अनुरूप विविध प्रकार के दण्डों का निर्धारण कौटिल्य द्वारा किया गया है। ये दण्ड मुख्य तीन श्रेणियों में विभक्त किये जा सकते हैं—अर्थदण्ड, कायदण्ड और बन्धनागारदण्ड[1]

१ श्लोक ४९.१ व ११ व १ अर्थ ।

अर्थदण्ड से कौटिल्य का तात्पर्य अधिकतम अपराधों के लिए अपराधियों को अर्थ-दण्ड देने से है। ये दण्ड छोटे और बड़े अनेक प्रकार के होते हैं। ये अर्थदण्ड पण के आठवें भाग से लेकर सहस्रों पण तक निर्धारित हैं। ग्रन्थ से ऐसा ज्ञात होता है कि दीवानी के अभियोगों एवं न्यून महत्त्व के फौजदारी के अभियोगों में इस प्रकार के दण्ड का विशेष प्रयोग निर्धारित किया गया है।

अपराधी को शारीरिक दण्ड देना कायदण्ड कहलाता है। अपराध की गुरुता के अनुसार कायदण्ड भी विविध प्रकार के होते हैं। इनमें बेंत मारना, कोड़े लगवाना, रस्सी से मारना, उलटे लटकाना, हाथियों से कुचलवाना, कुत्तों से चिथवाकर प्राण लेना, हाथ-पैर आदि अंगों को कटवाना, शरीर के मर्मस्थलों का छेदन करवाना, नखों में सुइयाँ चुभोना, क्लेशपूर्वक शरीर के अंगों को कटवाना, शरीर एवं शीश पर पक्के हुए अंगार रखकर प्राण लेना, आग में जलाना, शूल पर चढ़ाना, शरीर की खाल निकलवाना आदि मुख्य हैं[1]।

कौटिल्य ने बन्धनगृह को 'बन्धनागार' और उसके मुख्य अधिकारी को 'बन्धनागाराध्यक्ष' नामसे सम्बोधित किया है[2]। बन्धनागार में स्त्री और पुरुष अपराधियों के रहने के लिए पृथक्-पृथक् स्थान होने चाहिए। ये बन्धनागार सभी प्रकार सुरक्षित एवं अनेक कोठरियों से युक्त होनी चाहिए[3]। बन्धनागार में रहनेवाले अपराधियों को सामान्य सुविधाएँ प्राप्त होनी चाहिए। उनसे कार्य उनकी सामर्थ्य के अनुसार लिया जाना चाहिए। बन्दियों के आचरण एवं व्यवहार की जाँच और इस जाँच के आधार पर उनके प्रति व्यवहार होना चाहिए। बन्दियों को कठोर अनुशासन में रखना चाहिए।

राज्य की आर्थिक नीति के मूल सिद्धान्त

कौटिल्य द्वारा प्रतिपादित राज्य की आर्थिक नीति तीन मुख्य सिद्धान्तों पर आश्रित है। इनमें पहला सिद्धान्त यह है कि जिन उद्योगों पर राज्य का अस्तित्व निर्भर हो, उनका सञ्चालन राज्य द्वारा ही होना चाहिए। इन उद्योगों में समस्त पूँजी (Capital), श्रम (Labour) और प्रबन्ध (Management) राज्य का ही होना चाहिए। इस प्रकार कौटिल्य द्वारा प्रतिपादित राज्य की आर्थिक नीति का

१ वार्ता २६ से २८ अ ८ अ ४ अर्थ ।
  वार्ता ७, १ अ ९ अ ४ अर्थ ।
२ वार्ता ४८, ४९ अ ९ अधि ४ अर्थ ।
३ वार्ता ५ अ ५ अ २ अर्थ ।

प्रथम सिद्धान्त राज्य के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उद्योगों (Key industries) पर राज्य का प्रत्यक्ष स्वामित्व स्थापित करता है। इस श्रेणी के उद्योग-क्षेत्र में राज्य के नागरिकों को निजी सम्पत्ति के अधिकार का निषेध किया गया है। राज्य के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उद्योगों पर राज्य का स्वामित्व (State ownership) स्थापित करने का मुख्य उद्देश्य सम्पन्न राज्य का निर्माण करना है।

राज्य की आर्थिक नीति का दूसरा सिद्धान्त यह बतलाया गया है कि राज्य में महत्त्वपूर्ण उद्योगों के क्षेत्र को अलग करने के उपरान्त उद्योगों का जो क्षेत्र अवशिष्ट रह जाता है, उसमें राज्य के नागरिकों की निजी सम्पत्ति के अधिकार को स्वीकार किया गया। इस क्षेत्र में जनता अपनी पूंजी अपने श्रम एवं प्रबन्ध द्वारा उद्योगों का संगठन एवं संचालन कर सकती है। इन उद्योगों में जो पूंजी एवं उपकरण आदि का उपयोग किया जाय उसपर उनके संस्थापकों का ही एकमात्र अधिकार होना चाहिए।

कौटिल्य ने राज्य की आर्थिक नीति का तीसरा सिद्धान्त मनुष्य के द्वारा मनुष्य के शोषण की रोक-थाम की व्यवस्था की स्थापना बतलाया है। राज्य में ऐसी आर्थिक व्यवस्था स्थापित की जानी चाहिए, जिससे मनुष्य मनुष्य का शोषण न कर सके। इस सिद्धान्त को कार्यान्वित करने के लिए, कौटिल्य ने राज्य-नियंत्रण (State Control) का सिद्धान्त अपनाने का समर्थन किया है। इस दृष्टि से वह राज्य में उत्पादन, उसके वितरण एवं उसके उपभोग पर, राज्य की ओर से नियंत्रण के स्थापित करने के प्रबल पोषक हैं।

कोष और उसकी उपयोगिता—कौटिल्य का मत है कि संसार में अर्थ ही मुख्य पदार्थ है। अर्थ के बिना मनुष्य अपने कर्तव्य-पालन में असमर्थ हो जाता है। फिर भला राज्य-संचालन जैसा महान् कार्य अर्थ के बिना क्योंकर सम्भव हो सकता है?[1] जब यह अर्थ राज्य-संचालन-हेतु संचित कर राज्य के अधीन संगृहीत किया जाता है, तब यह कोष कहलाता है। राज्य-संचालन-हेतु कौटिल्य ने कोष की आवश्यकता एवं उपयोगिता सर्वोपरि मानी है[2]। उन्होंने राज्य के समस्त कार्यों का आरम्भ कोष के ही आश्रित माना है[3]। कोष के द्वारा ही राजा को सेना की प्राप्ति होती है। कोष को भूषित करनेवाली भूमि की प्राप्ति कोष और सेना के द्वारा ही होती है। इसलिए राजा को कोष का चिन्तन सर्वप्रथम करना चाहिए[4]।

१ वार्ता १ अ ७ अ १ अर्थ । २ वार्ता १ अ ८ अ २ अर्थ ।
३ वार्ता ४९ अ १२ अ २ अर्थ । ४ वार्ता २ अ ८ अ २ अर्थ ।

कोष-संचय के सिद्धान्त—राज्य-संचालन-हेतु कोष परम आवश्यक एवं उपयोगी होने पर भी उसके लिए धन-संचय करने में राजा को स्वतन्त्र नहीं रखा गया है। राजा इच्छानुसार प्रजा पर कर लगाकर राजकोष की वृद्धि करे, कौटिल्य इसका विरोध करते हैं। राजा को यह अधिकार मिल जाने पर प्रजा पीड़ित एवं शोषित होगी और इस प्रकार, जिस उद्देश्य के निमित्त राज्य का निर्माण किया जाता है, उसी का मूलोच्छेद हो जायगा। इसलिए ऋषि-मुनियों द्वारा निर्धारित सिद्धान्तों के आधार पर ही राजकोष के निमित्त धन-संचय करना उचित होगा। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में कतिपय सिद्धान्तों की ओर संकेत किया है, और व्यवस्था दी है कि इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर राजकोष के निमित्त धन-संचय करना चाहिए। प्रमुख सिद्धान्त इस प्रकार हैं—

(क) परिपुष्टि-सिद्धान्त—कोष की आय का एक प्रमुख साधन राज्य में उद्योग-धन्धे होते हैं। राज्य में उद्योग-धन्धों के संचालनहेतु उनकी सुव्यवस्था करनी होती है। इसके लिए धन की आवश्यकता पड़ती है। धन की प्राप्ति उद्योग-धन्धों पर कर लगाकर होती है। इन उद्योग-धन्धों पर इनके शैशव काल में ही कर लगाने का निषेध कौटिल्य द्वारा किया गया है। उनका मत है कि उद्योग-धन्धों पर उनके शैशव-काल में कर लगाने से उनका पनपना कठिन हो जाता है। उनके सम्पन्न एवं समृद्ध हो जाने पर ही सामर्थ्यानुसार, कर लगाना उचित होगा। ऐसा करने से राज्य में उद्योग-धन्धे बिना किसी प्रकार की क्षति के कर-वहन करने में समर्थ और राज्य को समृद्ध एवं सम्पन्न बनाने में सफल होते हैं। इस सिद्धान्त का पालन करने से प्रजा राजकोष के निमित्त अधिक मात्रा में धन देने में समर्थ होती है। इससे राजा और प्रजा दोनों का कल्याण होता है। प्रजा-परिपुष्टि के इस सिद्धान्त की पुष्टि में कौटिल्य ने कतिपय उदाहरण दिये हैं जैसे माली द्वारा कच्चे फलों की रक्षा कर पके फलों की प्राप्ति करना[1] नये तालाब अथवा सेतुबन्ध की भूमि को कुछ काल तक करमुक्त रखना चाहिये[2]।

(ख) दौर्लभ्य एवं उपयोगिता का सिद्धान्त—प्रत्येक राज्य में कुछ-न-कुछ पदार्थ अथवा सामग्री दुर्लभ होती है। परन्तु उस राज्य के लिए वह परम उपयोगी होती है। इस प्रकार के पदार्थों अथवा सामग्री का राज्य में अन्य देशों से प्रवेश प्रचुर मात्रा में होने के लिए, अथवा उस राज्य की सीमा के अन्तर्गत ही उसके निर्माण की व्यवस्था

१ वार्ता ८९ अ २ अ ५ अर्थ ।
२ वार्ता १७,१८,१९ अ १ अ १ अर्थ ।

करने के लिए, राज्य की ओर से विशेष प्रोत्साहन मिलने की आवश्यकता होती है। सम्भवतः इसी विचार से इन पदार्थों एवं सामग्री को कौटिल्य करमुक्त रखना उचित समझते हैं।

(ग) विशेष क्रिया के आधार पर कर-मुक्ति का सिद्धान्त – मनुष्य-जीवन में कुछ ऐसे विशेष कृत्य भी होते हैं जिनका परम महत्त्व होता है। ये विशेष कृत्य मनुष्य के विशेष संस्कारों जैसे यज्ञ दान उपासना आदि से सम्बन्धित हैं। इन कृत्यों के सम्पन्न होने के लिए जिन पदार्थों अथवा उपकरणों की आवश्यकता होती है वे कर-मुक्त रखने चाहिए, ऐसा कौटिल्य का मत है[1]।

(घ) व्यवसाय एवं उद्योग-नियंत्रण सिद्धान्त—मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण की रोक-थाम के लिए कौटिल्य ने राज्य-नियंत्रण के सिद्धान्त का समर्थन किया है। उन्होंने राज्य के मुख्य व्यवसायों व्यापार एवं उद्योगों का संचालन तथा व्यवस्थापन राज्य के नियंत्रण के अन्तर्गत करने की व्यवस्था दी है। इस व्यवस्था को कार्यान्वित करने के लिए इन व्यवसायों उद्योगों एवं व्यापार पर राज्यद्वारा कतिपय ऐसे कर लगाने का प्रतिपादन किया है, जिससे भोला-भाला मनुष्य धूर्तों से ठगा न जा सके, स्वामी और श्रमिक दोनों को उनकी पूंजी एवं उनके श्रम के अनुसार लाभ या उचित धन प्राप्त हो सके। इस व्यवस्था की स्थापनाहेतु कर लगने चाहिए और इन करों द्वारा जो धन अथवा सामग्री एकत्र की जाती है वह राजकोष में संगृहीत की जानी चाहिए, ऐसा कौटिल्य का मत है। इस प्रकार व्यापार, व्यवसाय एवं उद्योग-नियंत्रण के आधार पर कर लगाने के सिद्धान्त की स्थापना भी की है।

(ङ) वेतन-सिद्धान्त—कौटिल्य राजा को प्रजा का वेतनभोगी सेवक मानते हैं। प्रजा के योगक्षेम के निमित्त राजा की स्थापना की गयी है। उसके द्वारा किये जाने वाले कार्यों के विधिवत् सम्पादनहेतु उसका वेतन नियत किया गया है जो करों के रूप में उसको प्राप्त होता रहता है। जो राजा प्रजा के योग-क्षेमसम्बन्धी कार्य-सम्पादन में प्रमाद करता है और अपने कर्तव्यों का विधिवत् पालन नहीं करता वह अपने इस वेतन पाने के अधिकार से वंचित रहता है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रजा से करद्वारा धन प्राप्त करने का वही राजा अधिकारी समझा गया है जो इस प्रकार प्राप्त धन के द्वारा प्रजा के योग-क्षेम में निरन्तर प्रयत्नशील रहता है। इस प्रकार कौटिल्य ने वेतन-सिद्धान्त की स्थापना की है।

१ वार्ता १९ अ. २१ अधि २ अर्थ । २ वार्ता २२ अ. २१ अधि २ अर्थ ।
३. वार्ता ८९ अ. १२ अधि १ अर्थ ।

मुक्त रखना (उपसर्गप्रमोक्ष) आर्थिक सहायता के रूप में जनता को दी गयी सहायता की पुनःप्राप्ति (परिहारक्षय) हिरण्य-वस्तु और उपायन के रूप में प्राप्त धन (उपायनम्) है[1]।

इस प्रकार कौटिल्य ने राजकोष की वृद्धि के दस मूल आधार माने हैं। उनका मत है कि राज्य में इन आधारों को पुष्ट रखने से राजकोष की भी पुष्टि एवं समृद्धि होती है।

दुर्ग अथवा पुर—प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार कौटिल्य ने भी राज्य को पुर और जनपद इन दो प्रमुख क्षेत्रों में विभक्त किया है और इन दोनों क्षेत्रों में पृथक्-पृथक् शासन-व्यवस्था की योजना प्रस्तुत की है। पुर का सबसे बड़ा अधिकारी नागरिक बतलाया गया है जिसका एकमात्र कर्तव्य पुर अथवा दुर्ग में शासन-सम्बन्धी सुव्यवस्था की स्थापना है। पुर में शासन की सुविधा के लिए पुर को चार समान भागों में विभक्त करने का आदेश है। पुर के इन भागों में प्रत्येक भाग स्थानिक नाम के अधिकारी के अधीन रखने की व्यवस्था है[2]। प्रत्येक स्थानिक के अधीन गोप नाम के राजकर्मचारियों की नियुक्ति करने का आदेश दिया गया है। ये गोप दस बीस अथवा चालीस कुटुम्बों के संगठित क्षेत्रों की शासन-व्यवस्था को कार्यान्वित करने के लिए नियुक्त किये जाने चाहिए। गोप नाम के राजकर्मचारियों के कर्तव्यों का निरूपण करते हुए कौटिल्य ने बतलाया है कि इन गोपों को अपने अधीन कुटुम्बों के स्त्री-पुरुषों की संख्या उनकी जाति गोत्र नाम काम पशु आदि की गणना ही नहीं वरन् उन कुटुम्बों के आय-व्यय का ब्योरा भी अंकित करते रहना चाहिए[3]। इन गोपों का यह भी कर्तव्य बतलाया गया है कि वे इस सम्पूर्ण ब्योरे को अपने ऊपर के स्थानिक के सामने प्रस्तुत करते रहें। इस प्रकार प्राप्त ब्योरे को फिर स्थानिक नागरिक के समक्ष प्रस्तुत करें।

पुर अथवा दुर्ग में शान्ति एवं सुरक्षा की व्यवस्था करना नागरिक का प्रमुख कर्तव्य है। रात्रि में पथिकों के ठहरने और पुर में रात्रि के समय आवागमन सम्बन्धी नियमों का निर्धारण अग्नि आदि से रक्षा की सावधानी पुर में स्वच्छता आदि के लिए सुव्यवस्था करना भी नागरिक का ही कर्तव्य बतलाया गया है।

जनपद-सम्पदा—कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में उत्तम जनपद के विशेष लक्षणों का उल्लेख किया है। जिस जनपद में ये विशेष लक्षण पाये जाते हैं उसे उत्तम जनपद

१ वार्ता १ अ ८ अधि २ अर्थ । २ वार्ता ४ अ ३६ अधि २ अर्थ ।
३ वार्ता २ अ ३६ अधि २ अर्थ । ४ वार्ता १ अ ३६ अधि ९ अर्थ ।

किया है। ग्रामिक को निर्धारित नियमों के अनुसार ही शासन करने का अधिकार दिया गया है। इस विषय में कौटिल्य ने स्पष्ट व्यवस्था दी है कि यदि ग्रामिक अपने अधीन ग्राम से चोर अथवा व्यभिचारी के अतिरिक्त किसी अन्य मनुष्य (भले मनुष्य) को ग्राम से बाहर निकाल देता है तो उस ग्रामिक पर चौबीस पण दण्ड लगना चाहिए[1]।

इस प्रकार ग्राम के शासन का भार ग्रामिक नाम के राजकर्मचारी पर निर्भर है। ग्रामिक को अपने इस भार का विधिवत् वहन करने के लिए ग्राम-वृद्धों से सहायता लेनी चाहिए।

कौटिल्य ने एक प्रसंग में व्यवस्था दी है कि यदि दो अथवा दो से अधिक ग्रामों में सीमा-विवाद उठ खड़ा हो तो उसका समाधान पंचग्रामी अथवा दशग्रामी गोप नाम के अधिकारी कर दें[2]। इसी प्रकार जनपद में राजाय का संचय करने के प्रसंग में उन्होंने यह व्यवस्था दी है—समाहर्ता द्वारा नियुक्त पंचग्रामी अथवा दशग्रामी गोप नाम के पदाधिकारी अपने अधीन ग्रामों की देख-रेख करते रहें[3]। इन सब स्थलों से स्पष्ट हो जाता है कि जनपद में ग्रामों के उपरान्त पाँच-पाँच ग्रामों के और उनके ऊपर दस-दस ग्रामों के संघटन निर्माण करने की योजना कौटिल्य ने प्रस्तुत की है। इन ग्राम-समूहों के शासन-हेतु प्रमुख अधिकारी क्रमशः पंचग्रामी और दशग्रामी गोप कहलाये गये हैं। गोप नाम के इन पदाधिकारियों की नियुक्ति समाहर्ता (Collector General) के परामर्श से राजा द्वारा होनी चाहिए। दस ग्रामों के क्षेत्र में शासन की सुविधा के लिए संग्रहण नामक स्थल-स्थान निर्माण करने की व्यवस्था भी कौटिल्य ने दी है। इस व्यवस्था के अनुसार वहाँ सम्मिलित दस ग्रामों से संचित किया गया राजाय संगृहीत होना चाहिए।

दस ग्रामों के समूहों के ऊपर दो सौ ग्रामों को संघटित करने का आरम्भ किया गया है। इन दो सौ ग्रामों में शासन-सम्बन्धी सुव्यवस्था के लिए उन[5] के मध्य खार्वटिक नाम की एक बस्ती की स्थापना होनी चाहिए। इस सुझाव में निहित संग्रहण नाम के शासन-केन्द्रों में जो राजाय संगृहीत कर भेजा जाय उसका संग्रह खार्वटिक में होना चाहिए। खार्वटिक बस्ती के स्वरूप पर कौटिल्य ने अपना मत प्रकट नहीं किया है।

१ वार्ता १७ अ १ अधि ३ अर्थ। २ वार्ता ११ अ ९ अधि ३ अर्थ।
३ वार्ता २ अ ३५ अधि २ अर्थ। ४ वार्ता ४ अ १ अधि २ अर्थ।
५ वार्ता ४ अ १ अधि २ अर्थ।

खार्वटिक बस्ती के ऊपर इससे अधिक महत्वपूर्ण बस्ती द्रोणमुख कहलाती थी है जिसके अधीन चार सौ ग्राम रखे गये हैं[1]। इस बस्ती के स्वरूप के विषय में भी कौटिल्य मौन है। अतः कौटिल्य के मतानुसार द्रोणमुख का जो भी स्वरूप होना चाहिए उसकी व्याख्या नहीं की जा सकती। परन्तु इतना स्पष्ट है कि द्रोणमुख खार्वटिक से आकार और महत्व दोनों की दृष्टि से बड़ा अवश्य होना चाहिए।

द्रोणमुख बस्ती से ऊपर जनपद में आठ सौ ग्रामों के शासन-क्षेत्र को उन्होंने स्थानीय नाम से सम्बोधित किया है[2]। इस बस्ती का सबसे बड़ा अधिकारी स्थानिक कहलाता गया है । इस अधिकारी को जनपद के चौथाई भाग में दुर्गादि की स्थापना करने का कार्य सौंपा गया है[3]। कौटिल्य द्वारा दी गयी इस व्यवस्था के आधार पर यह स्पष्ट है कि जनपद शासन-सुविधा की दृष्टि से चार मुख्य भागों में विभक्त किया जाना चाहिए और प्रत्येक भाग को स्थानिक नाम के पदाधिकारी के अधीन रखना चाहिए।

इस प्रकार शासन-व्यवस्था की स्थापना-हेतु कौटिल्य ने जनपद के संघटन की योजना प्रस्तुत की है। इस योजना के अनुसार शासन की इकाई ग्राम है। इसके उपरान्त पाँच ग्रामों, दस ग्रामों, दो सौ ग्रामों, चार सौ ग्रामों और आठ सौ ग्रामों के संघटन की व्यवस्था है।

राज्य की बाह्यनीति

अर्थशास्त्र का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि कौटिल्य एक ऐसे देश से परिचित थे जिसमें छोटे-बड़े अनेक राज्य थे। इन राज्यों में पारस्परिक सम्बन्ध किस सिद्धान्त के आधार पर होना चाहिए इस विषय पर उन्होंने अपना मत व्यक्त किया है और मण्डल-सिद्धान्त का आश्रय लिया है। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य चार श्रेणियों में विभाजित किया गया है—अरि, मित्र, मध्यम और उदासीन। इनमें से प्रत्येक राज्य का एक मण्डल होता है जिसमें राज्य, राज्य का अरि राज्य, उसका मित्र राज्य, मध्यम राज्य और उदासीन राज्य होते हैं।

मनु ने भी मानवधर्मशास्त्र में मण्डल-सिद्धान्त की व्याख्या की है। उन्होंने भी राज्यों को चार मुख्य श्रेणियों में परिभाषित किया है जिन्हें वह अरि, मित्र, मध्यम और उदासीन नाम से सम्बोधित करते हैं। इस प्रकार मनु ने भी राज्यों की बाह्य-नीति का मुख्य आधार मण्डल-सिद्धान्त माना है।

१ वार्ता ४ अ० १ अधि० २ अर्थ । २ वार्ता ४ अ० १ अधि० २ अर्थ ।
३ वार्ता ८ अ० १ अधि० २ अर्थ । ४ वार्ता ७ अ० १५ अधि० २ अर्थ ।
५ श्लोक १५६, १६१ अ० ७ मानवधर्म ।

अरि राज्य—कौटिल्य ने अरि राज्य तीन प्रकार के बतलाये हैं जिन्हें वह प्रकृति अरि, सहज अरि और कृत्रिम अरि नाम से सम्बोधित करते हैं। राज्य की सीमा से सटा हुआ राज्य प्रकृति अरि राज्य और उसका राजा प्रकृति अरि राजा माना गया है[1]। राजा के अपने ही वंश में उत्पन्न राज्यभागी सहज अरि होते हैं[2]। स्वयं विरुद्ध होने अथवा विरोध करने पर जो शत्रु होता है वह कृत्रिम अरि कहलाता है[3]।

जिन राज्यों की सीमायें परस्पर सटी होती हैं उनमें सीमा-विवाद प्रतिक्षण उपस्थित रहते हैं, विशेष कर ऐसे युग में जब कि राजाओं की विजयाकांक्षा बहुत बढ़ी-चढ़ी हो। प्रत्येक राजा अपने राज्य-विस्तार के लिए और अपने पड़ोसी राज्य की भूमि हड़पने के लिए किसी-न-किसी प्रकार का षड्यन्त्र रचा ही करता है। कौटिल्य ऐसे युग में रहे हैं जब विश्व के सुदूर भू-भागों के आवागमन में कठिनाई थी। अतः उस युग में ऐसी संस्थाओं अथवा संघों के निर्माण की आशा नहीं की जा सकती जिनका निर्माण संसार के विभिन्न राज्यों के मध्य शान्ति की स्थापना हेतु हुआ हो। उस युग में पड़ोसी राज्य की विजयाकांक्षा के दमन के लिए आधुनिक युग की अपेक्षा कम अवसर होने के कारण इन राज्यों में परस्पर वैर रहना स्वाभाविक ही था। सम्भवतः ऐसे ही कारणों से कौटिल्य ने पड़ोसी राज्यों को एक दूसरे के लिए प्रकृति अरि बतलाया है।

मित्र राज्य—कौटिल्य ने मित्र राज्य भी तीन प्रकार के बतलाये हैं जिन्हें वह प्रकृति मित्र राज्य सहज मित्र राज्य और कृत्रिम मित्र राज्य के नाम से सम्बोधित करते हैं। राजा के अपने राज्य की सीमा से सम्बद्ध सीमावाले अरि राज्य की दूसरी सीमा पर स्थित राज्य को कौटिल्य प्रकृति मित्र राज्य के नाम से सम्बोधित करते हैं[4]। राजा के माता अथवा पिता-सम्बन्धित राज्य (फूफा मामा आदि के राज्य) सहज मित्र राज्य बतलाये गये हैं[5]। धन और जीवन-हेतु जब कोई राजा किसी दूसरे राजा का आश्रय ग्रहण करता है तो इस प्रकार आश्रय ग्रहण करने वाला राजा आश्रय देनेवाले राजा का कृत्रिम मित्र होता है[6]। ऐसा राजा कृत्रिम मित्र इसलिए कहलाता है कि वह बनाया हुआ मित्र होता है स्वाभाविक नहीं। धन अथवा जीवन-रक्षा-हेतु वह मित्रता ग्रहण करता है। स्वभाव से ही वह मित्र हो ऐसा सदैव सम्भव नहीं।

मध्यम राज्य—कौटिल्य का मध्यम राज्य एक प्रकार का विशेष राज्य है। इनके मतानुसार विजयाभिलाषी राजा का राज्य और उसके अरि राज्य दोनों राज्यों

१ वार्ता १७ अ २ अधि ६ अर्थ । २ वार्ता २५ अ २ अधि ६ अर्थ ।
३ वार्ता २१ अ २ अधि ६ अर्थ । ४ वार्ता २७ अ २ अधि ६ अर्थ ।
५ वार्ता २७ अ २ अधि ६ अर्थ । ६ वार्ता २८ अ २ अधि ६ अर्थ ।

की सीमा पर स्थित राज्य जो इन दोनों राज्यों को एक ही साथ एवं पृथक्-पृथक् सहायता देने अथवा उनका निग्रह करने में समर्थ हो मध्यम राज्य कहलाता है[1]। इस परिभाषा के अनुसार मध्यम राज्य में दो मुख्य विशेषताएँ होती हैं। प्रथम विशेषता यह है कि मध्यम राज्य विजयाभिलाषी राज्य और अरिराज्य दोनों की सीमा पर स्थित होता है। दूसरी विशेषता यह है कि मध्यम राज्य को इतना शक्तिशाली होना चाहिए कि आवश्यकता पड़ने पर वह इन दोनों प्रकार के राज्यों पर एक साथ अथवा पृथक्-पृथक् अनुग्रह करने और उन्हें निग्रह करने में समर्थ हो। इसलिए मध्यम राज्य को विजयाभिलाषी राज्य एवं उसके अरिराज्य दोनों से कहीं अधिक शक्तिशाली होना चाहिए। यहाँ तक कि उसे इन दोनों प्रकार के राज्यों की संयुक्त शक्ति से भी अधिक शक्तिशाली होना चाहिए जिससे समय पड़ने पर वह इन दोनों राज्यों का दमन करने में समर्थ हो सके। कौटिल्य का यह सिद्धान्त हेतुयुक्त जान पड़ता है। आधुनिक युग में भी ऐसा अनुभव किया जाता है कि दो राज्यों में समझौता कराने में वह सफल होता है जो उन दोनों राज्यों में प्रत्येक अथवा दोनों राज्यों को दण्ड अथवा सहायता देने की सामर्थ्य रखता है। ऐसा राज्य ही उन दोनों राज्यों पर अपना प्रभाव एवं आतंक डालकर उनके मध्य समझौता कराने में समर्थ हो सकता है। ऐसे राज्य की मध्यस्थता ही वास्तविक मध्यस्थता मानी जा सकती है।

उदासीन राज्य—कौटिल्य द्वारा उदासीन राज्य की जो परिभाषा की गयी है वह तत्सम्बन्धी आधुनिक राज्य की परिभाषा से नितान्त भिन्न है। आधुनिक काल में उदासीन राज्य के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह अपनी शक्ति एवं प्रभाव की अधिकता के कारण उदासीन कोटि में परिगणित किया जाता हो। आधुनिक उदासीन राज्य बड़े-से-बड़े और छोटे-से-छोटे दोनों हो सकते हैं। शक्ति एवं प्रभाव की अधिकता अथवा न्यूनता उनके उदासीन होने के लिए किसी प्रकार की बाधक अथवा साधक नहीं होती। कौटिल्य ने उस राज्य को उदासीन राज्य की संज्ञा दी है जो विजयाभिलाषी अरि और मध्यम राज्य से परे, अपनी बलिष्ठ सप्त-प्रकृतियों से सम्पन्न उपर्युक्त तीनों प्रकार के राज्यों (अरि, विजयाभिलाषी और मध्यम) पर पृथक्-पृथक् अथवा सब पर एक साथ अनुग्रह अथवा उनका निग्रह करने में समर्थ हो[2]।

इस प्रकार कौटिल्य का उदासीन राज्य विशेष राज्य है जिसकी समानता इस युग के उदासीन राज्यों से नहीं की जा सकती।

१ सूत्र २१ अ २ अधि ६ अर्थ । २ सूत्र २ अ २ अधि ६ अर्थ ।

कौटिल्य ने इन चार प्रकार के राज्यों को राज्य-मण्डल के घटक माना है। इन घटक राज्यों में प्रत्येक राज्य का भी एक पृथक् राज्य-मण्डल बनता है। विजयाभिलाषी राज्य, उसका मित्र और उसके मित्र का मित्र राज्य इन तीनों राज्यों के क्रमशः तीन राजा तीन प्रकृति कहलाते हैं[1]। इन तीनों राज्यों में प्रत्येक राज्य और राज्य की पाँच-पाँच प्रकृतियाँ (मन्त्री कोश दण्ड जनपद और पुर) मिलकर कुल अठारह प्रकृतियाँ हुईं, जो एक राज्य-मण्डल का निर्माण करती हैं[2]। इसी प्रकार अरिमण्डल, मध्यम-मण्डल और उदासीन-मण्डल भी बनते हैं[3]। फिर एक बृहत् राज्य-मण्डल बनता है जिसमें बारह राजप्रकृतियाँ (बारह राज्यों के बारह राजा) और प्रत्येक राज्य की अन्य पाँच प्रकृतियाँ होती हैं जिनको कौटिल्य ने द्रव्य प्रकृतियों की संज्ञा दी है। इन बारह राज्यों की साठ द्रव्य प्रकृतियाँ होती हैं[4]। ये बारह राज-प्रकृतियाँ और साठ द्रव्य प्रकृतियाँ मिलाकर कुल बहत्तर प्रकृतियों का एक बृहत् राज्य-मण्डल कहलाता है[5]।

कौटिल्य ने इस राज्य-मण्डल की समता चक्र से दी है और इस विषय में अपना मत व्यक्त करते हुए बतलाया है कि विजयाभिलाषी राजा को राज्य-मण्डल रूपी चक्र में एक राज्य बाद रहने वाले मित्र राजाओं को नेमि, समीप के राजाओं को अरे और स्वयं नाभि के तुल्य समझना चाहिए। विजयाभिलाषी राजा और उसके मित्र राजा के मध्य फँसा हुआ शत्रु यदि बलवान् भी हो तो भी वह उखाड़ा अथवा पीड़ित किया जा सकता है[6]।

षाड्गुण्य मन्त्र—प्राचीन भारत के लगभग सभी राजशास्त्र-प्रणेताओं ने मन्त्र को राज्य का मूल माना है। उनके मतानुसार उपयुक्त मन्त्र-वरण राज्य की वृद्धि और अनुपयुक्त मन्त्र-वरण उसकी अवनति का कारण होता है। राजाओं की विजय अथवा पराजय इसी मन्त्र पर आश्रित है[7]। प्राचीन भारत के अधिकांश आचार्यों ने इस मन्त्र के छः गुण माने हैं। यही कारण है कि इन आचार्यों ने मन्त्र को षाड्गुण्य के नाम से सम्बोधित किया है। मन्त्र के ये छः गुण कौटिल्य के मतानुसार सन्धि

१ वार्ता १२ अ. २ अधि. ६ अर्थ। २ वार्ता १३ अ. २ अधि. ६ अर्थ।
३ वार्ता १४ अ. २ अधि. ६ अर्थ। ४ वार्ता १६ अ. २ अधि. ६ अर्थ।
५. वार्ता १७ अ. २ अधि. ६ अर्थ। ६ वार्ता १८ अ. २ अधि. ६ अर्थ।
७. वा. १९ अ. २ अधि. ६ अर्थ।
८. श्लोक ९८ अ. ५ सभापर्व महाभारत।
श्लोक ४८ अ. ८ शान्तिपर्व महाभारत।

कर दूंगा[1] अथवा इस समय सेना द्वारा सहायता देकर जब शत्रु का उपकार
करूंगा और यह शत्रु राजा अपने मध्यम से मिलना चाहेगा तो मैं उसको मिलने न
दूंगा[2] और जब इनका परस्पर द्वेष हो जायगा तो उसका उन्हीं के द्वारा वध
करा दूंगा तो इन परिस्थितियों में उसे सन्धि कर लेनी चाहिए[3]।

इस प्रकार कौटिल्य पराजित राजा के लिए सन्धि-काल उस अवसर को मानते
जिसका प्रयोग वह अपने सबल शत्रु से मेल कर उसको किसी-न-किसी प्रकार से
निर्बल हीन बनाने में करता है और अपने को प्रत्येक प्रकार से सबल बनाने में
सब रीति से प्रयत्नशील रहता है। वास्तव में कौटिल्य शत्रु राजा को निर्बल
बनाने और अपने को प्रत्येक प्रकार से सबल बनाने का साधन सन्धि मानते हैं।
सन्धि वाली अवधि में राजा को येन-केन प्रकारेण अपने इसी उद्देश्य की पूर्ति का
अवसर ग्रहण कर अपने राज्य को सबल बनाने के निमित्त उसका उपयोग करना
चाहिए।

कौटिल्य सन्धि के अनेक प्रकार बतलाते हैं। इन सन्धियों का वर्गीकरण दण्ड-
लाभ (सेना लाभ) कोषलाभ भूमिलाभ कर्मलाभ हिरण्यलाभ मित्रलाभ आदि के
आधार पर किया गया है।

(२) विग्रह—कौटिल्य के मतानुसार परस्पर एक-दूसरे के अपकार में संलग्न
हो जाना विग्रह गुण को प्राप्त होना है[4]। राजा के लिए विग्रह गुण का आश्रय लेना
तब उचित है जब वह अपने को शत्रु की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली पाता है।
उन्होंने उन परिस्थितियों का भी उल्लेख किया है जिनमें होने से राजा को विग्रह गुण
का आश्रय लेना श्रेयस्कर होगा। इस विषय में उनके विचार इस प्रकार हैं—यदि
विजयाभिलाषी राजा इस परिस्थिति में हो कि उसके राज्य में ग्राम कोष दण्ड-
प्रयोग में कुशल और संगठित हैं तथा पर्वत वन नदी और दुर्ग से उसका राज्य
सम्पन्न है उसके राज्य में प्रवेश-हेतु केवल एक द्वार है, वह शत्रु द्वारा किये गये
आक्रमण का वीरतापूर्ण उत्तर देने में समर्थ है और अपने राज्य की सीमा के दृढ़
दुर्ग में स्थित होकर शत्रु के कार्यों का नाश कर सकता है व्यसन और कष्टों से
उसके शत्रु का सारा उत्साह नष्ट हो रहा है इस समय वह शत्रु वश में किया जा
सकता है यदि युद्ध छिड़ गया तो वह अपने शत्रु के कुछ भू-भागों पर अधिकार

१ वार्ता ७५ म १ अधि ७ अर्थ । २ वार्ता ४६ म १ अधि ७ अर्थ ।
३ वार्ता ४७ म १ अधि ७ अर्थ । ४ वार्ता ७ म १ अधि ७ अर्थ ।
५ वार्ता ११ म १ अधि ७ अर्थ ।

करने में समर्थ हो सकेगा तो इन परिस्थितियों में प्रथम राजा के लिए विग्रह गुण का आश्रय लेना उचित होगा ।

(३) आसन—किसी समय की प्रतीक्षा में चुप-चाप बैठे रहने को कौटिल्य ने आसन-गुण की संज्ञा दी है[1]। इसी प्रसंग में दूसरे स्थान पर आसन-गुण की व्याख्या करते हुए बतलाया गया है कि अपनी वृद्धि-हेतु चुप चाप बैठे रहना आसन कहलाता है[2]। कौटिल्य ने आसन के तीन रूप बतलाये हैं जिन्हें वह स्थान आसन और उपेक्षण नाम से सम्बोधित करते हैं[3]। आसन के इन तीनों रूपों में वह कुछ विशेषताएँ अलग-अलग बतलाते हैं[4]। उनके मतानुसार किसी विषय में चुप चाप बैठे रहना और किसी विषय में उपाय करते रहना स्थान कहलाता है[5]। अपनी वृद्धि की प्राप्ति हेतु चुप-चाप बैठे रहना आसन कहलाता है[6]। किसी भी उपाय का अव-लम्बन न करना उपेक्षण कहलाता है[7]। कौटिल्य ने आसन के दो भेद माने हैं जिनको वह विगृह्य आसन और सन्धाय आसन के नाम से सम्बोधित करते हैं[8]। जब शत्रु और विजिगीषु राजा दोनों ही सन्धि करने की इच्छा रखते हों और वे परस्पर एक दूसरे के नाश की शक्ति न रखते हों तब वे कुछ काल युद्ध करके चुप बैठ जाते हैं। इस प्रकार के आसन को विगृह्य आसन कहते हैं और जब वे दोनों सन्धि करके चुप बैठते हैं तो ऐसी स्थिति को सन्धाय आसन कहा गया है[9]।

राजा को आसन-गुण का आश्रय किस समय लेना चाहिए, इस विषय में कौटिल्य ने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—यदि राजा समझता है कि उसका शत्रु इतना समर्थ नहीं है कि वह उसके कार्यों को हानि पहुँचा सके और न वही शत्रु के कार्यों को बिगाड़ सकता है यद्यपि शत्रु व्यसन-ग्रस्त है, परन्तु कलह का आश्रय लेने में कुत्ते और सूकर के आक्रमण के तुल्य कोई फल नहीं मिलेगा और अपना कर्म करता रहा तो वृद्धि को प्राप्त हो जायगा तब ऐसी परिस्थिति में राजा को चुप-चाप बैठे हुए आसन गुण का अवलम्बन करना चाहिए[1] ।

१ वार्ता ४८ से ५२ अ १ अधि ७ अर्थ ।
२ वार्ता ८ अ १ अधि ७ अर्थ । ३ वार्ता ५ अ ४ अधि ७ अर्थ ।
४ वार्ता २ अ ४ अधि ७ अर्थ । ५ वार्ता ३ अ ४ अधि ७ अर्थ ।
६ वार्ता ४ अ ४ अधि ७ अर्थ । ७ वार्ता ५ अ ४ अधि ७ अर्थ ।
८ वार्ता ६ अ ४ अधि ७ अर्थ ।
९ वार्ता ७ अ ४ अधि ७ अर्थ ।
१ वार्ता ५१ से ५७ अ १ अधि ७ अर्थ ।

(४) यान—एक राजा द्वारा दूसरे राजा पर आक्रमण करने को कौटिल्य ने यान की संज्ञा दी है[१]। कौटिल्य का मत है कि जब विजयाभिलाषी राजा समझ लेता है कि शत्रु के कार्यों का नाश उसपर आक्रमण किये जाने पर ही हो सकता है, उसने स्वयं अपने राज्य की रक्षा का समुचित प्रबन्ध कर लिया है तो ऐसी परिस्थिति में उस राजा को यान-गुण का आश्रय लेना उचित होगा[२]।

(५) संश्रय—अपने बलवान् शत्रु अथवा अन्य किसी बलवान् राजा के प्रति आत्म-समर्पण कर देने को कौटिल्य ने संश्रय-गुण बतलाया है[३]। कौटिल्य का मत है कि जब राजा इस परिस्थिति में अपने को समझ ले कि वह शत्रु के कार्यों में हानि नहीं पहुँचा सकता और न अपने कार्यों की ही रक्षा करने में समर्थ है तो उसको किसी दूसरे बलवान् राजा का आश्रय लेना चाहिए। इसके उपरान्त उसको अपना कार्य साधते हुए इस अधिक क्षय से स्थान की प्राप्ति करनी चाहिए और स्थान के उपरान्त वृद्धि की प्राप्ति करनी चाहिए[४]।

निर्बल राजा को किस राजा का आश्रय ग्रहण करना चाहिए, इस विषय में भी कौटिल्य ने अपना मत व्यक्त किया है। उनका कहना है कि यदि किसी राजा को दूसरे से भय के कारण आश्रय लेने के लिए विवश होना पड़े तो शत्रु जितना बल-शाली हो उससे अधिक बलशाली राजा का आश्रय ग्रहण करना उचित होगा[५]। यदि कोई अन्य राजा शत्रु राजा से बलवान् न हो तो उस निर्बल राजा को अपने उसी समय शत्रु का आश्रय ग्रहण कर लेना चाहिए। कोष सेना अथवा भूमि में से किसी को देकर शत्रु राजा को सन्तुष्ट करना चाहिए। परन्तु स्वयं उसके सम्मुख जाना उचित नहीं है[६]। अधिक बलशाली राजा का आश्रय किया जाय इसे कौटिल्य अच्छा नहीं समझते। उनका कहना है कि विशेष प्रकार बलवान् राजा के आश्रय में जाने से कभी-कभी बड़ा अनिष्ट हो जाता है। यदि बलवान् शत्रु का विग्रह अन्य शत्रु से हो रहा है तो ऐसी परिस्थिति में उस बलवान् राजा का आश्रय लेना हानिकर नहीं होता[७]। जब राजा शक्तिहीन हो तो उसे दण्डोपनत व्यवहार की भाँति विनम्र होकर समय काटते रहना चाहिए[८]।

१ वार्ता ९ म १ अधि ७ अर्थ । २ वार्ता ५८, ५९ म १ अधि ७ अर्थ ।
३ वार्ता १ म १ अधि ७ अर्थ ।
४ वार्ता ९ ११ म १ अधि ७ अर्थ ।
५. वार्ता ७ म २ अधि ७ अर्थ । ६. वार्ता ८ म २ अधि ७ अर्थ ।
७ वार्ता ९ म २ अधि ७ अर्थ । ८. वार्ता १ म २ अधि ७ अर्थ ।

(६) द्वैधीभाव—कौटिल्य के मतानुसार एक राजा से सन्धि करने और दूसरे से विग्रह करने की परिस्थिति को द्वैधीभाव कहते हैं । यदि राजा समझता है कि एक राजा से सन्धि और दूसरे से विग्रह करने में वह अपने कार्यों को साध सकेगा और शत्रु की योजनाओं को नष्ट कर सकेगा तो उस राजा को द्वैधीभाव गुण का आश्रय लेकर अपनी वृद्धि करनी चाहिए[१] ।

इस प्रकार कौटिल्य ने षाड्गुण्य मत की व्याख्या करते हुए बतलाया है कि किस परिस्थिति में किस गुण का आश्रय लेना उचित होगा । कौटिल्य का मत है कि षाड्गुण्यनीति का विधिवत् पालन करने से राजा वृद्धि को प्राप्त होता है और उसका क्षय नहीं होने पाता[२] ।

उपाय—राजाओं की सफलता के लिए प्राचीन भारत के राजशास्त्र-प्रणेताओं ने चार उपायों का विधान किया है । कौटिल्य भी प्राचीन भारत की इस परम्परा के अनुसार षाड्गुण्य मत की सफलता का साधन इन्हीं चार उपायों को मानते हैं । ये चार उपाय साम दान भेद और दण्ड कहलाते हैं[४] । कौटिल्य का मत है कि दुर्बल राजाओं को साम और दान उपायों का आश्रय लेकर वश में करना चाहिए[५] । जो राजा दुर्बल है उसको समझा-बुझाकर और यदि आवश्यकता पड़े तो कुछ दे-दिलाकर अपने अनुकूल बना लेना चाहिए । परन्तु जो राजा सबल हो उसको भेद और दण्ड उपायों से वश में करना चाहिए[६] । उनके मतानुसार साम उपाय में केवल एक ही गुण होता है[७] । दान दो गुणयुक्त होता है उसमें साम गुण भी सम्मिलित होता है[८] । भेद तीन गुणयुक्त होता है । इसमें साम और दान गुण भी समाविष्ट होते हैं । दण्ड में चार गुण होते हैं । इसमें साम और दान गुण भी समाविष्ट होते हैं ।[१०] दण्ड में चार गुण होते हैं । इसमें साम दान और भेद तीनों सम्मिलित होते हैं ।

बल—कौटिल्य बल को शक्ति मानते हैं[११] और शक्ति के तीन प्रकार मानते हैं[१२]—मन्त्रशक्ति प्रभुशक्ति और उत्साहशक्ति । वह ज्ञानबल को मन्त्रशक्ति कोष

१ वार्ता ११ अ २ अधि ७ अर्थ । २ वार्ता ६१ अ २ अधि ७ अर्थ ।
३ वार्ता ४८ अ १८ अधि ७ अर्थ । ४ वार्ता ७ अ ३ अधि ९ अर्थ ।
५ वार्ता १ अ १६ अधि ७ अर्थ । ६ वार्ता ४ अ १६ अधि ७ अर्थ ।
७ वार्ता १८ अ १ अधि ९ अर्थ । ८ वार्ता ६६ अ १ अधि ९ अर्थ ।
९. वार्ता ७ अ १ अधि ९ अर्थ । १ वार्ता ७१ अ १ अधि ९ अर्थ ।
११ वार्ता ४ अ २ अधि ६ अर्थ । १२ वार्ता ४९ अ २ अधि ६ अर्थ ।

और दैन्य बल को प्रभुशक्ति और विक्रम को उत्साहशक्ति के नाम से सम्बोधित करते हैं[1]। इन तीनों बलों से सम्पन्न राजा विजयी होता है[2]। इनसे रहित राजा हीन बतलाया गया है[3]। जिस राजा में ज्ञानबल कोषबल और सैन्यबल तथा विक्रम-बल ये तीनों बल तुल्य होते हैं वह राजा समपक्ष कहलाता है ।

सैन्यबल—मनु की भांति कौटिल्य ने भी सप्तप्रकृतिमय राज्य की एक प्रकृति दण्ड माना है। दण्ड से कौटिल्य का तात्पर्य सेना से है। उन्होंने सेना के छः प्रकार माने हैं—मौलबल भृतबल श्रेणिबल मित्रबल अमित्रबल अटविबल[4]। कौटिल्य ने सेना के इन छः प्रकारों में उत्तर की अपेक्षा पूर्व की सेना का प्रकार अधिक श्रेयस्कर माना है[5]। अटविबल की अपेक्षा अमित्रबल अमित्रबल की अपेक्षा मित्रबल और इसी प्रकार मित्रबल की अपेक्षा श्रेणिबल श्रेणिबल की अपेक्षा भृतबल और भृतबल की अपेक्षा मौलबल अधिक उपयोगी एवं श्रेयस्कर होता है। जो सेना नित्य रहती है अर्थात् अधिक काल से वृत्ति प्राप्त करती हुई राज्य की सेवा में चली आती है मौल सेना कहलाती है। अपने स्वामी के हित में अपना हित समझने और उसका नित्य सत्कार करने के कारण भृतबल से मौलबल श्रेष्ठ माना गया है । आवश्यकता उपस्थित होने पर जो सेना वृत्ति के आधार पर बढ़ायी जाती है उसको भृतबल की संज्ञा दी गयी है। नित्य समीप रहने और युद्ध के निमित्त शीघ्र ही जाने के योग्य होने के कारण श्रेणीबल की अपेक्षा भृतबल श्रेष्ठ है[6]। सेना की उपयोगिता की दृष्टि से कौटिल्य ने श्रेणिबल को तीसरा स्थान दिया है। उनका मत है कि अपने देश के होने तथा राजा एवं श्रेणी दोनों का एक ही स्वार्थ होने के कारण मित्रबल की अपेक्षा श्रेणिबल श्रेष्ठ होता है। राजा का संघर्ष एवं अमर्ष जिससे होता है उसी से श्रेणिबल का भी संघर्ष एवं अमर्ष होता है। दोनों को समान युद्ध की सिद्धि होती है[9]। अमित्रबल के उपरान्त मित्रबल का स्थान माना गया है। प्रत्येक समय में मित्रबल सहायता प्राप्त करने और दोनों (राजा और उसके मित्र) का समान स्वार्थ होने के कारण अमित्रबल की अपेक्षा मित्रबल सहायता करने में श्रेष्ठ माना गया है[10]।

१ वार्ता ४१।४४।४५ अ १ अधि ६ अर्थ ।
२ वार्ता ५ अ २ अधि ६ अर्थ । ३ वार्ता ५१ अ २ अधि ६ अर्थ ।
४ वार्ता ५२ अ १ अधि ६ अर्थ । ५ वार्ता ९ अ ११ अधि ९ अर्थ ।
६ वार्ता १५ अ २ अधि ९ अर्थ । ७ वार्ता १६ अ २ अधि ९ अर्थ ।
८ वार्ता १७ अ २ अधि ९ अर्थ ।
९ वार्ता १८ अ २ अधि ९ अर्थ । १० वार्ता १९ अ २ अधि ९ अर्थ ।

(६) द्वैधीभाव—कौटिल्य के मतानुसार एक राजा से सन्धि करने और दूसरे से विग्रह करने की परिस्थिति को द्वैधीभाव कहते हैं । यदि राजा समझता है कि एक राजा से सन्धि और दूसरे से विग्रह करने में वह अपने कार्यों को साध सकेगा और शत्रु की योजनाओं को नष्ट कर सकेगा तो उस राजा को द्वैधीभाव गुण का आश्रय लेकर अपनी वृद्धि करनी चाहिए[1] ।

इस प्रकार कौटिल्य ने षाड्गुण्य मन्त्र की व्याख्या करते हुए बतलाया है कि किस परिस्थिति में किस गुण का आश्रय लेना उचित होगा । कौटिल्य का मत है कि षाड्गुण्यनीति का विधिवत् पालन करने से राजा वृद्धि को प्राप्त होता है और उसका क्षय नहीं होने पाता[2] ।

उपाय—राजाओं की सफलता के लिए प्राचीन भारत के राजशास्त्र-प्रणेताओं ने चार उपायों का विधान किया है। कौटिल्य भी प्राचीन भारत की इस परम्परा के अनुसार षाड्गुण्य मन्त्र की सफलता का साधन इन्हीं चार उपायों को मानते हैं। ये चार उपाय साम दाम भेद और दण्ड बतलाये गये हैं । कौटिल्य का मत है कि दुर्बल राजाओं को साम और दाम उपायों का आश्रय लेकर वश में करना चाहिए[3] । जो राजा दुर्बल है उसको समझा-बुझाकर और यदि आवश्यकता समझी जाय तो कुछ दे-दिलाकर अपने अनुकूल बना लेना चाहिए । परन्तु जो राजा सबल हो उसको भेद और दण्ड उपायों से वश में करना चाहिए[4] । उनके मतानुसार साम उपाय में केवल एक ही गुण होता है । दाम दो गुणयुक्त होता है, उसमें साम गुण भी सम्मिलित होता है[5] । भेद तीन गुणयुक्त होता है । इसमें साम और दाम गुण भी समाविष्ट होते हैं । दण्ड में चार गुण होते हैं । इसमें साम और दाम गुण भी समाविष्ट होते हैं ।[6] दण्ड में चार गुण होते हैं । इसमें साम दाम और भेद तीनों सम्मिलित होते हैं ।

बल—कौटिल्य बल को शक्ति मानते हैं[11] और शक्ति के तीन प्रकार मानते हैं[12]—मन्त्रशक्ति प्रभुशक्ति और उत्साहशक्ति । वह ज्ञानबल को मन्त्रशक्ति कोष

१ वार्ता ११ अ ३ अधि ७ अर्थ । २ वार्ता ६३ अ २ अधि ७ अर्थ ।
३ वार्ता ४८ अ १८ अधि ७ अर्थ । ४ वार्ता ७ अ १ अधि ९ अर्थ ।
५ वार्ता ३ अ १६ अधि ७ अर्थ । ६ वार्ता ४ अ १६ अधि ७ अर्थ ।
७ वार्ता ५८ अ ६ अधि ९ अर्थ । ८ वार्ता ६९ अ ६ अधि ९ अर्थ ।
९ वार्ता ७ अ ६ अधि ९ अर्थ । १० वार्ता ७१ अ ६ अधि ९ अर्थ ।
११ वार्ता ४ अ १ अधि ६ अर्थ । १२ वार्ता ४२ अ १ अधि ६ अर्थ ।

पार्टों आदि का शोधन, वनों में झाड़ आदि उखाड़कर मार्ग को साफ करना, यन्त्र, आयुध, कवच तथा विविध प्रकार के युद्धोपयोगी अन्न, वस्त्र आदि का वहन करना, युद्ध-भूमि से आयुध, कवच आदि एकत्र कर के लाना आदि विष्टि के कर्तव्य हैं। सेना के साथ चिकित्सक एवं सविकाएं भी होनी चाहिए, ऐसा कौटिल्य का मत है[2]।

युद्ध—कौटिल्य ने युद्ध के अनेक प्रकार बतलाये हैं। इनमें मुख्य तीन हैं। युद्ध के ये मुख्य तीन प्रकार प्रकाशयुद्ध अथवा धर्मयुद्ध, कूटयुद्ध और तूष्णीयुद्ध हैं[3]। देश, काल और विक्रम का निश्चय कर और उनको प्रकाशित कर जो युद्ध किया जाए उसको कौटिल्य ने प्रकाशयुद्ध के नाम से सम्बोधित किया है। छल-कपट द्वारा भय पैदा करना, दुर्गों को ढहाना, लूटमार करना, अभिघात करना, प्रमाद और व्यसन-ग्रस्त शत्रु पर आक्रमण करना, एक स्थान पर युद्ध को रोककर दूसरे स्थान पर छल से मार-काट मचाना ये कूटयुद्ध के लक्षण हैं। विष और औषधि-प्रयोग, गुप्त पुरुषों द्वारा शत्रु का वध कराना अथवा भेद लेना तूष्णीयुद्ध के लक्षण बतलाये गये हैं[4]।

किन परिस्थितियों में युद्ध के किस प्रकार का आश्रय लिया जाना हितकर होगा, इस विषय में *कौटिल्य ने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है*—जब विजयाभिलाषी राजा प्रबल सेना से सम्पन्न हो, षड्यन्त्रों में सफल हो चुका हो, आपद-निवारण हेतु उपाय कर चुका हो और युद्ध के निमित्त अनुकूल स्थान प्राप्त कर चुका हो, तो ऐसी परिस्थिति में उसको प्रकाशयुद्ध का आश्रय लेना चाहिए[7]। अन्यथा उसे कूटयुद्ध का आश्रय लेना लाभप्रद होगा[8]।

अनेक प्रकार के व्यूहों की रचना कर युद्ध करना प्राचीन भारत की युद्ध-शैली की विशेषता रही है। कौटिल्य ने भी युद्ध की इस विशेषता को अपनाने का समर्थन किया है। उन्होंने दण्डव्यूह, भोगव्यूह, मण्डलव्यूह, संहतव्यूह, असंहतव्यूह, चापव्यूह, चापकुक्षिव्यूह, वज्रव्यूह आदि विभिन्न प्रकार के व्यूहों के लक्षणों का वर्णन किया है। उन्होंने यह भी बतलाया है कि अमुक व्यूह के विरुद्ध अमुक व्यूह की रचना विजय-प्राप्ति हेतु उचित होगी।

१ वार्ता १८ अ. ४ अधि. १ अर्थ०। २ वार्ता १२ अ. ३ अधि. १ अर्थ०।
३ वार्ता २१ अ. १ अधि. ७ अर्थ। ४ वा. ४६,४७ अ. १ अधि. ७ अर्थ।
५ वार्ता १ अ. ३ अधि. १० अर्थ। ६ वार्ता २ अ. ३ अधि. १ अर्थ।
७ देखिए अ. ५,६ अधि. १ अर्थ।
८ वार्ता १६,१७,१८ अ. १ अधि. १ अर्थ।

मित्रबल के उपरान्त अमित्रबल का स्थान बतलाया गया है। कौटिल्य का मत है कि यदि आर्य पुरुषों से युक्त अमित्रबल हो तो वह अटवीबल से श्रेष्ठ होता है।[1] अमित्रबल और अटवीबल दोनों लूट-मार करने के लिए उपयोग में लाये जाते हैं[2]। यदि इन सेनाओं को लूट का माल न मिले और राजा पर कोई संकट आ पड़े तो दोनों सेनाएँ सर्प के समान भय उत्पन्न कर देती हैं[3]। इस प्रकार सेना की उपयोगिता की दृष्टि से प्रथम स्थान मौलबल और सबसे अन्तिम स्थान अटवीबल को दिया गया है।

वर्ण के आधार पर भी सेना की उपयोगिता के आपेक्षिक महत्त्व का उल्लेख है। कौटिल्य के मतानुसार युद्ध-विद्या में कुशल एवं विजयशील क्षत्रिय-सेना सर्वश्रेष्ठ होती है[4]। वीर योद्धाओं से युक्त वैश्य अथवा शूद्र वर्ण की सेना को भी उसी प्रकार उत्तम समझा गया है। परन्तु ब्राह्मण वर्ण की सेना की उपयोगिता में कौटिल्य की आस्था नहीं है। उसका मत है कि ब्राह्मण वर्ण नमस्कार आदि करने से शत्रु को क्षमा कर देता है[5]।

सेना के अङ्ग—कौटिल्य चतुरङ्गिणी सेना में विश्वास करते हैं। चतुरङ्गिणी सेना के चार अङ्ग हस्तिबल, अश्वबल, रथबल और पत्तिबल (पैदल सेना) बतलाये गये हैं[6]। इस चतुरङ्गिणी सेना के चार अङ्गों में हस्तिबल को सर्वोपरि महत्त्व दिया गया है। हस्तिबल को महत्त्व देते हुए कौटिल्य ने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—राजाओं की विजय हाथियों की सेना के आश्रित होती है[7]। शत्रु सेना, व्यूह, दुर्ग, छावनी के मर्दन करने में हस्ति-सेना कुशल होती है, क्योंकि इनके शरीर विशाल होते हैं। हाथी युद्धस्थल में मनुष्यों के प्राण-नाश करने में तुरन्त समर्थ होते हैं[8]।

सेना के इन चार अङ्गों को सामग्री आदि की सहायता देने के निमित्त तथा इनके वाहनों की सेवा-शुश्रूषा के निमित्त विशेष प्रकार के सेवकों की आवश्यकता पड़ती है। कौटिल्य ने इन सेवकों को विष्टि नाम से सम्बोधित किया है। कौटिल्य के मतानुसार विष्टि के मुख्य कर्तव्य इस प्रकार हैं—सीमे तम्बू, मार्ग में पुल, कुएँ,

१ वार्ता ४ अ ९ अधि ९ अर्थ । २ वार्ता ४१ अ ९ अधि ९ अर्थ ।
३ वार्ता ४९ अ ९ अधि ९ अर्थ । ४ वार्ता ४६ अ ९ अधि ९ अर्थ ।
५. वार्ता ४७ अ ९ अधि ९ अर्थ । ६. वार्ता ४५ अ ९ अधि ९ अर्थ ।
७. वार्ता ५१ अ ९ अधि ९ अर्थ । वार्ता ११ अ ११ अधि ९ अर्थ ।
८. वार्ता १४ अ ९ अधि ९ अर्थ । ९. वार्ता १५ अ ९ अधि ९ अर्थ ।

घाटों आदि का शोधन, वनों में मार्ग आदि बनाकर मार्ग को साफ करना, यन्त्र आयुध कवच तथा विविध प्रकार के युद्धोपयोगी अन्न, पान आदि का वहन करना, युद्ध-भूमि से आयुध, कवच आदि एकत्र कर ले आना आदि विष्टि के कर्त्तव्य हैं। सेना के साथ चिकित्सक एवं सेविकाएं भी होनी चाहिए, ऐसा कौटिल्य का मत है[1]।

युद्ध—कौटिल्य ने युद्ध के अनेक प्रकार बतलाये हैं। इनमें मुख्य तीन हैं। युद्ध के ये मुख्य तीन प्रकार प्रकाशयुद्ध अथवा धर्मयुद्ध, कूटयुद्ध और तूष्णीयुद्ध हैं[2]। देश, काल और विक्रम का निश्चय कर और उसको प्रकाशित कर जो युद्ध किया जाय उसको कौटिल्य ने प्रकाशयुद्ध के नाम से सम्बोधित किया है। छल-कपट द्वारा भय खड़ा करना, दुर्गों को जलाना, लूटमार करना, अग्निदाह करना, प्रमाद और व्यसन-ग्रस्त शत्रु पर आक्रमण करना, एक स्थान पर युद्ध को रोककर दूसरे स्थान पर छल से मार-काट मचाना ये कूटयुद्ध के लक्षण हैं। विष और औषधि-प्रयोग, गुप्त पुरुषों द्वारा शत्रु का वध कराना अथवा भेद लेना तूष्णीयुद्ध के लक्षण बतलाये गये हैं।

किन परिस्थितियों में युद्ध के किस प्रकार का आश्रय लिया जाना हितकर होगा, इस विषय में कौटिल्य ने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—जब विजयाभिलाषी राजा उत्तम सेना से सम्पन्न हो, षड्यन्त्रों में सफल हो चुका हो, आपद्-निवारण हेतु उपाय कर चुका हो और युद्ध के निमित्त अनुकूल स्थान प्राप्त कर चुका हो, तो ऐसी परिस्थिति में उसको प्रकाशयुद्ध का आश्रय लेना चाहिए[3], अन्यथा उसे कूटयुद्ध का आश्रय लेना लाभप्रद होगा[4]।

अनेक प्रकार के व्यूहों की रचना कर युद्ध करना प्राचीन भारत की युद्ध-शैली की विशेषता रही है। कौटिल्य ने भी युद्ध की इस विशेषता को अपनाने का समर्थन किया है। उन्होंने दण्डव्यूह, भोगव्यूह, मण्डलव्यूह, वज्रव्यूह, असंहतव्यूह, चापव्यूह, चापकुक्षिव्यूह, मध्यव्यूह आदि विभिन्न प्रकार के व्यूहों के लक्षणों का वर्णन किया है[5]। उन्होंने यह भी बतलाया है कि अमुक व्यूह के विरुद्ध अमुक व्यूह की रचना विजय-प्राप्ति हेतु उचित होगी।

१ वार्ता १८ अ ४ अधि १ अर्थ। २ वार्ता १२ अ ३ अधि १ अर्थ।
३ वार्ता २१ अ ६ अधि ७ अर्थ। ४ वा ३६,३७ अ ६ अधि ७ अर्थ।
५ वार्ता १ अ ३ अधि १ अर्थ। ६ वार्ता २ अ ३ अधि १ अर्थ।
७ देखिए अ ५,६ अधि १ अर्थ।
८ वार्ता १६,१७,१८ अ ६ अधि १ अर्थ।

शत्रु के प्रति उत्पीड़न एवं उपघात नीति का आश्रय लेना कौटिल्य ने न्याय युक्त बताया है। वह इस विषय में व्यवस्था देते हैं—शत्रु किसी संकट में ग्रस्त है, ऐसे अवसर पर उसके खेत और उत्पन्न हुए अन्न को नष्ट कर देना चाहिए और अन्न भूसा तेल ईंधन घास आदि का बाहर से प्रवेश रोक देना चाहिए[1]। इनके रोक देने तथा हरे-भरे खेत और उत्पन्न हुए अन्न को नष्ट कर देने एवं अमात्य आदि प्रकृतियों के कहीं के जाने अथवा उनको गुप्त रीति से वध कर देने पर प्रकृति क्षय होता है[2]। शत्रु के एक योजन तक की सीमा में में तृण काष्ठ आदि में आग लगाकर भस्म कर देना चाहिए। उसके पीने के पानी को दूषित कर देना चाहिए अथवा जल को बहा देना चाहिए[3]।

धर्मयुद्ध के कतिपय नियम—कौटिल्य ने धर्मयुद्ध के कतिपय नियम निर्धारित किये हैं। ये नियम लगभग वही हैं जिन्हें मनु ने मान्यता दी है। ये नियम संक्षेप रूप में इस प्रकार दिये गये हैं—रणभूमि में जो गिर गया है, जो रण से विमुख हो गया है, जो शरण में आ गया है, जिसने अपने बाल बिखेर दिये हैं जिसने शस्त्र डाल दिये हैं जो भयभीत हो गया है और जो युद्ध करना नहीं चाहता ऐसे सैनिकों से युद्ध नहीं करना चाहिए, अपितु उन्हें अभयदान देना चाहिए[4]। जब युद्ध का आरम्भ हो रहा हो तब अग्नि का प्रयोग नहीं करना चाहिए[6]। अग्नि देव का स्पर्श पीड़ा देने के लिए है[7]। अग्नि असंख्य प्राणी, धन-धान्य पशु तथा ईंधनादि के नाश का साधन है।

विजित राज्य के प्रति व्यवहार—कौटिल्य के मतानुसार विजय के उपरान्त तीन प्रकार के लाभ होते हैं[8]। ये तीन लाभ नवीन भूमि की प्राप्ति शत्रु द्वारा अपहरण किये गये राज्य अथवा सम्पत्ति आदि की पुनः प्राप्ति या अपने पिता के समय में शत्रु द्वारा अपहरण की गयी भूमि, सम्पत्ति आदि की पुनः प्राप्ति कहलाते हैं।[9] इन तीनों प्रकार के लाभ होने पर विजेता राजा को पराजित राजा एवं उसकी प्रजा के प्रति किस प्रकार आचरण एवं व्यवहार करना चाहिए, इस विषय पर कौटिल्य ने अपना मत व्यक्त किया है।

नवीन लाभ होने पर विजेता राजा को विशेष सावधान एवं सचेत रहने की परम

१ वार्ता ६ अ ४ अधि १३ अर्थ । २ श्लोक ७ अ ४ अधि १३ अर्थ ।
३ वार्ता १४ अ-५ अधि १२ अर्थ । ४-५. वार्ता १५ अ ५ अधि १२ अर्थ ।
६ वार्ता १८ अ ४ अधि १३ अर्थ । ७ वार्ता २१ अ ४ अधि १३ अर्थ ।
८ वार्ता २४ अ ४ अधि १३ अर्थ । ९ वार्ता २५ अ ४ अधि १३ अर्थ ।
१ वार्ता १ अ ५ अधि १३ अर्थ । ११ वार्ता ४ अ ५ अधि १३ अर्थ ।

आवश्यकता बतलायी गयी है। नवीन राज्य-लाभ होने पर राजा को अपने गुणों से पराजित राजा के अवगुणों का शमन कर देना चाहिए और उसके गुणों को अपने दुगुने गुणों के द्वारा आच्छादित कर देना चाहिए[1]। विजेता राजा को अपने धर्म प्रजा पर अनुग्रह, करों की मुक्ति दान और प्रजा के कल्याण हेतु कार्य द्वारा विजित प्रजा को सन्तुष्ट एवं प्रसन्न करना चाहिए[2]। अपने विरोधी पक्ष के लोगों को भी उनके साथ की गयी पूर्व प्रतिज्ञाओं का पालन कर, वश में रखने का प्रयास करना चाहिए[3]। जिस व्यक्ति ने अपने राजा के निमित्त विशेष परिश्रम किया है उसको विशेष अधिकार एवं धन देना चाहिए[4]। विजेता राजा को सम्प्रति नवीन राज्य की प्रजा के अनुकूल ही वेष-भूषा भाषा एवं आचरण करना चाहिए[5]। वहाँ के देवता समाज उत्सव विहार आदि के प्रति भक्ति प्रदर्शित करते रहना चाहिए[6]। उसे जनमत अपने अनुकूल बनाने का सतत प्रयत्न करते रहना चाहिए। इस कार्य के सम्पादन-हेतु उसे चरों का उपयोग करना चाहिए। इन चरों को देश ग्राम जाति और संघ के मुख्य पुरुषों के समक्ष पूर्व राजा के दुर्व्यवहारों का बखान करते रहना चाहिए[7]। विजेता राजा के उदार एवं प्रजा-भक्त होने की ख्याति करनी चाहिए। वर्तमान काल में किये जाने वाले सत्कारपूर्ण कार्यों की भी प्रसिद्धि करते रहना चाहिए[8]। प्रजा पर उचित कर लगाने चाहिए, जिससे करों का जो धन प्रजा पर अवशेष रहा हो उसे क्षमा कर देना चाहिए और प्रजा-रक्षण कार्य में कटिबद्ध हो जाना चाहिए[9]। राज्य के समस्त देवताओं और आश्रमों का पूजन करना चाहिए विद्वान् व्याख्याता धार्मिक पुरुषों को भूमि और द्रव्य का दान देना या उन्हें कर-मुक्त कर देना चाहिए । राज्य के बन्दियों को जेल से मुक्त कर देना चाहिए दीन, अनाथ और रोगियों पर दया प्रदर्शित करना चाहिए[11]। चातुर्मास्य में पन्द्रह दिन फाँसी नहीं दी जानी चाहिए[12]। समस्त पूर्णमासियों को भी प्राणदण्ड नहीं देना चाहिए[13]। राज्य-प्राप्ति अथवा नयी भूमि की प्राप्ति की तिथि में भी

१ वार्ता ५ अ ५ अधि १३ अर्थ । २ वार्ता ६ अ ५ अधि १३ अर्थ ।
३ वार्ता ७ अ ५ अधि १३ अर्थ । ४ वार्ता ८ अ ५ अधि १३ अर्थ ।
५. वार्ता १ अ ५ अधि १३ अर्थ । ६ वार्ता ११ अ ५ अधि १३ अर्थ ।
७. वार्ता १२ अ ५ अधि १३ अर्थ । ८. वार्ता १३ अ ५ अधि० १३ अर्थ ।
९. वार्ता १४ अ ५ अधि १३ अर्थ । १ वार्ता १५ अ ५ अधि १३ अर्थ ।
११ वार्ता १६ अ ५ अधि १३ अर्थ । १२ वार्ता १७ अ ५ अधि १३ अर्थ ।
१३ वार्ता १८ अ ५ अधि १३ अर्थ ।

प्राण-दण्ड नहीं देना चाहिए[1]। स्त्री और बालक का वध कभी न होना चाहिए और किसी भी अधिकारी के पुरुष का नाश नहीं किया जाना चाहिए[2]।

शत्रु राजा के द्वारा अपहरण की गयी भूमि की पुनःप्राप्ति होने पर उस के निवासियों के प्रति किस प्रकार का आचरण एवं व्यवहार होना चाहिए, इस विषय में कौटिल्य ने अपना मत संक्षेप में इस प्रकार व्यक्त किया है—जिस दोष के कारण अपना राज्य शत्रु के अधीन हुआ था उस दोष को गुणों से आच्छादित कर देना चाहिए[3]। प्रजा जिस गुण की प्रशंसा करती हो राजा को उस गुण की विशेष वृद्धि कर उसकी ख्याति करनी चाहिए[4]।

अपने पिता के समय शत्रु द्वारा अपहरण की गयी भूमि की पुनःप्राप्ति पर किस प्रकार आचार एवं व्यवहार होना चाहिए इस विषय में कौटिल्य इस प्रकार व्यवस्था देते हैं—यदि पिता के दोष के कारण राज्य शत्रु के अधीन हुआ था तो ऐसी परिस्थिति में पिता के उन दोषों को अपने गुणों से आच्छादित कर देना चाहिए[5]। अपने गुणों का प्रकाशन विशेष रूप में होना चाहिए[6]।

अत्याचारी पराजित राजा के प्रति विजेता राजा का व्यवहार—यदि अत्याचारी राजा युद्ध में पराजित हो गया है तो विजेता राजा को उसके प्रति किस प्रकार आचरण एवं व्यवहार करना चाहिए, इस विषय पर भी कौटिल्य ने अपने विचार प्रकट किये हैं, जो संक्षेप में इस प्रकार हैं। रणस्थल में जिस अत्याचारी राजा का वध हो गया है उसकी भूमि सम्पत्ति स्त्रियों और उसके पुत्र पर विजेता राजा को अधिकार नहीं करना चाहिए अपितु उसके स्वजनों को योग्यतानुसार रिक्त पद पर स्थापित करना चाहिए[7]। यदि युद्ध करते हुए राजा का वध हो गया हो तो उस राजा के पुत्र को राजपद देना चाहिए[8]। यदि वध में किये गये राजाओं के प्रति इस प्रकार का व्यवहार किया जायगा तो उन राजाओं के पुत्र-पौत्र भी विजेता राजा के अनुगामी रहेंगे[9]। जो राजा पराजित किये गये राजाओं का वध करा देता है अथवा उन्हें बन्धन में डाल देता है तथा उनकी भूमि सम्पत्ति स्त्रियों और पुत्र

१ वार्ता १९ अ ५ अधि १३ अर्थ । २ वार्ता १ अ ५ अधि १३ अर्थ ।
३ वार्ता ११ अ ५ अधि १३ अर्थ । ४ वार्ता १२ अ ५ अधि १३ अर्थ ।
५ वार्ता ११ अ ५ अधि १३ अर्थ । ६ वार्ता १४ अ ५ अधि १३ अर्थ० ।
७ वार्ता ४२ अ १६ अधि ७ अर्थ ।
८ वार्ता ४३ अ १६ अधि ७ अर्थशास्त्र ।
९ वार्ता ४४ अ १६ अधि ७ अर्थ । १० वार्ता ४५ अ १६ अधि ७ अर्थ ।

पर अधिकार कर लेता है उससे अन्य राजा क्रुद्ध हो जाते हैं और वे उसके नाश का प्रयत्न करने लगते हैं[1]। इस प्रकार के राजा के अमात्य भी भयभीत होकर विरोधी राजमण्डल में सम्मिलित हो जाते हैं और वे उस राजा के राज्य एवं प्राणों के ग्राहक बन जाते हैं[2]। इसलिए जो साम आदि उपायों द्वारा जीते हुए शत्रुओं को उनकी भूमि प्रदान कर उनको अपने अनुकूल बना लेता है उनके पुत्र-पौत्र भी उस राजा के अनुगामी बन जाते हैं।

दूत—प्राचीन भारत के लगभग सभी राजशास्त्र-प्रणेताओं ने दूत की उपयोगिता एवं उसकी आवश्यकता को स्वीकार किया है। उनका मत है कि विभिन्न राजाओं में परस्पर बात करने और उनके बीच सम्पर्क स्थापित करने का एक प्रधान साधन दूत होता है। इसी सिद्धान्त में आस्था रखते हुए *कौटिल्य* ने दूत को राजा का मुख माना है। उनका मत है कि दूतरूपी मुख के द्वारा ही राजा लोग परस्पर बात करते हैं[3]।

आधुनिक युग में भी इस प्रथा का महत्त्व स्वीकार किया गया है। इस युग में दूत-कार्य इतना महत्त्वपूर्ण समझा जाता है कि लगभग प्रत्येक सभ्य राज्य में उन राज्यों के राजदूत स्थायी रूप से रहते हैं जिनका उस राज्य से किसी प्रकार का सम्बन्ध होता है। परस्पर सम्बन्धित राज्यों में अपने-अपने दूतों को नियुक्त कर उन्हें स्थायी रूप से स्थापित करना इस युग की राजनीति का एक अंग मान लिया गया है।

दूत के भेद—योग्यता एवं अधिकारों की दृष्टि से कौटिल्य ने दूतों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया है जिन्हें वह निसृष्टार्थ परिमितार्थ और शासनहर नाम से सम्बोधित करते हैं। अमात्यपद की योग्यताएँ रखनेवाले दूत को निसृष्टार्थ दूत की संज्ञा दी गयी है[4]। अमात्य पद की तीन चौथाई योग्यताएँ रखनेवाले दूत को कौटिल्य परिमितार्थ दूत के नाम से सम्बोधित करते हैं[5]। तीसरी श्रेणी में कौटिल्य उन दूतों को परिगणित करते हैं जिन्हें वह शासनहर की उपाधि देते हैं। इस श्रेणी के दूतों के लिए कौटिल्य अमात्यपद की अर्ध योग्यताएँ मात्र निर्धारित करते हैं[6]।

निसृष्टार्थ श्रेणी के दूत अपने राजा का सन्देश परराजाओं के समक्ष प्रस्तुत करते थे और उन राजाओं के सन्देश अपने राजा के समक्ष भी प्रस्तुत ही करते थे। उन्हें इस

१ वार्ता ४६ अ ११ अधि ७ अर्थ । २ वार्ता ४७ अ ११ अधि ७ अर्थ ।
३ वार्ता ११ अ १६ अधि १ अर्थ । ४ वार्ता २ अ १६ अधि १ अर्थ ।
५. वार्ता ३ अ १६ अधि १ अर्थ । ६. वार्ता ४ अ १६ अधि१ १ अर्थ ।

प्राण-दण्ड नहीं देना चाहिए[1]। स्त्री और बालक का वध कभी न होना चाहिए और किसी भी दोषधारी के पुरुष का नाश नहीं किया जाना चाहिए[2]।

शत्रु राजा के द्वारा अपहरण की गयी भूमि की पुनःप्राप्ति होने पर उस के निवासियों के प्रति किस प्रकार का आचरण एवं व्यवहार होना चाहिए, इस विषय में कौटिल्य ने अपना मत संक्षेप में इस प्रकार व्यक्त किया है—जिस दोष के कारण अपना राज्य शत्रु के अधीन हुआ था उस दोष को गुणों से आच्छादित कर देना चाहिए[3]। प्रजा जिस गुण की प्रशंसा करती हो राजा को उस गुण की विशेष वृद्धि कर उसकी ख्याति करनी चाहिए[4]।

अपने पिता के समय शत्रु द्वारा अपहरण की गयी भूमि की पुनःप्राप्ति पर किस प्रकार आचार एवं व्यवहार होना चाहिए इस विषय में कौटिल्य इस प्रकार व्यवस्था देते हैं—यदि पिता के दोष के कारण राज्य शत्रु के अधीन हुआ था तो ऐसी परिस्थिति में पिता के उन दोषों को अपने गुणों से आच्छादित कर देना चाहिए[5]। अपने गुणों का प्रकाशन विशेष रूप में होना चाहिए[6]।

युद्धकारी पराजित राजा के प्रति विजेता राजा का व्यवहार—यदि युद्धकारी राजा युद्ध में पराजित हो गया है तो विजेता राजा को उसके प्रति किस प्रकार आचरण एवं व्यवहार करना चाहिए, इस विषय पर भी कौटिल्य ने अपने विचार प्रकट किये हैं जो संक्षेप में इस प्रकार हैं। रणस्थल में जिस युद्धकारी राजा का वध हो गया है उसकी भूमि सम्पत्ति स्त्रियों और उसके पुत्र पर विजेता राजा को अधिकार नहीं करना चाहिए अपितु उसके बन्धुओं को योग्यतानुसार उचित पद पर स्थापित करना चाहिए[7]। यदि युद्ध करते हुए राजा का वध हो गया हो तो उस राजा के पुत्र को राज्यपद देना चाहिए। यदि युद्ध में किये गये राजाओं के प्रति इस प्रकार का व्यवहार किया जायगा तो उन राजाओं के पुत्र-पौत्र भी विजेता राजा के अनुगामी रहेंगे[8]। जो राजा पराजित किये गये राजाओं का वध करा देता है अथवा उन्हें बन्धन में डाल देता है तथा उनकी भूमि सम्पत्ति स्त्रियों और पुत्र

१ वार्ता १९ अ ५ अधि १३ अर्थ। २ वार्ता २ अ ५ अधि १३ अर्थ।
३ वार्ता ११ अ ५ अधि १३ अर्थ। ४ वार्ता १२ अ ५ अधि १३ अर्थ।
५. वार्ता १३ अ ५ अधि १३ अर्थ। ६. वार्ता १४ अ ५ अधि १३ अर्थ।
७. वार्ता ४९ अ १६ अधि ७ अर्थ।
८. वार्ता ५३ अ १६ अधि ७ अर्थशास्त्र।
९. वार्ता ५४ अ १६ अधि ७ अर्थ। १० वार्ता ५५ अ १६ अधि ७ अर्थ।

पर अधिकार कर लेता है उससे अन्य राजा क्रुद्ध हो जाते हैं और वे उसके नाश का प्रयत्न करने लगते हैं[1]। इस प्रकार के राजा के अमात्य भी भयभीत होकर विद्रोही राजमण्डल में सम्मिलित हो जाते हैं और वे उस राजा के राज्य एवं प्राणों के ग्राहक बन जाते हैं[2]। इसलिए जो साम आदि उपायों द्वारा जीते हुए शत्रुओं को उनकी भूमि प्रदान कर उनको अपने अनुकूल बना लेता है उसके पुत्र-पौत्र भी उस राजा के अनुगामी बन जाते हैं।

दूत—प्राचीन भारत के लगभग सभी राजशास्त्र-प्रणेताओं ने दूत की उपयोगिता एवं उसकी आवश्यकता को स्वीकार किया है। उनका मत है कि विभिन्न राजाओं में परस्पर बात करने और उनके बीच सम्पर्क स्थापित करने का एक प्रधान साधन दूत होता है। इसी सिद्धान्त में आस्था रखते हुए कौटिल्य ने दूत को राजा का मुख माना है। उनका मत है कि दूतरूपी मुख के द्वारा ही राजा लोग परस्पर बात करते हैं[3]।

आधुनिक युग में भी इस प्रथा का महत्त्व स्वीकार किया गया है। इस युग में दूत-कार्य इतना महत्त्वपूर्ण समझा जाता है कि लगभग प्रत्येक सभ्य राज्य में उन राज्यों के राजदूत स्थायी रूप से रहते हैं जिनका उस राज्य से किसी प्रकार का सम्बन्ध होता है। परस्पर सम्बन्धित राज्यों में अपने-अपने दूतों को नियुक्त कर उन्हें स्थायी रूप से स्थापित करना इस युग की राजनीति का एक अंग मान लिया गया है।

दूत के भेद—योग्यता एवं अधिकारों की दृष्टि से कौटिल्य ने दूतों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया है जिन्हें वह निसृष्टार्थ परिमितार्थ और शासनहर नाम से सम्बोधित करते हैं। अमात्यपद की योग्यताएँ रखनेवाले दूत को निसृष्टार्थ दूत की संज्ञा दी गयी है[4]। अमात्य पद की तीन चौथाई योग्यताएँ रखनेवाले दूत को कौटिल्य परिमितार्थ दूत के नाम से सम्बोधित करते हैं[5]। तीसरी श्रेणी में कौटिल्य उन दूतों को परिगणित करते हैं जिन्हें वह शासनहर की उपाधि देते हैं। इस श्रेणी के दूतों के लिए कौटिल्य अमात्यपद की अर्ध योग्यताएँ मात्र निर्धारित करते हैं[6]।

निसृष्टार्थ श्रेणी के दूत अपने राजा का सन्देश पर-राजाओं के समक्ष प्रस्तुत करते थे और पर राजाओं के सन्देश अपने राजा के समक्ष तो प्रस्तुत ही करते थे। उन्हें इस

१ सूत्र ४६ अ १६ अधि ७ अर्थ । २ सूत्र ४७ अ १६ अधि ७ अर्थ ।
३ सूत्र ११ अ १६ अधि १ अर्थ । ४ सूत्र २ अ १६ अधि १ अर्थ ।
५ सूत्र ३ अ १६ अधि १ अर्थ । ६ सूत्र ४ अ १६ अधि १ अर्थ ।

अधिकार के अतिरिक्त कुछ अन्य अधिकार भी प्राप्त रहते थे। इस श्रेणी के दूतों को अपने राजा की कार्य-सिद्धि के अनुकूल योग्य वार्तालाप अपनी बुद्धि से भी करने का अधिकार प्राप्त रहता था। निसृष्टार्थ दूत का पद आधुनिक काल के राजदूत (Ambassador) के समान होता था। इस प्रकार विशेष प्रकार से योग्य व्यक्ति को निसृष्टार्थ दूत के पद पर नियुक्त किया जाना चाहिए, ऐसा कौटिल्य का मत है[1]। परिमितार्थ दूत के अधिकार परिमित अथवा सीमित माने गये हैं। परिमितार्थ दूत राजा द्वारा निर्धारित अधिकार-सीमा के अन्तर्गत ही परराजा से बात करने का अधिकारी बतलाया गया है। तीसरी श्रेणी में कौटिल्य ने उन दूतों को परिगणित किया है जिन्हें उन्होंने शासनहर की संज्ञा दी है। इस श्रेणी के दूत अपने राजा का सन्देश परराजा के समक्ष प्रस्तुत करने और परराजा का सन्देश अपने राजा के समक्ष प्रस्तुत करने मात्र के अधिकारी माने गये हैं। इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार के अधिकार, जो कि निसृष्टार्थ अथवा परिमितार्थ कोटि के दूतों को दिये गये हैं इन्हें प्रदान करने का निषेध किया गया है।

प्राचीन भारत के कतिपय अन्य आचार्यों ने दूतों का वर्णन तो किया है और उन्होंने दूतों की योग्यताओं अधिकारों एवं कर्तव्यों का भी उल्लेख किसी अंश तक किया है, परन्तु उन्होंने इन कर्तव्यों एवं अधिकारों तथा योग्यताओं के आधार पर उनका वर्गीकरण इतना स्पष्ट नहीं किया है जितना कौटिल्य ने किया है।

दूतों का आचार—दूत को परराज्य में बड़े ठाट-बाट के साथ रहना चाहिए। कौटिल्य का मत है कि दूत को अपने निश्चित यान वाहन नौकर-चाकर और उत्तम सामग्रीके साथ पर-राज्य में रहना चाहिए[2]। परराज्य में वास करते हुए दूत को उस राज्य के अटविपाल पुर और राष्ट्र के प्रधान व्यक्तियों से सम्पर्क स्थापित करते रहना चाहिए[3]। परराज्य के राजा की आज्ञा प्राप्त कर लेने के उपरान्त उस राज्य में प्रवेश करना चाहिए। अपने राजा का सन्देश परराज्य के राजा के समक्ष ज्यों-का-त्यों प्रस्तुत करना चाहिए। लेशमात्र भी परिवर्तित रूप में प्रस्तुत नहीं करना चाहिए[5]। प्राण-बाधा उपस्थित होने पर भी उसे अपने राजा के सन्देश को लेशमात्र भी घटा-बढ़ा कर प्रस्तुत नहीं करना चाहिए[6]। जब तक परराज्य का राजा दूत को जाने की आज्ञा न दे दे उसे वहीं निवास करना चाहिए

१ वार्ता २ अ १६ अधि १ अर्थ । २ वार्ता ५ अ १६ अधि १ अर्थ ।
३ वार्ता ७ अ १६ अधि १ अर्थ । ४ वार्ता १ अ १६ अधि १ अर्थ ।
५ वार्ता ११ अ १६ अधि १ अर्थ । ६ वार्ता १२ अ १६ अधि १ अर्थ ।

अर्थात् दूत को परराज्य के राजा से अनुमति लेकर ही अपने राज्य के लिए गमन करना चाहिए। परराजा के द्वारा किये गये सत्कार से उसको प्रफुल्ल नहीं हो जाना चाहिए[1]। परराज्य की जनता के मध्य पहुँच कर अपने बल का प्रदर्शन नहीं करना चाहिए[2]। यदि परराज्य में कोई व्यक्ति अनिष्ट वाक्य बोलता है तो उसको भी सहन कर लेना चाहिए[3]। दूत के लिए परस्त्री-गमन और मद्यपान का नितान्त निषेध किया गया है। दूत को अकेला ही सोना चाहिए[4]। सुरा के मद में अथवा सोता हुआ मनुष्य अनर्गल बकने लगता है जिससे रहस्य प्रकट हो जाता है[5]। इसीलिए कौटिल्य ने दूत के लिए सुरापान एवं दूसरे के समीप शयन करने का निषेध किया है। यदि परराजा दूत से उसके राजा अथवा उसके राज्य की प्रकृतियों के विषय में भेद लेना चाहता है तो उसको कुछ भी भेद देना नहीं चाहिए[6]। ऐसी परिस्थिति आ जाने पर "आप सब कुछ जानते हैं" यह कहकर टाल जाना चाहिए[7]। दूत को अपने राजा की कार्य-सिद्धि करने वाले वचन बोलने चाहिए[8]। अपने स्वामी का सन्देश सुनाते हुए विरोधी राजा को यदि बुरा प्रतीत हो और वह उस दूत को बन्दी बनाना चाहता हो अथवा उसका वध करने का विचार कर रहा हो, तो उस दूत को पर राज्य से भाग जाना चाहिए[9]।

इस प्रकार कौटिल्य ने दूत को, परराज्य में पहुँच कर, किस प्रकार आचरण एवं व्यवहार करना चाहिए, इस विषय का स्पष्ट वर्णन किया है जो कई बातों में आधुनिक है। प्राचीन भारत के अन्य ग्रन्थों में दूत के आचार के विषय में इतना स्पष्ट एवं हेतुयुक्त वर्णन उपलब्ध नहीं है।

दूतों के कर्तव्य—कौटिल्य दूत का स्थान शासनक्षेत्र में महत्वपूर्ण बतलाते हैं। उन्होंने दूतों के कर्तव्यों का निरूपण करते हुए अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—परराज्यों के राजाओं के समक्ष अपने स्वामी का सन्देश प्रस्तुत करना, पूर्व में की हुई सन्धि के पालन का पालन करवाना, अपने स्वामी के प्रताप का प्रदर्शन करवाना, मित्र-संग्रह करना, शत्रु एवं उसके मित्रों में भेद उत्पन्न करवाना, शत्रु के बन्धु-बान्धवों आदि गुप्त पुरुषों का संग्रह करना, गुप्त-गुप्त रूप की व्यवस्था करवाना

१ वार्ता २ अ १६ अधि १ अर्थ । २ वार्ता २१ अ १६ अधि १ अर्थ ।
३ वार्ता २२ अ १६ अधि १ अर्थ । ४ वार्ता २३ अ १६ अधि १ अर्थ ।
५ वार्ता २४ अ १६ अधि १ अर्थ । ६ वार्ता २५ अ १६ अधि १ अर्थ ।
७ वार्ता ३१ अ १६ अधि १ अर्थ । ८ वार्ता ३२ अ १६ अधि १ अर्थ ।
९ वार्ता ३३ अ १६ अधि १ अर्थ । १० वार्ता ४० अ १६ अधि १ अर्थ ।

अधिकार के अतिरिक्त कुछ अन्य अधिकार भी प्राप्त रहते थे। इस श्रेणी के दूतों को अपने राजा की कार्य-सिद्धि के अनुकूल योग्य वार्तालाप अपनी बुद्धि से भी करने का अधिकार प्राप्त रहता था। निसृष्टार्थ दूत का पद आधुनिक काल के राजदूत (Ambassador) के समान होता था। इस प्रकार विशेष प्रकार से योग्य व्यक्ति को निसृष्टार्थ दूत के पद पर नियुक्त किया जाना चाहिए, ऐसा कौटिल्य का मत है[1]। परिमितार्थ दूत के अधिकार परिमित अथवा सीमित माने गये हैं। परिमितार्थ दूत राजा द्वारा निर्धारित अधिकार-सीमा के अन्तर्गत ही परराजा से बात करने का अधिकारी बतलाया गया है। तीसरी श्रेणी में कौटिल्य ने उन दूतों को परिगणित किया है जिन्हें उन्होंने शासनहर की संज्ञा दी है। इस श्रेणी के दूत अपने राजा का सन्देश परराजा के समक्ष प्रस्तुत करने और परराजा का सन्देश अपने राजा के समक्ष प्रस्तुत करने मात्र के अधिकारी माने गये हैं। इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार के अधिकार, जो कि निसृष्टार्थ अथवा परिमितार्थ कोटि के दूतों को दिये गये हैं, इन्हें प्रदान करने का निषेध किया गया है।

प्राचीन भारत के कतिपय अन्य आचार्यों ने दूतों का वर्णन तो किया है और उन्होंने दूतों की योग्यताओं अधिकारों एवं कर्तव्यों का भी उल्लेख किसी अंश तक किया है, परन्तु उन्होंने इन कर्तव्यों एवं अधिकारों तथा योग्यताओं के आधार पर *उनका वर्गीकरण इतना स्पष्ट नहीं किया है जितना कौटिल्य ने किया है।*

दूतों का आचार—दूत को परराज्य में बड़े ठाठ-बाट के साथ रहना चाहिए। कौटिल्य का मत है कि दूत को अपने निश्चित यान वाहन नौकर-चाकर और उत्तम सामग्री के साथ पर-राज्य में रहना चाहिए[2]। परराज्य में वास करते हुए दूत को उस राज्य के आटविक पुर और राष्ट्र के प्रधान व्यक्तियों से सम्पर्क स्थापित करते रहना चाहिए। परराज्य के राजा की आज्ञा प्राप्त कर लेने के उपरान्त उस राज्य में प्रवेश करना चाहिए[3]। अपने राजा का सन्देश परराज्य के राजा के समक्ष ज्यों-का-त्यों प्रस्तुत करना चाहिए। लेशमात्र भी परिवर्तित रूप में प्रस्तुत नहीं करना चाहिए[4]। प्राण-बाधा उपस्थित होने पर भी उसे अपने राजा के सन्देश को लेशमात्र भी घटा-बढ़ा कर प्रस्तुत नहीं करना चाहिए[5]। जब तक परराज्य का राजा दूत को जाने की आज्ञा न दे दे उसे नहीं निकल करना चाहिए

१ वही १ अ १६ अधि १ अर्थ। २ वही ५ अ १६ अधि १ अर्थ।
३ वही ७ अ १६ अधि १ अर्थ। ४ वही १ अ १६ अधि १ अर्थ।
५ वही ११ अ १६ अधि १ अर्थ। ६ वही १२ अ १६ अधि १ अर्थ।

दूत को सन्देश के अनुसार कटु अथवा मधुर सब कुछ कहने का अधिकार है। दूत चाहे चाण्डाल ही क्यों न हो वह भी अवध्य ही है। राजा द्वारा शस्त्र उठा लेने पर भी दूत तो यथोक्त बात ही कहता है अथवा उसे कहनी चाहिए[1]। यदि चाण्डाल दूत भी इस परिस्थिति में हो तो भी वह अवध्य होता है, फिर ब्राह्मण दूत के अवध्य होने में सन्देह ही क्या है[2]। दूत का धर्म दूसरे की बात को ज्यों-त्यों कहना ही है[3]।

इस प्रकार कौटिल्य ने 'दूत अवध्य है' इस सिद्धान्त की मुक्तकण्ठ से पुष्टि की है।

सन्धीति—राज्यों के समक्ष सबसे कठिन समस्या उनकी आत्मरक्षा का प्रश्न होता है। इस समस्या के समाधान हेतु राज्य को अनेक प्रकार की शक्तियों का आश्रय आवश्यक बतलाया गया है। इन शक्तियों में सैन्यबल और मित्रबल को प्रधान स्थान दिया गया है। परन्तु कौटिल्य इस विषय में भिन्न मत रखते हैं। वह इस क्षेत्र में सैन्यबल और मित्रबल की अपेक्षा संघबल अथवा सम्बल अधिक उपयोगी मानते हैं[4]। उनका मत है कि जो राज्य सर्वगुण नियम के आधार पर संघीभूत होकर संघ का निर्माण कर लेते हैं उनका संघटन स्वामी और शत्रु द्वारा दुर्भेद्य होता है[5]।

कौटिल्य ने कतिपय ऐसे राज्यसंघों का उल्लेख किया है जिनका संघटन संघनीति के आधार पर हुआ था। इन राज्यसंघों के घटकराज्य बहुत छोटे थे। कौटिल्य ने इन राज्यसंघों को दो श्रेणियों में विभक्त किया है जिन्हें वह शस्त्रोपजीवी और राजशब्दोपजीवी वर्गों के नाम से सम्बोधित करते हैं। काम्बोज, सुराष्ट्र, क्षत्रिय और श्रेणी नाम के राज्य प्रथम श्रेणी में और लिच्छिवि वृजि मद्र मल्लक कुकुर, कुरु और पाञ्चाल राज्य दूसरी श्रेणी में परिगणित किये गये हैं[6]। शस्त्रोपजीवी और राजशब्दोपजीवी पदों के वास्तविक स्वरूप पर विद्वानों में एक मत नहीं है। डा० जायसवाल ने शस्त्रोपजीवी पद से यह अर्थ लिया है कि इस कोटि के राज्यों में समस्त जनता को सैनिक शिक्षा प्राप्त करना अनिवार्य था। इनमें स्थायी सेना के रखने की आवश्यकता नहीं समझी गयी थी।

कुछ अन्य राज्य—कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में विशेष प्रकार के दो राज्यों का उल्लेख किया है जिन्हें वह द्वैराज्य और वैराज्य नाम से सम्बोधित करते हैं।[7]

१ वार्ता १७ अ १६ अधि १ अर्थ । २ वार्ता १८ अ १६ अधि १ अर्थ ।
३ वार्ता १९ अ १६ अधि १ अर्थ । ४ वार्ता १ अ १ अधि ११ अर्थ ।
५ वार्ता २ अ १ अधि ११ अर्थ । ६ वार्ता ५, ६ अ १ अधि ११ अर्थ
७ वार्ता ६ अ २ अधि ८ अर्थ ।

गुप्तचरों का ज्ञान प्राप्त करना, पराक्रम का प्रयोग, सन्धि के रूप में गुप्त किये गये राजकुमारों आदि को मुक्त करवाना तथा अपने कार्य की सिद्धि के निमित्त मारण आदि प्रयोगों का आश्रय लेना ये दूतों के कर्तव्य माने गये हैं[1]। दूत को शत्रु के राज्य में तोड़ने-फोड़ने योग्य व्यक्तियों को फुसला कर अपनी ओर कर लेना चाहिए। जो तोड़ने-फोड़ने में न आवें उनका सूक्ष्म दृष्टि से ध्यान प्राप्त करना चाहिए। विरोधी राजा की दुर्बलताओं तथा उसके अमात्यादि के अनुराग और द्वेष का तापस तथा वैदेहक व्यापारी अपने राज्य के गुप्तचरों से पता लगाते रहना चाहिए[2]। इन तापस और वैदेहक गुप्तचरों के शिष्य वैद्य तथा अन्य पाखण्डी वेष धारी एवं दोनों ओर से वेतन लेने वाले गुप्तचरों से भी पूर्वोक्त विषय का पता लगाया जा सकता है। यदि इन लोगों के साथ बातचीत का अवसर न मिल सके तो याचक, मत्त, उन्मत्त तथा सुप्त व्यक्तियों के प्रलापों से इन बातों का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। इसके अतिरिक्त तीर्थस्थान, देवालय, चित्रशाला तथा लेखन-कला आदि के संकेतों द्वारा और परराज्य के समाचारों से पता लगाते रहना चाहिए[3]। जब पता लग जाय तो जिनकी तोड़-फोड़ करनी है उन्हें तोड़-फोड़ लेना चाहिए[4]।

दूत की अवध्यता—कौटिल्य के समय में दूत-प्रेषण-प्रणाली विकसित हो चुकी थी। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में दूत-विषयक जो वर्णन किया गया है उस से यह स्पष्ट है। राजाओं के मध्य पारस्परिक सन्देशों के पहुँचाने का एक प्रमुख साधन दूत माना गया है। ये सन्देश प्रिय और अप्रिय दोनों कोटि के होते हैं। प्रिय सन्देश सभी को प्रिय एवं हितकर लगते हैं। पर कभी-कभी अप्रिय सन्देश ऐसे भी हो सकते हैं जो अति कटु प्रतीत हो और जो असह्य हो। ऐसे अप्रिय एवं असह्य सन्देश सुनकर श्रोता आवेश में आकर दूत पर क्रोध प्रकट कर उसके वध का आदेश भी दे सकता है। इस परिस्थिति में दूत की रक्षा के लिए एवं दूत-प्रेषण कार्य के निर्विघ्न सम्पादन हेतु प्राचीन भारत में राजशास्त्र-प्रणेताओं ने एकमत होकर दूत के वध का निषेध किया है। कौटिल्य ने भी दूत की अवध्यता के सिद्धान्त का पोषण किया है। उन्हों ने इस विषय में स्पष्ट व्यवस्था देते हुए अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—

१ श्लोक ४९, ५ अ० १६ अधि० १ अर्थ०।
२ वार्ता २६ अ० १६ अधि० १ अर्थ०। ३ वार्ता २७ अ० १६ अधि० १ अर्थ०।
४ वार्ता २८ अ० १६ अधि० १ अर्थ०। ५ वार्ता २९ अ० १६ अधि० १ अर्थ०।
६ वार्ता ३ अ० १६ अधि० १ अर्थ०।

को सन्देश के अनुसार कटु अथवा मधुर सब कुछ कहने का अधिकार है। दूत चाहे चाण्डाल ही क्यों न हो वह भी अवध्य ही है। राजा द्वारा शस्त्र उठा लेने पर दूत तो यथोक्त बात ही कहता है अथवा उसे कहनी चाहिए[1]। यदि चाण्डाल दूत इस परिस्थिति में हो तो भी वह अवध्य होता है, फिर ब्राह्मण दूत के अवध्य होने में सन्देह ही क्या है[2]। दूत का धर्म दूसरे की बात को ज्यों-का-त्यों कहना ही है[3]।

इस प्रकार कौटिल्य ने 'दूत अवध्य है' इस सिद्धान्त की मुक्तकण्ठ से पुष्टि की है।

संघनीति—राज्यों के समक्ष सबसे जटिल समस्या उनकी आत्मरक्षा का प्रश्न होता है। इस समस्या के समाधान हेतु राज्य को अनेक प्रकार की शक्तियों का संचय आवश्यक बतलाया गया है। इन शक्तियों में सैन्यबल और मित्रबल को प्रधान स्थान दिया गया है। परन्तु कौटिल्य इस विषय में भिन्न मत रखते हैं। वह इस क्षेत्र में सैन्यबल और मित्रबल की अपेक्षा संघलाभ अथवा संघबल अधिक उपयोगी मानते हैं। उनका मत है कि जो राज्य संघवृत्त नियम के आधार पर संघीभूत होकर संघ का निर्माण कर लेते हैं उनका संघटन स्वामी और शत्रु द्वारा दुर्भेद्य होता है[4]।

कौटिल्य ने कतिपय ऐसे राज्यसंघों का उल्लेख किया है जिनका संघटन संघनीति के आधार पर हुआ था। इन राज्यसंघों के घटकराज्य बहुत छोटे थे। कौटिल्य ने इन राज्यसंघों को दो श्रेणियों में विभक्त किया है जिन्हें वह शस्त्रोपजीवी और राजशब्दोपजीवी संघों के नाम से सम्बोधित करते हैं। काम्बोज सुराष्ट्र क्षत्रिय और श्रेणी नाम के राज्य प्रथम श्रेणी में और लिच्छिवि वृजि मल्ल मद्रक कुकुर, कुरु और पाञ्चाल राज्य दूसरी श्रेणी में परिगणित किये गये हैं[5]। शस्त्रोपजीवी और राजशब्दोपजीवी पदों के वास्तविक स्वरूप पर विद्वानों में एक मत नहीं है। डा जायसवाल ने शस्त्रोपजीवी पद से यह अर्थ लिया है कि इस कोटि के राज्यों में समस्त जनता को सैनिक शिक्षा प्राप्त करना अनिवार्य था। इनमें स्थायी सेना के रखने की आवश्यकता नहीं समझी गयी थी।

कुछ अन्य राज्य—कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में विशेष प्रकार के दो राज्यों का उल्लेख किया है जिन्हें वह द्वैराज्य और वैराज्य नाम से सम्बोधित करते हैं।[7]

१ वार्ता १७ अ १६ अधि १ अर्थ। २ वार्ता १८ अ १६ अधि १ अर्थ।
३ वार्ता १९ अ १६ अधि १ अर्थ। ४ वार्ता १ अ १ अधि ११ अर्थ।
५ वार्ता २ अ १ अधि ११ अर्थ। ६ वार्ता ५,६ अ १ अधि ११ अर्थ
७ वार्ता ६ अ २ अधि ८ अर्थ।

द्वैराज्य से उनका तात्पर्य उस विशेष राज्य से जान पड़ता है जिसमें दो राजाओं का शासन हो। कौटिल्य के समय में इस कोटि के राज्य अवश्य रहे होंगे। कौटिल्य द्वैराज्य को दुर्बल राज्य मानते हैं जिन्हें शत्रु सरलता से ही पराजित करने में समर्थ हो जाता है। वैराज्य का जो वर्णन उन्होंने दिया है उससे ज्ञात होता है कि वैराज्य एक विशेष प्रकार का जनतन्त्रात्मक राज्य है जिसे आधुनिक काल के प्रत्यक्ष जनतन्त्रात्मक राज्य (Direct Democratic State) का पर्याय समझना उचित होगा इस प्रकार के राज्य को कौटिल्य ने निर्बल राज्य बतलाया है।

●

८

कामन्दक

कामन्दक का उदयकाल

प्राचीन भारत के राजशास्त्र-प्रणेताओं में कामन्दक का स्थान महत्त्वपूर्ण है। उनके द्वारा प्रणीत कामन्दक-नीति भारतीय राजशास्त्र के साहित्य में मूल्यवान् ग्रन्थ है। भारत में कामन्दक का जन्म कब हुआ और उन्होंने कामन्दक-नीति की कब रचना की इस विषय में एक मत नहीं है। कुछ विद्वानों ने कामन्दक को शिखर स्वामी मानकर चन्द्रगुप्त द्वितीय का समकालिक बतलाया है। परन्तु उनके इस मत की स्थापना-हेतु पुष्ट प्रमाणों का अभाव है। इस कारण यह मत सर्वमान्य नहीं है। जाली (Jolly) विन्टरनिज प्रभृति विद्वानों ने कामन्दक का उदय काल ईसा की आठवीं शताब्दी माना है। परन्तु उनका यह मत तथ्यहीन है। डॉ० वरदविन अलतेकर कामन्दकनीति का रचनाकाल ५ ई० के आस-पास मानते हैं।

कामन्दकनीति में प्राचीन भारतीय राजशास्त्र के कतिपय प्रणेताओं एवं आचार्यों के नाम दिये गये हैं और उनके मत भी यत्र-तत्र इसी नीतिग्रन्थ में उद्धरण के रूप में दिये गये प्राप्त हैं। राजशास्त्र के ये प्रणेता एवं आचार्य मनु, बृहस्पति इन्द्र उशना मय विशालाक्ष बाहुदन्तीपुत्र पराशर और कौटिल्य हैं। इससे यह स्पष्ट है कि कामन्दक का उदयकाल राजशास्त्र के इन प्रणेताओं एवं आचार्यों के पश्चात् हुआ है। कौटिल्य ने भी राजशास्त्र के इन प्रणेताओं एवं आचार्यों के मत स्वप्रणीत अर्थशास्त्र में यत्र-तत्र उद्धृत किये हैं। इससे यह स्पष्ट है कि राजशास्त्र के ये सभी प्रणेता एवं आचार्य कौटिल्य के पूर्व हुए हैं। इसके अतिरिक्त कामन्दक ने अपनी इस कृति के प्रारम्भ में नन्दवंश के उन्मूलक एवं मौर्य साम्राज्य के संस्थापक तथा अर्थशास्त्र के प्रणेता विष्णुगुप्त (कौटिल्य) को अपना गुरु मानकर उन्हें नमस्कार किया है। उन्होंने इसी प्रसंग में यह भी स्वीकार किया है कि उन्होंने अपनी इस कृति के निर्माण-हेतु अर्थशास्त्र की विषयवस्तु का आश्रय लिया है[१]। इन तथ्यों के आधार पर यह निर्विवाद है कि कामन्दक कौटिल्य (विष्णुगुप्त) की शिष्य-परम्परा में अर्थशास्त्र की रचना हो जाने के बहुत पश्चात् हुए हैं।

१ श्लोक ४ से ६, सर्ग १ कामन्दकनीति।

कामन्दकनीति का अध्ययन करने से यह भी ज्ञात होता है कि उसके समय में कौटिल्य द्वारा अर्थशास्त्र में स्थापित की गयी कतिपय मान्यताएँ अनुपयोगी सिद्ध हो चुकी थीं। उनके स्थान में नवीन मान्यताओं की स्थापना की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी थी। इसलिए कामन्दक को कौटिल्य की विचारधारा में कुछ संशोधन परिवर्तन तथा परिवर्धन करने की आवश्यकता अनुभव हुई। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए कामन्दक को अपने इस नीति-ग्रन्थ की रचना करनी पड़ी। परन्तु कौटिल्य की विचारधारा में इस प्रकार नवीनता लाने की आवश्यकता होने में शताब्दियाँ व्यतीत हो गयी होंगी। इससे यह स्पष्ट है कि कौटिल्य और कामन्दक के बीच में सैकड़ों वर्षों की अवधि व्यतीत हुई होगी। इस दृष्टि से कामन्दक का जन्मकाल कौटिल्य के जन्मकाल से सैकड़ों वर्ष पश्चात् मानना उचित होगा।

अब दूसरे पक्ष पर भी विचार करना है। सोमदेव सूरि ईसा की दसवीं शताब्दी के राजशास्त्र-प्रणेता हैं। उन्होंने अपनी 'नीति वाक्यामृत' नाम की पोथी में लिखा है कि दूर होने पर भी माधव के पिता ने कामन्दकीय प्रयोग द्वारा मालती को माधव के लिए प्राप्त किया था'। इस उद्धरण में सोमदेव ने स्पष्ट कर दिया है कि कामन्दकनीति की रचना मालतीमाधव नाटक की रचना होने के बहुत पूर्व हो चुकी थी और इस प्रकार मालतीमाधव नाटक के रचनाकाल के बहुत पूर्व कामन्दक का उदय हो चुका था। मालतीमाधव नाटक के रचयिता भवभूति हैं। उनका जन्मकाल आठवीं शताब्दी का पूर्वार्ध माना गया है। इस प्रकार कामन्दकनीति का रचना काल आठवीं शताब्दी के बहुत पूर्व मानना उचित होगा। इस विषय में एक विशेष बात यह भी विचारणीय है कि भवभूति के समय में कामन्दकीय प्रयोग जनता में फैल चुका था और उसने कहावत का रूप धारण कर लिया था। जनता उसे आँख बन्द कर मानने लगी थी। कामन्दकीय प्रयोग सम्बन्धी इस मान्यता को इस रूप में आने के लिए शताब्दियाँ व्यतीत हो चुकी होंगी। इस दृष्टि से कामन्दक का उदय भवभूति के जन्म काल से सैकड़ों वर्ष पूर्व होना चाहिए।

संस्कृत भाषा के विख्यात गद्य-लेखक दण्डी ने स्वरचित दशकुमार चरित में कामन्दक और उनकी नीति का उल्लेख किया है। इस उल्लेख से ऐसा प्रतीत होता है कि दण्डी के समय के शिक्षाक्रम में कामन्दकनीति का प्रसार था। राजकुमारों को राजशास्त्र-सम्बन्धी ज्ञान देने के लिए इस नीति का अध्ययन कराया जाता था।

१ [illegible] कौटिल्यकामन्दकीयादिनीतिपटलकौशलम्। पृष्ठ १२, कुमारोत्पत्तिविवरण, प्रथम उच्छ्वास, दशकुमारचरित।

दण्डी ने लिखा है कि मगध के राजकुमार राजवाहन को इस नीति-ग्रन्थ का अध्ययन कराया गया था[1]। दण्डी ने 'दशकुमार-चरित' की रचना कब की इसका स्पष्ट निर्णय अब तक नहीं हो सका है। परन्तु कुछ विद्वानों का मत है कि दण्डी ने ईसा की आठवीं शताब्दी के आस-पास इस ग्रन्थ का निर्माण किया होगा। इससे यह स्पष्ट है कि कामन्दक ईसा की आठवीं शताब्दी के पूर्व किसी समय में हुए हैं।

कामन्दक के समयकाल का निर्णय करने में एक और महत्त्वपूर्ण बात यह है कि शुक्र-नीति की जो पोथी हमें उपलब्ध है उसमें अनेक ऐसे श्लोक हैं जो कामन्दक-नीति से उठाकर ज्यों-के-त्यों उसमें रख दिये गये हैं[2]। इससे यह स्पष्ट है कि शुक्र-नीति के पूर्व कामन्दकनीति की रचना हो चुकी थी। इसके कुछ अंश को छोड़ कर, शुक्रनीति उत्तर गुप्त काल की रचना है[3]। कई पुराणों में कामन्दकनीति की विषय-वस्तु ज्यों की त्यों-प्राप्त है। अग्निपुराण और मत्स्यपुराण में कामन्दक नीति के अनेक श्लोक पाये जाते हैं। इससे भी स्पष्ट है कि इन पुराणों की रचना होने के पूर्व कामन्दक-नीति की रचना हो चुकी थी। यह पुराण उत्तरगुप्त काल की उपज हैं। इस दृष्टि से भी कामन्दकनीति को पूर्व गुप्तकाल की रचना मानना उचित होगा। इन आधारों पर कामन्दकनीति को पूर्व गुप्तकाल की रचना मान लेने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

१ श्रूयते हि किल पुरस्तादपि मायावपिना कामन्दकीयप्रयोगेण मायावास वासवी आत्मपालस्त। वार्ता ७ अनु १ नीतिशास्त्राकृत।

२ कोपमसिद्धमर्थेतहारि बहुनियामकम्।
उपायोपगृहीतेन तेनैव परिरक्ष्यते॥
श्लोक ४९, सर्ग ११ कामन्दकनीति।
कोपमसिद्धमर्थेतहारि बहुनियामकम्।
उपायोपगृहीतेन तेनैव तत्परिरक्ष्यते॥ श्लोक ११२७, अ ४ शुक्रनीति।
उपायेन पद मूर्ध्नि न्यस्यते मत्तहस्तिनाम्॥
श्लोक ४८, सर्ग ११, कामन्दकनीति।
उपायेन पदं मूर्ध्नि न्यस्यते मत्तहस्तिनाम्॥
श्लोक ११२८ अ ४ शुक्रनीति।
अपायोपायपुरस्सरेण इत्यानुपलीयते॥ श्लोक ४७, सर्ग ११ कामन्दकनीति।
अपायोपायपुरस्सरेण इत्यानुपलीयते॥ श्लोक ११२९ अ ४ शुक्रनीति।

३. लेखक की 'शुक्र की राजनीति' पढ़िए।

कामन्दकनीति का अध्ययन करने से यह भी ज्ञात होता है कि उनके समय में कौटिल्य द्वारा अर्थशास्त्र में स्थापित की गयी कतिपय मान्यताएँ अनुपयोगी सिद्ध हो चुकी थीं। उनके स्थान में नवीन मान्यताओं की स्थापना की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी थी। इसलिए कामन्दक को कौटिल्य की विचारधारा में कुछ संशोधन, परिवर्द्धन तथा परिवर्तन करने की आवश्यकता अनुभव हुई। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए कामन्दक को अपने इस नीति-ग्रन्थ की रचना करनी पड़ी। परन्तु कौटिल्य की विचारधारा में इस प्रकार संशोधन करने की आवश्यकता होने में शताब्दियाँ व्यतीत हो गयी होंगी। इससे यह स्पष्ट है कि कौटिल्य और कामन्दक के बीच में सैकड़ों वर्षों की अवधि व्यतीत हुई होगी। इस दृष्टि से कामन्दक का रचनाकाल कौटिल्य के रचनाकाल से सैकड़ों वर्ष पश्चात् मानना उचित होगा।

अब दूसरे पक्ष पर भी विचार करना है। सोमदेव सूरि ईसा की दसवीं शताब्दी के राजशास्त्र-प्रणेता हैं। उन्होंने अपनी 'नीति वाक्यामृत' नाम की पोथी में लिखा है कि दूर होने पर भी माधव के पिता ने कामन्दकीय प्रयोग द्वारा मालती को माधव के लिए प्राप्त किया था। इस उद्धरण में सोमदेव ने स्पष्ट कर दिया है कि कामन्दकनीति की रचना मालतीमाधव नाटक की रचना होने के बहुत पूर्व हो चुकी थी और इस प्रकार मालतीमाधव नाटक के रचनाकाल के बहुत पूर्व कामन्दक का उदय हो चुका था। मालतीमाधव नाटक के रचयिता भवभूति हैं। उनका उदयकाल आठवीं शताब्दी का पूर्वार्ध माना गया है। इस प्रकार कामन्दकनीति का रचना-काल आठवीं शताब्दी के बहुत पूर्व मानना उचित होगा। इस विषय में एक विशेष बात यह भी विचारणीय है कि भवभूति के समय में कामन्दकीय प्रयोग जनता में फैल चुका था और उसने लोकोक्ति का रूप धारण कर लिया था। जनता उसे ठीक समझ कर मानने लगी थी। कामन्दकीय प्रयोग सम्बन्धी इस मान्यता को इस रूप में आने के लिए शताब्दियाँ व्यतीत हो चुकी होंगी। इस दृष्टि से कामन्दक का समय भवभूति के समय काल से सैकड़ों वर्ष पूर्व होना चाहिए।

संस्कृत भाषा के विख्यात गद्य-लेखक दण्डी ने स्वरचित दशकुमार चरित में कामन्दक और उसकी नीति का उल्लेख किया है। इस उल्लेख से ऐसा प्रतीत होता है कि दण्डी के समय में विद्वत्समाज में कामन्दकनीति का आदर था। राजकुमारों को राजशास्त्र-सम्बन्धी ज्ञान देने के लिए इस नीति का अध्ययन कराया जाता था।

१ [illegible]। पृष्ठ १६,
कुमारोत्पत्तिसर्गः, प्रथम उच्छ्वास दशकुमारचरित।

...त उपायों का निर्धारण कर अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। इसी प्रकार ...मन्दकनीति में अनेक ऐसे महत्वपूर्ण विषय हैं जिनमें कामन्दक की विशेष बुद्धि ...र उनकी अपनी सूझ की प्रत्यक्ष झलक दिखाई पड़ती है।

उपर्युक्त तथ्यों के होते हुए यह कहना कि कामन्दकनीति मौलिक ग्रन्थ नहीं है ...ह कौटिल्य के अर्थशास्त्र का संक्षिप्त रूपमात्र है और इसलिए कौटिल्य के अर्थशास्त्र ... होते हुए उसकी कोई उपयोगिता नहीं है बड़ी भूल होगी। कौटिल्य के अर्थशास्त्र ...र शुक्रनीति के रचना-काल की अवधि में राजशास्त्र विषय पर भारत में जो ग्रन्थ ...े गये हैं उन में सर्वश्रेष्ठ उपलब्ध ग्रन्थ कामन्दकनीति ही है। इसलिए उक्त ...य की जनता के राजनीतिक विचारों एवं उनकी संस्थाओं आदि के ज्ञान हेतु ...कामन्दकनीति का अध्ययन आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है।

कामन्दकनीति का आकार—कामन्दकनीति अर्थशास्त्र के विपरीत छन्दोबद्ध ...न्थ है। इस ग्रन्थ का विभाजन सर्गों में किया गया है। सम्पूर्ण ग्रन्थ में उन्नीस ...सर्ग हैं जिनमें कुल श्लोकों की संख्या ग्यारह सौ तिरसठ है।

प्रस्तुत ग्रन्थ रचना में श्री वेङ्कटेश्वर (स्टीम) यन्त्रालय बम्बई द्वारा मुद्रित 'कामन्दकीय नीतिसार' संवत् १९६१ के संस्करण का उपयोग किया गया है।

कामन्दक के राजनीतिक विचार

विद्याएं एवं उनका वर्गीकरण—किसी पदार्थ के यथार्थ ज्ञान को विद्या कहते हैं। विद्याएं अनेक हैं। कामन्दक ने प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार ही चार विद्याएं मानी हैं। ये चार विद्याएं आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता और दण्डनीति हैं। कामन्दक का मत है कि देहधारियों के योगक्षेम के निमित्त ये चारों परम आवश्यक हैं[1]।

कामन्दक ने इन विद्याओं के अस्तित्व के विषय में मनु, बृहस्पति और उशना के मत भी उद्धृत किये हैं। उनका कहना है कि मनु के अनुयायियों ने त्रयी वार्ता और दण्डनीति इन्हीं तीन को विद्या माना है। उनके मतानुसार आन्वीक्षिकी का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। उन्होंने आन्वीक्षिकी को त्रयी विद्या का ही अंग माना है[2]। बृहस्पति के अनुयायियों के मतानुसार वार्ता और दण्डनीति—यही दो विद्याएं हैं। ये दो विद्याएं ही लोक के प्रयोजन अर्थ की साधिका हैं[3]। उशना के अनुयायियों ने दण्डनीति मात्र को विद्या माना है। उनके मतानुसार अन्य सभी विद्याओं का आरम्भ दण्डनीति में ही है। इस प्रकार विद्याओं के वर्गीकरण एवं उनकी आपेक्षिक उपयो-

१ श्लोक २ सर्ग २ कामन्दकनीति। २ श्लोक ३ सर्ग २ कामन्दकनीति।
३ श्लोक ४ सर्ग २ कामन्दकनीति। ४ श्लोक ५ सर्ग २ कामन्दकनीति।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर कामन्दक को पूर्व गुप्तकालीन राजशास्त्र-प्रणेता स्वीकार करना और उनकी इस नीति-ग्रन्थ को उसी युग की रचना मान लेना न्याय संगत होगा।

कामन्दकनीति की मौलिकता—कामन्दकनीति के प्रणेता ने स्वयं स्वीकार किया है कि इस ग्रन्थ के निर्माण-हेतु कौटिल्य के अर्थशास्त्र की विषय-वस्तु का आश्रय लिया गया है। कामन्दकनीति में अनेक ऐसे प्रकरण हैं जिनमें कौटिल्य के अर्थशास्त्र के विचारों को ही नहीं अपितु उसकी शब्दावली को भी ज्यों-का-त्यों उठाकर रख दिया गया है। यही कारण है कि कुछ विद्वानों ने कामन्दकनीति को अर्थशास्त्र का संक्षिप्त रूप मात्र बतलाया है और इसीलिए उन्होंने कामन्दकनीति को मौलिक ग्रन्थों की श्रेणी में स्थान देने में संकोच किया है।

इसमें सन्देह नहीं कि कामन्दकनीति का बहुत-सा अंश अर्थशास्त्र की ही विषय-वस्तु से निर्मित है। परन्तु इतना होने पर भी उसका अपना अस्तित्व है उसकी अपनी उपयोगिता है। यदि किसी चतुर शिल्पी ने किसी भग्नावशेष प्रासाद के ईंट पत्थरों का उपयोग कर एक नवीन भव्य एवं रमणीय भवन का निर्माण किया है तो क्या वह भवन मौलिक नहीं समझा जायगा ? ऐसे भवन की उपयोगिता एवं उसकी अपनी विशेषता की सराहना न करना लोक-दृष्टि में कहाँ तक उचित है। अब यदि तुलसीदास ने भी तो प्राचीन संस्कृत साहित्य की भित्ति पर ही रामचरितमानस के प्रासाद को खड़ा किया है। हिन्दी-जगत में तुलसीदास की यह कृति मौलिक नहीं है ऐसा कहने का साहस कौन कर सकता है ? तो फिर कामन्दकनीति की मौलिकता पर इस प्रकार के आक्षेप करना क्योंकर न्यायसंगत कहा जा सकता है ?

कामन्दकनीति की अपनी विशेषताएँ हैं और उनका महत्व है। उनमें आज भी उतनी ही उपयोगिता है जितनी कामन्दकनीति के रचना-काल में समझी गयी थी। कामन्दक ने विविध राज मण्डलों के निर्माण का जो वर्णन किया है वह इस रूप में अन्यत्र मिलना सम्भव नहीं। उन्होंने सन्धि के अनेक भेद देकर उनकी उपयोगिता प्रमाणित की है। इसमें सन्देह नहीं कि कौटिल्य ने भी सन्धि के अनेक भेद-प्रभेदों का वर्णन किया है। परन्तु कामन्दक द्वारा वर्णित सन्धि के भेदों में उनकी अपनी सूझ प्रकट होती है और उनमें कुछ-न-कुछ विशेषताएँ अवश्य पायी जाती हैं। कामन्दक ने षाड्गुण्यनय के गुणों के भी पृथक्-पृथक् भेद एवं प्रभेद कर उनकी व्याख्या की है उसमें भी उनकी अपनी सूझ है और उसमें उनका अपना चमत्कार भी स्पष्ट ज्ञात होता है। प्राचीन भारतीय राजशास्त्र-प्रणेताओं ने राजाओं की सफलता हेतु चार उपायों का विधान किया है, परन्तु कामन्दक ने चार के स्थान में

ाव उपायों का निर्धारण कर अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। इसी प्रकार ामन्दकनीति में अनेक ऐसे महत्त्वपूर्ण विषय हैं जिनमें कामन्दक की विशेष बुद्धि एवं उनकी अपनी सूझ की प्रत्यक्ष झलक दिखाई पड़ती है।

उपर्युक्त तथ्यों के होते हुए यह कहना कि कामन्दकनीति मौलिक ग्रन्थ नहीं है, यह कौटिल्य के अर्थशास्त्र का संक्षिप्त रूपान्तर है और इसलिए कौटिल्य के अर्थशास्त्र के होते हुए इसकी कोई उपयोगिता नहीं है, बड़ी भूल होगी। कौटिल्य के अर्थशास्त्र और शुक्रनीति के रचना-काल की अवधि में राजशास्त्र विषय पर भारत में जो ग्रन्थ रचे गये हैं उन में सर्वश्रेष्ठ उपलब्ध ग्रन्थ कामन्दकनीति ही है। इसलिए उक्त युग की जनता के राजनीतिक विचारों एवं उनकी संस्थाओं आदि के ज्ञान हेतु कामन्दकनीति का अध्ययन आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है।

कामन्दकनीति का आकार—कामन्दकनीति अर्थशास्त्र के विपरीत छन्दोबद्ध ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का विभाजन सर्गों में किया गया है। सम्पूर्ण ग्रन्थ में उन्नीस सर्ग हैं जिनमें कुल छन्दों की संख्या ग्यारह सौ तिरसठ है।

प्रस्तुत ग्रन्थ-रचना में श्री वेङ्कटेश्वर (स्टीम) मुद्रणालय बम्बई द्वारा मुद्रित 'कामन्दकीय नीतिसार' संवत् १९६१ के संस्करण का उपयोग किया गया है।

कामन्दक के राजनीतिक विचार

विद्याएँ एवं उनका वर्गीकरण—किसी पदार्थ के यथार्थ ज्ञान को विद्या कहते हैं। विद्याएँ अनेक हैं। कामन्दक ने प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार ही चार विद्याएँ मानी हैं। ये चार विद्याएँ आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता और दण्डनीति हैं। कामन्दक का मत है कि देहधारियों के योगक्षेम के निमित्त ये चारों परम आवश्यक हैं[2]।

कामन्दक ने इन विद्याओं के अस्तित्व के विषय में मनु, बृहस्पति और उशना के मत भी उद्धृत किये हैं। उनका कहना है कि मनु के अनुयायियों ने त्रयी वार्ता और दण्डनीति इन्हीं तीन को विद्या माना है। उनके मतानुसार आन्वीक्षिकी का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। उन्होंने आन्वीक्षिकी को त्रयी विद्या का ही अंग माना है। बृहस्पति के अनुयायियों के मतानुसार वार्ता और दण्डनीति—यही दो विद्याएँ हैं। ये दो विद्याएँ ही लोक के प्रयोजन अर्थ की साधिका हैं[3]। उशना के अनुयायियों ने दण्डनीति मात्र को विद्या माना है। उनके मतानुसार अन्य सभी विद्याओं का आरम्भ दण्डनीति में ही है[4]। इस प्रकार विद्याओं के वर्गीकरण एवं उनकी आपेक्षिक उपयो-

१ श्लोक २ सर्ग २ कामन्दकनीति। २ श्लोक ३ सर्ग २ कामन्दकनीति।
३ श्लोक ४ सर्ग २ कामन्दकनीति। ४ श्लोक ५ सर्ग २ कामन्दकनीति।

विद्या पर कामन्दक का लगभग वही मत है जो कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में व्यक्त किया है।

आन्वीक्षिकी—कामन्दक ने आत्मविद्या को आन्वीक्षिकी की संज्ञा दी है। उनका मत है कि आन्वीक्षिकी के द्वारा कर्मफल का बोध होता है। किस कर्म से मनुष्य को सुख और किस कर्म से उसे दुख होता है, इस विषय का बोध कराने के कारण आन्वीक्षिकी आत्मविद्या कहलाती है। आन्वीक्षिकी के द्वारा तत्त्व-ज्ञान होता है और प्राणी हर्ष-शोक से मुक्त हो जाता है[1]। कौटिल्य ने भी आत्मविद्या को ही आन्वीक्षिकी माना है। उनके मतानुसार सांख्य (सन्यास) योग (कर्मफल त्याग) और लोकायत (व्यावहारिक) सभी शास्त्र आन्वीक्षिकी विद्या के अन्तर्गत आते हैं[2]।

त्रयी—कामन्दक के मतानुसार धर्म और अधर्म का बोध करानेवाली विद्या त्रयी कहलाती है। ऋक्, यजु और साम—इन तीनों वेदों द्वारा प्रतिपादित विषयों (ज्ञान कर्म और उपासना) का सम्यक् बोध करानेवाली विद्या को त्रयी की संज्ञा दी गयी है। त्रयी विद्या में सम्यक् स्थिति होने से मनुष्य इस लोक और परलोक दोनों में सुख और आनन्द भोगता है[3]। चारों संहिताएं और उनके छहों अंग (शिक्षा कल्प व्याकरण निरुक्त छन्द और ज्योतिष) मीमांसा न्याय धर्मशास्त्र और पुराण—ये सभी त्रयी विद्या के अन्तर्गत आते हैं। इस प्रकार कामन्दक ने वेदविद्या को त्रयी विद्या कहलाया है।

त्रयी विद्या के विषय में कामन्दक ने लगभग वही मत प्रकट किया है जो कौटिल्य द्वारा व्यक्त किया गया है। कौटिल्य ने भी वेदविद्या को त्रयी विद्या माना है। उन्होंने ऋक्, यजु और साम इन तीन वेदों को त्रयी की संज्ञा दी है। अथर्ववेद और प्राचीन इतिहास को भी वेद ही माना है[4]। शिक्षा कल्प व्याकरण निरुक्त छन्द और ज्योतिष को उन्होंने भी वेदांग माना है। इस प्रकार कौटिल्य ने ऋक्, यजु साम और अथर्व—ये चार वेद, प्राचीन इतिहास और छः वेदांग इन सभी के यथार्थ ज्ञान का बोध करानेवाली विद्या को त्रयी विद्या माना है। कौटिल्य के मतानुसार त्रयी विद्या का उद्देश्य वर्णाश्रम धर्म की सम्यक् व्यवस्था कर समाज

१ श्लोक ११ सर्ग २ कामन्दकनीति। २ वार्ता १ अ० १ अधि० १ अर्थ०।
३ श्लोक १२ सर्ग २ कामन्दकनीति। ४ श्लोक १६ सर्ग २ कामन्दकनीति।
५ वार्ता १ अ० ३ अधि० १ अर्थ०।
६ वार्ता २ अ० ३ अधि० १ अर्थ०।
७ वार्ता ३ अ० ३ अधि० १ अर्थ०।

में उसकी विधिवत् स्थापना हेतु उचित व्यवस्था का यथार्थ ज्ञान देना है[1]। इसीलिए उन्होंने धर्म और अधर्म के यथार्थ स्वरूप का विधिवत् वर्णन त्रयी विद्या के अन्तर्गत माना है[2]। कौटिल्य का मत है कि त्रयी विद्या द्वारा स्थापित वर्णाश्रम धर्म की मर्यादा द्वारा रक्षित लोक प्रसन्न रहता है और कभी पीड़ित नहीं होता[3]।

वार्ता—कामन्दक ने पशुपालन कृषि और व्यापार आदि व्यवसायों के यथार्थ ज्ञान को वार्ता विद्या की संज्ञा दी है। कामन्दक का मत है कि वार्ता विद्या का ज्ञान प्राप्त कर जो पुरुष अपने अनुकूल व्यवसाय से आजीविका चलाता है वह कभी वृत्ति भय को प्राप्त नहीं होता[4]। इसलिए मनुष्य के लिए अपनी परिस्थिति योग्यता एवं सामर्थ्य के अनुकूल वृत्ति धारण करने के निमित्त वार्ता विद्या का सम्यक ज्ञान परमावश्यक बतलाया गया है। कामन्दक ने आन्वीक्षिकी त्रयी और वार्ता को इसी विद्या की उपाधि दी है। उनका भी यही मत है कि इन विद्याओं की सफलता दण्डनीति के आश्रित होती है[5]।

कौटिल्य ने भी वार्ता की परिभाषा करते हुए कृषि पशुपालन और वाणिज्य के यथार्थ ज्ञान को वार्ता बतलाया है[6]। उनके मतानुसार धान्य पशु, हिरण्य स्निग्ध पदार्थ आदि की प्राप्ति कराने के कारण वार्ता लोक की महान् उपकारिणी होती है[7]। राजा भी वार्ता विद्या का आश्रय लेकर उपार्जित पदार्थों से कोष और सेना का संग्रह करता है और उनके द्वारा स्वपक्ष और परपक्ष के लोगों को वश में रखने में समर्थ होता है।

दण्डनीति—कामन्दक का मत है कि दण्डनीतिके आश्रित ही जगत् की स्थिति है। दम का नाम ही दण्ड है। यह दण्ड राजा में स्थित होता है। इस दण्ड के सम्यक प्रयोग की नीति को दण्डनीति कहते हैं। दण्डनीति से ही नय और अनय का सम्यक बोध होता है[8]।

इस प्रकार दण्डनीति अन्य तीन विद्याओं—आन्वीक्षिकी, त्रयी और वार्ता—की स्थापना हेतु परमावश्यक बतलायी गयी है। परन्तु दण्डनीति का विकृत रूप मनुष्य का संहार करनेवाला होता है। तीक्ष्ण दण्ड प्रयोग प्रजा में उद्वेग उत्पन्न करता है

१ वार्ता ४ अ ३ अधि १ अर्थ। २ वार्ता ११ अ २ अधि १ अर्थ।
३ श्लोक १७ अ २ अधि १ अर्थ। ४ श्लोक १४ सर्ग २ कामन्दकनीति।
५ श्लोक ८ सर्ग २ कामन्दकनीति। ६ वार्ता १ अ ४ अधि १ अर्थ।
७ वार्ता २ अ ४ अधि १ अर्थ। ८ वार्ता १ अ ४ अधि १ अर्थ।
९ कामन्दकनीति १५।२। १० का ७।२।

जिससे लोक में असन्तोष होता है और वह देश दण्डधारी अपने राजा के प्रति विरक्त हो जाता है। मृदु-दण्ड से दण्ड-प्रयोग करनेवाले का ही तिरस्कार होने लगता है। इसलिए सम्यक् दण्ड-प्रयोग ही प्रशस्त माना गया है[1]। सम्यक् दण्ड-प्रयोग से त्रिवर्ग की वृद्धि एवं प्राप्ति होती है। असम्यक् दण्ड-प्रयोग से वनवासी जनता भी कुपित हो जाती है[2]। प्रजा के उद्वेजित होने से अधर्म की वृद्धि होती है, जिससे राजा भ्रष्ट हो जाता है[3]। दण्ड के सम्यक् प्रयोग के अभाव में मात्स्य न्याय प्रचलित हो जाता है[4]। यह जगत् काम और लोभ के द्वारा बलपूर्वक निराकृत होकर नरक में डूब जाता है। केवल दण्ड-प्रयोग (सम्यक् दण्ड-प्रयोग) से जगत् सुव्यवस्थित रूप में स्थिर रहता है[5]।

कामन्दक ने इन शब्दों में यह बतलाया है कि दण्डनीति का विधिवत् अध्ययन और मनुष्य-समाज में उसके नियमों एवं सिद्धान्तों का सम्यक् प्रयोग प्राणिमात्र के कल्याण हेतु नितान्त आवश्यक है। कामन्दक के ये विचार कौटिल्य के तत्सम्बन्धी विचारों पर आश्रित हैं।

मानव-प्रकृति—कामन्दक का मत है कि यह सम्पूर्ण जगत् प्रकृति से ही विषयों के वशीभूत है। प्रत्येक प्राणी स्त्री और धन का लोलुप होता है। इसलिए मानव-प्रकृति साधुसेवित सनातन मार्ग पर चलने की विरोधिनी है। जबतक दण्ड द्वारा बाध्य नहीं किया जाता मनुष्य धर्म-मार्ग पर नहीं चलता[6]। यह निरन्तर विषयों में विचरण करनेवाला है। इसलिए यह परवश होता है। इस परवश जगत् में साधु-चरितवाले पुरुष दुर्लभ हैं। इसलिए इस जगत् की स्थिति दण्ड द्वारा ही मानी गयी है। दण्ड के भय के कारण ही प्रजा नियमानुसार जीवन व्यतीत करने के लिए विवश होती है। कुल बलहीन व्याधित तथा निर्धन पति को कुलनारी दण्ड के भय से ही स्वीकार करती है, अर्थात् समाज में मर्यादा की स्थापना दण्ड द्वारा ही होती है[7]।

मानव-प्रकृति के विषय में कामन्दक ने जो मत व्यक्त किया है वह मनु के तत्सम्बन्धी मत पर आधारित जान पड़ता है। मनु ने मानव धर्मशास्त्र में स्पष्ट व्यवस्था दी है कि इस धरती-तल पर मनुष्य-समाज में शुचि पुरुष का प्राप्त होना दुर्लभ है[8]।

बृहस्पति और नारद ने भी मानव-प्रकृति पर अपने मत प्रकट किये हैं। बृहस्पति का मत है कि सृष्टि-रचना-काल में मनुष्य धर्मप्रधान और अहिंसक था। परन्तु कुछ

१ का १।७।२।   २ का १।८।१।
३ का १।५।१।   ४ का ४।१।२।   ५ का ४।१।२।
६ का ४।३।१।   ७ का ४।१।१।   ८ मानव ७।२२।

काल में ही यह लोभ और द्वेष से अभिभूत हो गया[1]। इस प्रकार बृहस्पति ने भी यह स्वीकार किया है कि अहिंसक एवं धर्मपरायण मनुष्य भी लोभ और द्वेष आदि विषयों के वशीभूत रहते हैं। ये दण्ड से ही सावे जा सकते हैं।

इस प्रकार कामन्दक ने मानव प्रकृति काम, क्रोध, लोभ आदि ऐन्द्रिय विषयों से अति प्रभावित मानी है और उसके नियन्त्रण एवं दमन हेतु उन्होंने सम्यक् दण्ड-प्रयोग एकमात्र साधन बतलाया है।

राज्य का स्वरूप—प्राचीन भारत की राजनीतिक परम्परा के अनुसार कामन्दक ने भी सप्तात्मक अथवा सप्ताङ्ग राज्य की कल्पना की है। उनका मत है कि राज्य के सात अंग होते हैं और इन्हीं सात अंगों के संयोग से राज्य का निर्माण होता है। राज्य के ये सात अंग कामन्दक के मतानुसार, स्वामी, अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोष, बल और सुहृद् होते हैं[2]। इस प्रकार कामन्दक ने भी मनु, भीष्म और कौटिल्य के समान ही राज्य का सप्तात्मक अथवा सप्ताङ्ग स्वरूप माना है। मनु ने राज्य के ये सात अंग स्वामी, अमात्य, पुर, राष्ट्र, कोष, दण्ड और सुहृद् बतलाये हैं[3]। भीष्म ने उन्हें आत्मा, अमात्य, कोष, दण्ड, मित्र, जनपद और पुर के नाम से सम्बोधित किया है[4]। कौटिल्य ने उन्हें स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड और मित्र की संज्ञा दी है[5]। अन्तर केवल शब्दों के प्रयोग में है। प्राचीन भारत के कतिपय राजशास्त्र प्रणेताओं ने राज्य के इन सात अंगों की आपेक्षिक उपयोगिता भी प्रदर्शित की है। परन्तु कामन्दक इस विषय में मौन हैं। राज्य के इन सात अंगों की उपयोगिता के विषय में उनका मत है कि ये सातों अंग परस्पर उपकारी हैं[6]। उनके इस मत से यह स्पष्ट है कि राज्य के ये सात अंग अपने-अपने स्थान पर उपयोगी हैं और इस दृष्टि से इनमें कोई भी अंग एक-दूसरे से छोटा बड़ा नहीं है।

राज्य अपने स्वाभाविक रूप को धारण किये रहे, इसके निमित्त राज्य के इन सातों अंगों को भी उनके स्वाभाविक रूप में रहना आवश्यक बतलाया गया है। कामन्दक का मत है कि इन अंगों में किसी अंग में भी विकार उत्पन्न हो जाने से राज्य नष्ट हो जाता है। इसीलिए उन्होंने इन अंगों के विकारों (व्यसनों) का पृथक्-पृथक् वर्णन किया है जिससे राज्य को इनके व्यसनों से मुक्त किया जा सके। उन्होंने स्पष्ट

१ धर्मप्रधानाः पुरुषाः पूर्वमासन्नहिंसकाः । लोभद्वेषाभिभूतानां व्यवहारः प्रकीर्तितः ॥
बृहस्पति ।

२ का १।४। ३ मनु ९।२९४। ४ महा ६९।६४।

५. ६ अ १ अधि ६ अर्थशास्त्र । ६. श्लोक १ सर्ग ४ कामन्दकनीति ।

व्यवस्था दी है कि एक अंग के भी विकल (व्यसन-ग्रस्त) हो जाने पर राज्य में अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है। इसलिए परीक्षापूर्वक इन अंगों की समग्रता स्थापित करते रहना चाहिए[1]।

इस प्रकार कामन्दक ने राज्य के सप्ताङ्ग अथवा सप्तात्मक स्वरूप की कल्पना की है, जिसका स्वरूप व्यापक नहीं है, जो कि मनु, भीष्म और कौटिल्य आदि द्वारा निर्धारित किया गया है।

राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त—राजा एवं राज्य की उत्पत्ति के विषय में कामन्दक मौन है। कामन्दकनीति में एक-दो श्लोकों के अतिरिक्त किसी भी स्थल पर उन्होंने इस विषय में अपना मत व्यक्त नहीं किया है। इसीलिए इस महत्त्वपूर्ण विषय पर कामन्दक का क्या मत रहा होगा, कुछ भी कहा नहीं जा सकता। राज्य एवं राजा की उत्पत्ति के विषय में कामन्दक मौन क्यों हैं, स्पष्ट नहीं है। सम्भव है, उन्होंने इस विषय में कौटिल्य का ही जिन्हें वह अपना गुरु मानते हैं, अनुसरण किया हो। कौटिल्य ने भी यद्यपि राजशास्त्र-सम्बन्धी अनेक सिद्धान्तों का विशद वर्णन किया है, इस महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त की उपेक्षा की है। उन्होंने केवल परोक्षविधि से इस विषय पर कतिपय संकेत किये हैं। इसका कारण ज्ञात नहीं। सम्भव है कामन्दक की इस ओर उदासीनता का कारण राज्य अथवा राजा की उत्पत्ति के किसी एक विशेष सिद्धान्त में कामन्दक के समय की जनता की अटूट निष्ठा का होना रहा हो। और यह सिद्धान्त उस युग की जनता में इतना व्यापक हो चुका हो कि उन्होंने इस पर विशेष टीका-टिप्पणी करने की कोई आवश्यकता ही नहीं समझी। कामन्दक गुप्तकालीन राजशास्त्र-विचारक हैं। उनके समय में राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त का प्राबल्य रहा है। इस सिद्धान्त ने जनता के हृदय में विशेष स्थान कर लिया था। राजा का देवत्व पराकाष्ठा तक पहुँच गया था। राजा का स्वरूप सर्वदेवमय बन चुका था। इस सिद्धान्त का आश्रय लेकर राजाओं में निरंकुशता की प्रवृत्ति जाग्रत हो रही थी। आगे चलकर इस प्रवृत्ति ने प्रबल रूप धारण कर लिया और उसकी रोक-थाम की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। इसी प्रवृत्ति के दमन के लिए कामन्दक के पश्चात् शुक्र ने इस सिद्धान्त में नवीनता लाने का प्रयास किया। शुक्र ने मुक्तकण्ठ से घोषणा की कि सभी राजा देवत्व के अधिकारी नहीं हैं। केवल वही राजा देवपद के अधिकारी हैं, जिनमें सतोगुण का प्राधान्य है। अन्य राजा मानपात्र अथवा राक्षसपापधारी हैं। वे देवपद के अधिकारी नहीं हैं।

१ श्लोक १ सर्ग ४ कामन्दकनीति। २ श्लोक १५ अ० १ शुक्रनीति।

परन्तु यह निर्विवाद है कि कामन्दक ने राजा को इस भूतल पर देव माना है। उन्होंने कामन्दकनीति में एक स्थल पर इस तथ्य की पुष्टि करते हुए संकेत किया है कि राजा भूतलदेव है[1]। इस संकेत के आधार पर यह निश्चयपूर्वक सिद्ध हो जाता है कि कामन्दक ने मनु के समान ही राजा को इस पृथिवीतल पर मनुष्य रूप धारण कर विचरण करनेवाला देव ही माना है।

ऐसा होने पर भी राजा अथवा राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त पर कामन्दक के मौन रहने का कारण रहस्ययुक्त ही है।

राजा की उपयोगिता—कामन्दक ने राजपद परम उपयोगी बतलाया है। उन्होंने इस जगत् की स्थिति राजा के ही आश्रित मानी है। उनका मत है कि राजा के अभाव में जगत् का नाश हो जाता है। राजा प्रजा के आनन्द का हेतु होता है। राजा की उपयोगिता के विषय में उन्होंने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—"इस जगत् की *उत्पत्ति उसकी स्थिति एवं वृद्धि का एकमात्र कारण राजा ही होता है, ऐसा वृद्ध* जनों का मत है। राजा प्रजा के नेत्रों को उसी प्रकार आनन्द देता है जिस प्रकार कि चन्द्र (पूर्णचन्द्र) समुद्र को आह्लादित करता है[2]। प्रजा के सम्यक् नेता राजा के अभाव में प्रजा उसी प्रकार नष्ट हो जाती है जिस प्रकार कि कर्णधार (केवट) के अभाव में नौका समुद्र में जलमग्न होकर नष्ट हो जाती है[3]। इस प्रकार कामन्दक ने सूत्र रूप में राजा के महत्त्व एवं उसकी उपयोगिता पर अपना मत स्पष्ट किया है।

राज्याधिकार-विधि—कामन्दक ने राज्याधिकार के नियमों एवं विधियों पर अपना मत व्यक्त नहीं किया है। इससे ज्ञात होता है कि उनके समय में राज्याधिकार कानून पूर्ण रूप से स्थिर हो चुके थे और उन्हें जनता ने सर्वसम्मति से मान्यता दे दी थी। कामन्दक भी राज्याधिकार के इन नियमों एवं विधियों से सहमत रहे होंगे और इसी लिए उन्होंने इस विषय में टीका-टिप्पणी करना उचित नहीं समझा।

राजा का आचरण—*राजा अपनी प्रजा के समक्ष आदर्श चरित्र की मूर्ति होता* है। वह अपने अधीन प्रजा में उत्तम आचरण का प्रेरक है। इसलिए राजा को परम पवित्र आचरणधारी होना चाहिए। प्राचीन भारतीय विचारधारा के अनुसार राज्य का निर्माण धर्म-संस्थापन हेतु हुआ है। इसलिए राजा का परम कर्तव्य प्रजा को त्रिवर्ग की प्राप्ति द्वारा मोक्ष का मार्ग सुगम एवं सुलभ बनाना है। परन्तु यह तभी सम्भव

१ श्लोक ४ सर्ग ४ कामन्दकनीति।
२ श्लोक ९ सर्ग १ कामन्दकनीति।
३ श्लोक १ सर्ग १ कामन्दकनीति।

है जब राजा स्वयं आचरणवान् हो। कामन्दक ने इसीलिए राजा के निमित्त इन्द्रिय-विजय अनिवार्य बतलाया है। उन्होंने स्पष्ट व्यवस्था दी है कि राजा को षड्वर्ग (काम क्रोध लोभादि) का सर्वथा त्याग करना चाहिए[1]। राजा को आत्मवशी होना चाहिए[2]। उसे धर्मपरायण होना चाहिए, धर्म को ही आगे रखकर अर्थ-प्राप्ति हेतु प्रयत्न करना चाहिए। धर्म से राज्य की वृद्धि होती है और उसके स्वादिष्ठ फल (लक्ष्मी) की प्राप्ति होती है[3]। धार्मिक सम्यक प्रजापालक प्रभु के पुत्रे पर विजयी होनेवाले राजा का सम्मान प्रजा प्रजापति के समान करती है। राजा को अपने मन पर विजयी होना चाहिए। कामन्दक का मत है कि जो राजा अपने मन पर विजयी होने में असमर्थ होता है वह समुद्रपर्यन्त पृथिवी पर क्योंकर विजय प्राप्त कर सकता है[5]। राजा को नय-निपुण होने की परम आवश्यकता है। परन्तु नय का मूल विनय है[6]। इसलिए राजा को विनयशील होना चाहिए।

कामन्दक ने इसी कारण राजा के लिए कतिपय ऐसे दुर्गुणों का उल्लेख किया है जिनके कारण पतित होकर उसका नाश हो जाता है। इन दुर्गुणों को उन्होंने व्यसन के नाम से सम्बोधित किया है। राजा को इन व्यसनों से मुक्त रहना चाहिए। इसे उन्होंने बड़ा महत्त्व दिया है। ये व्यसन मुख्य दो श्रेणियों में विभक्त किए गये हैं जिन्हें उन्होंने क्रोधज और कामज नाम से सम्बोधित किया है। क्रोधज व्यसन के अन्तर्गत वाक्पारुष्य, दण्डपारुष्य और अर्थदूषण—ये तीन व्यसन—बतलाये हैं[7]। कामज व्यसन के अन्तर्गत मृगया, द्यूत, स्त्री-सेवन और मद्यपान—ये चार व्यसन—परिगणित किये हैं[8]। कामन्दक ने इन व्यसनों की निन्दा करते तथा अपने से पूर्व के मनीषियों का मत देते हुए लिखा है—"नीतिज्ञाता महामान्यों ने इन सात व्यसनों को बतलाया है। इनमें एक-एक व्यसन ही नाश का कारण होता है फिर भला जब यह सब एक साथ ही उदय हो जायें तो नाश होने में सन्देह ही क्या है[9]"। इन सातों व्यसनों के परिशीलन से राजाओं की विशेष प्रवृत्ति क्रोध में होती है और धर्म्य श्रेयस्कर, आनन्द प्रकर्षता इन सभी का नाश हो जाता है। ये महान् पुरुषों की विभूतियों को

१ श्लोक ५५ सर्ग १ कामन्दकनीति। २ श्लोक ३४ सर्ग १ कामन्दकनीति।
३ श्लोक १५ सर्ग १ कामन्दकनीति। ४ श्लोक ११ सर्ग १ कामन्दकनीति।
५ श्लोक १० सर्ग १ कामन्दकनीति। ६ श्लोक १९ सर्ग १ कामन्दकनीति।
७ श्लोक ५ सर्ग १४ कामन्दकनीति। ८ श्लोक ६ सर्ग १४ कामन्दकनीति।
९ श्लोक ७ सर्ग १४ कामन्दकनीति।
१ श्लोक ११ सर्ग १४ कामन्दकनीति।

भी जिनकी देवता के समान बुद्धि है, पराक्रमशाल कर देते हैं। ये सभी विषय दुर्लभ हैं[1]।

इस प्रकार कामन्दक ने राजा के चरित्रवान् होने के प्रतिबन्ध को परम महत्त्वशाली माना है। इनके मतानुसार राजा परम पवित्र एवं महान् चरित्रवान् पुरुष होना चाहिए। इसी दृष्टि से कामन्दक ने भी कौटिल्य के समान ही राजा के लिए कतिपय गुण एवं योग्यताएं अनिवार्य बतलाकर उनको धारण करने की व्यवस्था दी है। इन गुणों एवं योग्यताओं को उन्होंने भी कौटिल्य के समान ही आत्मसम्पद् के नाम से सम्बोधित किया है।

आत्मसम्पद्—राजा की सम्पदा को आत्मसम्पद् की संज्ञा दी गयी है। आत्मसम्पद् के अन्तर्गत वे गुण एवं योग्यताएं परिगणित की गयी हैं जो राजपद के लिए वाञ्छनीय समझी गयी हैं। इन गुणों एवं योग्यताओं का उल्लेख कामन्दक ने इस प्रकार किया है—"वाग्मी प्रगल्भ स्मृतिमान् उन्नतिशील बलवान् जितेन्द्रिय तथा दण्ड प्रयोग में कुशल शिल्पविद्या-निपुण उचित बैर करनेवाला दूसरे के अभियोग को कठिनाई से सहन करनेवाला सन्धि-विग्रह के तत्त्व का ज्ञाता विविध प्रतीकारों का जाननेवाला परछिद्र की उपेक्षा करनेवाला गुप्तमन्त्र प्रचारक देश-काल के विभाग का ज्ञाता न्याय में धन-दान करनेवाला और अन्याय का ज्ञाता पुरुष राजपद के योग्य होता है। उसे शोक क्रोध भय बैर स्तम्भता और चपलता से रहित शत्रु को दुःख देनेवाला होना चाहिए। उसे कुमति अभिमान ईर्ष्या और असत्य से रहित तथा वृद्ध पुरुषों के उपदेश से सम्पन्न होना चाहिए। उसका सौन्दर्ययुक्त प्रियदर्शी गुणानुरागी मधुरभाषी होना नितान्त आवश्यक है। इन सभी गुणों एवं योग्यताओं का समुच्चय आत्मसम्पद् कहलाता है[2]।

इस प्रकार कामन्दक के मतानुसार आत्मसम्पन्न राजा होना चाहिए। कामन्दक ने आत्मसम्पद्-हीन पुरुष को राजपद के सर्वथा अयोग्य बतलाया है। कौटिल्य ने भी राजा के लिए आत्मसम्पद् को धारण करने की व्यवस्था दी है। आत्मसम्पद् के अन्तर्गत उन्होंने भी विविध महत्त्वपूर्ण गुणों एवं योग्यताओं का स्थान दिया है जिनका धारण करना साधारण कोटि के राजाओं के लिए सरल नहीं है[3]।

राजा के कर्तव्य—कामन्दक ने राजा के कर्तव्यों का स्पष्ट वर्णन किया है और कौटिल्य के समान राजा के कर्तव्यों को राजवृत्त नाम से सम्बोधित किया है। उन्होंने

१ श्लोक ६७ सर्ग १४ कामन्दकनीति। २ श्लोक १५से१९ प्रकरण सर्ग ४ वही। ३ वार्ता ६ अ० १ अधि० ६ अर्थशास्त्र।

राजा के इन कर्तव्यों को सूचीबद्ध करने का भी प्रयास किया है[1]। राजा के इन कर्तव्यों को मुख्य दो श्रेणियों में परिभाषित किया जा सकता है। प्रथम श्रेणी के अन्तर्गत राजा के उन कर्तव्यों को स्थान दिया जा सकता है, जो कि परम्परागत चले आ रहे थे और जिन्हें प्राचीन भारत के लगभग सभी राजशास्त्र-प्रणेताओं ने राजा के कर्तव्य स्वीकार किया है। दूसरी श्रेणी में राजा के वे कर्तव्य आते हैं, जिन पर कामन्दक ने विशेष रूप से जोर दिया है और वे हैं राजा के धर्म-सम्बन्धी कर्तव्य।

(क) परम्परागत कर्तव्य—राजा के परम्परागत कर्तव्य विविध प्रकार के हैं। इन कर्तव्यों को विधिवत् समझने के लिए उन्हें चार श्रेणियों में विभक्त करना उचित जान पड़ता है। कामन्दक ने राजा के कुछ ऐसे कर्तव्य बतलाये हैं जिनका सम्बन्ध उसके वैयक्तिक जीवन से है। उसके ये कर्तव्य अपने प्रति हैं। कामन्दक ने राजा के निमित्त ऐसे भी कर्तव्य निर्धारित किये हैं जिनके पालन से राजा के कुटुम्ब का कल्याण होता है। तीसरी श्रेणी में राजा के वे कर्तव्य हैं जिनके विधिवत् पालन से अधीन प्रजा का कल्याण होता है। अन्तिम श्रेणी में राजा के उन कर्तव्यों को स्थान दिया गया है जिनका सम्बन्ध पर-राज्यों से है।

इस प्रकार कामन्दक द्वारा वर्णित राजा के कर्तव्यों की चार श्रेणियाँ हैं— अपने प्रति कर्तव्य, अपने कुटुम्बियों एवं बन्धु जनों के प्रति कर्तव्य, अपनी प्रजा के प्रति कर्तव्य और पर-राज्यों के प्रति कर्तव्य[2]। चारों प्रकार के इन कर्तव्यों का संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है—

(१) अपने प्रति कर्तव्य—राजतन्त्रात्मक राज्यों में राजा राज्य का प्राण माना गया है। इन राज्यों में राजपद सर्वोपरि होता है इसलिए राजा का यह परम कर्तव्य हो जाता है कि वह अपने पद के योग्य सदैव बना रहे। ऐसा समय न आने पावे जब वह लोक की दृष्टि में राजपद के अयोग्य हो जावे। इसलिए राजा का यह परम कर्तव्य होता है कि वह ऐसा आचरण करे, जिससे अपने पद के योग्य बना रहे। कामन्दक ने इसीलिए राजा के निमित्त कुछ ऐसे कर्तव्यों का निर्धारण किया है जिनके पालन से राजा अपने पद के योग्य बना रहता है। इन कर्तव्यों में आत्म-विजय एवं आत्म-संयम पर विशेष महत्त्व दिया गया है[1]। इस लिए कामन्दक के मतानुसार राजा का यह कर्तव्य है कि वह मन और इन्द्रियों पर विजयी होने का सतत अभ्यास करता रहे। इस विषय में उसका दूसरा कर्तव्य अपना शारीरिक मानसिक बौद्धिक एवं आत्मिक विकास करना है। इसलिए राजा को अपने शरीर, मन बुद्धि एवं

१ श्लोक १४ सर्ग १ कामन्दकनीति　　२ श्लोक ५५ सर्ग १ कामन्दकनीति

आत्मा के विकास हेतु निरन्तर प्रयत्नशील रहना चाहिए। इसीलिए कामन्दक ने राजा के लिए विविध प्रकार के व्यायाम, शस्त्र-प्रयोग, रथ, अश्व, गज आदि की सवारी का अभ्यास करना, वृद्ध-सेवक होना, सद् शास्त्रों का अध्ययनशील, विद्या-प्रेमी, सज्जन पुरुषों का सम्मान करनेवाला होना आदि कर्तव्य निर्धारित किये हैं[1]। इसके साथ-साथ राजा को उन उपायों एवं साधनों को जुटाने का भी विधान किया गया है, जिनके अपनाने से उसकी जीवन-रक्षा हो सके।

(२) कुटुम्बियों एवं बन्धुजनों के प्रति राजा के कर्तव्य—कामन्दक ने राज्य में दो प्रकार के कोप बतलाये हैं, जिन्हें उन्होंने आभ्यन्तर कोप और बाह्य कोप के नाम से सम्बोधित किया है। इन दो प्रकार के कोपों में आभ्यन्तर कोप अपेक्षाकृत अधिक अनिष्टकारी होता है। कामन्दक ने आभ्यन्तर कोप की व्याख्या करते हुए बतलाया है कि पुरोहित, मन्त्री, कुमार और कुटुम्बियों द्वारा किया गया कोप आभ्यन्तर कोप होता है[2]। इसलिए इस कोप के शमन हेतु राजा के कुटुम्बियों एवं उनके बन्धु-बान्धवों के कोप को भी शान्त रखना आवश्यक होता है। कामन्दक ने व्यवस्था दी है कि राजा को अपने कुटुम्बियों एवं बन्धु-बान्धवों के प्रति स्नेहपूर्ण व्यवहार करना चाहिए और उनकी रक्षा एवं भरण-पोषण आदि की सम्यक् व्यवस्था करनी चाहिए, अपने बन्धु-बान्धवों का संग्रह करना चाहिए और इस प्रकार अपनी वृद्धि करते रहना चाहिये[3]।

(३) अपनी प्रजा के प्रति कर्तव्य—कामन्दक ने राज्य की प्रजा के प्रति राजा के विविध कर्तव्य बतलाये हैं। उनमें कुछ इस प्रकार हैं—"प्राणि मात्र के प्रति अहिंसा भाव की स्थापना, अधर्म प्रतिबन्ध, अधार्मिकों का परित्याग, दुष्ट-निग्रह, सन्त-रक्षण, प्राणिमात्र के प्रति न्यायपूर्ण व्यवहार, राज्य में न्याय-व्यवस्था की स्थापना, राज्य के कण्टकों का शोधन, राज्य के मन्त्री, प्रधान, अमात्य, पुरोहित, अध्यक्ष तथा राज्य के अन्य कर्मचारियों की नियुक्ति, उनमें अनुशासन, उनके कार्य-निरीक्षण, उनकी वृत्ति, उनमें सुमति की स्थापना आदि की व्यवस्था, प्रजा से न्यायपूर्ण कर प्राप्त करना, आवश्यकतानुसार कर-मुक्ति की घोषणा करना, राज्य की प्रकृतियों के व्यसनों तथा उनके कोप का गूढ़ एवं शान्त रखने के उपाय करना, राज्य में सम्पुष्ट एवं असम्पुष्ट वर्ग का ज्ञान प्राप्त कर उनके प्रति उचित व्यवहार करना, प्रजा की आजीविका का समुचित प्रबन्ध करना आदि—ये सभी और इसी प्रकार के अन्य सभी कार्य राजा के अपनी प्रजा के प्रति कर्तव्य हैं।

१ श्लोक ३२से ४१ सर्ग १३ कामन्दकनीति २ श्लोक २ सर्ग ११ कामन्दकनीति
३ श्लोक ५ सर्ग ११ कामन्दकनीति ४ श्लोक ४५से५८ सर्ग ११ काम०

(४) पर-राज्यों के प्रति कर्तव्य—कामन्दक ने राजा के कुछ ऐसे कर्तव्य बतलाये हैं, जिनका सम्बन्ध पर-राज्यों से होता है। इस विषय में राजा का सर्वप्रथम कर्तव्य मन्त्र-वरण बतलाया गया है। मन्त्र-वरण से उनका तात्पर्य कार्य-निर्णय से है, अर्थात् राजा को यह निर्णय करना चाहिए कि युद्ध-काल अथवा ऐसी ही अन्य परिस्थितियों में किस नीति का अवलम्बन किया जाय। इस मन्त्र का निर्णय मन्त्रियों के परामर्श से होना चाहिए। मन्त्र-रक्षा का समुचित प्रबन्ध करना उसको समय पर कार्यान्वित करने की व्यवस्था करना राजा का कर्तव्य बतलाया गया है। पर-राज्यों के प्रति यथायोग्य आवश्यकतानुसार साम दान भेद दण्ड आदि उपायों का प्रयोग करना राजा का कर्तव्य है। अपने राज्य से पर-राज्यों में और पर-राज्यों से अपने राज्य में जो लोग आते-जाते रहते हैं, उसकी व्यवस्था राजा द्वारा की जानी चाहिए। दूत-प्रेषण एवं पर-राज्यों के दूतों की अपने राज्य में सुव्यवस्था करना भी राजा का कर्तव्य बतलाया गया है। शत्रु, मित्र उदासीन एवं मध्यस्थ राजाओं की चेष्टाओं का ज्ञान प्राप्त करते रहना चाहिए। राजा का यह भी कर्तव्य है कि उसे अपनी मित्र-संख्या में वृद्धि और शत्रु-संख्या में न्यूनता लाने का सतत प्रयत्न करते रहना चाहिए। इस प्रकार राजा के ऐसे ही अनेक कर्तव्य निर्धारित किये गये हैं, जो पर-राज्यों के प्रति यथायोग्य व्यवहार करने पर आश्रित हैं[१]।

(आ) अर्थ-सम्बन्धी कर्तव्य—कामन्दक अर्थ-प्रधान राजनीतिक विचारधारा के पोषक हैं। इसीलिए उन्होंने अर्थ की प्रधानता को मान्यता दी है। कामन्दक ने स्वयं स्वीकार किया है कि वह कौटिल्य की शिष्य-परम्परा के अन्तर्गत हैं। इस दृष्टि से भी उन्होंने राज्य का मूल अर्थ माना है। इसीलिए उन्होंने यहाँ राजा के अनेक कर्तव्य निश्चित किये हैं अर्थ-सम्बन्धी उसके कर्तव्यों पर विशेष जोर दिया है। कामन्दक के मतानुसार राजा का परम कर्तव्य राज्य में सम्यक आर्थिक व्यवस्था की स्थापना है। कामन्दक की यह आर्थिक व्यवस्था चतुःसूत्री है।

चतुःसूत्री अर्थ-व्यवस्था—कामन्दक द्वारा प्रतिपादित चतुःसूत्री अर्थ-व्यवस्था के चार सूत्र अर्थोपार्जन अर्थरक्षण अर्थवर्धन और अर्थवितरण हैं। इस प्रकार राजा का परम कर्तव्य है कि वह अपने राज्य में अर्थोपार्जन हेतु प्रजा के समक्ष अधिक-से-अधिक सुविधाएँ उपस्थित करे जिससे प्रजा अधिक-से-अधिक अर्थोपार्जन करने में समर्थ हो सके और राजकोष भी सम्पन्न एवं समृद्ध बना रहे। अर्थोपार्जन की समुचित व्यवस्था हो जाने पर भी उपार्जित अर्थ की सम्यक् रक्षा की सुव्यवस्था राजा द्वारा की जानी

१ श्लोक ४४ ४६ ४९ सर्ग ११ कामन्दकनीति।

चाहिए। कामन्दक इतने मात्र से ही सन्तुष्ट नहीं हैं। राज्य में अर्थोपार्जन किया गया है और उसकी सम्यक् रक्षा की भी सुव्यवस्था कर दी गयी है, परन्तु यदि उस अर्जित एवं रक्षित अर्थ की वृद्धि के साधन नहीं हैं तो वह अर्थ से प्रगतिशील राष्ट्र की आवश्यकताओं की पुष्टि करने की सामर्थ्य कदापि न रखेगी। अतः इस कोटि का अर्थ प्रगतिशील राष्ट्र के मार्ग को प्रशस्त करने में सर्वथा असमर्थ रहेगा। ऐसा राष्ट्र अपने समकालिक अन्य प्रगतिशील राष्ट्रों की दौड़ में पीछे रह जायगा और कुछ ही समय में उसका पतन हो जायगा। इसीलिए कामन्दक ने अर्जित एवं रक्षित अर्थ की वृद्धि करने का भार राजा को सौंपा है। इतना ही नहीं कामन्दक इससे भी आगे जाते हैं। उन्होंने राष्ट्र द्वारा अर्जित रक्षित एवं वृद्धिशील अर्थ का न्यायपूर्ण वितरण किये जाने का भार भी राजा के सिर पर रख दिया है। किसी राष्ट्र के पास प्रचुर धन रक्षित है और उस धन की वृद्धि के भी पुष्ट साधन उपलब्ध हैं, परन्तु उसके वितरण की न्यायपूर्ण व्यवस्था के अभाव में वह राष्ट्र शीघ्र नष्ट हो जाता है। इस प्रकार के राज्य में असमानता एवं विषमता की स्थापना हो जाती है, जो उस राज्य के पतन का कारण होती है। इसीलिए कामन्दक ने राजा के लिए यह कर्तव्य निर्धारित किया है कि राजा के द्वारा उसके अधीन राज्य में न्यायपूर्ण अर्थ-वितरण की व्यवस्था स्थापित की जानी चाहिए[1]।

कामन्दक ने इस चतुर्मुखी आर्थिक योजना की भित्ति न्याय पर स्थापित की है। उनका मत है कि राज्य के प्रत्येक क्षेत्र में अर्थोपार्जन न्यायपूर्ण ही किया जाना चाहिए। अन्याय द्वारा अर्थोपार्जन किया जाय कामन्दक ने इसका विरोध किया है। इसलिए कामन्दक के मतानुसार राजा का यह परम कर्तव्य है कि उसे अपने अधीन राज्य में अर्थोपार्जन की ऐसी व्यवस्था स्थापित करनी चाहिए, जिसका आधार न्याय पर अवलम्बित हो और इस व्यवस्था के अनुसार ही राज्य में अधिक-से-अधिक अर्थोपार्जन किया जा सके उपार्जित अर्थ की रक्षा एवं उसकी वृद्धि हो सके और इस प्रकार अर्जित रक्षित एवं वृद्धि को प्राप्त हुए अर्थ का न्यायपूर्ण वितरण प्रजा में हो सके। इस योजना के कार्यान्वित हो जाने से राज्य में सम्यक् एवं न्यायपूर्ण आर्थिक व्यवस्था की स्थापना हो जायगी जिससे सार्वजनिक कल्याण सम्भव हो सकेगा।

इस प्रकार कामन्दक ने राजा के विविध कर्तव्यों का उल्लेख किया है। इन कर्तव्यों में चतुर्मुखी अर्थव्यवस्था सम्बन्धी राजा के कर्तव्यों का उल्लेख कर उन्होंने इस क्षेत्र में मौलिकता लाने का प्रयत्न किया है। इस क्षेत्र में कामन्दक की यह देन

1 सर्ग १८ श्लोक १ कामन्दकनीति।

उल्लेखनीय है। कामन्दक द्वारा प्रतिपादित यह आर्थिक व्यवस्था आधुनिक कल्याणकारी राज्यों की आर्थिक व्यवस्था के समान ही है। इस दृष्टि से यह बड़े महत्त्व की है।

राजा की सुरक्षा—राजतंत्रात्मक राज्यों में राजपद की प्राप्ति हेतु अनेक पुरुष प्रयत्नशील रहते हैं और राजा के विरुद्ध अनेक गुप्त षड्यन्त्र रचा करते हैं, विशेष कर ऐसे युग में जब कि राज्यपद वीरता का पुरस्कार माना गया हो। ऐसे युग में राजा के जीवन के नाश हेतु बाह्य एवं आन्तरिक भय प्रतिक्षण उपस्थित रहते हैं। राजा के शत्रु और विरोधीगण हर समय राजा का वध करने के अवसरों की खोज में लगे रहते हैं। ऐसी परिस्थिति में राजा की सुरक्षा का प्रश्न अति गहन एवं जटिल हो जाता है। इसीलिए कामन्दक ने उन उपायों एवं साधनों का उल्लेख किया है जिनके अपनाने से राजा की सुरक्षा सम्भव हो जाती है। इस विषय में कामन्दक ने राजा की सुरक्षा के लिए उपायों एवं साधनों का उल्लेख किया है वे वही हैं, जिनका वर्णन कौटिल्य ने इस प्रसंग में अपने अर्थशास्त्र में किया है।

मंत्रिमण्डल—कामन्दक ने अपने नीति-ग्रन्थ में मंत्रिपरिषद् अथवा अमात्यपरिषद् का उल्लेख नहीं किया। उन्होंने मंत्रि-मण्डल का वर्णन किया है[1]। इस वर्णन से यह ज्ञात होता है कि कामन्दक द्वारा वर्णित मंत्रिमण्डल अपने पूर्व के आचार्यों द्वारा वर्णित मंत्रिपरिषद् अथवा अमात्यपरिषद् से कुछ विशेषता रखता है। ऐसा ज्ञात होता है कि कामन्दक द्वारा वर्णित मंत्रिमण्डल के सदस्य मंत्री अथवा विशिष्ट अमात्य मात्र थे। सभी अमात्यों को मंत्रिमण्डल की सदस्यता का अधिकार प्राप्त नहीं था। परन्तु कामन्दक के पूर्व जो आचार्य हुए हैं और जिन्होंने मंत्रिपरिषद् अथवा अमात्य-परिषद् का वर्णन किया है उनमें बहुत कम ऐसे आचार्य हैं, जिन्होंने यह अन्तर रखने की व्यवस्था दी हो।

कामन्दक ने मंत्री, अमात्य और सचिव का जो वर्णन किया है, उससे इतना अवश्य स्पष्ट है कि राज्य में ये भिन्न पद थे। परन्तु इन पदों में क्या भिन्नता थी इसका उल्लेख कामन्दक द्वारा कहीं भी स्पष्ट नहीं किया गया। अमात्य के कर्तव्यों का बोध कराते हुए कामन्दक ने अपना मत व्यक्त किया है—"धन, जनपद की प्राप्ति कर्म का अनुष्ठान, भविष्य में फल की आशा, आय-व्यय, दण्डनीति, शत्रु-प्रतिरोध, व्यसन-प्रतिकार, राज्याभिषेक—ये सभी अमात्य के कर्म हैं। अमात्य के व्यसन-

१ श्लोक ६७ सर्ग ११ कामन्दकनीति
२ श्लोक १६,१४ सर्ग [illegible] कामन्दकनीति

ग्रस्त हो जाने से यह सभी कार्य नष्ट हो जाते हैं। व्यसनग्रस्त अमात्यों वाला राजा पर-कटे पक्षी की भाँति पतन को प्राप्त हो जाता है[1]। अमात्य और युवराज राजा की दो भुजाएँ हैं[2]। मंत्री को राजा के नेत्र की उपाधि दी गयी है[3]। इन तथ्यों के आधार पर ज्ञात होता है कि मंत्री राजा का पथ-प्रदर्शक और अमात्य मंत्री द्वारा प्रदर्शित पथ पर राजा को ले चलने के निमित्त समस्त शक्ति साधन आदि को प्रस्तुत करनेवाला होता था। इस प्रकार मंत्री राजा का आन्तरिक चक्षु (बुद्धि) और अमात्य उसकी क्रिया का केन्द्र होकर राज्य-संचालन में सहयोग देता था। एक प्रसंग में राजा अपने मंत्रिवर, पुरोहित अमात्य सुहृद् गणों से परिवेष्टित दिखलाया गया है[4]।

मंत्रिमण्डल में एक मुख्य मंत्री भी होता था। कामन्दक ने इस मुख्य मंत्री को मंत्रिवर की संज्ञा दी है। मंत्रिमण्डल में मंत्रिवर की नियुक्ति किस प्रकार अथवा किन सिद्धान्तों के आधार पर की जाती थी इस विषय पर कुछ भी कहा नहीं जा सकता। इतना अवश्य स्पष्ट है कि मंत्रिमण्डल के अन्य सदस्यों की अपेक्षा मंत्रिवर का राजा से सम्पर्क अधिक घनिष्ठ रहता था और राजा को अन्तिम परामर्श देने का अधिकार उसे था।

इस प्रकार कामन्दक का मंत्रिमण्डल किन्हीं विषयों में अपने पूर्व की मंत्रिपरिषद् एवं अमात्य परिषदों से भिन्न है। परन्तु इस भिन्नता को कामन्दक ने स्पष्ट नहीं किया है।

मंत्रिमण्डल की सदस्य-संख्या—मंत्रिमण्डल की सदस्य-संख्या के विषय में भी कामन्दक ने अपना मत स्पष्ट व्यक्त नहीं किया है। उन्होंने अपने पूर्व के राजशास्त्र के विभिन्न प्रणेताओं के मत उद्धृत किये हैं और इस प्रकार परोक्ष विधि से मंत्रिमण्डल की सदस्य-संख्या का उल्लेख किया है। उन्होंने मनु, बृहस्पति और उशना के मत देते हुए कहा है कि मनु ने मंत्रिमण्डल में बारह सदस्य, बृहस्पति ने सोलह और उशना ने बीस सदस्य रखने की व्यवस्था दी है[5]। इसके अतिरिक्त उन्होंने कतिपय अन्य आचार्यों के मत भी उद्धृत किये हैं। इन आचार्यों के मतानुसार मंत्रिमण्डल की सदस्य-संख्या पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिए। उनके मतानुसार सदस्यों की संख्या आवश्यकता के अनुसार होनी चाहिए[6]। ऐसा ज्ञात होता

१ श्लोक २५ सर्ग १३ कामन्दकनीति   २ श्लोक २६ सर्ग १७ कामन्दकनीति
३ श्लोक १७ सर्ग १७ कामन्दकनीति   ४ श्लोक ११ सर्ग १५ कामन्दकनीति
५. श्लोक ६७ सर्ग ११ कामन्दकनीति   ६ श्लोक ६८ सर्ग ११ कामन्दकनीति

है कि कामन्दक इस अन्तिम मत के पोषक हैं। यह अन्तिम मत कौटिल्य और उनके अनुयायियों का मत जान पड़ता है। अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने मन्त्रिपरिषद् की सदस्य संख्या के विषय में यही मत व्यक्त किया है[1]।

मन्त्रिमण्डल का अध्यक्ष—कामन्दक ने कामन्दक-नीति में किसी प्रसंग में भी मन्त्रिमण्डल के अध्यक्ष के विषय में किसी प्रकार का भी संकेत नहीं किया है। मन्त्रिमण्डल की स्वतन्त्र बैठकें होती होंगी इस विषय में भी कामन्दक मौन हैं। इसलिए इस विषय पर भी कोई प्रकाश नहीं डाला जा सकता। इसी प्रकार मन्त्रिमण्डल के सदस्यों के सामूहिक उत्तरदायित्व एवं व्यक्तिगत उत्तरदायित्वादि विषयों पर भी कुछ कहा नहीं जा सकता।

कार्य-प्रणाली—कामन्दक ने राजा के लिए मन्त्रणा परम आवश्यक बतलायी है। उनका मत है कि राजा को अपने मन्त्रियों द्वारा दी गयी मन्त्रणा का तिरस्कार नहीं करना चाहिए। उनके मतानुसार जो राजा अपने मन्त्रियों द्वारा दी गयी मन्त्रणा का तिरस्कार अथवा उपेक्षा करता है वह शीघ्र ही पतन को प्राप्त हो जाता है[2]। यहाँ तक कि यदि किसी कार्य के आरम्भ करने के विषय में मत निश्चय किया जा चुका है परन्तु उस मन्त्रणा को कार्यरूप देने का समय व्यतीत हो गया है और उक्त समय के व्यतीत हो जाने पर उसे कार्यान्वित करना है तो ऐसी परिस्थितियों में भी उस विषय पर पुनः मन्त्रणा कर मत का निश्चय करना चाहिए—ऐसा कामन्दक का मत है[3]। प्रत्येक कार्य का आरम्भ उस कार्य से सम्बन्धित मतिनिर्णय हो जाने के उपरान्त होना चाहिए। प्रत्येक मन्त्री से पृथक्-पृथक् मन्त्रणा लेकर फिर समस्त मन्त्रियों से सामूहिक मत लेना चाहिए। इस प्रणाली से जिस विषय में बहुमत (बहुपक्ष) ज्ञात पड़ता हो उसी को कार्यान्वित करना चाहिए[4]। परन्तु कामन्दक इतने पर ही सन्तुष्ट नहीं हैं। उन्होंने मत-निर्णय में बहुमत को महत्त्व अवश्य दिया है, फिर भी उन्होंने मतनिर्णय हेतु कतिपय अन्य प्रतिबन्ध भी लगाये हैं। यह कामन्दक की अपनी सूझ है। उनके मतानुसार बहुमत का आश्रय लेकर निर्णयात्मक मत शास्त्रानुसार, कल्याणकारी बुद्धि के अनुकूल एवं पूर्व अनुभव पर निर्भर होना चाहिए। इसका अतिक्रमण कर जिस मत का निर्णय किया गया है, वह वास्तविक मत नहीं है। इस प्रकार मत-निर्णय करने के पूर्व मन्त्रिमण्डल के सदस्यों के पृथक्-पृथक् एवं उनके सामूहिक मत ग्रहण करना तत्पश्चात् यह देख लेना कि उक्त मत

१ श्लोक ५१ सर्ग १५ कामन्दकनीति   २ श्लोक ७५ सर्ग ११ कामन्दकनीति
३ श्लोक ५९ सर्ग ११ कामन्दकनीति   ४ श्लोक ७ सर्ग ११ कामन्दकनीति

शास्त्र और युक्ति के अनुकूल एवं हितकारी और पूर्व अनुभव पर आश्रित है—मन्त्र निर्णय हेतु आवश्यक बतलाया गया है। इस प्रकार मन्त्रिमण्डल के सदस्यों का महा पक्ष-मात्र ही मन्त्र-निर्णय का आधार नहीं स्वीकार किया गया है।

मन्त्रिमण्डल के सर्वश्रेष्ठ सदस्य को कामन्दक ने मन्त्रिप्रवर के नाम से सम्बोधित किया है[1]। मन्त्रिमण्डल में मन्त्रिप्रवर का स्थान परम महत्त्वपूर्ण बतलाया गया है। कामन्दक ने यह भी व्यवस्था दी है कि राजा के अस्वस्थ होने उसके चित्त के व्यग्र होने एवं ऐसे ही अन्य अवसरों पर मन्त्रिप्रवर को राजा के स्थान में उसके कर्तव्यों का अनुष्ठान करना चाहिए और इस प्रकार राजा की अनुपस्थिति में उसे राज्य सञ्चालन करना चाहिए[3]।

मन्त्र का महत्त्व—कामन्दक ने मन्त्र को बीज बतलाया है। दूसरे शब्दों में उन्होंने मन्त्र को ही राज्य का मूल माना है। कामन्दक का मत है कि जो राजा इस मन्त्रबीज की रक्षा करता है, वह समुन्नति का पोषण करता है। मन्त्र के भिन्न होने पर निश्चय ही भेद उत्पन्न होता है। मन्त्र के गुप्त रहने में ही राज्य की रक्षा होती है[4]। कामन्दक ने उस मन्त्र की प्रशंसा की है जो पश्चात्ताप देनेवाला न हो, सम्यक् अनुपचित फल देनेवाला हो और अल्प काल में ही अभीष्ट फल दे सकता हो[5]।

मन्त्र के अंग—कामन्दक ने मन्त्र के पाँच अंग बतलाये हैं। मन्त्र के ये पाँच अंग सहाय, साधन, उपाय, देशकाल-विभाग और विपत्ति-प्रतीकार बतलाये गये हैं[6]। कौटिल्य ने भी मन्त्र के पाँच अंग माने हैं। मन्त्र के ये पाँच अंग क्रमशः वही हैं, जिनका उल्लेख कामन्दक ने किया है[7]। इससे ज्ञात होता है कि कामन्दक ने मन्त्र के अंगों के विषय में कौटिल्य के मत का ही अनुसरण किया है।

मन्त्र-भेद—मन्त्र-भेद राज्य के लिए अत्यन्त अनिष्टकारी बतलाया गया है। इस लिए कामन्दक ने मन्त्र-भेद से मन्त्र की रक्षा करना परम आवश्यक बतलाया है। उन्होंने मन्त्र-भेद के कतिपय कारणों का भी उल्लेख किया है। मन्त्र-भेद के कारण मद, प्रमाद, काम, सुप्तप्रलाप आदि बतलाये गये हैं। स्त्रियों से परामर्श करना भी मन्त्र-भेद

१ श्लोक ७ सर्ग ११ कामन्दकनीति। २ श्लोक ४६ सर्ग १५ कामन्दकनीति।
३ श्लोक ६ सर्ग ११ कामन्दकनीति। ४ श्लोक ५३ सर्ग ११ कामन्दकनीति।
५ श्लोक ५५ सर्ग ११ कामन्दकनीति।
६ श्लोक ५६ सर्ग ११ कामन्दकनीति।
७ वार्ता ४० अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र।
८ श्लोक ६४ सर्ग ११ कामन्दकनीति।

कर देता है—ऐसा कामन्दक का मत है । इस लिए मन्त्र-रक्षा के लिए मन्त्र-भेद करनेवाले इन कारणों से मन्त्र की रक्षा की जानी चाहिए।

मन्त्रणा-स्थान—मन्त्रणा-स्थान बड़ा सुरक्षित होना चाहिए। मन्त्रणा-स्थान का कोई भी भाग ऐसा नहीं होना चाहिए, जहाँ कोई व्यक्ति छिपकर मन्त्रणा-सम्बन्धी बात सुनने का अवसर प्राप्त कर सके। कौटिल्य ने तो मन्त्रणा-स्थान को पशु-पक्षियों की भी पहुँच के बाहर रखने का आदेश दिया है। कामन्दक के मतानुसार मन्त्रणा-स्थान स्तम्भों से रहित होना चाहिए, जिससे स्तम्भ की आड़ में छिप कर बैठने का अवसर किसी व्यक्ति को भी प्राप्त न हो सके। मन्त्रणा-स्थान सर्व-साधारण की पहुँच से भी परे होना चाहिए। इस प्रकार के गुप्त स्थान में प्रासाद के ऊपर, अथवा निर्जन वन में व्याकुलता-रहित चित्त से मन्त्र का निर्णय करना चाहिए[1]।

मन्त्र-स्थान के विषय में प्राचीन भारत के लगभग सभी राजशास्त्र-प्रणेताओं ने इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं और उन्होंने मन्त्र-रक्षा परम आवश्यक मानी है।

राजकर्मचारियों की आवश्यकता—राज्य सञ्चालन महान् कार्य होता है। इस महान् कार्य का सम्पादन एक-दो व्यक्तियों के द्वारा नहीं हो सकता। इस कार्य के सम्पादन हेतु छोटे-बड़े अनेक कर्मचारियों की आवश्यकता होती है। इन कर्मचारियों एवं इनके आश्रितों के भरण-पोषण उनकी शिक्षा-दीक्षा आदि का भार राज्य पर ही होता है। इसीलिए कामन्दक ने राजा का यह भी एक कर्तव्य निर्धारित किया है कि उसे अपने अधीन प्रजा की वृत्ति की भी सम्यक् व्यवस्था करनी चाहिए। इस विषय में कामन्दक ने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—"राजा का यह परम कर्तव्य है कि उसे अपने अधीन प्राणिमात्र को उसी प्रकार आजीविका देनी चाहिए, जिस प्रकार मेघ जगत् को जल-वृष्टि द्वारा तृप्त करते रहते हैं[2]। जो राजा अपनी प्रजा के निमित्त उसकी आजीविका का समुचित प्रबन्ध नहीं करता उस राजा की प्रजा अपने इस राजा का इस प्रकार परित्याग कर देती है जिस प्रकार कि सूखे वृक्ष का परित्याग पक्षी कर देते हैं[3]। अपने अधीन प्रजा को आजीविका देने के निमित्त एवं राज्य की सम्पत्ति की वृद्धि करने के लिए, उसे अपने राज्य में अनेक उद्योग-धन्धों एवं व्यवसायों की स्थापना एवं उनके सञ्चालन की सम्यक् व्यवस्था करनी चाहिए[4]। इन उद्योग-धन्धों एवं व्यवसायों के सम्यक् सञ्चालन हेतु विविध विषयों के विशेषज्ञों एवं कुशल अनेक पुरुषों की नियुक्ति की आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त इनके

१ श्लोक ५९ सर्ग ११ कामन्दकनीति। २ श्लोक ११ सर्ग ११ कामन्दकनीति।
३ श्लोक ५१ सर्ग ५ कामन्दकनीति। ४ श्लोक ७९ सर्ग ५ कामन्दकनीति।

अनेक सहायकों की भी आवश्यकता पड़ती है। परन्तु इन सभी पुरुषों की नियुक्ति नियमानुसार होनी चाहिए और नियमानुसार उनकी वृत्ति का निर्धारण किया जाना चाहिए। कामन्दक ने भी इन नियमों एवं सिद्धान्तों का उल्लेख संकेत रूप में किया है।

प्रत्याशी की योग्यता—राज्य में छोटे-बड़े अनेक पद होते हैं। इन पदों के अनुरूप ही पुरुषों की नियुक्ति की जानी चाहिए। इस लिए कामन्दक ने इन पदों के अनुरूप ही कतिपय योग्यताओं का निर्धारण किया है। इनमें कुछ योग्यताओं का उल्लेख नीचे किया जा रहा है—

(अ) प्रत्याशी के कुल का महत्त्व—प्रत्याशी को राजकर्मचारी के पद पर नियुक्त करने के लिए उसके कुल की भी छान-बीन होनी चाहिए—कामन्दक का ऐसा मत है। जिन कुलों में वृणित निन्दित एवं अशुचि पुरुष उत्पन्न हुए हैं उनमें साधु पुरुषों का जन्म बहुत कम सम्भव होता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक कुल की अपनी विशेषता भी होती है। कुछ कुल वीरता के लिए, कुछ कला के लिए, कुछ व्यापार-कार्य के लिए, कुछ विशेष बुद्धि आदि के लिए प्रसिद्ध होते हैं। इस लिए प्रत्याशी जिस कुल में उत्पन्न हुआ है उस कुल के अनुरूप कार्य में उसकी नियुक्ति होनी ठीक है। सम्भवतः इन्हीं विचारों से प्रेरित होकर कामन्दक ने राजकर्मचारियों की नियुक्ति में प्रत्याशी के कुल को भी महत्त्व दिया है[1]।

(आ) विद्या—कामन्दक ने राजकर्मचारी की नियुक्ति में विद्या को भी उचित स्थान दिया है। जिस पद पर प्रत्याशी की नियुक्ति होने जा रही है उस पद के अनुरूप उसमें विद्या भी होनी चाहिए[2]। आधुनिक युग में भी राज्य की सेवा हेतु विद्या-सम्बन्धी योग्यता अनिवार्य मानी गयी है।

(इ) शुचिता—राज्य-प्रशासन में शुचि पुरुषों की निरन्तर आवश्यकता होती है। जिस राज्य में जितने ही अधिक संख्या में शुचि पुरुष होते हैं, वह राज्य उतना ही सम्पन्न एवं कल्याणकारी होता है। अशुचि राजकर्मचारियों से राजा और प्रजा दोनों का अकल्याण होता है और जिस हेतु उनकी नियुक्ति की जाती है, उसी की क्षति उनके द्वारा होती है। राज्य में भ्रष्टाचार और अशुचिता का प्रारम्भ हो जाता है। इसलिए राज्य में विभिन्न पदों पर शुचि पुरुषों की नियुक्ति होनी चाहिए। इसीलिए कामन्दक ने शुचि पुरुषों की नियुक्ति की व्यवस्था दी है[3]।

१ श्लोक ११ १२ सर्ग ५ कामन्दकनीति।
२ श्लोक १९ ११ सर्ग ५ कामन्दकनीति।
३ श्लोक ७५ सर्ग ५ कामन्दकनीति।

(ई) उद्योग-सम्पन्नता—उद्योगशील पुरुष ही कार्य-सम्पन्न करने में समर्थ होता है। आलसी एवं प्रमादी पुरुष राज्य में आपदा के कारण होते हैं। ऐसी परिस्थिति में उद्योगशील पुरुषों को ही राज्य के विभिन्न पदों पर नियुक्त करना उचित होगा। इसीलिए कामन्दक ने राजकर्मचारियों की नियुक्ति हेतु उद्योगशीलता अथवा उद्योग-सम्पन्नता को अनिवार्य माना है[१]।

(उ) ज्ञान—ज्ञानी पुरुष अपने कर्तव्य एवं अकर्तव्य को तुरन्त समझ लेता है। उसके कर्तव्य-मार्ग में जो रुकावटें एवं कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं, उनके कारण एवं समाधान के उपाय वह तुरन्त खोज लेता है। उसके मार्ग में जो आपदाएँ आती रहती हैं, उनके शमन के उपायों को भी वह अपने ज्ञान के बल पर तुरन्त निकाल लेता है। इसलिए राज्य में ऐसे राजकर्मचारियों की परम आवश्यकता होती है जो ज्ञानवान हों। इसी उद्देश्य से कामन्दक ने अमात्यों के लिए ज्ञानवान् होना अनिवार्य माना है[२]।

(ऊ) अनुभव—जीवन में सफलता-प्राप्ति के निमित्त अनुभव का बहुत ऊँचा स्थान है। शिक्षा ज्ञान आदि की न्यूनता अनुभव द्वारा दूर हो जाती है। यह देखा गया है कि शिक्षा ज्ञान आदि की न्यूनता होने पर भी अनुभवी पुरुष अपने अनुभव के सहारे कर्तव्यपालन में सफल होता है। इसीलिए कामन्दक ने अमात्यों के लिए पद के अनुरूप ही अनुभव की योग्यता निर्धारित की है[३]।

(ए) विशेष ज्ञान (Technical knowledge) प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक कार्य करने के लिए उपयुक्त नहीं होता। जिस कार्य का जो विशेषज्ञ हो उसकी नियुक्ति उसी कार्य के सम्पादन हेतु होनी चाहिए। अमात्यों विविध विषयों का ज्ञाता हो भले न हो परन्तु किसी एक विषय में उसकी अभिरुचि एवं दक्षता एवं उसके विशेष ज्ञान के अनुरूप पद पर ही उसकी नियुक्ति की जानी चाहिए—ऐसा कामन्दक का मत है।

(ऐ) परीक्षा-सिद्धान्त—राज्य में कुछ विशेष महत्त्वपूर्ण पद होते हैं। इन पदों के लिए उपयुक्त पुरुषों की नियुक्ति में विशेष सावधानी की आवश्यकता होती है। इसीलिए राज्य के इन पदों के निमित्त विशेष प्रकार से सुपरीक्षित पुरुषों की नियुक्ति की व्यवस्था कामन्दक द्वारा की गयी है जिसमें कहा गया है कि सम्पूर्ण आपत्ति के द्वार में सुपरीक्षित आप्त पुरुषों की नियुक्ति करनी चाहिए[४]। इस प्रकार कामन्दक ने राजकर्मचारियों की नियुक्ति में परीक्षा-सिद्धान्त को भी मान्यता दी है।

१ श्लोक ७९ सर्ग ५ कामन्दकनीति। २ श्लोक ७९ सर्ग ५ कामन्दकनीति।
३ श्लोक ७९ सर्ग ५ कामन्दकनीति।
४ श्लोक ७४ सर्ग ५ कामन्दकनीति।

(ओ) प्रोन्नयन-सिद्धान्त—(Principle of promotion) के अपनाने की भी व्यवस्था की गयी है। यदि किसी कर्मचारी का पद रिक्त हो गया है तो उस पद पर ठीक उससे नीचे के पदाधिकारी को पदोन्नत कर यथासम्भव इस रिक्त पद की पूर्ति कर लेनी चाहिए—कामन्दक का ऐसा मत जान पड़ता है। परन्तु कर्मचारी को इस प्रकार पदोन्नत करते समय उच्च पद के अनुरूप उसके गुणों की भी विधिवत् जाँच होनी चाहिए। यदि कर्मचारी में उक्त पद के अनुरूप योग्यता एवं गुण पाए जायें तो उसे पदोन्नत करना उचित होगा, अन्यथा किसी अन्य उपयुक्त व्यक्ति की खोज करनी चाहिए। इस प्रकार राजकर्मचारी के प्रोन्नयन करने के सिद्धान्त को कामन्दक ने मान्यता दी है। गुणहीन कर्मचारी के प्रोन्नयन का निषेध करते हुए कामन्दक ने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—"राजा नीच गुणवाले कर्मचारियों की उत्तम गुणवाले कर्मचारियों के समान वृद्धि (प्रोन्नयन) न करे[1]।"

वृत्ति-निर्धारण सिद्धान्त—राज्य के विभिन्न कर्मचारियों के वेतन किन सिद्धान्तों के आधार पर नियत किये जाने चाहिए—इस विषय में भी कामन्दक ने अपना मत संक्षेप में व्यक्त किया है। उन्होंने वेतन-निर्धारण सिद्धान्तों की ओर संकेत मात्र किया है। अतः इन संकेतों के आधार पर कर्मचारियों के वेतन-निर्धारण-सिद्धान्तों का संक्षिप्त वर्णन यहाँ किया जा रहा है—

कार्यानुरूप वेतन—वृत्ति-निर्धारण के विषय में कामन्दक ने केवल एक सिद्धान्त का उल्लेख किया है, सो भी सूत्र रूप में। यह सिद्धान्त कार्यानुरूप वेतन-निर्धारण-नियम पर आश्रित है। इस सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए कामन्दक ने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है, "सेवक द्वारा किये जानेवाले कार्य के अनुरूप ही उसकी वृत्ति का निर्धारण राजा द्वारा किया जाना चाहिए[2]।" इस सिद्धान्त के अनुसार जो कर्मचारी जितना ही महत्त्वपूर्ण कार्य करता है, उसको उसी मात्रा में अधिक वृत्ति भी मिलनी चाहिए। क्षुद्र कार्यों के लिए क्षुद्र वेतन, मध्यम कार्यों के लिए मध्यम वेतन और उत्तम कार्यों का सम्पादन करनेवाले कर्मचारियों को उत्तम श्रेणी की वृत्ति मिलनी चाहिए।

इस प्रकार उत्तम, मध्यम और अधम श्रेणी की वृत्तियों का निर्धारण तत्सम्बन्धी कार्य के आधार पर निश्चय किया गया है।

वृत्तिदान में विलम्ब—कर्मचारी और उसके आश्रितों के भरण-पोषण का एक-मात्र साधन उस कर्मचारी की वृत्ति होती है। यदि वृत्तिदान में विलम्ब होगा तो

१ श्लोक ७० सर्ग ५ कामन्दकनीति। २ श्लोक ६४ सर्ग ५ कामन्दकनीति।

कर्मचारी एवं उसके आश्रितों को क्लेश होगा और कर्मचारी में अपने स्वामी के प्रति असन्तोष एवं विराग उत्पन्न होगा। इसके अतिरिक्त वह कर्मचारी निर्धारित समय पर वृत्ति के न प्राप्त होने के कारण अपने एवं अपने आश्रितों के भरण-पोषण की चिन्ता से ग्रस्त रहेगा जिससे उसके कर्तव्य-पालन में विघ्न पड़ेगा। वह अनुचित साधनों से अपनी जीविका चलाने के लिए विवश हो जायगा जिससे राज्य में भ्रष्टाचार के प्रसार को प्रोत्साहन मिलेगा। सम्भव है, इन्हीं विचारों से प्रभावित होकर कामन्दक ने कर्मचारी के वृत्तिदान में विलम्ब करने का निषेध किया है। वह कहते हैं—"राजा अपने अनुजीवियों एवं भृत्यों के वृत्तिदान में समय का अतिक्रमण कदापि न करे[1]। उसे निश्चित समय पर वृत्ति का भुगतान करने की सम्यक् व्यवस्था करनी चाहिए।"

कौटिल्य ने भी इस सिद्धान्त की व्याख्या की है। उन्होंने उस अधिकारी को दोषी ठहराया है, जो अपने अधीन कर्मचारियों को निर्धारित समय पर उनके वेतन का भुगतान नहीं करता। इस श्रेणी के अधिकारी को उन्होंने मध्यम साहस दण्ड निर्धारित किया है[2]।

वृत्ति-लोप—कामन्दक ने राज कर्मचारियों की वृत्ति का लोप करने का निषेध किया है। कर्मचारी की वृत्ति का लोप कर देने से राजा की सर्वत्र निन्दा होती है। जिस कर्मचारी की वृत्ति का लोप कर दिया जाता है, वह राजा का शत्रु बन जाता है और जनसाधारण में राजा की निन्दा कर उसके विरुद्ध वातावरण बनाने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार प्रजा में असन्तोष होने लगता है। कर्मचारी की वृत्ति लुप्त हो जाने से अन्य कर्मचारी शंकित रहते हैं और धीरे धीरे राजा में उनकी आस्था एवं निष्ठा का भी ह्रास होने लगता है। इस विषय में उन्होंने इस प्रकार व्यवस्था दी है— काल स्थान और पात्र में वृत्ति का कभी लोप नहीं करना चाहिए। इस प्रकार वृत्ति-लोप से राजा की निन्दा होती है[3]।

वृत्तिछेदन—वृत्ति में कटौती करने को कामन्दक ने वृत्तिछेदन की संज्ञा दी है। निर्दोष कर्मचारी की वृत्ति में कटौती नहीं की जानी चाहिए। वृत्ति-छेदन से निर्दोष सेवक असन्तुष्ट एवं उदासीन हो जाता है और अपने कर्तव्य-पालन में उसे अरुचि हो जाती है। कामन्दक का मत है कि निर्दोष कर्मचारी का वृत्ति-छेदन होने से वह कर्मचारी अपने स्वामी के प्रति विरक्त हो जाता है। ऐसा कर्मचारी शीघ्र ही अपने

१ श्लोक १४ सर्ग ५ कामन्दकनीति। २ वार्ता १६ अ ११ अधि २ अर्थशास्त्र
३ श्लोक १५ सर्ग ५ कामन्दकनीति। ४ श्लोक ३१ सर्ग ५ कामन्दकनीति।

स्वामी का परित्याग कर देता है। इसलिए निरपराध सेवक की वृत्ति के छेदन का निषेध किया गया है।

कर्मचारियों के प्रति अपमान एवं अपकार—राजा की ओर से उसके राज्य के सेवकों के प्रति समुचित सम्मान एवं आदर-सत्कार होना चाहिए। इनके प्रति राजा की ओर से अनादर, अपमान अथवा असत्कार-प्रदर्शन राजा एवं राज्य दोनों के लिए परम अनिष्टकारी होता है। राजकर्मचारी अपमानित होकर अपने स्वामी राजा के अनिष्ट कार्य में संलग्न हो जाता है। कभी-कभी ऐसा भी देखा गया है कि अपमानित सेवक अपने स्वामी का ही प्राणघातक बन जाता है। कामन्दक ने इस सिद्धान्त की पुष्टि में अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—"आदरप्रयुक्त कुलीन सेवकों का तिरस्कार राजा द्वारा नहीं होना चाहिए। ये सेवक तिरस्कृत होकर अपने स्वामी का परित्याग कर देते हैं अथवा अपने सम्मान की रक्षा के निमित्त उसका वध भी कर सकते हैं"[1]।

राजकर्मचारियों के आचार-नियम—कामन्दक ने राजा के अनुजीवियों एवं सेवकों के लिए आचार-नियमों का भी विधान किया है। इन नियमों का पालन करने से वह प्रशंसा के पात्र बन जाते हैं—ऐसा कामन्दक का मत है। इन आचार-नियमों में कुछ इस प्रकार हैं—

(क) **वेश-भूषा**—कामन्दक का मत है कि सेवकों को अपने-अपने पदों के अनुरूप निर्धारित वेश-भूषा धारण कर अपने कार्यालय सभा आदि में गमन करना चाहिए[2]। अपने से बड़े एवं विशिष्ट पदाधिकारियों अथवा राजा की वेश-भूषा का अनुकरण नहीं करना चाहिए[3]। इस प्रकार कामन्दक ने सेवकों के लिए अपने-अपने पदों के अनुरूप निर्धारित वेश-भूषा धारण कर अपने कार्य हेतु जाने का आदेश किया है। दूसरों के निमित्त निर्धारित वेश-भूषा के धारण करने का निषेध किया गया है।

(ख) **चलने-फिरने एवं उठने-बैठने के नियम**—कामन्दक ने सेवकों के चलने-फिरने और उठने-बैठने के कतिपय विशेष नियम बतलाये हैं। सेवकों के लिए इन नियमों के पालन करने का आदेश दिया गया है। सेवक को चलते-फिरते समय विशेष सावधान रहने की आवश्यकता बतलायी गयी है विशेषकर ऐसे अवसरों पर जब कि सेवक अपने स्वामी अथवा बड़े अधिकारी के साथ गमन कर रहा है। इन अवसरों पर सेवक को अति नम्र होकर चलना चाहिए और सभा अथवा कार्यालय

१ श्लोक ६८ सर्ग ५ कामन्दकनीति। २ श्लोक १७ सर्ग ५ कामन्दकनीति।
३ श्लोक ११ सर्ग ५ कामन्दकनीति।

में पहुँच कर स्वामी के द्वारा आसन ग्रहण किये जाने पर उसके पृष्ठ भाग में निर्दिष्ट आसन पर बैठना चाहिए[1]।

सेवक को अपने निर्धारित स्थान पर ही रहना चाहिए[2]। कार्यालय अथवा सभा में दूसरे कर्मचारी अथवा सामन्त के स्थान पर व्यर्थ नहीं जाना चाहिए[3]। अपने आसन पर बैठकर अपने कार्य में संलग्न हो जाना चाहिए। दृष्टि को इधर-उधर चलायमान नहीं करना चाहिए[4]। ऊँचे स्वर से हँसने खाँसने-खखारने जँभाई अथवा अंगड़ाई लेने अंगुली चटकाने आदि का निषेध किया गया है। कार्यालय अथवा सभा में पहुँच कर राजा, राजा के पुत्र, राजा के प्रेमियों आदि को नमस्कार करना चाहिए[5]।

(घ) बात-चीत करने के नियम—कामन्दक ने सेवक के लिए व्यर्थ बात-चीत करने का निषेध किया है। स्वामी द्वारा पूछे जाने पर ही उसे बोलना चाहिए। सेवक का उत्तर निश्चित अर्थयुक्त होना चाहिए। अपनी प्रवीणता बुद्धिमत्ता और अभिमान का प्रदर्शन उसे कदापि न करना चाहिए[6]। जो बात विशेषता से भी जानी गयी हो उसे भी बड़ी बड़ी नम्रता-पूर्वक कहनी चाहिए। उसे विनययुक्त होकर कार्यसम्पादन द्वारा अपनी श्रेष्ठता स्थापित करनी चाहिए[7]। स्वामी के आपद् ग्रस्त होने कुमार्ग में चलने तथा कार्यकाल व्यतीत होता देखकर स्वामी के कल्याण हेतु, स्वामी द्वारा बिना पूछे जाने पर भी कल्याणकारी वचन बोलना चाहिए[8]। प्रिय तथ्ययुक्त कल्याणकारी धर्म अर्थ-संयुक्त वचन बोलने चाहिए तथा सभा के अयोग्य असत्य परोक्ष में कटु वचनों का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए[10]। सभा अथवा कार्यालय में साथियों आदि से अप्रिय अथवा परिहास-पूर्ण वचन भी नहीं बोलना चाहिए[11]। यदि महत्वपूर्ण गोष्ठी हो रही है उसमें जो परस्पर विचार हो रहा हो तो विवादियों के मत को जान कर भी मौन रहना चाहिए, स्वामी द्वारा बिना पूछे उत्तर नहीं देना चाहिए[12]। अपने बड़ों की बोली का अनुकरण नहीं करना चाहिए, विशेषकर राजा की बोली का[13]।

१ श्लोक ११ सर्ग ५ कामन्दकनीति। २ श्लोक १७, २१ सर्ग ५ कामन्दकनीति।
३ श्लोक १७, १८ सर्ग ५ कामन्दकनीति। ४ श्लोक २१ सर्ग ५ कामन्दकनीति।
५ श्लोक ११ सर्ग ५ कामन्दकनीति। ६ श्लोक १९ सर्ग ५ कामन्दकनीति।
७ श्लोक २६ सर्ग ५ कामन्दकनीति। ८ श्लोक २७ सर्ग ५ कामन्दकनीति।
९ श्लोक २८ सर्ग ५ कामन्दकनीति। १० श्लोक २९ सर्ग ५ कामन्दकनीति।
११ श्लोक ९ सर्ग ५ कामन्दकनीति। १२ श्लोक ३५ सर्ग ५ कामन्दकनीति।
१३ श्लोक ३१ सर्ग ५ कामन्दकनीति।

(घ) गुप्त-कार्यभार—(Secrecy of office) राज्य में अनेक ऐसे विषय होते हैं जिनका समय से पूर्व प्रकाशन राज्य के लिए घातक होता है। ऐसे गोपनीय विषयों का गुप्त रहना सम्बन्धित राजकर्मचारी पर बहुत कुछ निर्भर होता है। इस लिए राजकर्मचारियों के लिए अपने अधीन गोपनीय विषयों को गुप्त रखना परम आवश्यक बतलाया गया है। इस विषय में कामन्दक ने अपना मत व्यक्त करते हुए व्यवस्था दी है कि राजकर्मचारी को अपने स्वामी के गुप्त कार्य एवं मन्त्र का भेद किसी प्रकार भी खोलना नहीं चाहिए[1]।

(ङ) राजकर्मचारी के निमित्त कतिपय वाञ्छनीय गुण—कामन्दक ने राजकर्मचारियों के लिए कतिपय विशेष गुणों का धारण करना आवश्यक बतलाया है। इन गुणों को धारण करने से स्वामी और सेवक दोनों का कल्याण होता है। कामन्दक द्वारा निर्धारित किये गये ये गुण कुलीनता विद्या शास्त्रज्ञान स्वास्थ्य शौच विक्रम धैर्य सत्त्व बल नीरोगता मधुरता शौच तथा विनयशीलता आदि हैं[2]। कामन्दक के मतानुसार बुद्धि, बल और उद्योग-सम्पन्न पुरुष के लिए इस पृथ्वीतल पर कुछ भी दुर्लभ नहीं है[3]। विनयशीलता सम्पूर्ण जगत् को अपना बना लेती है[4]। इसलिए राजकर्मचारियों को अपने एवं अपने स्वामी के कल्याण हेतु इन गुणों को अवश्य धारण करना चाहिए।

(च) राजकर्मचारियों के लिए कतिपय त्याज्य दुर्गुण—कामन्दक ने राजकर्मचारियों के कतिपय ऐसे दुर्गुण भी बतलाये हैं। जिनसे उन्हें दूर रहना चाहिए। यह दुर्गुण चुगली क्रोध, भेद-प्रवृत्ति धृष्टता लोलुपता अशुभ दम्भता चपलता माया अन्य चोरी आलस्य अल्पसंतोष अहंकारमता आदि हैं[5]। इन दुर्गुणों का त्याग करने से सेवक और स्वामी दोनों का कल्याण होता है और राज्य की वृद्धि होती है।

कामन्दक की यह विशेष देन है। प्राचीन भारत के अन्य राजशास्त्र-प्रणेताओं ने इस विषय पर इतने विस्तार के साथ अपने विचार प्रकट नहीं किये हैं।

अनुरक्त और विरक्त स्वामी कामन्दक का कथन है कि चतुर सेवक को अपने स्वामी की इङ्गित-चेष्टा एवं शरीर के इंगित आकार से उसकी प्रसन्नता अथवा अप्रसन्नता को जान लेना चाहिए[6]। जो स्वामी अपने स्वामी के कार्य, व्यवहार

१ श्लोक ३१ सर्ग ५ कामन्दकनीति। २ श्लोक ११ सर्ग ५ कामन्दकनीति।
३ श्लोक ५५ सर्ग ५ कामन्दकनीति। ४ श्लोक ५५ सर्ग ५ कामन्दकनीति।
५. श्लोक १४ सर्ग ५ कामन्दकनीति।
६ श्लोक १४ सर्ग ५ कामन्दकनीति।

एवं आचरण से प्रसन्न होता है, उसे अनुरक्त स्वामी की संज्ञा दी गयी है और जो उससे अप्रसन्न रहता है कामन्दक ने ऐसे स्वामी को विरक्त स्वामी की उपाधि दी है।

अनुरक्त स्वामी के विशेष लक्षण—कामन्दक ने अनुरक्त स्वामी के विशेष लक्षण इस प्रकार बतलाये हैं—"जो स्वामी सेवक को देखते ही प्रसन्न होता है आदरपूर्वक उसके वाक्य को ग्रहण करता है समीप आसन देकर कुशल पूछता है एकान्त दर्शन स्थान और रहस्य-कथन में शंका नहीं करता है सेवक के धर्म एवं उसके कर्तव्य को प्रसन्न होकर सुनता है उसके चरित्र को मन लगाकर सुनता है प्रसंग की जगह उसकी प्रशंसा करता है उसकी प्रशंसा करनेवाले से प्रसन्न होकर उसके गुणों का कीर्तन करता है सेवक के गुण्य तथा पथ्यवचन को भी ग्रहण कर लेता है और उसकी निन्दा नहीं करता है उसके कहे हुए वचनों का पालन करता है और उसका आदर करता है—ये समस्त लक्षण स्वामी की प्रसन्नता के द्योतक माने गये हैं। अपने सेवक के प्रति इस प्रकार व्यवहार करने वाला स्वामी अनुरक्त स्वामी कहलाता है। अनुरक्त स्वामी से वृत्ति की इच्छा करनी चाहिए[1]।

विरक्त स्वामी—विरक्त स्वामी के लक्षणों का भी उल्लेख संक्षेप में कामन्दक द्वारा किया गया है। वे इस प्रकार हैं—"सेवक द्वारा किये गये आश्चर्यजनक उपकारों के प्रति उदासीनता प्रदर्शित करना उसके द्वारा किये गये कार्य को दूसरे द्वारा किया हुआ बतलाना उसके विपक्ष को बढ़ाना उसके विनाश के प्रति उपेक्षा करना उसकी कार्य-वृद्धि पर बाधा डालना परन्तु उसके उस कार्य के फल से उसे वंचित करना सेवक के मधुर वाक्य को भी निष्ठुर मानना अपनी सभा में सेवक की निन्दामात्र करना सेवक के क्रोधरहित होने पर भी क्रोधी मान लेना स्वयं क्रोधपीड़ित होने पर भी सेवक के सम्मुख क्रोध की आज्ञा प्रकट करना प्रसन्न होने पर भी फल न देना सेवक के बात करते हुए भी अकस्मात् उठकर चल देना और उपेक्षा से बारम्बार देखना उसके रहस्य को खोल देना उसके बोलने पर हँस देना और उस पर दोषारोपण करना उसकी वृत्ति में कटौती कर देना उसकी साधु उक्ति को भी अन्यथा समझना बिना पर्व के भी कथा भंग कर देना उस के प्रति विरस रहना सोते समय अथवा शयन पर जागते हुए भी सोते हुए का सा आकार बना लेना अनुनयपूर्वक जगाने पर भी सोते हुए के समान रहना—ये विरक्त

१ श्लोक १५ से १८ तक सर्ग ५ कामन्दकनीति।
२ श्लोक ४६ सर्ग ५ कामन्दकनीति।

स्वामी के समान है[1]। कामन्दक का मत है कि सेवक को अपने विरक्त स्वामी का परित्याग कर देना चाहिए[2]।

दुष्ट राजकर्मचारियों से प्रजा की रक्षा—कामन्दक ने प्रजा के पाँच भय बतलाए हैं। उनका आदेश है कि अपने अधीन प्रजा को पाँच प्रकार के इन भयों से मुक्त रखना चाहिए। कामन्दक के मतानुसार ये पाँच भय राजकर्मचारी (आयुक्त) चोर, शत्रु, राजा के कृपापात्र और लोभी राजा हैं[3]।

इस प्रकार कामन्दक ने राजकर्मचारियों को भी प्रजापीडकों में परिगणित किया है। राजकर्मचारियों में कुछ दुष्टस्वभाव स्वार्थी तथा लोभी कर्मचारी होते हैं, जो प्रजा-पीडन किया करते हैं। इसलिए इन दुष्टस्वभाव लोभी तथा स्वार्थी राजकर्मचारियों से प्रजा की रक्षा होनी चाहिए। मनु और कौटिल्य ने इस श्रेणी के राजकर्मचारियों को राज्य के कण्टकों में परिगणित किया है। प्रजा-पीडक इन राजकर्मचारियों से प्रजा की रक्षा हेतु मनु ने इस प्रकार व्यवस्था दी है—रक्षा के निमित्त नियत राजकर्मचारी प्रायः परद्रव्य-हरण करनेवाले और वञ्चक होते हैं। इन दुष्ट कर्मचारियों एवं प्रजा-रक्षकों से प्रजा की रक्षा की सम्यक् व्यवस्था राजा द्वारा की जानी चाहिए। जो पापबुद्धि राजकर्मचारी कार्यार्थियों से द्रव्य-हरण करते हैं, राजा को उनका सर्वस्व हरण कर, उन्हें निर्वासित कर देना चाहिए[4]।

दुष्य—राजा के समीप अनेक पुरुष रहते हैं। इनमें कुछ अपने विशेष आचरण व्यवहार एवं गुणों तथा सेवाओं के द्वारा राजा को प्रसन्न कर लेते हैं और धीरे धीरे राजा के कृपापात्र (राजवल्लभ) बन जाते हैं। कुछ समय के उपरान्त इन में कुछ चाटुकार, स्वार्थी कपट एवं लोभी बन जाते हैं और प्रजा का अपघात करने लगते हैं। इस प्रकार के राजवल्लभों को कामन्दक ने दुष्य की उपाधि दी है[5]। इन्हें उन्होंने राज्य के कण्टक (राजशल्य) की संज्ञा दी है। इन राजशल्यों *को निर्मूल कर राज्य को दृढ करना राजा का कर्तव्य बतलाया गया है।* ऐसे राजशल्यों से अपनी प्रजा की रक्षा करनी चाहिए।

कामन्दक ने उस राजा की प्रशंसा की है जिसके अनुगामी और अनुजीवी सन्तुष्ट

१ श्लोक १९ से ४५ तक सर्ग ५ कामन्दकनीति।
२ श्लोक ४६ सर्ग ५ कामन्दकनीति। ३ श्लोक ८२ सर्ग ५ कामन्दकनीति।
४ श्लोक १२३ अ ७ मानवधर्मशास्त्र। ५. श्लोक १२४ अ ७ मानवधर्मशास्त्र।
६. श्लोक ९ सर्ग ६ कामन्दकनीति। ७. श्लोक ११ सर्ग ६ कामन्दकनीति।
८. श्लोक १३ सर्ग ६ कामन्दकनीति।

एवं आचरण से प्रसन्न होता है, उसे अनुरक्त स्वामी की संज्ञा दी गयी है और जो उससे अप्रसन्न रहता है कामन्दक ने ऐसे स्वामी को विरक्त स्वामी की उपाधि दी है।

अनुरक्त स्वामी के विशेष लक्षण—कामन्दक ने अनुरक्त स्वामी के विशेष लक्षण इस प्रकार बतलाये हैं—"जो स्वामी सेवक को देखते ही प्रसन्न होता है आदरपूर्वक उसके वाक्य को ग्रहण करता है समीप आसन देकर कुशल पूछता है एकान्त दर्शन स्थान और रहस्य-कथन में शंका नहीं करता है सेवक के कर्म एवं उसके कर्तव्य को प्रकट होकर सुनता है, उसके चरित्र को मन लगाकर सुनता है प्रणाम की जगह उसकी प्रशंसा करता है उसकी प्रशंसा करनेवाले से प्रसन्न होकर उसके गुणों का कीर्तन करता है सेवक के मुख तथा पथ्यवचन को भी ग्रहण कर लेता है और उसकी निन्दा नहीं करता है उसके कहे हुए वचनों का पालन करता है और उसका आदर करता है—ये समस्त लक्षण स्वामी की प्रसन्नता के द्योतक माने गये हैं"[1]। अपने सेवक के प्रति इस प्रकार व्यवहार करने वाला स्वामी अनुरक्त स्वामी कहलाता है। अनुरक्त स्वामी से वृत्ति की इच्छा करनी चाहिए[2]।"

विरक्त स्वामी—विरक्त स्वामी के लक्षणों का भी उल्लेख संक्षेप में कामन्दक द्वारा किया गया है। वे इस प्रकार हैं—"सेवक द्वारा किये गये आश्चर्यजनक उपकारों के प्रति उदासीनता प्रदर्शित करना उसके द्वारा किये गये कार्य को दूसरे द्वारा किया हुआ बतलाना उसके विपक्ष को बढ़ाना उसके विनाश के प्रति उपेक्षा करना उसकी कार्य-वृत्ति पर बाधा बढ़ाना परन्तु उसके सब कार्य के फल से उसे विमुख करना सेवक के मधुर वाक्य को भी निष्ठुर मानना अपनी सभा में सेवक की निन्दामात्र करना सेवक के क्रोधरहित होने पर भी क्रोधी मान लेना स्वयं क्रोधरहित होने पर भी सेवक के सम्मुख क्रोध की आभा प्रकट करना प्रसन्न होने पर भी फल न देना सेवक के नमन करते हुए भी अकस्मात् उठकर चल देना और कनखियों से बारबार देखना उसके रहस्य को खोल देना उसके बोलने पर हँस देना और उस पर दोषारोपण करना उसकी वृत्ति में कटौती कर देना उसकी वायु शक्ति को भी अन्यथा समझना बिना दर्प के भी दर्प मान कर लेना उस के प्रति विरुद्ध रहना सोते समय अथवा स्थान पर जागते हुए भी सोते हुए का सा आकार बना लेना यत्नपूर्वक जगाने पर भी सोते हुए के समान रहना—ये विरक्त

१ श्लोक १५ से १८ तक सर्ग ५ कामन्दकनीति।
२ श्लोक ४६ सर्ग ५ कामन्दकनीति।

ये तीन प्रकार निसृष्टार्थ परिमितार्थ और शासनहर हैं[1]। कामन्दक ने इन्हीं नामों को कुछ हेर-फेर के साथ अपनाया है। उन्होंने परिमितार्थ और शासनहर के स्थान में मितार्थ और शासनवाहक शब्दों का क्रमशः प्रयोग किया है। कौटिल्य का मत है कि दूत को अमात्यपद के निमित्त निर्धारित योग्यताओं को धारण करना चाहिए[2]। कामन्दक ने भी यही प्रतिबन्ध लगाया है। इस मत को दोनों ने स्वीकार किया है कि दूतपद के निमित्त जो गुण एवं योग्यताएँ निर्धारित की गयी हैं, उन सभी गुणों एवं योग्यताओं को धारण करनेवाला दूत निसृष्टार्थ कहलाता है। इन गुणों एवं योग्यताओं से एक चौथाई हीन गुण एवं योग्यताओंवाला दूत परिमितार्थ अथवा मितार्थ और उससे भी चौथाई हीन गुण एवं योग्यताओंवाला दूत शासनहर अथवा शासनवाहक होता है।

कौटिल्य ने तीनों प्रकार के इन दूतों के अधिकार-क्षेत्र की सीमाएँ भी पृथक्-पृथक् निर्धारित की हैं। परन्तु कामन्दक ने इस विषय पर अपना मत स्पष्ट प्रकट नहीं किया है। शायद वह इस विषय में कौटिल्य से सहमत रहे होंगे।

दूत के कर्तव्य—कामन्दक ने दूत के विविध कर्तव्य बतलाये हैं। दूत का सर्वप्रथम कर्तव्य अपने राजा का सन्देश पर-राज्य में ले जाना और उस सन्देश को उस राजा के समक्ष ज्यों-का-त्यों प्रस्तुत करना है। प्राण-संकट उपस्थित होने पर भी दूत को सन्देश घटा-बढ़ाकर प्रस्तुत नहीं करना चाहिए। इस विषय में कामन्दक ने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—"अप्रिय सन्देश को सुनकर दूत के वध हेतु शस्त्र उठा लेने पर भी दूत को अपने राजा का सन्देश यथोक्त ही कहना चाहिए"[3]। दूत जो कुछ करता है अपने राजा के प्रतिनिधि रूप में ही करता है। इसी प्रकार दूसरे राजा के सन्देश का भी वाहक दूत होता है। उस सन्देश को भी दूत को यथोक्त ही अपने राजा के समक्ष प्रस्तुत करना चाहिए। इस प्रकार दूत का सर्वप्रथम कर्तव्य अपने राजा के सन्देश (शासन) को पर-राज्यों के राजाओं के समीप ले जाना और उनको उनके समक्ष यथोक्त प्रस्तुत करना है।

कामन्दक ने दूत का दूसरा कर्तव्य पर-राज्यों में पहुँच कर वहाँ अपने राजा के प्रताप एवं प्रभाव की स्थापना करना बतलाया है। पर-राज्य में पहुँच कर दूतको

१ वार्ता २, ३, ४ अ० १६ अधि० १ अर्थशास्त्र।
२. वार्ता २ अ० १६ अधि० १ अर्थशास्त्र।
३ श्लोक ३, ४ सर्ग १२ कामन्दकनीति।
४ श्लोक ८ सर्ग १२ कामन्दकनीति।

रहते हैं जिसके मधुर वचनों से लोग प्रसन्न रहते हैं और जो सुशिक्षित आप्त पुरुषों की आज्ञा के पालन में रत रहता है। कामन्दक के मतानुसार ऐसा राजा सूर्य के समान प्रतापशाली होकर चिर काल तक राज्य का भोग करता है[1]।

दूत का महत्त्व—राज्य में दूत-पद महत्त्वपूर्ण होता है। कौटिल्य ने दूत को राजा के मुख से समता दी है[2]। उनका मत है कि राजा दूत के द्वारा परस्पर बात करते हैं। इसलिए दूत राजा का मुख कहलाता है। इसीलिए राजाओं के मध्य परस्पर बात करने का प्रमुख साधन दूत होता है। प्राचीन भारत में जब कि यातायात की इतनी सुविधा न थी जितनी कि आधुनिक युग में उपलब्ध है, दूत का विशेष महत्त्व था। कामन्दक ने दूत को विशेष चर माना है। उन्होंने इसीलिए दूत को प्रकाशचर के नाम से सम्बोधित किया है। इससे यह स्पष्ट है कि उन्होंने दूत को चरों की एक विशेष श्रेणी में परिगणित किया है।

दूत की योग्यताएँ—कामन्दक ने दूत को विशेष चर माना है। इसलिए दूत में वे सभी गुण एवं योग्यताएँ होनी चाहिए, जो कि उन्होंने सामान्य चरों के लिए निर्धारित की हैं। चर-पद की इन सामान्य योग्यताओं के अतिरिक्त दूत में कतिपय विशेष योग्यताएँ भी होनी चाहिए। सामान्य चरों के लिए कामन्दक ने तर्कशक्ति मनोविज्ञान स्मरणशक्ति मृदुभाषण, क्षीम पराक्रमशीलता क्लेशसहन की सामर्थ्य परिश्रमशीलता चातुर्य समय स्थान एवं परिस्थिति के अनुसार तुरन्त बुद्धि की उत्पत्ति की शक्ति आदि गुण एवं योग्यताएँ निर्धारित की हैं। इसलिए दूत के लिए ये सभी गुण एवं योग्यताएँ भी धारण करना आवश्यक है[3]। इन गुणों के अतिरिक्त कामन्दक ने दूत-पद के लिए कुछ विशेष योग्यताएँ भी निर्धारित की हैं, जो उनके मतानुसार प्रगल्भता विशेष वाक्शक्ति शास्त्र एवं शस्त्र-शास्त्र का ज्ञान और कर्म-परायणता है[4]। इस प्रकार कामन्दक के मतानुसार दूत में ये सभी गुण एवं योग्यताएँ होनी चाहिए।

दूत के प्रकार—कामन्दक ने भी कौटिल्य के समान ही दूत के तीन प्रकार माने हैं जिन्हें उन्होंने निसृष्टार्थ मितार्थ और शासनहारक नाम से सम्बोधित किया है[5]। कौटिल्य द्वारा दूतों का जो नामकरण किया गया है, उसके अनुसार दूतों के

१ श्लोक १२ सर्ग ५ कामन्दकनीति।
२ अध्या १६ प्र १६ अधि १ अर्थशास्त्र।
३ श्लोक ११ सर्ग १२ कामन्दकनीति। ४ श्लोक ९५ सर्ग १२ कामन्दकनीति।
५ श्लोक २ सर्ग १२ कामन्दकनीति। ६ श्लोक ३ सर्ग ११ कामन्दकनीति।

करना चाहिए। युद्ध के लिए उपयुक्त भूमि और युद्धस्थल से पलायन करने के सुगम मार्गों का ज्ञान प्राप्त करना भी दूत के कर्तव्य के अन्तर्गत सम्मिलित किया गया है[1]।

दूत का यह भी कर्तव्य बतलाया गया है कि वह पर-राज्यों के द्वारा प्रेषित दूतों की चेष्टाओं को भली प्रकार जानते रहे, जिससे राज्य की हानि न होने पावे[2]।

इस प्रकार कामन्दक ने दूत के अनेक कर्तव्य निर्धारित किये हैं। दूत का सर्वोपरि कर्तव्य अपने राज्य का अभ्युदय है। इसलिए उसे ऐसी नीतिनिपुणता से अपने कर्तव्य-क्षेत्र के अन्तर्गत कार्य करते रहना चाहिए, जिसके करने से अपने राज्य का अभ्युदय निश्चित हो[3]।

दूत के लिए विशेष सावधानियाँ—कामन्दक ने दौत्यकार्य की सफलता हेतु महत्त्वपूर्ण सुझाव दिए हैं। इन सुझावों को संक्षेप में यहाँ दिया जा रहा है। इस विषय में सर्वप्रथम यह सुझाव है कि दूत को अपने राज्य से परराज्य हेतु गमन करने के पूर्व अपने राजा से नियमानुसार आज्ञा प्राप्त कर लेनी चाहिए। इसके बिना उसे परराज्य की ओर गमन नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार परराज्य में तब तक उसे प्रवेश नहीं करना चाहिए, जब तक कि उस राज्य के राजा से उसके राज्य में प्रवेश हेतु आज्ञा प्राप्त न कर ली हो। दूत को परराज्य से स्वीकृति लेकर नियत समय पर उसमें प्रवेश करना चाहिए। बिना पूर्वस्वीकृति प्राप्त किये हुए शत्रु के पुर तथा उसकी सभा में दूत के प्रवेश का निषेध किया गया है। परराज्य में पहुँच कर वहाँ के राजा अथवा वहाँ की जनता के समक्ष अपने राजा की दुर्बलताओं का कभी प्रकट नहीं करना चाहिए[4]। यदि कोई पूछने की चेष्टा भी करता है तो विनम्र वाणी में कहना चाहिए आप सब कुछ जानते हैं। ऐसा कहकर प्रसंग को टाल देना चाहिए। दूसरे के अनिष्ट वचनों को भी सहन कर लेना चाहिए और अपने काम को भी साधना चाहिए। काम से दूर रहना चाहिए। दूत को एकान्त में सोना चाहिए। उसे दूसरे के समान सोना नहीं चाहिए। अपने भावों को गुप्त रखना चाहिए, परन्तु दूसरे के भावों का ज्ञान लेना चाहिए[5]। कार्यसिद्धि के मार्ग में बाधाएँ उपस्थित होने पर दूत को खेद प्रकट नहीं करना चाहिए। उसे वाणी एवं

१ श्लोक २३ सर्ग १२ कामन्दकीयनीति। २ श्लोक २४ सर्ग १२ कामन्दकीयनीति।
३ श्लोक १९ सर्ग १२ कामन्दकीयनीति। ४ श्लोक ४ सर्ग १२ कामन्दकीयनीति।
५ श्लोक ६ सर्ग १२ कामन्दकीयनीति। ६ श्लोक ९ सर्ग १२ कामन्दकीयनीति।
७ श्लोक १ सर्ग १२ कामन्दकीयनीति। ८ श्लोक १५ सर्ग १२ कामन्दकीयनीति।

बड़ी सावधानी से वहाँ रहने की आवश्यकता होती है। उसे वहाँ ऐसा व्यवहार और आचरण करना चाहिए, जिससे अपने राज्य की दुर्बलता किसी क्षेत्र में भी न प्रकट होने पाये। कामन्दक ने इस विषय में स्पष्ट व्यवस्था दी है कि पर-राज्य में पहुँच कर दूत को अपने राजा के कुल का गौरव उसके ऐश्वर्य त्याग सम्पन्नता, कौशल मधुरता सज्जनता सब को सम्प्रदर्शित करने की क्षमता आदि का प्रभाव वहाँ की जनता पर डालते रहना चाहिए।

कामन्दक ने दूत का तीसरा कर्तव्य परराज्य के विभिन्न अंगों की वास्तविक सामर्थ्य का ज्ञान प्राप्त करना और उससे अपने राजा को पूर्ण परिचित कराना, निर्धारित किया है। इस कर्तव्य के विषय में वह कहते हैं—"पर-राज्य में पहुँच कर उस राज्य के राजा के कोष बल मित्र आदि की सामर्थ्य का भलीभाँति बोध करना एवं शत्रु की दुर्बलताओं का विधिवत् अध्ययन कर इन समस्त विषयों का विवरण अपने राजा के समक्ष प्रस्तुत करना चाहिए[1]। इसी प्रसंग में उन्होंने अन्यत्र इस प्रकार व्यवस्था दी है— दूत को अपने राजा के शत्रु, शत्रु के विनाश उसके मित्रों और बन्धु-बान्धवों के भेद, उसके दुर्ग कोष बल आदि का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। इस प्रकार दूत का यह कर्तव्य है कि वह पर-राज्य के विषय में पूर्ण ज्ञान प्राप्त करके उसे अपने राजा तक पहुँचाता रहे।

दूत का चौथा कर्तव्य जिसकी ओर कामन्दक ने ध्यान आकृष्ट किया है, कृत्य-वर्ग को अपनी ओर मिला लेने से सम्बन्धित है। प्रत्येक राज्य में कुछ ऐसे लोग होते हैं जो अपने राजा से असन्तुष्ट एवं रुष्ट होते हैं। इस श्रेणी के लोगों का शत्रु द्वारा लोभ जाना सरल होता है। इन्हें कृत्यवर्ग के नाम से सम्बोधित किया गया है। दूत का यह कर्तव्य है कि उसे इस श्रेणी के लोगों को अपने राजा के अनुकूल बनाकर उन में उनके राजा के प्रति घृणा वैर, द्वेष आदि उत्पन्न कर देना चाहिए। इस विषय में कामन्दक ने स्पष्ट व्यवस्था दी है कि दूत को परराज्य के कृत्यवर्ग को भलीभाँति जानना चाहिए और उनके राजा की उनके प्रति और उनकी अपने राजा के प्रति चेष्टाओं को जानते रहना चाहिए[4]।

युद्धकाल में सेना की सिद्धि हेतु दूत को पथ एवं स्थल-मार्गों का पता लगाना चाहिए[5]। शत्रु राजा के राष्ट्रपालकों को अपने राजा के अधीन करने का प्रयत्न

१ श्लोक १४ सर्ग १२ कामन्दकनीति। २ श्लोक ७ सर्ग १२ कामन्दकनीति।
३ श्लोक १२ सर्ग १२ कामन्दकनीति। ४ श्लोक १२ सर्ग १२ कामन्दकनीति।
५ श्लोक ५ सर्ग १२ कामन्दकनीति।

करना चाहिए। युद्ध के लिए उपयुक्त भूमि और युद्धस्थल से पलायन करने के सुगम मार्गों का ज्ञान प्राप्त करना भी दूत के कर्तव्य के अन्तर्गत सम्मिलित किया गया है[1]।

दूत का यह भी कर्तव्य बतलाया गया है कि वह पर-राज्यों के द्वारा प्रेषित दूतों की चेष्टाओं को भली प्रकार जानते रहें, जिससे राज्य की हानि न होने पाये[2]।

इस प्रकार कामन्दक ने दूत के अनेक कर्तव्य निर्धारित किये हैं। दूत का सर्वोपरि कर्तव्य अपने राज्य का अभ्युदय है। इसलिए उसे ऐसी नीतिनिपुणता से अपने कर्तव्य-क्षेत्र के अन्तर्गत कार्य करते रहना चाहिए, जिसके करने से अपने राज्य का अभ्युदय निश्चित हो[3]।

दूत के लिए विशेष सावधानियाँ—कामन्दक ने दौत्यकर्म की सफलता हेतु महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये हैं। इन सुझावों को संक्षेप में यहाँ दिया जा रहा है। इस विषय में सर्वप्रथम यह सुझाव है कि दूत को अपने राज्य से परराज्य हेतु गमन करने के पूर्व अपने राजा से नियमानुसार आज्ञा प्राप्त कर लेनी चाहिए। इसके बिना उसे परराज्य की ओर गमन नहीं करना चाहिए । इसी प्रकार परराज्य में तब तक उसे प्रवेश नहीं करना चाहिए, जब तक कि उस राज्य के राजा से उसके राज्य में प्रवेश हेतु आज्ञा प्राप्त न कर ली हो। दूत को परराज्य से स्वीकृति लेकर नियत समय पर उसमें प्रवेश करना चाहिए। बिना पूर्वपरिचय प्राप्त किये हुए शत्रु के पुर तथा उसकी सभा में दूत के प्रवेश का निषेध किया गया है। परराज्य में पहुँच कर वहाँ के राजा अथवा वहाँ की जनता के समक्ष अपने राजा की दुर्बलताओं को कभी प्रकट नहीं करना चाहिए[4]। यदि कोई पूछने की चेष्टा भी करता है तो विनम्र वाणी में कहना चाहिए "आप सब कुछ जानते हैं"। ऐसा कहकर समय को टाल देना चाहिए। दूसरे के अनिष्ट वचनों को भी सहन कर लेना चाहिए और अपने काम को भी पाना चाहिए। काम से दूर रहना चाहिए। दूत को एकान्त में सोना चाहिए। उसे दूसरे के समीप सोना नहीं चाहिए। अपने भावों को गुप्त रखना चाहिए, परन्तु दूसरे के भावों को जान लेना चाहिए । कार्यसिद्धि के मार्ग में बाधाएँ उपस्थित होने पर दूत को खेद प्रकट नहीं करना चाहिए । उसे लोभी एवं

१ श्लोक ३३ सर्ग १२ कामन्दकनीति। २ श्लोक २४ सर्ग १२ कामन्दकनीति।
३ श्लोक १९ सर्ग १२ कामन्दकनीति। ४ श्लोक ४ सर्ग १२ कामन्दकनीति।
५ श्लोक ६ सर्ग १२ कामन्दकनीति। ६ श्लोक ९ सर्ग १२ कामन्दकनीति।
७ श्लोक १ सर्ग १२ कामन्दकनीति। ८ श्लोक १५ सर्ग १२ कामन्दकनीति।

राज्यलोलुप नहीं होना चाहिए, शीघ्र कार्य करने के उपाय सुझाने चाहिए। यदि पर राज्य से गमन करने का समय हो तो तुरन्त गमन कर देना चाहिए।

इस प्रकार कामन्दक ने दूत के लिए अनेक प्रकार की सावधानियों का उल्लेख किया है, जिनका दूत को ध्यान रखना चाहिए।

उभयवेतनभोगी दूत—कामन्दकनीति में एक प्रसंग ऐसा है जिससे ज्ञात होता है कि कामन्दकनीति के रचना-काल में कुछ दूत ऐसे भी होते थे जो अपने राज्य और परराज्य दोनों से वेतन पाते थे और जिन्हें कामन्दक ने उभयवेतनभोगी दूत की संज्ञा दी है। इस प्रकार कामन्दक के समय में उभयवेतनभोगी दूतों के रखने का चलन था ऐसा इस प्रसंग से ज्ञात होता है। इस प्रसंग में इन दूतों को विद्या और शिल्प का उपदेशक बतलाया गया है। इससे ज्ञात होता है कि इस श्रेणी के दूत परराज्यों में अपने विशेष विद्याबल एवं विशेष शिल्पज्ञान के प्रचार हेतु सेवा-कार्य भी ग्रहण कर लिया करते होंगे और जिसके लिए उन्हें परराज्यों में वेतन भी दिये जाते होंगे[1]।

परन्तु आधुनिक युग में ऐसा चलन नहीं है। दूत अपने राज्य से ही वेतन पाते हैं और उसी के लिए उनकी समस्त सेवाएँ भी होती हैं। वे अपने राज्य के अतिरिक्त अन्य किसी राज्य के प्रति निष्ठा नहीं रखते।

चर एवं उसकी उपयोगिता—प्राचीन भारत के लगभग सभी राजशास्त्र-प्रणेताओं ने राजा का परम कर्तव्य प्रजापरिपालन एवं प्रजारंजन निर्धारित किया है। इस कर्तव्य के पालन हेतु राजा को अपनी अधीन प्रजा के सुख-दुःख के कारणों का बोध होना चाहिए। उसे अपनी अधीन प्रजा की वास्तविक परिस्थिति का ज्ञान प्रतिक्षण होना चाहिए। इसलिए राजा को अपने अधीन कुछ ऐसे कर्मचारियों की व्यवस्था करनी चाहिए जो गुप्त रीति से प्रजा के मध्य होनेवाली गुप्त एवं प्रकट सभी प्रकार की क्रियाओं एवं घटनाओं को जानकर, उनका सत्य-सत्य ब्योरा राजा तक पहुँचाते रहें। इस कार्य में संलग्न राजकर्मचारियों को चर की उपाधि दी गयी है। चर को दूर तक पहुँचने वाला राजा का चक्षु बतलाया गया है। राजा सो जाने पर भी चर-चक्षु द्वारा दूर और समीप की सभी घटनाओं को देखता रहता है[2]।

चर की योग्यता—चर के लिए विविध योग्यताएँ निर्धारित की गयी हैं। इन

१ श्लोक ११ सर्ग १२ कामन्दकनीति। २ श्लोक १२ सर्ग १२ कामन्दकनीति।
३ श्लोक २७,२८,३ सर्ग १२ कामन्दकनीति।

कुछ योग्यताओं का उल्लेख कामन्दक ने भी किया है। कामन्दक के मतानुसार चर को तार्किक होना चाहिए, जिससे वह अपनी तर्कशक्ति के आधार पर घटना तथा क्रिया के वास्तविक स्वरूप को जान लेने में सफल हो सके। उसे मनोवैज्ञानिक होना चाहिए। मनोविज्ञान की सहायता से वह मनुष्य की चेष्टाओं, इंगित-चेष्टाओं आदि को देखकर वास्तविकता पर पहुँचने में समर्थ हो सकेगा। चर की स्मरण-शक्ति बढ़ी-चढ़ी होनी चाहिए, जिससे वह छोटी-बड़ी सभी घटनाओं को स्मरण रख सके। उसे मृदुभाषी एवं शीघ्र पराक्रमशील पुरुष होना चाहिए। उसका सम्पर्क सभी प्रकार की जनता से रहता है और उसे अनेक परिस्थितियों से निकलना पड़ता है। इसलिए उसका मृदुभाषी एवं शीघ्र पराक्रमशील व्यक्ति होना उचित ही बतलाया गया है। इसी प्रकार उसे क्लेश सहन करनेवाला और परिश्रमशील होना चाहिए। उसका चतुर होना भी परम आवश्यक बतलाया गया है। चर को विविध समाजों, सभाओं, तपस्वी एवं चतुर तथा मूर्ख अनेक व्यक्तियों के सम्पर्क में आना पड़ता है। इसके लिए चातुर्य गुण की बड़ी आवश्यकता होती है। इन गुणों के अतिरिक्त चर में समय, स्थान एवं परिस्थिति के अनुसार बुद्धि उत्पन्न होती रहे, यह विशेष गुण भी आवश्यक बतलाया गया है।

इस प्रकार कामन्दक ने चर के लिए तार्किक, इंगितज्ञ, स्मृतिमान्, मृदुभाषी, शीघ्रपराक्रमी, क्लेशसहनशील, परिश्रमशील, चतुर और प्रतिपत्तिमान पुरुष होना आवश्यक बतलाया है[1]।

चर-भेद—कौटिल्य ने चरों को उनके गुण-कर्म के आधार पर नौ श्रेणियों में विभक्त किया है—कापटिक, उदास्थित, गृहपतिक, वैदेहक, तापस, सत्री, तीक्ष्ण, रसद और भिक्षुकी। उन्होंने उनके पृथक्-पृथक् लक्षणों एवं कर्तव्यों का भी वर्णन किया है[2]। परन्तु कामन्दक ने चरों का वर्गीकरण इस रूप में नहीं किया है और न उनके प्रधान लक्षणों एवं कर्तव्यों का ही उस रूप में पृथक्-पृथक् वर्णन किया है। हाँ, उन्होंने विभिन्न प्रकार के चरों के जो नाम दिये हैं वे लगभग वही हैं जिनका उल्लेख कौटिल्य ने किया है। कामन्दक ने चरों के सामूहिक कर्तव्यों का वर्णन किया है। उनके पृथक्-पृथक् कर्तव्यों का उल्लेख करने में वह उदासीन जान पड़ते हैं। इन वर्णनों से ऐसा ज्ञात होता है कि कौटिल्य ने चरों को जिस रूप में श्रेणीबद्ध किया है, और उन्होंने उनके जो पृथक्-पृथक् स्वभाव एवं कर्तव्य निर्धारित

१ श्लोक २९ सर्ग १२ कामन्दकनीति।
२ वार्ता २ अ ११ अधि १ अर्थशास्त्र।

किये हैं, उनसे कामन्दक भी सहमत हैं। कामन्दक ने भी विभिन्न चरों को तीक्ष्ण, मधुनिक सत्री विषद, तपस्वी धूर्त लिङ्गिन पण्यविक्रयजीवी आदि नामों से सम्बोधित किया है[1]।

चरों के कर्तव्य—चरों का प्रधान कर्तव्य सब ओर समाचार लेते हुए विचरण करते रहना बतलाया गया है[2]। चर सभी ओर से समाचार एवं सूचना प्राप्त कर प्रतिदिन राजभवन में प्रवेश कर राजा के समक्ष उन समाचारों एवं सूचनाओं को प्रस्तुत करते रहें, क्योंकि दूर की घटनाओं एवं कार्यों का दर्शन चरों के द्वारा ही राजा को होता है। चरों को अपने राजा के शत्रुराजाओं की चेष्टाओं का भी पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर अपने राजा के सम्मुख प्रस्तुत करते रहना चाहिए[3]। अपने पक्ष और पर-पक्ष की स्थिति का बोध अपने राजा को कराना चर का कर्तव्य है[4]। तथा मुद्रा, वेष आकार-चेष्टा आदि के द्वारा स्थिरचित्त से सम्पूर्ण गुप्त तथा प्रकट विषयों को जानकर उनकी सूचना राजा तक पहुँचाते रहें[5]। कामन्दक का आदेश है कि सूर्य जिस प्रकार अपनी किरणों द्वारा पृथ्वी पर जल पीता रहता है उसी प्रकार समस्त राज्य को जानते हुए शिल्प विद्या और अध्यापन-कला में निपुण चरों को अनेक रूप धारण कर विचरण करना चाहिए और इस प्रकार चौतर्फी विषयों घटनाओं क्रिया-कलापों आदि का पता लगाते रहना चाहिए[6]। उन्हें विविध रूप धारण कर जनता में ऐसे घुल-मिलकर रहना चाहिए, जिससे कोई पहिचान न सके।

इस प्रकार आवश्यकतानुसार अनेक रूप धारण कर अपने एवं पर-राज्यों में होनेवाली घटनाओं चेष्टाओं आदि का ज्ञान प्राप्त कर अपने राजा के समक्ष प्रस्तुत करना चरों का कर्तव्य है।

कोष का महत्त्व—प्राचीन भारत के लगभग सभी राजशास्त्र-प्रणेताओं ने राज्य के सात अंग माने हैं। राज्य के इन सात अंगों में कोष को भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। कामन्दक ने भी सप्तांग राज्य का एक महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी अंग कोष बतलाया है। कोष की आवश्यकता एवं उसकी उपयोगिता को स्वीकार करते हुए कामन्दक ने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—वेणुवन्तम दक्षिण-व्यापार

१ श्लोक २६,२४ सर्ग १२ कामन्दकनीति।
२ श्लोक २९ सर्ग १२ कामन्दकनीति। ३ श्लोक ३१ सर्ग १२ कामन्दकनीति।
४ श्लोक ४० सर्ग १२ कामन्दकनीति। ५ श्लोक ४८ सर्ग १२ कामन्दकनीति।
६ श्लोक १८ सर्ग १२ कामन्दकनीति।

धर्म प्रजा और मित्र-संग्रह, और त्रिवर्ग (धर्म अर्थ तथा काम) की सिद्धि कोष के द्वारा ही होती है[1]। कोष क्षीण हुए वैभवक की वृद्धि करता है, प्रजा स्वयं कोष-सम्पन्न राजा का आश्रय लेती है। शत्रु भी ऐसे राजा का आश्रय ग्रहण किया करते हैं[2]।

कौटिल्य ने राज्य-सञ्चालन हेतु कोष की आवश्यकता एवं उपयोगिता सर्वोपरि बतलायी है[3]। उन्होंने इसीलिए राज्य के समस्त क्रियाकलाप की नाभि कोष को ही माना है। उनके मतानुसार कोष के द्वारा ही राजा को सेना की प्राप्ति होती है और कोष को भूषित करनेवाली भूमि की प्राप्ति कोष तथा सेना के द्वारा ही होती है। इसलिए राजा को कोष का चिन्तन सर्वप्रथम करना चाहिए[4]।

इस प्रकार कोष की आवश्यकता एवं उपयोगिता के विषय में कामन्दक के विचार समान ही हैं जो कि कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में व्यक्त किये हैं।

उत्तम कोष के लक्षण—कामन्दक ने उत्तम कोष के विशेष लक्षणों का उल्लेख करते हुए लिखा है—"आय के बहुमार्गों और व्यय के अल्प मार्गोंवाला मनचाहे द्रव्यों से सम्पन्न बहुदृश्य आप्त पुरुषों से सेवित विख्यात अविरोधता से पुष्ठित सुवर्ण मोती और रत्नों से परिपूरित पिता-पितामह से चला आया हुआ धर्म से उपार्जित सभी प्रकार के व्यय सहन कर लेने की सामर्थ्य से युक्त कोष को कोष के ज्ञाताओं ने उत्तम कोष माना है।

इस प्रकार कामन्दक द्वारा प्रतिपादित उत्तम कोष का सर्वप्रथम लक्षण कोष *का बहुमार्गी आय और अल्पमार्गी व्ययपुक्त होना है। जिस कोष में आय के* मार्ग उसके व्यय के मार्गों से न्यून होते हैं, वह कुछ मेधी का कोष समझा जायगा। इस प्रकार का कोष राज्य को दुर्बल बनाता है। धन-धान्य-रत्न आदि की सम्पन्नता एवं परिपूर्णता उत्तम कोष का दूसरा लक्षण है। कामन्दक का यह मत भी उपयुक्त ही है कि राज्य को हर समय प्रचुर धन-धान्य रत्नों आदि की आवश्यकता पड़ती रहती है। जो कोष धन-धान्य-रत्नादि से परिपूर्ण न होगा उसमें समय पड़ने पर राज्य को आपदाओं से मुक्त करने की सामर्थ्य नहीं होगी। अतः ऐसा कोष

१ श्लोक १२ सर्ग १३ कामन्दकनीति। २ श्लोक १४ सर्ग १३ कामन्दकनीति।
३ वार्ता ९९ अ १ अधि ८ अर्थशास्त्र। ४ वार्ता १ अ० ८ अ० २ अर्थशास्त्र।
५. श्लोक ४९ अ १२ अधि ९ सर्ग। ६ वार्ता २ अ० ८ अधि २ सर्ग।
७. श्लोक ६२ सर्ग ४ कामन्दकनीति।
श्लोक ६३ सर्ग ४ कामन्दकनीति।

राज्य के भरण-पोषण में सहायक नहीं हो सकता। कोष का परम्परागत प्रवाहित रहना अर्थात् पिता तथा पितामह आदि से कोष का चला आना उत्तम कोष का तीसरा लक्षण बतलाया गया है। पूर्वसंचित कोष होने से नवीन संचित कोष के विकास में पर्याप्त सहायता मिलती है और ऐसा कोष शीघ्र क्षीण नहीं होने पाता। कोष हेतु धन-धान्य आदि के संचय कोष के रक्षण एवं उसके व्यय सम्बन्धी कार्यों में जिन पुरुषों की नियुक्ति की जाय उन्हें सहृदय आप्त पुरुष होना चाहिए। कामन्दक के मतानुसार उत्तम कोष का यह चौथा लक्षण है। जिस राज्य में कोष-संचय एवं उसके व्यय करने का कार्य कठोर एवं अनाप्त पुरुषों को सौंप दिया जाता है, उस राज्य में कोष शीघ्र ही क्षीण हो जाता है। ऐसे पुरुष लोकपीडक होते हैं, जिससे जनता का विश्वास टूट जाता है और कोष शीघ्र ही क्षीण हो जाता है। इसलिए कामन्दक का यह मत उचित ही है। उत्तम कोष का पाँचवाँ लक्षण राज्य के सभी प्रकार के आवश्यक व्यय के वहन कर लेने की सामर्थ्य बतलायी गयी है। यह स्पष्ट है कि जो कोष राज्य के आवश्यक व्यय के वहन करने की क्षमता नहीं रखता वह उत्तम कोष की श्रेणी में स्वीकार परिगणित किया जा सकता है। कोष का विख्यात धनिकेश्वता से पूजित होना उत्तम कोष का एक लक्षण बतलाया गया है। इससे कामन्दक का क्या तात्पर्य है, यह स्पष्ट नहीं होता। उत्तम कोष का अन्तिम परन्तु सम्भवतः सबसे महत्त्वपूर्ण लक्षण कोष का धर्मानुसार अर्जित होना है। अधर्मपूर्वक अर्जित धन राजा एवं राज्य के नाश का कारण होता है। प्रजा उस राजा का विरोध करती है, जो राजकोष के लिए धन संचय हेतु अधर्म का आश्रय लेता है। इसलिए कोष-संचय धर्मानुसार ही होना चाहिए। इसीलिए कामन्दक ने इस सिद्धान्त पर विशेष बल दिया है।

कोष-व्यय के मार्ग—राज्य में कोष का व्यय अनेकव्यापी होता है। परन्तु कामन्दक ने कोष के व्यय के मुख्य तीन मार्ग बतलाये हैं। उनका मत है कि कोष का व्यय धर्म और अर्थ के निमित्त होना चाहिए, अर्थात् राज्य में धर्म-संस्थापन एवं सम्यक् आर्थिक व्यवस्था की स्थापना हेतु कोष का व्यय होना चाहिए। राज्य में प्रत्येक प्राणी स्वधर्म-पालन में रत रहे, वर्णसंकर न होने पाये और प्रजा में सम्यक् अर्थव्यवस्था व्यवस्थित रहे, इन दो कार्यों में कोष का उपयोग होना उचित बतलाया गया है। कोष-व्यय का दूसरा मार्ग राज्य के भृत्यों के भरण-पोषण हेतु व्यय माना गया है। इसका तात्पर्य यह है कि राज्य-संचालन हेतु जिन राज-कर्मचारियों की आवश्यकता होती है, उनके सम्यक् भरण-पोषण का भार राज्य पर रहता है। इस कार्य में कोष के कुछ भाग का व्यय होना ही चाहिए। कोष के व्यय का तीसरा

भाग आपत्काल हटाने के साधनों के निमित्त व्यय माना गया है। राज्य में समय-समय पर आन्तरिक बाह्य अथवा दैव की ओर से जो आपदाएँ आती रहती हैं, उनका वारण करने एवं उनसे प्रजा की रक्षा हेतु कोष के कुछ अंश का व्यय होना अनिवार्य है।

इस प्रकार कामन्दक के राज्य में धर्म एवं अर्थ-व्यवस्था की सम्यक् स्थापना राज्य के सदस्यों के सम्यक् भरण-पोषण और राज्य में समय-समय पर आनेवाली आपदाओं का वारण करने के साधनों एवं उपायों के निमित्त कोष का व्यय न्याय युक्त बतलाया है[1]।

कोष की आय के मार्ग—कामन्दक ने कोष की आय के मार्गों की ओर भी संकेत किया है। कोष की आय के ये मार्ग उनके मतानुसार, कृषि वणिक्पथ दुर्ग सेतु, कुञ्जरबन्धन खनि आकर और शून्यनिवेशन हैं[2]। कामन्दक ने कोष की आय के इन मार्गों के स्वरूप का उल्लेख नहीं किया है। इसलिए इनके वास्तविक स्वरूप का बोध कराने के निमित्त कौटिल्य के अर्थशास्त्र का सहारा लेना उचित होगा। कामन्दक के बहुत पूर्व मौर्ययुग में कौटिल्य ने राज्य की आय के विविध मार्गों का विस्तृत वर्णन अर्थशास्त्र में किया है। कौटिल्य द्वारा वर्णित आय के इन मार्गों में वे मार्ग भी हैं जिनका उल्लेख कामन्दक ने अपने नीतिग्रन्थ में किया है।

(क) कृषि-आय—भारत पुरातन काल से कृषिप्रधान देश रहा है। इसलिए राज्य की आय का प्रधान मार्ग कृषि माना गया है। कृषि-उपज का कितना अंश कोष के लिए संचित किया जाना चाहिए, इस विषय में कामन्दक ने अपना मत व्यक्त नहीं किया है। परन्तु प्राचीन भारत में सामान्यतः कृषि-उपज का छठवाँ अंश राजकोष हेतु संचित किया जाता था[3]। कामन्दक भी राजकोष के निमित्त कृषि उपज के इसी अंश को संचित करने के पक्ष में रहे होंगे।

(ख) वणिक्पथ-आय—कामन्दक ने वणिक्पथ-आय की परिभाषा नहीं की है और न उसकी दर के विषय में ही अपना मत व्यक्त किया है। कौटिल्य ने स्थल-मार्ग और जलमार्ग को वणिक्पथ नाम से सम्बोधित किया है[4]। इससे ज्ञात होता है कि स्थल और जलमार्गों द्वारा व्यापारी व्यापारिक सामग्री इधर-उधर विक्रय हेतु ले जाया करते थे। उन पर राज्य की ओर से कर लगाये जाते थे और इन करों से राज्य को जो आय होती थी वह राजकोष की आय का एक मार्ग माना गया है। सम्भवतः इसी आय को कामन्दक ने वणिक्पथ-आय के नाम से सम्बोधित किया है।

१ श्लोक ६४ सर्ग ४ कामन्दकीयनीति। २ श्लोक ७८ सर्ग ५ कामन्दकीयनीति।
३ वार्ता ७४ ११ अधि १ अर्थशास्त्र। ४ वार्ता ८ अ ६ अधि० २ अर्थशा०।

(ग) दुर्ग-आय—कामन्दक ने दुर्ग-आय को भी स्पष्ट नहीं किया है। प्राचीन भारत में दुर्ग का प्रयोग राजधानी (पुर) के लिए भी हुआ है। इसलिए दुर्ग-आय से कामन्दक का तात्पर्य उस आय से जान पड़ता है जो दुर्ग अथवा पुर में होनेवाले विभिन्न व्यवसायों, उद्योग-धन्धों व्यापार आदि के आय पर कर द्वारा राज्य प्राप्त करता था। इसके अतिरिक्त इस आय में वह धन सम्मिलित रहता होगा जो नागरिकों से दण्ड रूप में प्राप्त किया जाता था। कौटिल्य ने दुर्ग-आय को इस रूप में माना है[1]।

(घ) सेतु-आय—कामन्दक ने सेतु-आय की भी व्याख्या नहीं की है। पुष्पवाटिकाओं फलवाटिकाओं, शाकीय क्षेत्रों एवं उन क्षेत्रों से जिनमें मूलवाले पौधे लगाये जाते हैं जो राजस्व एकत्र किया जाता था उसे सेतु-आय कहते थे—यह व्यवस्था कौटिल्य द्वारा दी गयी है[2]। इससे ज्ञात होता है कि कामन्दक ने भी इसी आय को सेतु-आय माना होगा।

(ङ) कुंजरबन्धन-आय—प्राचीन भारत में हाथी अत्यन्त उपयोगी पशु समझा जाता था विशेष कर युद्ध के अवसरों पर। कौटिल्य और कामन्दक दोनों ने राजा के लिए इस पशु की महती उपयोगिता बतलायी है। उन्होंने राजाओं की विजय इस पशु के आश्रित मानी है। ऐसा जान पड़ता है कि कामन्दक के समय में हाथियों के पकड़ने और उनके बेचने का विशेष व्यवसाय किया जाता था। इस व्यवसाय के कारण करनेवाले व्यवसायियों को जो लाभ होता था उसका कुछ अंश राजकोष की वृद्धि हेतु भी संचित किया जाता था। इस प्रकार कामन्दक के समय इस कर द्वारा प्राप्त धन-राशि राजकोष की आय का एक मार्ग माना गया है। राजकोष की आय के इस मार्ग को उन्होंने कुंजर-बन्धन-आय के नाम से सम्बोधित किया है। कौटिल्य ने इस आय को वन-आय के अन्तर्गत सम्मिलित किया है[3]।

(च) खनि-आय—कामन्दक ने खनि-आय को भी राजकोष की आय का एक साधन बतलाया है। खनि-आय के अन्तर्गत कौन-कौन पदार्थों की प्राप्ति गिनी जाती है, इस विषय में कामन्दक मौन है। परन्तु कौटिल्य ने सुवर्ण, चाँदी हीरा मणि मोती मूँगा शंख लोह लवण विशेष प्रकार की मिट्टी, पत्थर, रस आदि वस्तुओं को खनि-आय के अन्तर्गत बतलाया है[5]। अनुमान होता है कि कामन्दक ने भी इन्हीं वस्तुओं

१ वार्ता २ अ ६ अधि २ अर्थशास्त्र। २ वार्ता ५ अ ६ अधि २ अर्थशास्त्र।
३ वार्ता १४ अ २ अधि २ अर्थशास्त्र। श्लोक १ सर्ग १५ कामन्दकनीतिसार।
४ वार्ता १ अ ६ अधि २ अर्थशास्त्र। ५ वार्ता ४ अ ६ अधि २ अर्थशास्त्र।

की प्राप्ति को खनि-आय के अन्तर्गत माना है। इन धातुओं का संचय कोष-वृद्धि हेतु किया जाना चाहिए, ऐसा कामन्दक का मत है।

(छ) आकर-आय—आकर-आय से तात्पर्य उन पदार्थों की प्राप्ति से है जो राज्य में विभिन्न आकरों से प्राप्त होते थे। राज्य में विविध प्रकार के आकर होते हैं। इन आकरों से नाना प्रकार की वस्तुओं की उपलब्धि होती है। आकरों से प्राप्त वस्तुएँ राजकोष की वृद्धि का एक साधन मानी गयी है। कौटिल्य ने तो कोष की उत्पत्ति एवं वृद्धि राज्य के आकरों के आश्रित बतलायी है[1]। आकर-आय से कामन्दक का भी यही तात्पर्य जान पड़ता है।

(ज) शून्य निवेशन-आय—कामन्दक ने राजकोष आय का आठवां मार्ग शून्य निवेशन बतलाया है। कामन्दक ने इस पारिभाषिक पद की व्याख्या नहीं की है। परन्तु प्रसंग से ऐसा जान पड़ता है कि शून्य भूमि के बसाने के उपरान्त उस भूभाग की जनता को जो विशेष लाभ होता था उसका कुछ अंश राजकोष के लिए भी संगृहीत किया जाता था। यही आय शून्य-निवेशन-आय कहलाती होगी।

इस प्रकार कामन्दक के राजकोष की आय के आठ प्रमुख मार्ग बतलाये हैं। कामन्दक ने राजा को आदेश दिया है कि उसे इन आठ प्रमुख मार्गों से साधु एवं स्वच्छ वृत्ति के साथ राजकोष की वृद्धि करनी चाहिए[2]।

कोषवृद्धि के सिद्धान्त—राज्य कोष पर अवलम्बित माना गया है। इसलिए राज्य के योगक्षेम के लिए कोष-वृद्धि की ओर राजा को सतत प्रयत्न करते रहना चाहिए। इसके साथ ही कामन्दक ने असाधु एवं अपवित्र वृत्ति से कोषसंचय करने का निषेध किया है। इसलिए कोष हेतु धन-धान्य आदि का संचय निर्धारित सिद्धान्तों के आधार पर किया जाना चाहिए। इसीलिए कामन्दक ने भी कतिपय सिद्धान्तों का निर्धारण कर आदेश दिया है कि राजकोष के निमित्त धन-धान्य आदि का संचय इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर होना चाहिए। ये सिद्धान्त नीचे दिये जा रहे हैं—

(क) प्रजापरिपुष्टि सिद्धान्त—राजकोष की वृद्धि हेतु प्रजापरिपुष्टि-सिद्धान्त प्राचीन भारत में अधिक काल तक प्रचलित रहा। मनु, भीष्म, कौटिल्य आदि राजशास्त्र-प्रणेताओं ने इस सिद्धान्त को मान्यता दी है। कामन्दक ने भी इस सिद्धान्त की उपयोगिता स्वीकार की है। कामन्दक का मत है कि राजा को अपने अधीन प्रजा को प्रत्येक प्रकार से परिपुष्ट एवं सम्पन्न तथा समृद्ध कर देने के उपरान्त उस पर नियमानुसार कर लगाना चाहिए। इस सिद्धान्त की पुष्टि में उन्होंने अपना मत

१ श्लोक ४९ व १९ अभि २ सर्ग । २ श्लोक ७९ सर्ग ५ कामन्दकनीति।

स प्रकार व्यक्त किया है—"ग्वाले का पालन-पोषण एवं सेवा-शुश्रूषा विधिवत् कर के परिपुष्ट किया जाता है। समय आने पर वह परिपुष्ट गाय दूध देती है। इसी प्रकार सेवा-शुश्रूषा एवं पालन-पोषण की गयी परिपुष्ट, गुणसम्पन्न तथा समृद्ध हुई प्रजा से समय पर नियमानुसार कर ग्रहण कर कोष-वृद्धि हेतु धन-धान्य आदि की प्राप्ति करनी चाहिए। फल और पुष्प प्राप्त करने के इच्छुक पहले लता को सींचते और पालते हैं। समय आने पर उस से फल और पुष्प प्राप्त करते हैं। ठीक इसी विधि से राजा को अपने अधीन प्रजा को परिपुष्ट गुणसम्पन्न तथा समृद्ध बनाना चाहिए और तदुपरान्त धन-धान्य आदि की प्राप्ति हेतु कामना करनी चाहिए[1]।"

(ख) व्यवसाय एवं व्यापार-विकास-सिद्धान्त—राज्य में व्यापार-व्यवसाय तथा उद्योग-धन्धों का विकास करना राजा का कर्तव्य निर्धारित किया गया है। इसलिए उन पर कर इस प्रकार लगाने चाहिए, जिस से इन के विकास में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित न होने पाये और व्यापार-व्यवसाय एवं उद्योग-धन्धे निरन्तर सम्पन्नता को प्राप्त होते रहें। इस सिद्धान्त की पुष्टि में कामन्दक ने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—"क्षीण कोष होने पर भी राजा को अपनी प्रजा के प्रति इस प्रकार व्यवहार करना चाहिए जिस से व्यापार द्वारा आजीविका कमानेवाले लोगों के व्यवसाय में विघ्न न पड़ने पावे[2]।"

(ग) प्रजा-परित्राण-सिद्धान्त—राज्य में प्रजा पर आभ्यन्तर और बाह्य दोनों प्रकार के कष्ट एवं भय आते रहते हैं। राजा का यह कर्तव्य है कि वह अधीन प्रजा को इन कष्टों एवं भयों से मुक्त रखे। कामन्दक ने प्रजा के पाँच भय बतलाये हैं—राज्य के कर्मचारी (आयुक्त) चोर, शत्रु राजा के कृपापात्र (राजवल्लभ) और लोभी राजा[3]। राजा का यह परम कर्तव्य है कि वह अपनी प्रजा को इन पाँचों भयों से मुक्त रखे। यदि राज्य में इन भयों में कोई भी भय उपस्थित हो गया है और उस के निवारण हेतु धन-धान्य आदि की आवश्यकता है तो प्रजा के परित्राण हेतु राजा अपनी प्रजा से धन-धान्य आदि की याचना कर सकता है। इस सिद्धान्त की पुष्टि में कामन्दक ने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—"राजा को अधीन प्रजा के पाँच भय दूर करने चाहिए और इस प्रकार त्रिवर्ग (धर्म अर्थ और काम) की स्थापना करनी चाहिए। इस कार्य के निमित्त अवसर पड़ने पर प्रजा से धन ग्रहण करना उचित होगा[4]।"

१ श्लोक ८४ सर्ग ५ कामन्दकनीति। २ श्लोक ८ सर्ग ५ कामन्दकनीति।
३ श्लोक ८२ सर्ग ५ कामन्दकनीति। ४ श्लोक ८१ सर्ग ५ कामन्दकनीति।

(घ) उपकार-सिद्धान्त—कामन्दक ने प्रजा के उपकार हेतु कार्य-सम्पादन करने के निमित्त प्रजा पर कर लगाने का अधिकार राजा को दिया है। उनका मत है कि राजा अपने अधीन प्रजा से अल्प-अल्प धन कर के रूप में राजकोष के निमित्त ग्रहण कर ले। समय आने पर उसे इस धन को प्रजा के उपकार में व्यय कर देना चाहिए। इस सिद्धान्त की पुष्टि में उन्होंने सूर्य का दृष्टान्त दिया है। जिस प्रकार सूर्य पृथ्वी से धीरे धीरे अल्प मात्रा में जल ग्रहण करता रहता है और समय पर वह उसी के कल्याण हेतु उसी जल को वर्षा के रूप में प्रदान करता है, जिस को पाकर जगत् सुखी समृद्ध और सम्पन्न होता है, उसी प्रकार राजा भी आचरण करे[1]।

(ङ) दुष्ट-शोषण-सिद्धान्त—दुष्ट जन अपनी सम्पत्ति का दुरुपयोग करते रहते हैं और उस के द्वारा साधु पुरुषों को क्षोभित एवं पीड़ित करने का सतत प्रयास करते रहते हैं। इस लिए दुष्ट पुरुषों को सम्पत्ति-अधिकार मिलना नहीं चाहिए, ऐसा कामन्दक का मत है। कामन्दक इस पक्ष में जान पड़ते हैं कि दुष्टजनों की सम्पत्ति का अपहरण राजा द्वारा कर लिया जाना चाहिए। इस विषय में कामन्दक ने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—"राजा दुष्ट जनों के धन-धान्य आदि का शोषण उसी प्रकार कर ले जिस प्रकार परिपक्व फल से चतुर पुरुष उस के बीज का शोषण कर लेते हैं[2]।

कोष-व्यसन—राज्य का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग कोष बतलाया गया है। परन्तु जब कोष व्यसन-ग्रस्त हो जाता है तो राज्य के लिए परम अनिष्टकारी बन जाता है। कामन्दक ने इसीलिए कोष को पुष्ट रखने के लिए उसे व्यसनमुक्त रखने का आदेश दिया है। उनके मतानुसार कोष का अपनी सामर्थ्य से अधिक व्ययशील होना, उसका चारों ओर बिखरा हुआ होना, उसके धन-धान्य आदि का भोग किया या लुप्त होना, उसके धन-धान्य आदि का चुक गया होना, उसका स्वामी से दूर होना, उसका अवगृहीत होना—ये सब कोष के व्यसन होते हैं[3]। राजा का यह परम कर्तव्य है कि वह अपने राजकोष को इन सभी व्यसनों से मुक्त एवं पुष्ट रखे।

इस प्रकार कामन्दक ने कोष के जो व्यसन बतलाये हैं वह आज भी कोष के व्यसन हैं। इनसे कोष की मुक्ति आज भी उतनी ही आवश्यक है, जितनी कि कामन्दक के समय में थी।

१ श्लोक ७४ सर्ग ५ कामन्दकनीति। २ श्लोक ८५ सर्ग ५ कामन्दकनीति।
३ श्लोक ११ सर्ग १३ कामन्दकनीति।

राष्ट्र का स्वरूप—प्राचीन भारत में राज्य दो मुख्य भागों में विभक्त समझा जाता था। राज्य के ये दो भाग राष्ट्र अथवा जनपद और पुर अथवा दुर्ग कहलाते थे। राज्य की राजधानी पुर अथवा दुर्ग के नाम से सम्बोधित की जाती थी। इस प्रकार राज्य की राजधानी को पृथक कर देने के उपरान्त राज्य का जो भाग शेष रह जाता था राष्ट्र अथवा जनपद कहलाता था। यही कारण है कि प्राचीन भारत में राज्य के सात अंग अथवा उसकी सात प्रकृतियों में राष्ट्र अथवा जनपद और दुर्ग अथवा पुर दोनों को पृथक्-पृथक अंग अथवा प्रकृति माना गया है।

कामन्दक ने भी राष्ट्र का यही स्वरूप स्वीकार किया है। राज्य की राजधानी को पृथक् कर देने के उपरान्त राज्य का जो भाग शेष रह जाता है, उसे उन्होंने भी राष्ट्र अथवा जनपद की संज्ञा दी है।

राष्ट्र के तत्त्व—कामन्दक ने स्पष्ट रूप से यह नहीं लिखा है कि राष्ट्र के अमुक तत्त्व होते हैं। परन्तु उन्होंने राष्ट्र का जो वर्णन किया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि राष्ट्र के तीन तत्त्व माने जा सकते हैं। राष्ट्र के ये तीन तत्त्व भूमि, निवासी और शासन-व्यवस्था हैं। कामन्दक ने इन तीनों तत्त्वों की विवेचना की है और उनके विशेष लक्षणों का भी वर्णन किया है। यह विवेचना एवं इन लक्षणों का स्वरूप इस प्रकार है—

भूमि—प्रजा की वृद्धि राष्ट्र की वृद्धि पर आश्रित होती है। परन्तु राष्ट्र की वृद्धि एवं उसकी उत्तमता राष्ट्र की भूमि के गुणों पर अवलम्बित होती है। प्रजा की ऐश्वर्य-वृद्धि के निमित्त राष्ट्र की भूमि को गुणवती बनाना चाहिए[1]।

राष्ट्र किस प्रकार की भूमि से सम्पन्न होना चाहिए, इस विषय में कामन्दक ने जो वर्णन किया है, उससे ज्ञात होता है कि भूमि उर्वरा विपुल सस्य की उत्पादिका, कृषिकार्य के उपयुक्त कृषि हेतु वर्षाजल के ही आश्रित न रहनेवाली—नहर, कूप तडाग आदि से सम्पन्न—जल की सुविधा से संयुक्त होनी चाहिए। मनुष्य के लिए उपयोगी और पशुओं के अनुकूल वनसम्पत्ति से परिपूरित होनी चाहिए। राष्ट्र की भूमि व्यापारिक पदार्थों की खान तथा खनिज पदार्थों से सम्पन्न पवित्र स्थानों (तीर्थ स्थानों) आदि से परिपूरित और आवागमन के सुमार्गों से सुसम्पन्न होनी चाहिए। गुणवती भूमि के लक्षणों का उल्लेख करते हुए कामन्दक ने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—"अन्न तथा व्यापारिक वस्तुओं की खानि मूल्यवान खनिज पदार्थों से युक्त पशु-हितकारिणी जल की सुविधा से सम्पन्न पवित्र प्रदेशों से युक्त

1 श्लोक ५ सर्ग ४ कामन्दकनीति।

रमणीय हस्तिवन से सम्पन्न जल और स्थल-मार्गों से युक्त बिना वर्षा के भी अन्न उपजानेवाली भूमि ऐश्वर्ययुक्त अथवा गुणवती भूमि होती है[1]।

उन्होंने गुणहीन भूमि के लक्षणों का उल्लेख करते हुए अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—"कंकरीली-पथरीली सर्वतः वनवाली चोरों से नित्य सम्पन्न मूषक कीटोंवाली सर्पों से परिपूरित भूमि कुभूमि होती है[2]। जिस राष्ट्र में इन लक्षणोंवाली भूमि होती है वह राष्ट्र सदैव दरिद्र एवं दुखी तथा पराश्रयी होता है।

निवासी—राष्ट्र के निवासियों के विषय में कामन्दक ने अपना जो मत दिया है उससे यह स्पष्ट होता है कि कामन्दक राष्ट्र के निवासियों में विविध गुणों को स्थान देना चाहते हैं। राष्ट्रवासी उत्तम मेधी के व्यापारी कृषक और शिल्पी होने चाहिए। उन्हें देशप्रेमी शत्रुद्वेषी कर्मकुशलतायुक्त धार्मिक धनी एवं विविध देशों के प्राणियों तथा वस्तुओं से सम्पन्न होना चाहिए। राष्ट्र शूद्र शिल्पी और वणिक जनों से व्याप्त होना चाहिए। राष्ट्र में कृषि-सम्बन्धी महान् कार्यों का आरम्भ करनेवाले कृषक जन होने चाहिए। राष्ट्र के निवासियों को अपनी आजीविका के लिए स्वावलम्बी होना चाहिए।

राष्ट्र के निवासियों के विषय लक्षणों का उल्लेख करते हुए कामन्दक ने अपना मत इन शब्दों में व्यक्त किया है—"अपने अधीन जीविकावाले भूमिगुणों से युक्त आश्रय पर्वत के आश्रयवाले जिसके समीप पर्वत हो शूद्र शिल्पी आदि से युक्त वणिक्जनों से व्याप्त महान् आरम्भ करनेवाले किसानों से सम्पन्न देशप्रेमी राज्य के शत्रु से द्वेष करनेवाले क्लेशसहन कर लेनेवाले और धनी निवासी होने चाहिए। जिस राष्ट्र में इन लक्षणों से सम्पन्न निवासी होते हैं वह राष्ट्र समृद्ध एवं उन्नत राष्ट्र कहलाता है[3]।

इस प्रकार कामन्दक के मतानुसार राष्ट्रवासी जनों को इन सभी गुणों को धारण करना चाहिए।

शासन-व्यवस्था—राष्ट्र की भूमि गुणवती हो और उसके निवासी भी उसी प्रकार गुणसम्पन्न हों परन्तु सुशासन का अभाव हो तो ऐसा सुराष्ट्र भी कुराष्ट्र में परिवर्त हो जाता है। इसलिए राष्ट्र का एक आवश्यक तत्त्व शासन-व्यवस्था भी है। कामन्दक ने इस प्रसंग में जो संकेत किये हैं उनसे भी इसी सिद्धान्त की पुष्टि होती है।

१ श्लोक ५१ ५२ सर्ग ४ कामन्दकनीति। २ श्लोक ५३ सर्ग ४ कामन्दकनीति।
३ श्लोक ५४ ५५ सर्ग ४ कामन्दकनीति।

कामन्दक के मतानुसार राष्ट्र के शासक गण मूर्ख और व्यसनग्रस्त नहीं होने चाहिए। इस संकेत द्वारा कामन्दक ने यह स्पष्ट कर दिया है कि राष्ट्र में सुव्यवस्थित व्यवस्था की स्थापना की जानी चाहिए। राज्य राष्ट्र-कण्टकों से मुक्त एवं बाह्य आक्रमणों से सुरक्षित रहना चाहिए। कामन्दक ने राष्ट्र के सुपालन की ओर संकेत करते हुए अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—"उपर्युक्त लक्षणों वाला राष्ट्र प्रशंसा के योग्य होता है। राष्ट्र का नायक मूर्ख एवं विषयी नहीं होना चाहिए। राजा को अपने अधीन ऐसे राष्ट्र की वृद्धि यत्नपूर्वक करनी चाहिए। राष्ट्र-वृद्धि में सभी की वृद्धि सिद्ध होती है[1]।

राष्ट्र के व्यसन—कामन्दक ने कुछ ऐसे व्यसनों का उल्लेख किया है जिनसे ग्रस्त राष्ट्र नष्ट हो जाते हैं। कामन्दक ने इन व्यसनों को राष्ट्र के व्यसन बतलाया है—अति वृष्टि, अनावृष्टि, टिड्डी आक्रमण, मूषक-अतिवृष्टि, तोतों का आक्रमण, खेतों पर कूद पड़ना, असम्यक् कर, असम्यक दण्डप्रहार, शत्रुबल, चोर-वृत्ति, राजा की सेना का क्रूर होना, अग्नि और व्याधि-प्रकोप, पशुमरण, रोग-प्रसार—ये राष्ट्र के व्यसन होते हैं[2]। अपने अधीन राष्ट्र को इन व्यसनों (संकटों) से मुक्त रखने का सतत प्रयत्न राजा द्वारा किया जाना चाहिए।

दुर्ग—सप्तांगात्मक राज्य की एक प्रकृति अथवा उसका एक अंग दुर्ग माना गया है। राजा को अपने दुर्ग का आश्रय लेकर अपने अधीन राज्य के शासन का सुसंचालन करना चाहिए। राजा के लिए दुर्ग परम उपयोगी बतलाया गया है। कामन्दक के मतानुसार दुर्गहीन राजा पवन से प्रेरित मेघों के समान (शत्रु के आक्रमणों से) छिन्न-भिन्न हो जाता है[3]।

कामन्दक ने अच्छे दुर्ग के लक्षण इस प्रकार बतलाये हैं—"विशाल सीमावाला (विस्तृत क्षेत्र को घेर कर बनाया गया) अत्यन्त गहरी खाई और गोपुरयुक्त, ऊँची प्राकार द्वारा चारों ओर से घिरा हुआ, राजधानी (पुर) से लगा हुआ, पर्वत, नदी तथा गहन वन के समीप, अन्न-धान्य और जल से सम्पन्न, आत्मरक्षा करने में समर्थ विशाल दुर्ग होना चाहिए"[4]। इसी प्रसंग में कामन्दक ने एक स्थल पर लिखा है कि अन्न, धन, आयुध और यन्त्रों से सम्पन्न, वीर, धीर योद्धाओं से व्याप्त, प्रधान मंत्री और आचार्य से सुरक्षित दुर्ग प्रशंसनीय होता है[5]।

१ श्लोक ५६ सर्ग ४ कामन्दकनीति। २ श्लोक ६१,६४ सर्ग ४ कामन्दकनीति।
३ श्लोक ५८ सर्ग ४ कामन्दकनीति। ४. श्लोक ५७,५८ सर्ग ४ कामन्दकनीति।
५. श्लोक ६ सर्ग ४ कामन्दकनीति।

इस प्रकार कामन्दक ने उपर्युक्त लक्षणों से युक्त दुर्ग को अच्छा दुर्ग बतलाया है। दुर्ग के महत्व का उल्लेख करते हुए उन्होंने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—"पृथ्वी युद्ध करने, अपने जनों की रक्षा करने, मित्र और अमित्र का परिग्रह करने और सामन्त तथा वनवासियों द्वारा बड़े किये गये उपद्रवों के निरोध का स्थान दुर्ग कहलाता है[1]। दुर्ग में स्थित राजा अपने और शत्रु दोनों पक्षों से पूजित होता है। मृत्यजनों का भरण-पोषण, वाहन, दान, भूषण, अन्य पदार्थ, स्थिरता, शत्रु को ताप—ये सभी दुर्ग के आश्रय से सिद्ध होते हैं[2]।

दुर्ग-भेद—कामन्दक ने विविध प्रकार के दुर्गों के निर्माण हेतु व्यवस्था की है। उनका कथन है कि दुर्गशास्त्र के ज्ञाताओं ने जलदुर्ग, पर्वतदुर्ग, वृक्षदुर्ग, ऊसरभूमि-दुर्ग और मरुभूमिदुर्ग की प्रशंसा की है[3]। इस प्रकार कामन्दक ने पाँच प्रकार के दुर्ग बतलाये हैं जो कुछ हेर-फेर के साथ वही हैं जिन्हें उनके पूर्व प्राचीन भारत के अन्य राजशास्त्र-प्रणेताओं ने बतलाया है।

मनु और भीष्म ने छः प्रकार के दुर्गों के निर्माण की व्यवस्था की है। मनु के मतानुसार छः प्रकार के ये दुर्ग मरुभूमिदुर्ग, महीदुर्ग, जलदुर्ग, मनुष्यदुर्ग, वृक्षदुर्ग और गिरिदुर्ग हैं। भीष्म ने मरुभूमिदुर्ग, महीदुर्ग, गिरिदुर्ग, मनुष्यदुर्ग, मृद्दुर्ग और वनदुर्ग—ये छः प्रकार के दुर्ग बतलाये हैं।

दुर्गव्यसन—कामन्दक ने दुर्ग के व्यसनों का संक्षेप में उल्लेख किया है। उनके मतानुसार यन्त्र, परिखा और प्राकार का छिन्न-भिन्न हो जाना, रक्षकों का न होना, धान्य, अन्न, ईंधन का क्षीण हो जाना—ये दुर्ग के व्यसन होते हैं[4]। कामन्दक का कथन है कि व्यसन-ग्रस्त दुर्ग अनुपयोगी हो जाते हैं। इसलिए दुर्ग को व्यसन-ग्रस्त होने से बचाते हुए उन्हें रक्षित रखना राजा का कर्तव्य होता है।

शक्ति—कामन्दक ने राजा के निमित्त तीन शक्तियाँ आवश्यक बतलायी हैं। ये तीन शक्तियाँ मन्त्रशक्ति, प्रभुशक्ति और उत्साहशक्ति हैं। शुक्र के उपचार को उन्होंने मन्त्रशक्ति माना है। उन्होंने नय की व्याख्या नहीं की है। कौटिल्य के मतानुसार जिस नीति के द्वारा योगक्षेम की सिद्धि होती है, वह नय कहलाती है[8]।

१ श्लोक २६,१ सर्ग ४ कामन्दकनीति। २ श्लोक ११ सर्ग ४ कामन्दकनीति।
३ श्लोक ५१ सर्ग ४ कामन्दकनीति। ४ श्लोक ७० अ० ७ मानवधर्मशास्त्र।
५ श्लोक ५ अ० ८६ शान्तिपर्व महाभारत।
६ श्लोक ५५ सर्ग १३ कामन्दकनीति। ७ श्लोक १ सर्ग ११ कामन्दकनीति।
८ वार्ता ११ अ० २ अधि० ६ अर्थशास्त्र।

उसको कौटिल्य ने अमित्र बल और कामन्दक ने द्विषद्बल के नाम से सम्बोधित किया किया है। वनवासियों से बनी हुई सेना को कौटिल्य और कामन्दक दोनों ने आटविक सेना की उपाधि दी है।

इस प्रकार कामन्दक ने उपर्युक्त छः प्रकार के सैन्यबल का वर्णन किया है। इन छः प्रकार की सेनाओं में उत्तर की अपेक्षा पूर्व बल क्रमश महत्त्वशील बतलाया गया है[1]। इस दृष्टि से मौलबल सर्वश्रेष्ठ और आटविकबल इन सभी प्रकार के बलों में निकृष्ट माना गया है। इन छ प्रकार के बलों की आपेक्षिक उपयोगिता बतलाते हुए कामन्दक ने भी मौलबल को सर्वोच्च स्थान दिया है। उनका मत है कि निरन्तर सत्कार, अनुपम सङ्कटकाल में स्वामी का दुःखनाश करने में तत्पर रहने और नित्य स्वामी के भाव में भक्ति रहने से मौलबल भृतबल की अपेक्षा श्रेष्ठ होता है[2]। स्वामी के अधीन वृत्ति होने से स्वामी के समान ही सहर्ष सामर्थ्य और शिक्षाम होने के कारण भृतबल श्रेणिबल की अपेक्षा महत्त्वपूर्ण होता है[3]। सेना की उपयोगिता की दृष्टि से श्रेणिबल को तीसरा स्थान दिया गया है। कामन्दक का मत है कि राजा और श्रेणीबल दोनों एक ही जनपद के निवासी होने और देश-कालसम्बन्धी भेद के कारण एक प्रकार का आचार-विचार होने से तथा दोनों का समान हित होने के कारण मित्रबल की अपेक्षा श्रेणीबल अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। मित्रबल शत्रुबल से भिन्न मत रखता है। शत्रुबल स्वभावत अधर्मी लोभी बनावे और प्रतिज्ञा भङ्ग करनेवाला होता है। इसलिए कामन्दक ने मित्रबल को, शत्रुबल की अपेक्षा श्रेष्ठ बतलाया है[4]। पूर्व में वनवासी होने के कारण आटविकबल शत्रुबल की अपेक्षा न्यून महत्त्वयुक्त बतलाया गया है। इसलिए आटविकबल की अपेक्षा शत्रुबल श्रेष्ठ माना गया है। शत्रुबल और आटविकबल ये दोनों लूट पाट और मार-काट के लिए विशेष उपयोगी माने गए हैं[5]।

इस प्रकार कामन्दक ने जो छ प्रकार का सैन्यबल बतलाया है और उनकी जो आपेक्षिक उपयोगिता बतलायी है, वह लगभग वही है जो कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में दी है।

सेना के अङ्ग—कामन्दक ने चतुरङ्ग बल अथवा चतुरङ्गिणी सेना मानी है। इस प्रकार उनके मतानुसार सेना के चार अङ्ग होते हैं। सेना के ये चार अङ्ग पैदल

१ श्लोक ४ सर्ग १८ कामन्दकनीति। २ श्लोक ३ सर्ग १८ कामन्दकनीति।
३ श्लोक ५ सर्ग १८ कामन्दकनीति। ४ श्लोक ६ सर्ग १८ कामन्दकनीति।
५ श्लोक ७ सर्ग १८ कामन्दकनीति। ६ श्लोक ८ सर्ग १८ कामन्दकनीति।

अश्वारोही, गजारोही और रथसेना है। इसी प्रसंग में उन्होंने षड्विध बल की चर्चा की है। षड्विध बल पैदल, अश्वसेना, गजसेना, रथसेना, मौलबल और कोषसम्पन्न माना गया है[1]। कामन्दक ने नौसेना का उल्लेख नहीं किया है।

गजसेना की उपयोगिता—कामन्दक के मतानुसार चतुरंगबल का सबसे उपयोगी अंग गजसेना है। युद्ध के निमित्त गजों की उपयोगिता के विषय में कामन्दक ने कौटिल्य के मत को ही अपने शब्दों में व्यक्त कर दिया है। कामन्दक कहते हैं कि राजा का राज्य उसके गजों में ही बँधा हुआ होता है। अर्थात् राज्य की रक्षा एवं उसकी वृद्धि गजों के आश्रित होती है। कामन्दक का मत है कि सुशिक्षित उत्तम देश का ज्ञाता, धैर्यवान् पुरुष से अधिष्ठित युद्ध में अकेला हाथी छः सौ विशिष्ट अश्वों को मारने में समर्थ होता है। वन स्थल, वृक्षों के समूह में, साधारण, विषम अथवा सम भूमि में तथा परिखा, राजप्रासाद और पर्वतों के विदारण में गजसेना द्वारा ही विजय प्राप्त होती है[3]। जंगल में अग्रगामी बल और दुर्गम स्थान में प्रवेश कर जाना, जहाँ मार्ग नहीं वहाँ मार्ग बना देना, नदियों के घाटों को उतरने योग्य बना देना, जल में अवगाहन, पारगमन हेतु मार्ग करना, एक ही दल से विजय देना, सघन हुई सेना को छिन्न-भिन्न कर देना, छिन्न-भिन्न सेना को घेर कर इकट्ठी कर देना, प्राप्त भयका निवारण करना, परिखा और द्वार को तोड़ देना, कोष और मौलि की भय से रक्षा करना—ये सभी हस्तिकर्म बतलाये गये हैं[4]।

गजों के लिए युद्धभूमि किस प्रकार की होनी चाहिए, इस विषय में भी कामन्दक ने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—"हाथियों के लिए भूमि की पर्याप्त स्थिरता होनी चाहिए। पत्थरयुक्त तथा कीचड़ी भूमि हाथी के लिए उपयुक्त नहीं होती। मर्दन करने तथा तोड़ने योग्य वृक्षों से संकीर्ण, पंकरहित, उर्वरा, जल-पीत और ऊँची-नीची भूमि हाथियों के प्रचारयोग्य होती है।

अश्वसेना के विशेष कर्म—प्रसंग से ज्ञात होता है कि महत्त्व की दृष्टि से गजसेना के उपरान्त अश्वसेना को स्थान दिया गया है। कामन्दक ने अश्वसेना के विशेष कार्यों का उल्लेख करते हुए अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—"वन दिशा और मार्ग की खोज करना, भार ढोने की बड़ी सेना और धान्य की रक्षा

१ श्लोक २४ सर्ग १८ कामन्दकनीति। २ श्लोक १ सर्ग १९ कामन्दकनीति।
३ श्लोक ११ सर्ग १९ कामन्दकनीति। ४ श्लोक १२ सर्ग १९ कामन्दकनीति।
५ श्लोक २,३ सर्ग १९ कामन्दकनीति। ६ श्लोक ११ सर्ग १९ कामन्दकनीति।
७ श्लोक १४ सर्ग १९ कामन्दकनीति।

करना अपसरण में पीछे गमन और कार्य का शीघ्र सम्पादन करना वीन (आधार) की रक्षा करना शत्रु के सम्मुख गमन करना अश्वगति से प्रहार करना—अश्व के ये सभी कार्य हैं[1]।

अश्व के विचरण करने योग्य भूमि के विशेष लक्षणों का उल्लेख कामन्दक ने इस प्रकार किया है—"अल्प वृक्ष और अल्प पाषाणवाली अल्प छिद्र और लता वाली, पत्थररहित स्थिर, कंकड़रहित पंक और रजकहीन भूमि अश्व के विचरण योग्य होती है[2]।

पैदल सेना के विशेष कार्य—पैदल सेना के विशेष कार्यों का उल्लेख कामन्दक ने एक वाक्यमात्र में किया है। उनके मतानुसार सदा शस्त्र धारण करना पैदल सेना का कार्य है[3]। पैदल सेना के लिए ठूंठ बांबी वृक्ष गुल्म कांटो और लताओं से युक्त विषम भूमि आदि स्थान अनुपयुक्त बतलाये गये हैं[4]।

रथसेना के विशेष कार्य—कामन्दक ने रथसेना के महत्त्व एवं उसके कर्तव्यों के विषय में अपना मत व्यक्त नहीं किया है। इससे ज्ञात होता है कि उनके समय में युद्ध के लिए रथसेना की उपयोगिता पहले की अपेक्षा कुछ कम हो चुकी थी और गजसेना ने सर्वोपरि स्थान ग्रहण कर लिया था।

सेना के विशेष पदाधिकारी—सेना में छोटे-बड़े अनेक पदाधिकारी होते हैं। कामन्दक ने इनमें कतिपय पदाधिकारियों के नाम तथा उनके विशेष लक्षणों का भी उल्लेख इस प्रकार किया है—

१—सेनापति-सेना का सबसे बड़ा एवं महत्त्वपूर्ण अधिकारी सेनापति बतलाया गया है। इसे कामन्दक ने ध्वजिनीपति की भी उपाधि दी है[5]। कामन्दक के मतानुसार सेनापति को विविध गुण एवं योग्यताओं का धारण करनेवाला पुरुष होना चाहिए। सेनापति की आकृति भव्याकारी (भव्याकारसम्पन्न) होनी चाहिए। उसमें क्षुधा पिपासा श्रम त्रास शीत ताप गर्मी वर्षा आदि प्रकोपों को सहन कर लेने की सामर्थ्य होनी चाहिए। उसे युद्धविद्या में कुशल तथा हाथी अश्व रथ और अस्त्र-शस्त्र के प्रयोग में प्रवीण होना चाहिए। हाथी अश्व और मनुष्यों आदि के स्वभाव एवं उनके चित्त का ज्ञान रखनेवाला होना चाहिए। उसे युद्धविद्या का ज्ञाता आलस्य तन्द्रा दीर्घसूत्रता आदि का त्यागी अनुशासनशील सदाचरण वीर म

१ श्लोक ४९ सर्ग १९ कामन्दकनीति।
२ श्लोक १ सर्ग १९ कामन्दकनीति। ३ श्लोक ५ सर्ग १९ कामन्दकनीति।
४ श्लोक ९ सर्ग १९ कामन्दकनीति। ५. श्लोक ४१ सर्ग १८ कामन्दकनीति।

करनेवाला, बहुश्रुत, अर्थसम्पन्न, प्रभाव और उत्साह से परिपूरित, अनुजीवियों के लिए उनकी जीविका की सम्यक् व्यवस्था करनेवाला होना चाहिए। सेनापति को अच्छे कुल में उत्पन्न हुआ, अपने ही देश का निवासी, बहुस्वजन और बन्धु-बान्धवों से सम्पन्न एवं व्यवहारकुशल होना चाहिए। उसे मन्त्रविद्, मन्त्रानुसार कार्य करनेवाला और शस्त्र-प्रयोग में कुशल होना चाहिए। उसे अनेक देश-भाषाओं का ज्ञाता एवं उनकी लिपियों का ज्ञान रखनेवाला तथा सूक्ष्मबुद्धिवाला पुरुष होना चाहिए। उसे ज्योतिष् का ज्ञाता होना चाहिए। सेनापति अपनी सेना के भय का शोधन करनेवाला, आपत्ति में रक्षा करनेवाला, चर तथा दूतों के प्रचार को जाननेवाला होना चाहिए। इसी प्रकार विविध गुणों एवं योग्यताओं का धारण करना सेनापति के लिए कामन्दक द्वारा आवश्यक बतलाया गया है।

२—बलमुख्य—कामन्दक ने युद्ध हेतु सेना के गमन का वर्णन किया है। इस वर्णन में उन्होंने सेना के गमन-काल में उसकी रक्षा की व्यवस्था का भी उल्लेख किया है। इसी प्रसंग में सेना के पिछले भाग की रक्षा का भार बलमुख्यों को सौंपा गया है। इससे विदित होता है कि बलमुख्य भी सेना में महत्त्वपूर्ण पदाधिकारी होते थे। प्रसंग से ज्ञात होता है कि सेना की विभिन्न टोलियों अथवा वर्गों के मुख्य पदाधिकारी बलमुख्य बतलाये गये हैं[1]। ऐसा ज्ञात होता है कि सेना के जो छ प्रकार बतलाये गये हैं, उनमें प्रत्येक का सर्वोच्च अधिकारी बलमुख्य कहलाता था। इस प्रकार सेना में छ बलमुख्य होते थे। ये छ बलमुख्य मौलबलमुख्य, भृतबलमुख्य, श्रेणिबलमुख्य, सुहृद्बलमुख्य, द्विषद्बलमुख्य और आटविकबलमुख्य होते थे।

३—सेनापति—कामन्दक ने चतुरंगबल माना है। चतुरंगबल के ये चार अंग गजसेना, अश्वसेना, रथसेना और पैदलसेना होते हैं। सेना के चारों अंगों के पृथक्-पृथक् पति बतलाये गये हैं जिन्हें कामन्दक ने सेनापपति के नाम से सम्बोधित किया है। इससे ज्ञात होता है कि कामन्दक के मतानुसार राजा की सेना में एक सेनापति, छ बलमुख्य और चौबीस सेनापपति होते थे। सेनापति सम्पूर्ण सेना का सर्वोच्च अधिकारी होता था। उसके अधीन छ बलमुख्य और प्रत्येक बलमुख्य के अधीन चार चार सेनापपति गजसेनापपति, अश्वसेनापपति, रथसेनापपति और पत्तिसेनापपति होते थे।

बलमुख्य और सेनापपति पदाधिकारियों के वास्तविक स्वरूप, उनके गुण एवं उनकी योग्यताओं तथा उनके अधिकारों एवं कर्तव्यों के विषय में कामन्दक ने

१ श्लोक ५७ से ६१ तक सर्ग १८ कामन्दकनीति।
२ श्लोक १७ सर्ग १९ कामन्दकनीति।

विशेष वर्णन नहीं किया है। अतः इन विषयों पर विशेष प्रकाश नहीं डाला जा सकता। इतना आवश्यक है कि कामन्दक ने सेनापति की कतिपय विशेष योग्यताओं की ओर संकेत किया है। सेनापति के विषय में उन्होंने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—"किसी प्रकार से भी भेद को प्राप्त न होनेवाला कुलीन पवित्र अस्त्रशस्त्रप्रवीण प्रहार करने में कुशल और अनेक युद्धों में भाग ले चुका हो—इस प्रकार के योद्धा को सेनापति का पद दिया जाना चाहिए[1]।"

सेना के विशेष पदाधिकारी

सेनापति अथवा ध्वजिनीपति

- मौलिबल प्रमुख
  - मौलिबल गजसेनापति
  - मौलिबल अश्वसेनापति
  - मौलिबल रथसेनापति
  - मौलिबल पत्तिसेनापति
- भृतबल प्रमुख
  - भृतबल गजसेनापति
  - भृतबल अश्वसेनापति
  - भृतबल रथसेनापति
  - भृतबल पत्तिसेनापति
- श्रेणिबल प्रमुख
  - श्रेणिबल गजसेनापति
  - श्रेणिबल अश्वसेनापति
  - श्रेणिबल रथसेनापति
  - श्रेणिबल पत्तिसेनापति
- सुहृद्बल प्रमुख
  - सुहृद्बल गजसेनापति
  - सुहृद्बल अश्वसेनापति
  - सुहृद्बल रथसेनापति
  - सुहृद्बल पत्तिसेनापति
- द्विषद्बल प्रमुख
  - द्विषद्बल गजसेनापति
  - द्विषद्बल अश्वसेनापति
  - द्विषद्बल रथसेनापति
  - द्विषद्बल पत्तिसेनापति
- आटविकबल प्रमुख
  - आटविकबल गजसेनापति
  - आटविकबल अश्वसेनापति
  - आटविकबल रथसेनापति
  - आटविकबल पत्तिसेनापति

(४) कुमार—राजा के पुत्र भी युद्धकाल में सेना में विशेष स्थान ग्रहण करते थे विशेषकर राजा का ज्येष्ठ पुत्र। कामन्दक ने इस प्रसंग में कुमार के कर्तव्यों का भी वर्णन किया है उससे ज्ञात होता है कि कुमार का स्थान सेनापति के समकक्ष ही महत्त्वपूर्ण माना गया है[2]। इस प्रकार कामन्दक ने कुमार को सेना में विशेष महत्त्वपूर्ण पद दिया है।

(५) नायक—कामन्दक ने सेना के एक महत्त्वपूर्ण पदाधिकारी को नायक की उपाधि दी है। कामन्दक ने सेना के गमन-काल में नायक को सेना का पथप्रदर्शक

१ श्लोक १२ सर्ग १८ कामन्दकनीति।
२ श्लोक १८ सर्ग १५ कामन्दकनीति।

एवं सेना पर आनेवाले आकस्मिक संकटों से उसकी रक्षा करनेवाला पदाधिकारी माना है। उसके अधीन अति बलवान् सैनिकों की एक टोली होनी चाहिए।

कामन्दक ने नायक का जो वर्णन इस प्रसंग में किया है उससे यह स्पष्ट है कि नायक सेना का नेता होता था जिसका कर्तव्य सेना का पथ-प्रदर्शन करना तथा सेना के प्रयाण-काल में उसके मार्ग में आनेवाले विघ्न एवं संकटों का शमन करना था[1]।

सेना-व्यसन—कामन्दक ने सेना के अनेक व्यसन बतलाये हैं। सेना के ये व्यसन वही हैं, जिनका वर्णन कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में किया है। कामन्दक के मतानुसार ये व्यसन इस प्रकार हैं—"सतायी हुई, सब ओर से घिरी हुई, सम्मान न पायी हुई, तिरस्कृत, वेतन न पायी हुई, व्याधित, थकी हुई, दूर से चलकर आयी हुई, नयी भर्ती की सेना, क्षीण हुई (मौल के न रहने से), नायकहीन, हतमान, आशाविच्छिन्न, असमय से प्राप्त, स्त्रीजनयुक्त, विक्षिप्त हृदय में द्वेष रखनेवाली, परस्पर विभिन्न भिन्न-भिन्न अति समूह से रहनेवाली, कोपित नायक से विगत शत्रु से मिली हुई, दोष अभ्यासी बनी, विपद्ग्रस्त मित्रों द्वारा परित्यक्त, पार्ष्णि-ग्राहहीन, असमय से रक्षाहीन, स्वामीरहित, भिन्नकूट, शून्यपार्ष्णिग्राह, मूढ (अन्ध) अर्थात् कार्य-निर्णय में असमर्थ—इन व्यसनोंवाली सेना को कामन्दक ने व्यसनग्रस्त सेना बतलाया है[2]।"

कामन्दक ने सेना के इन व्यसनों के शमन हेतु उपायों का भी उल्लेख किया है[3]। उनका मत यह है कि इन उपायों का आश्रय लेने से व्यसनग्रस्त सेना व्यसन-मुक्त हो जाती है।

षाड्गुण्य मत—प्राचीन भारत के प्रायः सभी राजशास्त्र-प्रणेताओं ने मत को राज्य का मूल माना है। यह मत षाड्गुण्य बतलाया गया है। कामन्दक ने भी इस परम्परा को मान्यता दी है। उन्होंने भी इसी परम्परा के अनुसार षाड्गुण्य मत के छः गुण सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और आश्रय माने हैं और देश, काल, परिस्थिति एवं आवश्यकतानुसार इनका अवलम्बन करना राजा एवं राज्य दोनों के लिए कल्याणकारी बतलाया है।

सन्धि—कामन्दक ने सन्धिगुण की परिभाषा नहीं दी है। परन्तु उन्होंने उन परिस्थितियों का उल्लेख अवश्य किया है जिनके उपस्थित हो जाने पर राजा को

१ श्लोक ३५ सर्ग १८ कामन्दकनीति।
२ श्लोक ६७ से ७२ तक सर्ग ११ कामन्दकनीति।
३ श्लोक ७३ से ९१ तक सर्ग ११ कामन्दकनीति।

सन्धि युग का आश्रय लेना उचित होगा। इस विषय में उन्होंने अपना मत व्यक्त करते हुए इस प्रकार व्यवस्था दी है—"जब राजा बली शत्रु से आक्रान्त हो जाय और उससे बचने का अन्य कोई उपाय दृष्टिगोचर न हो तो ऐसी परिस्थिति के उपस्थित हो जाने पर विपद्ग्रस्त काल व्यतीत करते हुए राजा को सन्धि युग का आश्रय लेना चाहिए[1]।

सन्धियुग की परिभाषा करते हुए कौटिल्य ने बतलाया है कि कुछ पणों (Conditions) के आधार पर दो राजाओं में जो मेल हो जाता है उसे सन्धि कहते हैं[2]। कौटिल्य ने उन परिस्थितियों का भी उल्लेख किया है जिनके उपस्थित हो जाने पर सन्धि युग का आश्रय ग्रहण कर लेना चाहिए। इस विषय में कौटिल्य ने अन्य आचार्यों का मत देते हुए अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—"यदि राजा अपने को शत्रु राजा की अपेक्षा दुर्बल समझता है तो ऐसी परिस्थिति में सन्धि कर लेनी चाहिए[3]। जिस परिस्थिति में दो शत्रु राजाओं को समान फल प्राप्त हो रहा हो अथवा समान वृद्धि हो रही हो ऐसी परिस्थिति में उन दोनों राजाओं को परस्पर सन्धि युग को प्राप्त होना उचित होगा[4]। दो शत्रु राजाओं को ऐसा प्रतीत हो कि उनके परस्पर वैर करने से उनकी शक्तियों के क्षीण होने से एक ही समय में दोनों को समान ही फल-प्राप्ति की आशा है—अथवा समान क्षय होने की सम्भावना है तो उन दोनों राजाओं को परस्पर सन्धि युग का आश्रय ग्रहण लेना चाहिए[5]। जब दो शत्रु राजा यह देखें कि उन के परस्पर वैर से वे दोनों राजा तुल्य स्थिति (Stationary condition) में ही बने रहते हैं, और एक ही समय में दोनों को तुल्य ही फलोदय होता है तो ऐसी परिस्थिति में उन दोनों राजाओं को परस्पर सन्धि कर लेनी चाहिए—ऐसा आचार्यों का मत है[6]। परन्तु आचार्य कौटिल्य इन मतों को नहीं मानते। उन का कहना है कि यह कोई बहुत नीतिपूर्ण बात नहीं है *क्योंकि इन परिस्थितियों में सन्धि के अतिरिक्त और दूसरा उपाय ही नहीं है।* कौटिल्य का मत है कि शत्रु राजा को निर्बल बनाने और अपने को प्रत्येक प्रकार से सबल बनाने का साधन सन्धि है। सन्धि की अवधि में राजा को येन-केन प्रकारेण

१ श्लोक १ सर्ग ९ कामन्दकनीति। २ वार्ता ६ अ १ अधि ७ अर्थशास्त्र।
३ वार्ता १२ अ १ अधि७ अर्थशास्त्र। ४ वार्ता १३ अ १ अधि०७ अर्थशास्त्र।
५. वार्ता २७ अ १ अ ७ अर्थशास्त्र।
६ वार्ता ३ अ १ अधि ७ अर्थशास्त्र।
७. वार्ता ११ अ १ अधि०७ अर्थशास्त्र।

अपने इसी उद्देश्य की पूर्ति कर अपने राज्य को सबल बनाने में सुवर्ण का उपयोग करना चाहिए[1]।

इस प्रकार सन्धि पुनः का आश्रय कब किया जाना चाहिए, इस विषय में कामन्दक का मत कौटिल्य के मत से भिन्न है।

सन्धि-भेद—कामन्दक ने सन्धि के बीस भेद बतलाये हैं। इस के साथ ही उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि उन के पूर्व के सन्धिज्ञाताओं ने सन्धि के सोलह भेद किये हैं[2]। सन्धि के ये सोलह भेद कपाल, उपहार, सन्तान, संगत, उपन्यास, प्रतीकार, संयोग, पुरुषान्तर, अदृष्टनर, आत्मामिष, उपग्रह, परिक्रय, उच्छिन्न, परदूषण और स्कन्धोपनेय हैं[3]। कामन्दक ने इन सन्धियों की परिभाषाएँ भी श्लोक में इस प्रकार दी हैं—

(१) कपाल-सन्धि—कामन्दक ने बतलाया है कि सन्धि के ज्ञाताओं ने कपाल-सन्धि को समसन्धि माना है, अर्थात् समान शक्तिवाले राजाओं के मध्य जो सन्धि की जाती है वह कपाल सन्धि कहलाती है। कौटिल्य के मतानुसार आत्यधिक धन-दान की प्रतिज्ञा के आधार पर जो सन्धि की जाती है वह कपालसन्धि कहलाती है[4]।

(२) उपहार-सन्धि—धन-दान के आधार पर, जो राजाओं के मध्य जो सन्धि की जाती है वह उपहार सन्धि कहलाती है[5]।

(३) सन्तान-सन्धि—कामन्दक का मत है कि कन्यादान करके जो सन्धि की जाती है, सन्धि के ज्ञातागण उस सन्धि को सन्तानसन्धि कहते हैं।

(४) संगत-सन्धि—कामन्दक के मतानुसार सज्जन राजाओं के मध्य मित्रता स्थापित करने के हेतु जो सन्धि की जाती है वह संगतसन्धि कहलाती है[6]। जब तक जियेंगे तब तक अर्थ के प्रयोजनवाली यह सन्धि सम्पत्ति-विपत्ति में किसी कारण से भी नहीं टूटेगी। यह संगतसन्धि अत्युत्तम होने से सुवर्ण के समान होती है। इसीलिए सन्धि के मर्म ज्ञाताओं ने संगतसन्धि को काञ्चनसन्धि कहा है। कौटिल्य ने इसी काञ्चन अथवा संगत-सन्धि को सुवर्णसन्धि के नाम से सम्बोधित किया है। सुवर्णसन्धि की परिभाषा करते हुए कौटिल्य ने बतलाया है कि जब दो राजाओं

१ पन्ने १२ से ४६ तक अ. १ अधि. ७ अर्थशास्त्र।
२ श्लोक ४ सर्ग ९ कामन्दकनीति। ३ श्लोक २,३,४ सर्ग ९ कामन्दकनीति।
४ श्लोक १५ सर्ग ९ कामन्दकनीति। ५ श्लोक ११ अ. ३ अधि. ७ अर्थशास्त्र।
६ श्लोक ५ सर्ग ९ कामन्दकनीति। ७ श्लोक ६ सर्ग ९ कामन्दकनीति।
८ श्लोक ६ सर्ग ९ कामन्दकनीति। ९ श्लोक ७ सर्ग ९ कामन्दकनीति।

में परस्पर सन्धि के द्वारा विश्वास उत्पन्न होकर परस्पर मेल हो जाता है तो वह सन्धि सुवर्णसन्धि कहलाती है[1]।

(५) उपन्यास-सन्धि—किसी श्रेष्ठ कार्य के सम्पादन हेतु जो सन्धि की जाती है सन्धि के मर्मज्ञों ने उस सन्धि को उपन्यास सन्धि की संज्ञा दी है[2]।

(६) प्रतिकार-सन्धि—कामन्दक ने प्रतिकार-सन्धि के दो रूप बतलाये हैं। उपकार के बदले में उपकार की कामना हेतु जो सन्धि की जाती है, उसे प्रतिकार सन्धि का प्रथम रूप बतलाया है[3]। सन्धि का दूसरा रूप उन्होंने इस प्रकार बतलाया है—"मैं इसका उपकार करता हूँ यह भी मेरा उपकार करेगा" इस कामना से जो सन्धि की जाती है, उस सन्धि को भी प्रतिकारसन्धि कहते हैं[4]।

(७) संयोग सन्धि—किसी कार्यविशेष को समक्ष रखकर विजिगीषु गमन करते हुए मार्ग में सन्धि होती है वह पण्डित प्रमाणवादी संयोग सन्धि कहलाती है[5]।

(८) पुरुषान्तर सन्धि—जब दो राजाओं में इस प्रतिज्ञा के आधार पर सन्धि होती है कि उन दोनों के मुख्य योद्धाओं के द्वारा हमारे परस्पर कार्य सिद्ध होते रहेंगे तो इस प्रकार की सन्धि को कामन्दक ने पुरुषान्तर सन्धि की संज्ञा दी है[6]। कौटिल्य ने पुरुषान्तर सन्धि की व्याख्या इस प्रकार की है—'हीनबल राजा का सेनापति राजकुमार के सहित शत्रु राजा की सेवा में उसके द्वारा बुलाने पर, उपस्थित हुआ करे—इस पण (Condition) के आधार पर जो सन्धि की जाय पुरुषान्तर सन्धि कहलाती है। इस प्रकार सन्धि द्वारा राजा की आत्मरक्षा हो जाती है। इसलिए इस प्रकार की सन्धि को आत्मरक्षा सन्धि भी कहते हैं[7]।

(९) अदृष्ट पुरुष सन्धि—जब विजिगीषु राजा के साथ हीनबल शत्रु राजा इस पण के आधार पर सन्धि कर लेता है कि हीनबल राजा अकेले ही शत्रु राजा के कार्य सम्पादन हेतु अपनी सेना के साथ गमन करता रहेगा तो इस प्रकार की सन्धि को स्मृतियों में अदृष्टपुरुष सन्धि कहा गया है—कामन्दक का ऐसा मत है। अदृष्ट पुरुषसन्धि को कामन्दक ने अदृष्टनरसन्धि के नाम से भी सम्बोधित किया है। अदृष्टपुरुषसन्धि की परिभाषा करते हुए कौटिल्य ने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया

१ श्लोक १ अ ३ अधि ७ अर्थशास्त्र। २ श्लोक ९ सर्ग ९ कामन्दकनीति।
३ श्लोक १ सर्ग ९ कामन्दकनीति। ४ श्लोक ११ सर्ग ९ कामन्दकनीति।
५ श्लोक १२ सर्ग ९ कामन्दकनीति। ६ श्लोक १३ सर्ग ९ कामन्दकनीति।
७ श्लोक २५ अ ३ अधि ७ अर्थशास्त्र।
८ श्लोक १४ सर्ग ९ कामन्दकनीति। ९ श्लोक ३ सर्ग ९ कामन्दकनीति।

है—राजा अथवा अन्य कोई व्यक्ति सेना सहित अपने शत्रु राजा के कार्य-सम्पादन हेतु किसी स्थान पर आवश्यकतानुसार गमन किया करे, इस पण के आधार पर जो सन्धि की जाती है वह अदृष्टपुरुषसन्धि कहलाती है। इस सन्धि के अनुसार किसी निर्दिष्ट पुरुष को ही अपने शत्रु राजा के कार्य-सम्पादन हेतु उपस्थित होना पड़ेगा, ऐसा प्रतिबन्ध नहीं रहता। इस सन्धि द्वारा हीनबल राजा और उसकी सेना के मुख्य अधिकारियों की भी रक्षा हो जाती है[1]।

(१०) आदिष्ट सन्धि—कुछ भूभाग देने की प्रतिज्ञा के आधार पर जो सन्धि की जाती है सन्धि के ज्ञाताओं ने उसे आदिष्ट सन्धि कहा है कामन्दक का ऐसा मत है[2]। कौटिल्य के मतानुसार भूमि का एक भाग देकर शेष प्रजा और देश की रक्षा की जाती है। इस प्रकार जो सन्धि की जाती है वह आदिष्ट सन्धि कहलाती है[3]।

(११) आत्मामिष सन्धि—राजा और उसी की सेना के मध्य जो सन्धि की जाती है स्मृतियों में ऐसी सन्धि को आत्मामिष सन्धि की संज्ञा दी गयी है, कामन्दक का ऐसा मत है[4]। कौटिल्य ने आत्मामिष सन्धि की परिभाषा इस प्रकार की है—"निर्धारित सेना अथवा सेना के उत्तम सैनिकों के सहित हीनबल राजा स्वयं शत्रु राजा की सेवा में उपस्थित हो, इस प्रतिज्ञा के आधार पर जो सन्धि हीनबल राजा और उसके सबल शत्रु के मध्य की जाती है वह आत्मामिष सन्धि कहलाती है[5]। इस सन्धि के अनुसार हीनबल राजा को स्वयं अपनी सेना के साथ शत्रु राजा की सेवा में उसकी सहायतार्थ उपस्थित होना पड़ता है।

(१२) उपग्रह सन्धि—कामन्दक के मतानुसार उपग्रह सन्धि सन्धि का वह प्रकार है जिसमें प्राणरक्षा के निमित्त सर्वस्वदान कर देना पड़ता है[6]। कौटिल्य के मतानुसार उपग्रह सन्धि वह सन्धि है, जिसमें युद्ध में शत्रु द्वारा बन्दी किये गये मन्त्री आदि किसी मुख्य व्यक्ति की मुक्ति हेतु थोड़ा-थोड़ा करके शुल्क दे देने की प्रतिज्ञा (by way of easy instalments) करते हैं।

१ श्लोक २६ अ० ३ अधि० ७ अर्थशास्त्र।
२ श्लोक १५ सर्ग ९ कामन्दकनीति।
३ श्लोक ३१ अ० ३ अधि० ७ अर्थशास्त्र।
४ श्लोक १६ सर्ग ९ कामन्दकनीति।
५ श्लोक २४ अ० ३ अधि० ७ अर्थशास्त्र।
६ श्लोक १६ सर्ग ९ कामन्दकनीति।
७ श्लोक २९ अ० ३ अधि० ७ अर्थशास्त्र।

(१३) परिक्रय सन्धि—कोष के कुछ अंश (कुप्यादि) अथवा सम्पूर्ण कोष के दान द्वारा अन्य प्रकृतियों (कोष के अतिरिक्त राजा मंत्री आदि अन्य छः प्रकृतियों) की रक्षा के निमित्त जो सन्धि की जाती है उसे कामन्दक ने परिक्रय सन्धि के नाम से सम्बोधित किया है[१]। परिक्रय सन्धि के विषय में कौटिल्य ने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—"युद्ध में शत्रु द्वारा बन्दी बनाये गये मंत्री आदि किसी मुख्य व्यक्ति की मुक्ति हेतु धन-दान की प्रतिज्ञा के आधार पर जो सन्धि की जाती है वह परिक्रय सन्धि कहलाती है[२]।

(१४) परिभूषण सन्धि—कामन्दक ने उस सन्धि को परिभूषण सन्धि की संज्ञा दी है जिसमें हीनबल राजा अपनी भूमि की सम्पूर्ण उपज अपने बली शत्रु के निमित्त प्रदान कर देने की प्रतिज्ञा कर (अपनी भूमि को विजयी शत्रु राजा से मुक्त कराने के लिए) सन्धि करता है[३]। भूमि में जितनी उपज हो उससे अधिक उपज प्रदान करने की प्रतिज्ञा कर शत्रु राजा से अपनी भूमि मुक्त कराने के निमित्त जो सन्धि की जाती है, उस सन्धि को कौटिल्य ने परिभूषणसन्धि कहा है[४]।

(१५) उच्छिन्न सन्धि—कामन्दक ने उस सन्धि को उच्छिन्न सन्धि की संज्ञा दी है जो सार भूमि प्रदान करने की प्रतिज्ञा के आधार पर की जाती है[५]। राजधानी एवं सारभूमि के अतिरिक्त राज्य की अनुपजाऊ भूमि प्रदान करने की प्रतिज्ञा के आधार पर जो सन्धि की जाय उसे कौटिल्य ने उच्छिन्नसन्धि के नाम से सम्बोधित किया है। उनका मत है कि उच्छिन्न सन्धि उस राजा के लिए उपयोगी होती है जो अपने शत्रु को संकट में डालना चाहता है[६]।

इस प्रकार उच्छिन्न सन्धि के स्वरूप के विषय में कौटिल्य और कामन्दक दोनों में मतभेद है।

(१६) स्कन्धोपनेय सन्धि—थोड़े फल आदि थाली में रखकर और उसे कन्धे पर धारण कर पराजित राजा के समक्ष भेंट प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार जो सन्धि दो राजाओं के मध्य होती है उस विशाखा ने स्कन्धोपनेय सन्धि की संज्ञा दी है[७] कामन्दक का ऐसा मत है। कौटिल्य ने उपर्युक्त सन्धि को ही स्कन्धोपनेय सन्धि माना है[८]।

१ श्लोक १० सर्ग ९ कामन्दकनीति। २ श्लोक २८ अ० ३ अधि० ७ अर्थ० ।
३ श्लोक १८ सर्ग ९ कामन्दकनीति। ४ श्लोक १५ अ० ३ अधि० ७ अर्थ० ।
५. श्लोक १८ सर्ग ९ कामन्दकनीति। ६ श्लोक १४ अ० ३ अधि० ७ अर्थ० ।
७ श्लोक १९ सर्ग ९ कामन्दकनीति।
८ श्लोक २९ अ० ३ अधि० ७ अर्थशास्त्र।

अन्य चार प्रकार की सन्धियाँ—उपर्युक्त सोलह प्रकार की सन्धियों के अतिरिक्त कामन्दक ने चार प्रकार की अन्य सन्धियाँ भी बतलायी हैं। ये परस्पर उपकार सन्धि मैत्र सन्धि सम्बन्ध सन्धि और उपहार सन्धि हैं[1]। एक दूसरे के उपकार में संलग्न रहें इस पक्ष के आधार पर की जानेवाली सन्धि उपकार सन्धि कहलाती है। परस्पर मित्र भाव की स्थापना करते रहें इस प्रतिज्ञा से आबद्ध होकर की जानेवाली सन्धि मैत्रसन्धि होती है। परस्पर वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर जो सन्धि की जाती है सम्बन्धसन्धि कहलाती है। उपयुक्त भेंट प्रस्तुत कर जो सन्धि की जाती है उपहारसन्धि कहलाती है।

चार प्रकार की इन सन्धियों में कामन्दक ने एकमात्र उपहार सन्धि को श्रेष्ठ बतलाया है[2]। कामन्दक का मत है कि कभी आक्रमणकारी राजा कोष की निवृत्ति हुए बिना लौट नहीं सकता। इसलिए उपहार प्रदान करने के अतिरिक्त सन्धि का अन्य कोई साधन होता ही नहीं[3]।

सन्धि के अयोग्य व्यक्ति—कामन्दक ने कतिपय ऐसे व्यक्तियों का उल्लेख किया है, जिनसे सन्धि करने का निषेध है। उन्होंने अपने इस नीतिग्रन्थ में इन व्यक्तियों की यह सूची दी है—बालक, वृद्ध, दीर्घकालीन रोगी, जाति से बहिष्कृत, भीरु, दूसरे को भीरु बनानेवाला, लोभी, लुब्धजन, विरक्तप्रकृति (जिस राजा के सभी गुरुजन आदि प्रकृतियाँ विरक्त हो गयी हैं) अति व्यसनग्रस्त, अनेक चित्त से मन्त्र-सम्मति करने वाला, देव-ब्राह्मण निन्दक, दैव से हत, भाग्य के ही आश्रय रहनेवाला, दुर्भिक्ष व्यसनग्रस्त, बलव्यसनग्रस्त सेनावाला, देशहीन, बहुशत्रुवाला, समय पर प्रतिज्ञा भंग कर देनेवाला, और सत्यधर्म से रहित—ये बीस प्रकार के व्यक्ति सन्धि के अयोग्य होते हैं। इनसे सन्धि नहीं करनी चाहिए। इनसे विग्रह करना ही उचित होगा[4]। इन बीस प्रकार के व्यक्तियों से सन्धि-निषेध के कारण भी कामन्दक द्वारा दिये गये हैं[5]।

सन्धि योग्य व्यक्ति—कामन्दक ने ये सात प्रकार के व्यक्ति सन्धि के योग्य बतलाये हैं—सत्यवादी आर्यपुरुष धार्मिक अनार्य बन्धुओं के समान बलवान् और

१ श्लोक २ सर्ग ९ कामन्दकनीति।
२ श्लोक २१ सर्ग ९ कामन्दकनीति।
३ श्लोक २२ सर्ग ९ कामन्दकनीति।
४ श्लोक २३ से २७ तक सर्ग ९ कामन्दकनीति।
५ श्लोक २८ से ४१ तक सर्ग ९ कामन्दकनीति।

अनेक युद्धविजयी ।[1] सात प्रकार के इन पुरुषों से सन्धि क्यों करनी चाहिए, इस समस्या का समाधान कामन्दक ने हेतुयुक्त किया है[2] ।

इस प्रकार कामन्दक ने सन्धिगुण उसके भेद इन भेदों के विशेष लक्षण और सन्धि के उपयुक्त एवं उसके अनुपयुक्त व्यक्तियों आदि विषयों की हेतुयुक्त विवेचना की है ।

(ख) विग्रह—कामन्दक ने विग्रह गुण की व्याख्या करते हुए अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—"क्रोध धारण किये हुए, क्रोध से ही सन्तप्त चित्तवाले दो व्यक्तियों का परस्पर अपकार में संलग्न होना विग्रह कहलाता है[3] ।" कौटिल्य ने विग्रह गुण की परिभाषा करते हुए बतलाया है कि परस्पर एक-दूसरे के अपकार में लग जाना विग्रह गुण को प्राप्त होना कहलाता है ।

विग्रहगुण का आश्रय लेने के सिद्धान्त का कामन्दक ने विरोध किया है । उन्होंने विग्रह की विषमता का साधन माना है । विग्रह का निषेध करते हुए उन्होंने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—"विग्रह के साथ व्यय आदि दोष उत्पन्न होते हैं । इस लिए विग्रह गुण का आश्रय नहीं लेना चाहिए,[4] अपना शरीर, अन्न सुहृद्गण और धन एक निमेष में पराये हो जाते हैं और वह बारम्बार व्याकुल होते हैं । इसीलिए बुद्धिमान् पुरुष को अति विग्रह नहीं करना चाहिए[5] । अपने सुहृद् अपना धन राज्य आत्मा और यश—ये सभी युद्ध के तराजू में तौले जाते हैं । किधर पलड़ा भारी हो जाय किसी को ज्ञात नहीं । ऐसी परिस्थिति में युद्ध करने की मूर्खता किसी को भी नहीं करनी चाहिए[6] ।"

इन ओजपूर्ण शब्दों में कामन्दक ने विग्रह करने का निषेध किया है । इसके अतिरिक्त उन्होंने बली के साथ युद्ध करने का नितान्त विरोध किया है । इस विषय में वह कहते हैं—"बली के साथ (निर्बल को) युद्ध करना चाहिए, ऐसा कोई दृष्टान्त नहीं है । मेघ पवन के प्रतिकूल कभी नहीं चलते"[7]। कामन्दक के मतानुसार व्यसन ग्रस्त राजा पर आक्रमण किया जा सकता है । परन्तु यह आक्रमण उस समय होना

१ श्लोक ४२ सर्ग ९ कामन्दकनीति ।
२ श्लोक ४३ से ५२ तक सर्ग ९ कामन्दकनीति ।
३ श्लोक १७ सर्ग १ कामन्दकनीति । वार्ता ७ अ. १ अधि. ७ अर्थशास्त्र ।
४ श्लोक ७१ सर्ग ९ कामन्दकनीति । ५. श्लोक ७४ सर्ग ९ कामन्दकनीति ।
६ श्लोक ७५ सर्ग ९ कामन्दकनीति । ७. श्लोक ८१ सर्ग ९ कामन्दकनीति ।
८ श्लोक ९ सर्ग १५ कामन्दकनीति ।

चाहिए जब कि आक्रमण के लिए उत्सुक राजा पराक्रम में बढ़ा-चढ़ा हो[1]। जब बुद्धिमान् राजा अपने बल (सैन्यबल) को हृष्ट-पुष्ट देखे और शत्रु के बल को इसके विपरीत देखे तब विग्रह गुण का आश्रय लेना उचित होगा[2]। जब अपना प्रकृतिमण्डल सम्पन्न एवं अनुरक्त हो और शत्रु का प्रकृतिमण्डल इसके विपरीत हो तब विग्रह गुण का आश्रय लेना उचित समझा गया है[3]।

विग्रह के कारण—कामन्दक ने उन कारणों का भी उल्लेख किया है जिनसे विग्रह उत्पन्न हो जाता है। उनके मतानुसार राज्य स्त्री स्थान देश, मान और धन का अपहरण देशवासियों का पीड़ित किया जाना मद और मान का होना ज्ञान शक्ति का विनाश धर्म का विनाश और दैव का रुष्ट होना मित्र के निमित्त अथवा अपमान होने से तथा बन्धु-विनाश का होना प्राणियों का अनुग्रहविच्छेद होना मण्डल का दूषित होना और दो पुरुषों के एक ही प्रयोजन का होना—ये विग्रह के मूल कारण होते हैं[4]। उन्होंने विग्रह के इन मूल कारणों के उन्मूलन हेतु उपायों का भी उल्लेख किया है। उनका मत है कि इन उपायों के उचित अवलम्बन से विग्रह के कारणों का उन्मूलन हो जाता है और इस प्रकार विग्रह का शमन सम्भव होता है[5]।

वैर-भेद—कामन्दक का मत है कि आचार्यों ने वैर के पाँच भेद माने हैं। वह वैर के ये पाँच भेद सापत्नता से उत्पन्न वस्तु के निमित्त से या स्त्री के निमित्त से उत्पन्न वाक्य अथवा अपराध से उत्पन्न हैं[6]। कामन्दक ने कतिपय अन्य आचार्यों के मत भी वैरभेद के विषय में उद्धृत किये हैं। उनका कथन है कि बृहस्पतिसुत ने चार प्रकार का वैर माना है। बृहस्पतिसुत के मतानुसार वैर के ये चार भेद भूमिहरण से वर्जित विनाश से दूसरे की भूमि से और मण्डल के क्षोभ से उत्पन्न होते हैं[7]। कुल और अपराध के कारण उत्पन्न वैर, वैर के ये दो भेद मनु के अनुयायियों द्वारा माने गये हैं[8]।

विग्रह के लिए अनुपयुक्त विषय—कामन्दक ने सोलह प्रकार के विग्रह का निषेध किया है। सोलह प्रकार के ये विग्रह कामन्दक द्वारा इस प्रकार बतलाये गये हैं—

१ श्लोक ३ सर्ग ११ कामन्दकनीति। २ श्लोक ९६ सर्ग १ कामन्दकनीति।
३ श्लोक ९७ सर्ग १ कामन्दकनीति। ४ श्लोक ३ से ५ तक सर्ग १ कामन्दक।
५ श्लोक ६ से १४ तक सर्ग १ कामन्दक।
६ श्लोक १५ सर्ग १ कामन्दकनीति। ७ श्लोक १६, १७ सर्ग १ कामन्दक।
८ श्लोक १८ सर्ग १ कामन्दकनीति।

ी राजा मिलकर शत्रु की प्रकृतियां (अमात्य कोष दण्ड आदि) के नाश के लिए प्रयाण करते हैं, उस गमन को भी कामन्दक ने सम्भूयप्रयाण की संज्ञा दी है[1]। इस यान का तीसरा रूप देते हुए कामन्दक ने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—'अपनी सामन्ती सेना लेकर फलोदय (विजय) का संकल्प कर शत्रु पर आक्रमण हेतु जो गमन किया जाता है, उसे भी सम्भूययान की संज्ञा दी गयी है[2]।

इस प्रकार कामन्दक ने सम्भूययान के तीन प्रभेद कर उनके विशेष लक्षणों का पृथक्-पृथक् उल्लेख किया है।

(४) प्रसंगयान—किसी कार्यवश कहीं जा रहा हो उस बीच में किसी कारण से अन्य किसी राजा पर आक्रमण कर दिया जाय तो इस प्रकार आक्रमण को कामन्दक ने प्रसंगयान की उपाधि दी है[3]।

(५) उपेक्षायान—जब कोई बलवान् राजा शत्रु पर आक्रमण करता है और इस आक्रमण का फल विपरीत होता है तो उस की उपेक्षा को कामन्दक ने उपेक्षायान माना है । उपेक्षायान को स्पष्ट करने के लिए कामन्दक ने महाभारत से उस दृष्टान्त को उद्धृत किया है, जिसमें अर्जुन ने हिरण्यपुरवासी जनों को छोड़कर। उनकी उपेक्षा कर, निवातकवचों का संहार किया था ।

(ख) आसन—कामन्दक ने आसन गुण की परिभाषा करते हुए अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है— 'युद्ध के कारण शत्रु और विजिगीषु की परस्पर सामर्थ्य नष्ट होती हो तो उसको नष्ट न करके मौन बैठ रहना आसन कहलाता है। कामन्दक ने आसन के पांच भेद माने हैं[6]। कौटिल्य के मतानुसार किसी समय की प्रतीक्षा में मौन बैठ रहना आसन कहलाता है । कामन्दक के मतानुसार आसन के ये पांच भेद विगृह्यासन सन्धायासन सम्भूयासन प्रसंगासन और उपेक्षासन हैं जिनके विशेष लक्षण इस प्रकार दिये गये हैं—

(१) विगृह्यासन—कामन्दक ने विगृह्यासन के दो रूप दिये हैं। विगृह्यासन के प्रथम रूप में दो राजा एक दूसरे के विरुद्ध आक्रमण हेतु स्थित होते हैं, शत्रु से विग्रह कर मौन बैठ रहना विगृह्यासन का दूसरा रूप है ।

१ श्लोक ७ सर्ग ११ कामन्दकनीति।
२ श्लोक ८ सर्ग ११ कामन्दकनीति। ३ श्लोक ९ सर्ग ११ कामन्दकनीति।
४ श्लोक १ सर्ग ११ कामन्दकनीति। ५ श्लोक ११ सर्ग ११ कामन्दकनीति।
६ श्लोक १३ सर्ग ११ कामन्दकनीति। ७ वार्ता ८ अ १ अधि ७ अर्थशास्त्र।
८ श्लोक १४ सर्ग ११ कामन्दकनीति।

(२) सन्धायासन—जब विजयाभिलाषी राजा और उसका शत्रु राजा दोनों युद्ध में हीन (क्षीण) हो जायें तो ऐसी परिस्थिति में उन दोनों के मौन बैठ रहने को सन्धायासन के नाम से सम्बोधित किया गया है[1]।

(३) सम्भूयासन—उदासीन और मध्यम राजाओं में अपनी समानता की दृष्टि से मिलकर जो समुत्थान करता है, वह सम्भूयासन कहलाता है—ऐसा कामन्दक का मत है[2]।

(४) प्रसंगासन—अन्य स्थान को गमन और वहाँ से अन्यत्र गमन कर (आक्रमण कर) मौन बैठ रहना कामन्दक के मतानुसार, प्रसंगासन कहलाता है[3]।

(५) उपेक्षासन—शत्रु को अधिक शक्तिशाली समझकर उसकी उपेक्षा कर स्थित हो रहना उपेक्षासन कहलाता है[4]। अथवा कारणवश दूसरे (शत्रु राजा) से उपेक्षित होने से स्थित हो रहने को उपेक्षासन बतलाया गया है[5]।

(ख) द्वैधीभाव—कामन्दक ने द्वैधीभाव की स्पष्ट व्याख्या नहीं की है। परन्तु द्वैधीभाव गुण का जो वर्णन उन्होंने किया है उससे ज्ञात होता है कि उन्होंने द्वैधीभाव उस स्थिति को माना है, जिसमें राजा शत्रुओं के मध्य वाणी द्वारा आत्मसमर्पण करता हुआ काक के नेत्र के समान कभी किसी ओर और कभी किसी ओर देखने की वृत्ति धारण करता है और उनमें किसी का भी विश्वास नहीं करता है।[6] कामन्दक ने द्वैधीभाव गुण के दो भेद किये हैं जिन्हें उन्होंने स्वतन्त्र द्वैधीभाव और परतन्त्र द्वैधीभाव नाम से सम्बोधित किया है। अपने अधीन स्वतन्त्र और दूसरे के आश्रय को देखना परतन्त्र द्वैधीभाव बतलाया गया है[7]। कौटिल्य के मतानुसार एक राजा से सन्धि और दूसरे से विग्रह करना द्वैधीभाव गुण की स्थिति होती है[8]। राजा द्वैधीभाव गुण का आश्रय किन परिस्थितियों में ग्रहण करे, इस विषय में कौटिल्य अपना मत प्रकट करते हुए कहते हैं—"यदि राजा समझता है कि एक राजा के साथ सन्धि करने और दूसरे से विग्रह करने में अपने कार्यों को मैं सम्पन्न कर सकूँगा और शत्रु के कार्यों का नाश करने में समर्थ हो सकूँगा तो उस राजा को द्वैधीभाव गुण का आश्रय लेकर अपनी वृद्धि करनी चाहिए।[9]"

१ श्लोक १७ सर्ग ११ कामन्दकनीति। २ श्लोक १९ सर्ग ११ कामन्दकनीति।
३ श्लोक २१ सर्ग ११ कामन्दकनीति। ४ श्लोक २२ सर्ग ११ कामन्दकनीति।
५ श्लोक २३ सर्ग ११ कामन्दकनीति। ६ श्लोक २४ सर्ग ११ कामन्दकनीति।
७ श्लोक २७ सर्ग ११ कामन्दकनीति। ८ पार्ट ११ अ० १ अधि अर्थशास्त्र।
९ पार्ट १९, ६१ अ १ अधि ७ अर्थशास्त्र।

(च) आश्रय—जब बलवान् शत्रु उच्छेद कर रहा हो और प्रतीकार का कोई उपाय न देख पड़े तो ऐसी परिस्थिति में कुलीन, धैर्यवान्, सत्यशील, बलवान्, आर्य राजा का आश्रय ग्रहण करना कामन्दक के मतानुसार, आश्रय गुण को प्राप्त होना है[1]। मनु और कौटिल्य दोनों ने आश्रय गुण को संश्रय गुण के नाम से सम्बोधित किया है। अपने शत्रु अथवा अन्य किसी बलवान् राजा के प्रति आत्मसमर्पण कर देना कौटिल्य के मतानुसार, संश्रयगुण कहलाता है[2]। कौटिल्य का मत है कि जब राजा अपनी ऐसी परिस्थिति देखता है कि वह शत्रु के कार्यों में हानि पहुँचाने में असमर्थ है और अपने कार्यों के सम्पादन में भी उसी प्रकार असमर्थ है तो उस राजा को किसी दूसरे बलवान् राजा का आश्रय ले लेना चाहिए। इसके उपरान्त उसको अपना कार्य साधते हुए इस क्षणिक क्षय से स्थान की प्राप्ति करनी चाहिए और तदनन्तर स्थान के उपरान्त वृद्धि की प्राप्ति करनी चाहिए[3]।

आश्रित राजा का वृत्त—आश्रित राजा अपने आश्रयदाता राजा के प्रति किस प्रकार व्यवहार करे, इस विषय पर भी कामन्दक ने अपना मत संक्षेप में दिया है। कामन्दक के मतानुसार आश्रित राजा को अपने आश्रयदाता के प्रति इस प्रकार व्यवहार करना चाहिए, जिससे आश्रयदाता को विश्वास हो जाय कि वह उसमें अनुराग एवं श्रद्धा रखता है और उसकी अभिरुचि के अनुसार कार्य करता है। कामन्दक ने इसीलिए आश्रित राजा के वृत्त के विषय में इस प्रकार व्यवस्था दी है—"सदा आश्रयदाता राजा के दर्शन में प्रीति प्रदर्शित करना, नित्य उसके साथ में आसीन रहना और उसके कार्यसम्पादन हेतु सदैव तत्पर रहना आश्रित राजा के वृत्त के विशेष लक्षण हैं[4]।

उपाय—प्राचीन भारत के लगभग सभी राजशास्त्र प्रणेताओं ने राजा की सफलता के निमित्त षाड्गुण्य नय के साथ-साथ उपायों का भी विधान किया है। इन्होंने साम, दाम, भेद और दण्ड ये चार उपाय बतलाये हैं। देश, काल, परिस्थिति एवं आवश्यकतानुसार इन उपायों के सम्यक् प्रयोग में राजा की सफलता निहित मानी गयी है। कामन्दक ने भी उपायों के सम्यक् प्रयोग पर बड़ा बल दिया है और अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—"उपाय से तो मतवाले हाथियों के मस्तक पर भी चरण रख दिया जाता है[5]। बुद्धिमानों के लिए कुछ भी असाध्य नहीं है।

१. श्लोक २८ सर्ग ११ कामन्दकनीति। २. वार्ता १ अ० १ अधि० अर्थ०।
३. वार्ता ६ ११ अ० १ अधि० ७ अर्थशास्त्र।
४. श्लोक २९ सर्ग ११ कामन्दकनीति। ५. श्लोक ४६ सर्ग ११ कामन्दकनीति।

योद्धा अमोघ होता है परन्तु उपाय से वह भी व्यर्थ किया जाता है[1]। कन्धे पर के पड़ा हुआ बोझ-भार कन्धे को नहीं काटता परन्तु बाणरूप थोड़ा बोझ भी मनोरथ-सिद्धि में समर्थ होता है[2]। लोक-प्रसिद्ध है कि जल अग्नि को बुझा देता है परन्तु उपाय द्वारा उस अग्नि से ही वह जल सुखा दिया जाता है[3]।

उपाय-भेद—प्राचीन भारतीय राजनीतिक परम्परा के अनुसार साम, दान, भेद और दण्ड—ये चार उपाय राजाओं की सफलता के लिए बतलाये गये हैं। परन्तु कामन्दक ने सात उपाय माने हैं। कामन्दक के मतानुसार ये सात उपाय साम, दान, भेद, दण्ड, माया, उपेक्षा और इन्द्रजाल हैं।

(१) साम उपाय—शत्रु अथवा बिगड़े हुए मित्र को समझा-बुझा कर अपने अनुकूल करना साम उपाय कहलाता है। कामन्दक ने साम उपाय के पाँच भेद बतलाये हैं। परस्पर उपकारों का कीर्तन, परस्पर गुण-कर्म की प्रशंसा, परस्पर सम्बन्ध का आख्यान, भविष्य के कार्यों का प्रकाश करना और मनोहर, मीठी और साधु वाणी में "मैं तुम्हारा हूँ" ऐसा कहकर आत्मार्पण कर देना आचार्यों ने साम गुण के ये पाँच भेद बतलाये हैं[4]। साम उपाय करनेवाले राजा को किस प्रकार वाणी का प्रयोग करना चाहिए, इस विषय में भी कामन्दक ने अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये हैं—"जिस वाणी से दूसरे को उद्वेग न हो वह साम वाणी कहलाती है। साम वाणी करुण सत्य प्रिय स्तुति बतलायी गयी है[5]। जहाँ तक सम्भव हो राजाओं को साम उपाय का अवलम्बन करना चाहिए। इस सिद्धान्त की पुष्टि में कामन्दक ने दैत्य और देवताओं का दृष्टान्त दिया है। दैत्य और देवताओं ने साम उपाय से ही अमृत के लिए क्षीरसागर का मन्थन कर अमृत की प्राप्ति की थी। साम के परित्याग से सुन्दोपसुन्द शीघ्र ही नष्ट हो गये थे[6]।

(२) दान उपाय—शत्रु अथवा बिगड़े हुए मित्र को शान्त करने के निमित्त आत्मारामपूर्ण वचन भूमि धन-धान्य आदि के दान का आश्रय लिया जाना दान उपाय कहलाता है। कामन्दक ने साम उपाय के समान ही दान उपाय के भी पाँच भेद बतलाये हैं। अपने शत्रु अथवा बिगड़े हुए मित्र का जो धन धान्य द्रव्य आदि लेना है, उसको ज्यों का त्यों उसे लौटा देना कामन्दक ने दान उपाय का प्रथम भेद

१ श्लोक ४७ सर्ग ११ कामन्दकनीति। २ श्लोक ४८ सर्ग ११ कामन्दकनीति।
३ श्लोक ४९ सर्ग ११ कामन्दकनीति। ४ श्लोक ३ सर्ग १७ कामन्दकनीति।
५ श्लोक ४ ५ सर्ग १७ कामन्दकनीति। ६ श्लोक ११ सर्ग १७ कामन्दकनीति।
७ श्लोक १८ सर्ग १७ कामन्दकनीति।

बतलाया है। अपना जो धन-धान्य अथवा अपनी जो भूमि आदि शत्रु के अधिकार में आ गयी है, उसके दान का अनुमोदन करना दान उपाय का दूसरा भेद बतलाया गया है। पूर्व में न दिये हुए अपने द्रव्य अथवा अपनी भूमि आदि का प्रदान दान उपाय का तृतीय भेद माना गया है। शत्रु से वह (शत्रु राजा) स्वयं धन-धान्य, भूमि आदि ग्रहण करके यह दान का चतुर्थ प्रकार बतलाया गया है। शत्रु से लूट में प्राप्त हुए धन-धान्य आदि का छोड़ देना अथवा जो लूट कर ग्रहण किया जाता है, उसमें कुछ छोड़ देना दान उपाय का पंचम भेद है।

कौटिल्य ने भी दान उपाय के पाँच भेद बतलाये हैं जो क्रमशः यही हैं[2]। इस से स्पष्ट है कि कामन्दक ने कौटिल्य के मत को ही अपने शब्दों में व्यक्त कर दिया है।

(३) भेद उपाय—जिस उपाय के अपनाने से मित्र अथवा शत्रु राजा में भेद उत्पन्न हो जाय भेद उपाय कहलाता है। इस प्रकार भेद उपाय दोनों में भेद (फूट) उत्पन्न करने का साधन माना गया है। कामन्दक ने भेद उपाय तीन प्रकार का बतलाया है। स्नेह और राग दूर कर देने के साधन अपनाने को प्रथम प्रकार का भेद उपाय बतलाया गया है, अर्थात् उपाय के इस प्रकार में शत्रु के स्नेही एवं उसके प्रति राग रखनेवालों में भेद (फूट) उत्पन्न करने का प्रयास किया जाता है। शत्रु में संहर्ष उत्पन्न करना भेद उपाय का दूसरा प्रकार बतलाया गया है। संहर्ष उत्पादन से कामन्दक का क्या तात्पर्य है, स्पष्ट नहीं है। सम्भव है, इससे उनका तात्पर्य यह रहा हो कि शत्रु को अपनी वास्तविक स्थिति का बोध न होने पावे और वह तथा उसके सहायक अपनी विजय ही समझते रहें, पराजय के कारणों का उन्हें ज्ञान न होने पावे। अथवा इससे उनका तात्पर्य यह है कि शत्रु के साथी सेनापति पुरुष आदि में परस्पर शत्रुता का व्यवहार होने लगे, जिससे उनमें भेद उत्पन्न हो जाय। भेद के तीसरे प्रकार में सन्तर्जन को स्थान दिया गया है। शत्रु के समक्ष तर्जना प्रस्तुत कर शत्रु एवं उसके सहायकों में भय उत्पन्न करना। इस प्रकार कामन्दक ने दान के उपरान्त भेद उपाय को स्थान दिया है और उन्होंने इसके तीन भेद बतलाये हैं।

भेद-साध्य पुरुष—कामन्दक ने भेद-योग्य पुरुषों के लक्षण भी दिये हैं। इन लक्षणों से युक्त पुरुषों में भेद उत्पन्न करना सरल बतलाया गया है। उनका मत

१ श्लोक ६,७ सर्ग १७ कामन्दकनीति। २ कारिका २ अ ६ अधि ९ अर्थशास्त्र।
३ श्लोक ११ सर्ग १७ कामन्दकनीति।

है कि जिस पुरुष को अपनी दी हुई सामग्री अथवा वस्तु का मूल्य नहीं मिला, लोभी मानी और तिरस्कृत पुरुष क्रोधी किसी कारण कुपित पुरुष और तुम्हारे कारण मेरा काम बिगड़ गया ऐसा कहनेवाला—इन चार प्रकार के पुरुषों को कामन्दक ने भेदयोग्य पुरुष माना है । इनका भेद शत्रु को विकल कर देनेवाला बतलाया गया है[1] । मन्त्री अमात्य और पुरोहित का भेद बड़ा घातक होता है । युवराज के भेद को कामन्दक ने महा भेद माना है । कामन्दक ने कुलीन पुरुष का भेद भयानक बतलाया है । यह भेद को प्राप्त होकर अग्नि के समान अपनी योनि को ही भस्म कर देता है । जो पूर्व सेनापति नीच पद पर स्थित होकर समय व्यतीत कर रहा हो जिसको मिथ्या दोष लगाया गया हो जो अपनी का अधिकारी हो, जिसको बुलाकर अपमानित किया गया हो जिसका व्यवसाय छीना गया हो जिसकी भूमि हरण की गयी हो जिससे कर-विशेष ग्रहण किया गया हो, रणप्रिय साहसी, आत्मसम्मानी धर्म अर्थ और काम से विच्छिन्न किया गया क्रुद्ध, मानी अथवा विमानित भीत अपने दोष से घबराया हुआ जिसने वैर किया है, दूसरे से सत्कार पाया हुआ अतुल्य अनुरूप अथवा तुल्य माननेवाले से तिरस्कृत बिना कारण निरुद्ध अथवा किसी कारण से विरोध किया गया बिना कारण ग्रस्त किया गया पूजा योग्य होने पर भी अपूजित जिसकी स्त्री अथवा जिसका द्रव्य हरण किया गया है महाभाग का अभिलाषी परिक्षीण हुआ बन्धुपीड़ित किया हुआ प्रजा पीड़ित किया गया तथा जाति अथवा देश से बहिष्कृत—इन सभी को भलीभांति सत्कृत कर अपनी कामनाओं को साधना चाहिए[5] ।

(४) दण्ड उपाय—शत्रु के द्वारा किये जानेवाले अपकार के हेतु उसे दण्डित करने के लिए साधनों का अपनाना दण्डोपाय कहलाता है । कामन्दक ने दण्डोपाय के भी तीन भेद बतलाये हैं शत्रु का वध कर देना उसका धन हरण कर लेना और शारीरिक क्लेश कष्ट देना ।

कामन्दक ने दण्ड-प्रयोग दो प्रकार का माना है । उन्होंने दण्ड के इन दो प्रकारों को प्रकाशदण्ड और अप्रकाशदण्ड के नाम से सम्बोधित किया है । उनका

१ श्लोक १० सर्ग १७ कामन्दकनीति । २ श्लोक ८ सर्ग १७ कामन्दकनीति ।
३ श्लोक २१ २४ सर्ग १७ कामन्दकनीति ।
४ श्लोक ११ सर्ग १७ कामन्दकनीति ।
५ श्लोक ११ से ३६ तक सर्ग १७ कामन्दकनीति ।
६ श्लोक ९ सर्ग १७ कामन्दकनीति ।

मत है—"प्रजाहित पुरुषों और शत्रु पर प्रकाश (प्रकट) रूप से दण्ड-प्रयोग करना चाहिए[1]। जिन पुरुषों के दण्डित करने से प्रजा उत्तेजित होती है, राजा के वल्लभ (नृप-वल्लभ) और राजा के समीपी जो प्रजापीड़क हों—इन सभी को अप्रकाश (गुप्त) दण्ड देना चाहिए[2]। विष अथवा उपनिषद् के योग से मरणप्रयोग अथवा किसी विशेष प्रकार के लेपन (विषयुक्त लेपन) आदि के द्वारा चुप-चुप दण्ड दिया जाना चाहिए[3]। इस प्रकार कामन्दक ने प्रकाश और अप्रकाश दण्ड के स्वरूपों का निरूपण किया है।

(५) माया—इच्छानुसार रूप धारण कर लेना, शस्त्रास्त्र, अग्नि या जल की वर्षा करना, अन्धकार में लीन हो जाना—इन सभी को कामन्दक ने मानुषी माया के नाम से सम्बोधित किया है।[4] उपयुक्त अवसर पर शत्रु के नाशहेतु माया नाम के इस उपाय का आश्रय लेना कामन्दक ने उचित माना है। उन्होंने इस उपाय के प्रयोग की उपयोगिता की पुष्टि में अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—"देवी स्त्री का रूप धारण कर भीम ने कीचक का वध कर डाला था। दिव्य माया से राजा नल बहुत काल तक अपना रूप छिपाये हुए सारथी के वेश में राजा ऋतुपर्ण की सेना में रहा[5]।

(६) उपेक्षा—किसी के द्वारा उपकार किये जाने पर भी विशेष परिस्थिति में उसी की ओर जान-बूझ कर आँखें मीच लेना और मौन रहना कामन्दक के मतानुसार उपेक्षा उपाय का अवलम्बन करना है। उपेक्षा उपाय को स्पष्ट करते हुए कामन्दक ने राजा विराट का दृष्टान्त दिया है। यह दृष्टान्त इस प्रकार है—"जो अपने में व्यस्त था, विषय के कारण जो अन्धा हो रहा था, ऐसे कीचक का वध देख कर विराट ने उपेक्षा की थी[6]।"

कामन्दक ने उपेक्षा के तीन भेद माने हैं—"अन्याय में उपेक्षा करना उपेक्षा का प्रथम भेद है, व्यसन में उपेक्षा करना उपेक्षा का द्वितीय भेद माना गया है, युद्ध में प्रवृत्त हुए का निवारण न करना उपेक्षा का तृतीय भेद बतलाया गया है।

१ श्लोक १ सर्ग १७ कामन्दकनीति। २. श्लोक ११ सर्ग १७ कामन्दकनीति।
३ श्लोक १२ सर्ग १७ कामन्दकनीति।
४ श्लोक ५३ सर्ग १७ कामन्दकनीति।
५ श्लोक ५४ सर्ग १७ कामन्दकनीति।
६ श्लोक ५६ सर्ग १७ कामन्दकनीति।
७. श्लोक ५५ सर्ग १७ कामन्दकनीति।

(७) इन्द्रजाल—मेघ अन्धकार वृष्टि, अग्नि पर्वत तथा अद्भुत दर्शन और ध्वजा-पताकाओंयुक्त दूर स्थित सेना का दर्शन छिन्न-भिन्न पाटित और वस्त्र वस्तु का दर्शन कराना कामन्दक के मतानुसार इन्द्रजाल कहलाता है। उनके मतानुसार इन्द्रजाल के उपाय का आश्रय शत्रु को भयभीत करने के लिए किया जाता है।

इस प्रकार कामन्दक ने साम दाम भेद और दण्ड—इन चार उपायों के अतिरिक्त माया उपेक्षा और इन्द्रजाल को भी उपायों में परिगणित किया है। यह कामन्दक की अपनी सूझ जान पड़ती है। उनके मतानुसार राजनीतिज्ञ को ये सातों उपाय शत्रु की सेना अथवा अपने द्रोहियों में आवश्यकतानुसार प्रयोग करने चाहिए। यदि इन उपायों का आश्रय किये बिना प्रयाण (युद्ध हेतु गमन) किया जाय तो उसकी चेष्टा अन्धे पुरुष के समान मानी गयी है[1]। इन उपायों का सम्यक् प्रयोग करने से अवश्य ही शत्रु बुद्धिमानों के वश में हो जाती है और इनके विधिवत् प्रयोग में राजा को उदारता एवं धर्मसिद्धिकारक फल की प्राप्ति होती है—ऐसा कामन्दक का मत है[3]।

युद्धभेद—कामन्दक ने युद्ध के तीन भेद बतलाये हैं, जिन्हें उन्होंने प्रकाशयुद्ध, कूटयुद्ध और तूष्णीयुद्ध के नाम से सम्बोधित किया है। कामन्दक का मत है कि जब देश-काल अपने अनुकूल हो और शत्रु की प्रकृतियों (अमात्य कोष इत्यादि) और दल (शत्रु) में भेद अथवा भिन्न मत हो, ऐसी परिस्थिति में प्रकाशयुद्ध का आश्रय लेना उचित होगा। इसके विरुद्ध परिस्थिति होने पर कूटयुद्ध अथवा तूष्णी युद्ध का आश्रय लिया जाना चाहिए[4]। कामन्दक ने तीन प्रकार के इन युद्धों के विशेष लक्षणों का उल्लेख नहीं किया है। परन्तु उन्होंने कूटयुद्ध के विषय में जो-जो संकेत किये हैं, उनसे यह विदित होता है कि कूटयुद्ध के जो लक्षण कौटिल्य ने दिये हैं, उन्हीं को कामन्दक ने भी मान्यता दी है। इससे यह स्पष्ट है कि कामन्दक द्वारा वर्णित युद्ध के ये तीन भेद नवीन नहीं हैं जो कौटिल्य द्वारा अर्थशास्त्र में दिये गये हैं। कौटिल्य ने इन युद्धों की व्याख्या करते हुए बतलाया है—"देश काल और विक्रम का निश्चय कर जो युद्ध किया जाय उसे प्रकाश युद्ध कहते हैं। छल-कपट द्वारा भय दिखाना, दुर्गों को जलाना, लूट-मार करना

१ श्लोक ५८,५९ सर्ग १७ कामन्दकनीति।
२ श्लोक ६१ सर्ग १७ कामन्दकनीति।
३ श्लोक ६४ सर्ग १७ कामन्दकनीति।
४ श्लोक ५४ सर्ग १९ कामन्दकनीति।

अभिनय करना प्रमाद और व्यसनग्रस्त शत्रु पर आक्रमण करना एक स्थान पर युद्ध रोककर दूसरे स्थान पर छल से मार-काट मचाना कूटयुद्ध के लक्षण हैं। विष एवं औषधि-प्रयोग गुप्त पुरुषों द्वारा वध कराना अथवा भेद लेना तूष्णी युद्ध के लक्षण होते हैं[1]।

कामन्दक ने थके हुए तथा रात्रि में सोये हुए शत्रु के सैनिकों का वध कर देने एवं सूर्य के सम्मुख अथवा आँधी के सम्मुख मिची आँखों वाली शत्रुसेना का वध कूटयुद्ध के अन्तर्गत विधिविहित माना है[2]। कामन्दक कूटयुद्ध के पोषक जान पड़ते हैं। उन्होंने कूटयुद्ध द्वारा शत्रु के वध की पुष्टि में अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—"कूटयुद्ध द्वारा निश्चय वध कर देना चाहिए। इस प्रकार शत्रु का वध कर देने से अधर्म अथवा नरक की प्राप्ति नहीं होती। देखिए विश्वासपूर्वक सोती हुई पाण्डवों की सेना को द्रोणपुत्र ने मार डाला था[3]।"

युद्ध-काल—जिस समय जनता सम्पत्तिसम्पन्न हो खेतों में धान्य का आधिक्य हो पंक और कीचरहित होने से मार्ग स्वच्छ हो आम बौरा रहे हों वनों में शोभा हो रही हो उस समय राजा को शत्रु के राज्य में विजय-कामना से गमन करना चाहिए—कामन्दक का ऐसा मत है[4]। इसके अतिरिक्त कामन्दक ने यह आदेश भी दिया है कि जिस समय शत्रु व्यसनग्रस्त हो और राजा स्वयं पराक्रम में बढ़ा चढ़ा हो ऐसी परिस्थिति में शत्रु पर आक्रमण करना चाहिए[5]। मरुभूमि में जल गिरने के समय अनूपदेश जलप्राय देश कर्दमदेश दुर्गम देश अथवा दुर्ग—इन पर ग्रीष्म ऋतु में आक्रमण करने का विधान कामन्दक द्वारा किया गया है। निश्चित देशों पर अपनी सुविधा एवं अनुकूलता को देखकर आक्रमण करना चाहिए, कामन्दक का ऐसा मत है[6]।

मार्ग—कामन्दक ने तीन प्रकार के मार्ग माने हैं, जिन्हें उन्होंने सम विषम और मिश्र मार्ग नाम से सम्बोधित किया है।[7] समभूमि में अश्वों से तथा विषम-

1 श्लोक ४६,४७ अ. ६ अधि. ७ अर्थशास्त्र।
2 श्लोक १४ १५,१६ सर्ग १८ कामन्दकनीति।
3 श्लोक ६२ सर्ग १८ कामन्दकनीति।
4 श्लोक ६ सर्ग १५ कामन्दकनीति।
5 श्लोक ६,३ सर्ग १५ कामन्दकनीति।
6 श्लोक ४ सर्ग १५ कामन्दकनीति।
7 श्लोक ६ सर्ग १५ कामन्दकनीति।

भूमि एवं सजल और पर्वतों के स्थान पर हाथियों द्वारा आक्रमण करना चाहिए—कामन्दक का ऐसा मत है[1]।

क्षय-व्यय—कामन्दक ने क्षय और व्यय की व्याख्या की है। मनुष्य और पशु के नाश को क्षय और सुवर्ण धान्यादि के नाश का व्यय कहा है[2]। कौटिल्य ने भी क्षय और व्यय की लगभग यही व्याख्या की है[3]।

पक्ष—कामन्दक ने चार प्रकार का पक्ष बतलाया है। पक्ष के ये चार प्रकार हैं—अपना मित्र या उसका आश्रित या सम्बन्धियों का, कार्य की प्राप्ति द्वारा हुआ नया उत्पन्न किया हुआ, और विविध उपकारों द्वारा ग्रहण किया हुआ। इन चार प्रकार के पक्षों में सर्वोत्तम पक्ष के लक्षण कामन्दक द्वारा इस प्रकार बतलाये गये हैं—"सदैव अनुकूल रहनेवाला, पुनर्मिलन करनेवाला भिन्न का न ग्रहण करनेवाला, रहस्य को गुप्त रखनेवाला, और अपने मित्र के निमित्त कष्टानुकूल सहनेवाला, मूर्खता और चपलतारहित अनुरागी अर्थात् स्वस्थ हितैषी पक्ष उत्तम चाहिए[4]।" इसके अतिरिक्त पक्षपाती पक्ष के लक्षण इस प्रकार बतलाये गये हैं—कुलीन आर्य शास्त्र-सम्पन्न विनीत नाम से उसका सम्य, स्थिरबुद्धि, प्रज्ञ, अभि-जनसम्पन्न पक्ष को पक्षपाती पक्ष समझना चाहिए[5]।

कोप—कामन्दक ने दो प्रकार के कोप बतलाये हैं जिन्हें उन्होंने आभ्यन्तर और बाह्य कोप के नाम से सम्बोधित किया है। इनमें आभ्यन्तर कोप अधिक भयानक बतलाया गया है। पुरोहित मंत्री कुमार, कुटुम्बी ये सेना के प्रधान रक्षक बतलाये गये हैं। इनका कोप आभ्यन्तर अथवा अन्तःकोप कहलाता है। इनके कोप को शमन करने का प्रयत्न करना चाहिए[6]। राज्य के अन्तःपाल, अरण्यपालक, सीमा-रक्षक आदि के कोप को कामन्दक ने बाह्य कोप माना है। इस कोप के भी शमन का उपाय करना चाहिए[7]। अग्नि, जल, व्याधि, दुर्भिक्ष और महामारी—ये दैव कोप बतलाये गये हैं[8]।

सेना के व्यसन—कामन्दक ने ऐसे चार व्यसनों (कष्टों) का उल्लेख किया है जिनके कारण मार्ग में सैनिकों के समक्ष भय आ जाता है और सैनिकों की वृत्ति अवरुद्ध

१ श्लोक ३९ सर्ग १५ कामन्दकनीति। २ श्लोक ११ सर्ग १५ कामन्दकनीति।
३ अध्याय ८,९ अ ४ अधि ९ अर्थशास्त्र। ४ श्लोक २८ अ १५ कामन्दकनीति।
५ श्लोक ९९ अ १५ कामन्दकनीति। ६ श्लोक ६ अ १५ कामन्दकनीति।
७ श्लोक १८,१ सर्ग १५ कामन्दकनीति।
८ श्लोक ११ सर्ग १५ कामन्दकनीति। ९ श्लोक २ सर्ग १६ कामन्दकनीति।

भी हो सकती है। इसलिए कामन्दक ने इन्हें मनुष्य कष्ट बतलाया है। सेनापति को इन मनुष्य कष्टों से सावधान रहना चाहिए। कामन्दक के मतानुसार ये सप्त कष्ट कुहरा अन्धकार, गोधूलि (पदधूर से उठी धूल) मेघ पर्वत वन और नदी है[1]।

छावनी में द्यूत और पान-निषेध—कामन्दक ने सैनिकों के लिए द्यूत एवं मद्यपान का निषेध किया है। उन्होंने व्यवस्था दी है कि छावनी में सैनिकों को शान्त रहना चाहिए। इसलिए सैनिकों के लिए द्यूत और मद्यपान का निषेध होना चाहिए[2]।

आयुध—सैनिकों को युद्ध में किन आयुधों का प्रयोग करना चाहिए, इस विषय पर कामन्दक ने बहुत थोड़ा प्रकाश डाला है। उन्होंने विशेष रूप से धनुष बाण और नालिकास्त्र के प्रयोग हेतु आदेश दिया है[3]।

युद्ध में बाजे का प्रयोग—युद्ध में सैनिकों को प्रोत्साहित करने एवं विविध प्रकार के युद्धसंचालन हेतु संकेत करने के निमित्त नाना प्रकार के बाजों का प्रयोग किया जाना चाहिए, कामन्दक ने इस प्रकार की व्यवस्था दी है। युद्ध के समय उपयोग में आनेवाले बाजों में तूर्यो (तुरहे) और दुन्दुभी (नगाड़े) को प्रमुख स्थान दिया गया है[4]।

व्यूह—विविध प्रकार के व्यूहों का निर्माण कर युद्ध करना प्राचीन भारत की युद्धशैली की एक विशेषता रही है। कामन्दक ने भी युद्ध की इस विशेषता को अपनाने का समर्थन किया है। उन्होंने अनेक प्रकारके व्यूहों का उल्लेख कर उनके विशेष लक्षणों का वर्णन किया है[5]।

शत्रुकृत—कामन्दक ने शत्रुकृत चार प्रकार का बतलाया है, जिसको उन्होंने उच्छेदन असमय समय पर पीड़ा देना और कर्षण नाम से सम्बोधित किया है[6]। शत्रु द्वारा नाश किये जाने को उच्छेदन शत्रु द्वारा धन-धान्य द्रव्य यान आदि का हरण असमय समय पर शत्रु द्वारा प्रकृतियों का पीड़न किया जाना पीड़न कोष और बल से रहित कर देना महामात्य का वध कर देने को कर्षण कहा गया है।

१ श्लोक ६७ सर्ग १८ कामन्दकनीति। २. श्लोक १५ सर्ग १८ कामन्दकनीति।
३ श्लोक ५ ५१,५५ सर्ग १८ कामन्दकनीति।
४ श्लोक १४ २१ सर्ग १९ कामन्दकनीति।
५. श्लोक ४ से ५५ तक सर्ग १९ कामन्दकनीति।
६ श्लोक ५७ सर्ग ८ कामन्दकनीति।
७. श्लोक ५८,५९,६ सर्ग १८ कामन्दकनीति।

मित्र—कामन्दक ने चार प्रकार के मित्र बतलाये हैं—औरस कृतसम्बन्ध वंशक्रमागत और व्यसनरक्षित[1]। माता-पिता के सम्बन्ध के आधार पर जो मित्र होते हैं वे औरस हैं। विवाहादि सम्बन्ध स्थापित कर बनाया गया मित्र कृतसम्बन्ध मित्र कहा जाता है। परम्परा से चले आते हुए मित्र-वंश में उत्पन्न मित्र को वंशक्रमागत मित्र की संज्ञा दी गयी है। संकट-मोचन कर जिसे मित्र बनाया गया है वह व्यसनरक्षित मित्र होता है। कामन्दक ने अच्छे मित्र के लक्षण देते हुए कहा है—"पवित्रता त्याग शूरता सुख दुःख में समानता अनुराग दक्षता सत्यता आदि सुहृद के गुण होते हैं[2]।"

मध्यम—कामन्दक ने मध्यम राजा के जो विशेष लक्षण बतलाये हैं वे लगभग वही हैं, जो कौटिल्य ने माने हैं। मध्यम राजा के विशेष लक्षणों का उल्लेख करते हुए कामन्दक ने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—"विजिगीषु और उसके अरि, इन दोनों राजाओं की राजसीमा पर स्थित राज्य का शक्तिशाली राजा जो इन दोनों राजाओं पर एक साथ अथवा पृथक्-पृथक् अनुग्रह अथवा निग्रह में समर्थ हो मध्यम राजा कहलाता है[3]। मध्यम राजा के विषय में कौटिल्य का भी यही मत है[4]।

उदासीन—उदासीन राजा विजिगीषु, अरि और मध्यम—इन तीनों राजाओं की संगठित शक्ति से भी अधिक शक्तिशाली माना गया है। उदासीन राजा इन तीनों प्रकार के राजाओं पर पृथक्-पृथक् एवं उनके संगठित होने पर भी अनुग्रह एवं निग्रह में समर्थ होता है[5]। कौटिल्य ने भी उदासीन राजा का स्वरूप लगभग यही माना है[6]।

इन चार प्रकार के राजाओं के अतिरिक्त चार प्रकार के अन्य राजा भी बतलाये गये हैं जो अपनी विशेष स्थिति के कारण विशेष पद को प्राप्त होते हैं। ये चार प्रकार के राजा पार्ष्णिग्राह, आक्रन्द, पार्ष्णिग्राहासार, और आक्रन्दासार हैं।

पार्ष्णिग्राह—विजिगीषु द्वारा विजय-यात्रा करने के उपरान्त उसके राज्य के बचा हुआ पृष्ठ भाग में स्थित राज्य का जो राजा उसके राज्य का मर्दन करता है अथवा उस पर आक्रमण करता है वह पार्ष्णिग्राह कहलाता है।

१. श्लोक ७४ सर्ग ४ कामन्दकीयनीति। २. श्लोक ७५ सर्ग ४ कामन्दकीयनीति।
३. श्लोक १८ सर्ग ८ कामन्दकीयनीति।
४. वार्ता २१ अ. २ अधि. ६ अर्थशास्त्र।
५. श्लोक १९ सर्ग ८ कामन्दकीयनीति।
६. वार्ता ३ अ. २ अधि. ६ अर्थशास्त्र।

आक्रन्द—विजिगीषु राजा के पृष्ठ में स्थित पार्ष्णिग्राह राजा के पृष्ठ में उसके (पार्ष्णिग्राहके) राज्य से सटे हुए राज्य का राजा आक्रन्द नाम से सम्बोधित किया गया है। यह राजा उस विजिगीषु का प्रकृतिमित्र और पार्ष्णिग्राह का प्रकृतिशत्रु होता है।

पार्ष्णिग्राहासार—आक्रन्द राजा के पृष्ठ में उसके राज्य की सीमा से सम्बद्ध सीमावाले राज्य का राजा पार्ष्णिग्राहासार होता है। यह पार्ष्णिग्राह का प्रकृतिमित्र होता है।

आक्रन्दासार—पार्ष्णिग्राहासार के पृष्ठ में अपनी राज्य सीमा से सम्बद्ध सीमा वाले राज्य का राजा आक्रन्दासार के नाम से सम्बोधित किया गया है। यह आक्रन्द का प्रकृतिमित्र और पार्ष्णिग्राहासार का प्रकृतिशत्रु होता है।

इस प्रकार कामन्दक ने उपर्युक्त नौ प्रकार के राजाओं की स्थिति एवं उनके विशेष लक्षणों का संक्षेप में वर्णन किया है।

विविध राजमण्डल—कामन्दक का मत है कि राजा को विशुद्ध मण्डल में विचरण करना चाहिए। विशुद्ध मण्डल में विचरण करता हुआ राजा रवि के समान शोभित होता है परन्तु अशुद्ध मण्डल में गमन करने से वह रणचक्र में फँसे हुए के समान विशीर्ण हो जाता है। अशुद्ध मण्डल वाले चन्द्रमा के समान विजयाभिलाषी राजा सभी प्रकृतियों से शोषित होता है। इसलिए विजिगीषु को सम्पूर्ण मण्डल-शुद्ध रखना चाहिए[1]।

कामन्दक ने राजमण्डलों के अनेक प्रकार बतलाये हैं, जिनका आवश्यकतानुसार आश्रय लेकर राजा को स्वकल्याण में लीन होना चाहिए। कामन्दक द्वारा वर्णित विविध राजमण्डलों के विशेष लक्षणों का संक्षिप्त वर्णन नीचे दिया जा रहा है—

(१) त्रिकमण्डल—विजिगीषु, अरि और मध्यम इन तीन राजाओं के मण्डल को कामन्दक ने त्रिकमण्डल की संज्ञा दी है। इस प्रकार त्रिकमण्डल का निर्माण तीन राजाओं द्वारा किया जाता था। अरि से तात्पर्य उस राजा से है, जिसके विरुद्ध विजिगीषु विजयकामना से आक्रमण करता है।

(२) चतुर्मण्डल—कामन्दक ने अन्य आचार्यों के समान ही विजिगीषु, अरि, मध्यम और उदासीन राजाओं को चार मूल प्रकृति माना है। कामन्दक का कथन है कि मनुपुत्र मय ने इन चार राजाओं के मण्डल को चतुर्मण्डल की संज्ञा दी है[4]।

१ श्लोक ९ सर्ग ८ कामन्दकनीति। २. श्लोक ३ सर्ग ८ कामन्दकनीति।
३. श्लोक ११ सर्ग ८ कामन्दकनीति। ४ श्लोक ९ सर्ग ८ कामन्दकनीति।

(३) षड्‌कमण्डल—कामन्दक का कथन है कि पुलोमा और इन्द्र ने विजिगीषु, अरि, मित्र पार्ष्णिग्राह, मध्यम और उदासीन—इन छः राजाओं के द्वारा षट्क-मण्डल की रचना मानी है[1]। परन्तु दूसरे आचार्यों के मतानुसार विजिगीषु, अरि, मध्यम और इन तीनों राजाओं के पृथक्-पृथक् मित्र (तीन मित्र राजा)—इन छः राजाओं का षट्कमण्डल बनता है[2]।

(४) अष्टकमण्डल—विजिगीषु, अरि, मध्यम और उदासीन (मण्डल की चार मूल प्रकृतियाँ) और उनके पृथक्-पृथक् मित्र (चार मित्र राजा)—इन आठ राजाओं का अष्टकमण्डल बतलाया गया है[3]।

(५) दशकमण्डल—विजिगीषु, उसका अरि, मित्र अरिमित्र मित्र-मित्र अरि मित्र-मित्र पार्ष्णिग्राह आक्रन्द पार्ष्णिग्राहासार, और आक्रन्दासार—इन दस राजाओं से दशकमण्डल का निर्माण होता है मण्डल के ज्ञाताओं का ऐसा मत है[4]।

दशकमण्डल

अरि-मित्र-मित्र	मित्र-मित्र	अरिमित्र	मित्र	अरि	विजिगीषु	पार्ष्णिग्राह	आक्रन्द	पार्ष्णिग्राहासार	आक्रन्दासार

(६) द्वादशकमण्डल—कामन्दक ने बतलाया है कि उशना के मतानुसार बारह राजाओं से द्वादशकमण्डल का निर्माण होता है। इस मण्डल के बारह राजा इस प्रकार हैं—विजिगीषु, अरि, मध्यम और उदासीन—मण्डल की ये चार मूल प्रकृतियाँ—इनमें से प्रत्येक का एक-एक मित्र अर्थात् चार मित्र राजा और अरि(जिस राजा पर आक्रमण किया गया है) तथा पार्ष्णिग्राह—इस प्रकार से बारह राजा हुए[5]। इन बारह राजाओं से द्वादशकमण्डल का निर्माण माना गया है।

(७) षड्‌विंशत्कमण्डल—उपर्युक्त द्वादशकमण्डल के बारहूर राजाओं में प्रत्येक राजा के अरि और मित्र (प्रत्येक का एक-एक अरि और एक-एक मित्र) अर्थात् बारह मित्र राजा और बारह अरि राजा कुल चौबीस राजा हुए। इनमें मध्यम और उदासीन दो को मिलाकर कुल छब्बीस राजाओं को मिलाकर छब्बीस राजाओं

१ श्लोक २१ सर्ग ८ कामन्दकनीति। २ श्लोक ११ सर्ग ८ कामन्दकनीति।
३ श्लोक १४ सर्ग ८ कामन्दकनीति। ४ श्लोक १५ सर्ग ८ कामन्दकनीति।
५ श्लोक १२ सर्ग ८ कामन्दकनीति।

का एक मण्डल बतलाया गया है। कामन्दक का कथन है कि मय के इस प्रकार के मण्डल को षड्विधात्मकमण्डल भी कहा गया है[1]।

(८) प्रकृति मण्डल—उपर्युक्त द्वादशकमण्डल के बारह राजा (बारह मूल प्रकृतियाँ) और उन बारह राजाओं में प्रत्येक की पाँच-पाँच शाखा प्रकृतियाँ (अमात्य राष्ट्र, दुर्ग कोष और दण्ड) सब मिलाकर बहत्तर प्रकृतियाँ हुईं। इन बहत्तर प्रकृतियों से निर्मित मण्डल को कामन्दक ने प्रकृतिमण्डल की उपाधि दी है[2]। कामन्दक ने यह भी बतलाया है कि मनु के अनुयायियों ने भी इस मण्डल का यही स्वरूप दिया है[3]।

(९) अष्टादशकमण्डल—कामन्दक ने अष्टादशकमण्डल के अवयवों का वर्णन, बृहस्पति का मत उद्धृत करते हुए, इस प्रकार किया है—"उपर्युक्त द्वादश मण्डल के बारह राजा और विजिगीषु और अरि तथा उन दोनों में प्रत्येक का एक-एक शत्रु एवं मित्र अर्थात् दो शत्रु राजा और दो मित्र राजा। इस प्रकार द्वादशकमण्डल के बारह राजा विजिगीषु और अरि ये दो राजा और इन दोनों राजाओं के मित्र और दो शत्रु राजा मिलकर अठारह राजाओं का अष्टादशकमण्डल बनता है।

(१०) अष्टोत्तरशत प्रकृति मण्डल—कामन्दक ने अष्टोत्तरशत प्रकृतिमण्डल की व्याख्या करते हुए बतलाया है कि उपर्युक्त अष्टादशकमण्डल के अठारह राजा और उनमें प्रत्येक राजा की पाँच-पाँच प्रकृतियाँ (अमात्य राष्ट्र, दुर्ग दण्ड और कोष) अर्थात् अष्टादश राजप्रकृतियाँ और नब्बे शाखाप्रकृतियाँ मिलकर एक सौ आठ प्रकृतियाँ हुईं। इन एक सौ आठ प्रकृतियों से अष्टोत्तरशत प्रकृतिमण्डल का निर्माण होता है, विद्वानों का ऐसा मत है[4]।

(११) चतुःपञ्चाशत्क मण्डल—कामन्दक ने विशालाक्ष का मत उद्धृत करते हुए चतुःपञ्चाशत्कमण्डल की व्याख्या की है। उन्होंने लिखा है कि उपर्युक्त अष्टादशकमण्डल के अठारह राजा और उनमें प्रत्येक के पृथक्-पृथक् शत्रु और मित्र (अठारह राजा+उनके अठारह शत्रु+अठारह मित्र=चौवन राजा) कुल चौवन राजाओं का चतुःपञ्चाशत्कमण्डल होता है[5]।

चतुर्विंशतित्रिशतकमण्डल—उपर्युक्त चतुःपञ्चाशत्कमण्डल के चौवन राजा और उनमें से प्रत्येक की पृथक्-पृथक् पाँच-पाँच प्रकृतियाँ (अमात्य राष्ट्र दुर्ग कोष और

१ श्लोक ११ सर्ग ८ कामन्दकनीति। २ श्लोक २५ सर्ग ८ कामन्दकनीति।
३ श्लोक २४ सर्ग ८ कामन्दकनीति। ४ श्लोक २९ सर्ग ८ कामन्दकनीति।
५ श्लोक ३० सर्ग ८ कामन्दकनीति। ६ श्लोक ३८ सर्ग ८ कामन्दकनीति।

ण्ड) अर्थात् चौबीस राजप्रकृतियों और उनकी दो सौ सत्तर (५४×५=२७) शाखा प्रकृतियाँ मिलकर तीन सौ चौबीस प्रकृतियों का चतुर्विंशतिशतिक मण्डल (३२४ प्रकृतियुक्त मण्डल) बनता है[1]।

(१३) षड्विंशत्क प्रकृति मण्डल—उपर्युक्त षट्क मण्डल के छ राजा और उनमें से प्रत्येक की पाँच-पाँच प्रकृतियाँ इस प्रकार छ राजप्रकृतियाँ और तीस शाखा प्रकृतियाँ मिलकर छत्तीस प्रकृतियाँ हुईं, जिनसे षड्त्रिंशत्क प्रकृतिमण्डल का निर्माण होता है[2]।

(१४) एकविंशत्क प्रकृति मण्डल—कामन्दक का कथन है कि राजनीतिक पुरुषों ने विजिगीषु, अरि और मध्यम राजा का मण्डल भी माना है। इस मण्डल में तीन मूल प्रकृतियाँ (राज प्रकृतियाँ) और प्रत्येक की पृथक्-पृथक् छ-छ शाखा प्रकृतियाँ (अमात्य राष्ट्र दुर्ग कोष दण्ड और सुहृद्) मिलकर इक्कीस प्रकृतियाँ होती हैं। इन इक्कीस प्रकृतियों वाले मण्डल को उन्होंने एकविंशत्क प्रकृतिमण्डल माना है[3]।

(१५) अड़तालीस प्रकृतियों का मण्डल—चार राजा (विजिगीषु, अरि, मध्यम और उदासीन) और इनमें से प्रत्येक का एक-एक मित्र राजा ये आठ मूल प्रकृतियाँ और उनमें प्रत्येक की पाँच-पाँच शाखा प्रकृतियाँ (आठ मूल प्रकृतियाँ+४ शाखा प्रकृतियाँ=४८ प्रकृतियाँ) कुल अड़तालीस प्रकृतियों का माना गया है[4]।

(१६) षष्टिमण्डल—उपर्युक्त दशक मण्डल के दस राजा और उनमें प्रत्येक की पाँच-पाँच शाखा प्रकृतियाँ अर्थात् दस मूल प्रकृतियाँ और पचास शाखा प्रकृतियाँ कुल साठ प्रकृतियों का षष्टिमण्डल बनता है। मण्डल के ज्ञाताओं का ऐसा मत है[5]।

(१७) त्रिंशत्कमण्डल—कामन्दक का कथन है कि मण्डल के ज्ञाताओं ने त्रिंशत्क मण्डल की व्याख्या करते हुए बतलाया है कि नेता (विजिगीषु) उसके आगे और पीछे के राजा (पार्ष्णिग्राह और अरि) और उसका शत्रु (जिसके विरुद्ध आक्रमण किया गया है) और मित्र—ये पाँच मूल प्रकृतियाँ और इन पाँचों राजाओं की पृथक्-पृथक् पाँच-पाँच शाखा प्रकृतियाँ (अमात्य राष्ट्र, दुर्ग कोष और दण्ड) ये सब मिलकर (मूल प्रकृतियाँ पाँच+शाखा प्रकृतियाँ पचीस=३)तीस प्रकृतियों का त्रिंशत्क मण्डल बनता है[6]।

१ श्लोक २९ सर्ग ८ कामन्दकनीति। २ श्लोक ३२ सर्ग ८ कामन्दकनीति।
३ श्लोक ३३ सर्ग ८ कामन्दकनीति। ४ श्लोक ३४ सर्ग ८ कामन्दकनीति।
५ श्लोक ३६ सर्ग ८ कामन्दकनीति। ६ श्लोक ३७,३८ सर्ग ८ कामन्दकनीति।

इस प्रकार कामन्दक ने विभिन्न राजमण्डलों की व्याख्या कर उनके विशेष महत्त्व का उल्लेख किया है। प्राचीन भारत के अन्य राजशास्त्र-प्रणेताओं ने मण्डल के विभिन्न रूपों का वर्णन इतना स्पष्ट नहीं किया है। इस दृष्टि से कामन्दक की यह देन महत्त्वपूर्ण है।

प्रकृति-संख्या पर विभिन्न मत—राज्य की प्रकृति-संख्या के विषय में प्राचीन भारत के कतिपय आचार्य भिन्न मत रखते हैं। कामन्दक ने इस विषय में एक-दो मत दिये हैं। उन्होंने प्रकृति-संख्या पर पराशर का मत दिया है। उनका कहना है कि पराशर ने दो ही प्रकृतियाँ मानी हैं। ये दो प्रकृतियाँ अभियोक्ता और अभियुक्त हैं। अभियोक्ता प्रधान कहलाता है। उसे न्याययुक्त होना चाहिए[1]। परन्तु जिस समय विजिगीषु और अरि परस्पर अभियुक्त होते हैं उस समय अरि और विजिगीषु दोनों में एक ही प्रकृति मानी जाती है, पराशर का ऐसा मत है[2]।

राजनीति के कतिपय अन्य ज्ञाताओं के मतानुसार विजिगीषु की पाँच प्रकृतियाँ होती हैं, कामन्दक ने ऐसा बतलाया गया है। विजिगीषु की ये पाँच प्रकृतियाँ अमात्य राष्ट्र, दुर्ग कोष और दण्ड बतलायी गयी हैं[3]। परन्तु बृहस्पति का मत उद्धृत करते हुए कामन्दक ने लिखा है कि राज्य की सात प्रकृतियाँ होती हैं और इसीलिए राज्य को सप्तप्रकृतियुक्त अथवा सप्तात्मक राज्य कहा गया है। उनके मतानुसार राज्य की ये सात प्रकृतियाँ अमात्य राष्ट्र दुर्ग कोष दण्ड मित्र और राजा हैं[4]।

स्पष्ट है कि राज्य की प्रकृति-संख्या के विषय में प्राचीन भारत के राजशास्त्र के आचार्यों में एक मत नहीं है।

इस प्रकार कामन्दक ने शासन-व्यवस्था का क्रमबद्ध वर्णन अपने नीतिग्रन्थ में किया है। अतएव यह नीतिग्रन्थ प्राचीन भारतीय राजशास्त्र का अमूल्य रत्न है। प्राचीन भारतीय राजशास्त्र के जिज्ञासु के लिए इस ग्रन्थ का अध्ययन अनिवार्य है।

●

१ श्लोक १९ सर्ग ८ कामन्दकनीति। २. श्लोक ४ सर्ग ८ कामन्दकनीति।
३ श्लोक ४ सर्ग ८ कामन्दकनीति। ४ श्लोक ५ सर्ग ८ कामन्दकनीति।

६

शुक्र

शुक्र का संक्षिप्त परिचय—शुक्राचार्य का आश्रम अति प्राचीन है। भारत के प्राचीन साहित्य के लगभग प्रत्येक प्रमुख ग्रन्थ में किसी न किसी रूप में शुक्र का उल्लेख अवश्य हुआ है। उनके आश्रम के द्वारा ज्ञान-प्रसार का जो कार्य हुआ है उस सब का श्रेय इस आश्रम के प्रवर्तक शुक्र को ही दिया गया है। यद्यपि शुक्राचार्य के पश्चात् ज्ञान-प्रसार के इस कार्य में अनेक महापुरुषों ने बहुत बड़ा योग दिया है परन्तु इन सभी महानुभावों ने इस सब का श्रेय एक मात्र शुक्र को ही दिया है। इस आश्रम के द्वारा किये गये ज्ञान-प्रसार-सम्बन्धी साहित्य में केवल एक ग्रन्थ उपलब्ध है—वह शुक्रनीति है। इसलिए शुक्रनीति में राजशास्त्र-सम्बन्धी जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है, वे शुक्राचार्य के आश्रम की ही देन समझी जायेंगी।

अब यह प्रश्न होता है कि प्रस्तुत शुक्रनीति ग्रन्थ का रचना-काल क्या माना जा सकता है। जनश्रुति के आधार पर शुक्र को ही उशना भार्गव कवि योगाचार्य और दैत्यगुरु माना गया है। इस जनश्रुति की पुष्टि महाभारत और अमरकोष में भी की गयी है। यदि यह सत्य है तो शुक्र वैदिक ऋषि माने जायेंगे। ऋग्वेद में ऐसे अनेक सूक्त हैं जो उशनाकाव्य के नाम से विख्यात हैं। इसी प्रकार यजुर्वेद में भी कई ऋचाएँ उशना ऋषि के नाम से हैं। सामवेद में भी कई मन्त्रों के ऋषि उशना बतलाये गये हैं। परन्तु अथर्ववेद में उशना काव्य भार्गव और कवि के नाम मन्त्रों के ऋषियों की सूची में नहीं हैं। इस वेद में शुक्र को कई मन्त्रों का ऋषि बतलाया गया है। इस प्रकार वेदत्रयी (ऋग्यजुस्साम) में शुक्र का नाम मन्त्रों के ऋषियों में नहीं आया है परन्तु शुक्र के दूसरे नाम आये हैं। अथर्ववेद में सर्वप्रथम इनको शुक्र नाम से सम्बोधित किया गया है। इस प्रकार उशना काव्य भार्गव कवि या शुक्र वैदिक ऋषि हैं। इस दृष्टि से शुक्र अति प्राचीन काल के ऋषियों में परिगणित किये जायेंगे।

महाभारत में भी शुक्र को उशना, काव्य कवि भार्गव, योगाचार्य और दैत्यगुरु नामों से सम्बोधित किया गया है। महाभारत के भीष्म पर्व में भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को गीता का उपदेश देते हुए अपनी विशेष विभूतियों का उल्लेख किया है। इसी प्रसङ्ग में उन्होंने यह बतलाया है कि कवियों में मैं उशना कवि हूँ। इस प्रकार महाभारत में संस्कृत साहित्य के कवियों में उशना को सर्वश्रेष्ठ कवि बतलाया गया है। महाभारत के शान्तिपर्व में उशना ऋषि को दण्डनीति के प्रमुख आचार्यों में स्थान दिया गया है। महाभारत के आदि पर्व में उशना को राजा ययाति का समकालीन बतलाया गया है। उशना की पुत्री देवयानी का विवाह राजा ययाति से हुआ था। राजा ययाति अपनी दूसरी रानी से विशेष प्रेम करने लगा था। देवयानी ने इस बात को अपने पिता उशना से कहा। उशना ने रुष्ट होकर ययाति को शाप दे दिया कि वह शीघ्र जरावस्था को प्राप्त हो जाय। इसी पर्व में इस बात का भी उल्लेख है कि देवासुर संग्राम के अवसर पर देवों ने बृहस्पति को और दैत्यों ने उशना को अपनी विजय-कामना हेतु यज्ञ करने के निमित्त अपना पुरोहित वरण किया था।

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में उशना ऋषि को राजशास्त्र की एक प्रमुख शाखा का प्रवर्तक माना है। उन्होंने उशना के मतानुयायियों के मतों का उल्लेख अर्थशास्त्र में अनेक प्रसङ्गों में किया है। इन उद्धरणों के आधार पर यह सिद्ध होता है कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र के रचनाकाल के पूर्व उशना द्वारा प्रणीत दण्डनीति विषय पर कोई ग्रन्थ उपलब्ध अवश्य था और उसी ग्रन्थ के आधार पर कौटिल्य ने उशना के मत का उल्लेख अनेक प्रसङ्गों में किया है। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में इस विषय का भी उल्लेख किया है कि उशना ऋषि आन्वीक्षिकी त्रयी, वार्ता और दण्डनीति इन चार विद्याओं में केवल दण्डनीति को ही विद्या मानते थे। कौटिल्य के इस कथन से भी यही विदित होता है कि उशना दण्डनीति के सुप्रसिद्ध आचार्य हुए हैं।

प्रस्तुत शुक्रनीति के प्रणेता—परन्तु शुक्रनीति की जो पोथी उपलब्ध है, वह इतने पुराने काल की रचना कदापि नहीं मानी जा सकती। इसलिये शुक्रनीति के प्रणेता की खोज करनी आवश्यक है। प्रस्तुत शुक्रनीति के प्रणेता के विषय में दो मत हो सकते हैं। इनमें प्रथम मत यह है कि इस शुक्रनीति के प्रणेता वह शुक्र नहीं हो सकते जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है। इस ग्रन्थ के प्रणेता कोई दूसरे व्यक्ति रहे होंगे जिन्होंने अपने इस ग्रन्थ को शुक्राचार्य को समर्पित करने के लिए अथवा ग्रन्थ की ख्याति के लिए इसका नाम शुक्रनीति रखा। अथवा इस ग्रन्थ के प्रणेता का ही नाम शुक्र रहा होगा और वह उशना अथवा शुक्र से भिन्न व्यक्ति उनसे बहुत

पीछे के शुक्र नाम के कोई विद्वान् रहे होंगे जिन्होंने शुक्रनीति की रचना की है। उनके विषय में इससे अधिक ज्ञान इतिहास के पन्नों में कहीं भी प्राप्त नहीं है। इस मत की पुष्टि में यह कहा जा सकता है कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र में उशना के मतानुयायियों के जो मत अनेक प्रसङ्गों में दिये गये हैं उनका उल्लेख उस रूप में प्रस्तुत शुक्रनीति में कहीं भी उपलब्ध नहीं है।

इस विषय में दूसरा मत प्राचीन भारत की गुरु-शिष्य-परम्परा का प्रचलन माना जा सकता है। प्राचीन भारत में राजशास्त्र-सम्बन्धी अनेक विचारधाराएँ प्रवाहित रही हैं जिनमें प्रत्येक का प्रवर्तक कोई-न-कोई वैदिक ऋषि माना जाता है। उस आदि ऋषि की शिष्य-परम्परा उस विचारधारा को प्रवाहित रखने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रही है। इतना ही नहीं वरन् देश काल और परिस्थिति वश आवश्यकतानुसार समय-समय पर इस विचारधारा में संशोधन और परिवर्तन भी उनके शिष्यों ने किया है जिससे यह विचारधारा कालबाधित न होने पावे। परन्तु उस मूल धारा में जो संशोधन एवं परिवर्तन इस प्रकार किये गये हैं इन सबका समस्त श्रेय उस धारा के प्रवर्तक को ही दिया गया है, और इस प्रकार समय-समय पर उस विचारधारा के साहित्य का जो सर्जन हुआ है, उस सबका श्रेय उन्हीं आदि गुरु को दिया गया है। यह कार्य इस चतुराई से किया गया है कि इन ग्रन्थों का आलोचनात्मक अध्ययन कर लेने के उपरान्त भी इस बात का लेशमात्र पता नहीं चलता कि यह कार्य किस व्यक्ति अथवा किन व्यक्तियों का किया हुआ है। ठीक यही सिद्धान्त प्रस्तुत शुक्रनीति ग्रन्थ पर, जो कि शुक्र की विचारधारा का एकमात्र उपलब्ध ग्रन्थ माना जाता है चरितार्थ होता है। इस विचारधारा के प्रवर्तक उशनस् अथवा शुक्र ने राजशास्त्र-सम्बन्धी कुछ विचार अपनी समकालीन जनता के समक्ष प्रस्तुत किये। उनके शिष्यों एवं मतानुयायियों ने उन विचारों को चिरस्थायी रखा और उन विचारों में देश काल और परिस्थिति के अनुसार उत्तरोत्तर संशोधन और परिवर्तन भी किये। प्रारम्भ में ये विचार गुरु-शिष्य-परम्परा द्वारा मौखिक रूप में प्रवाहित रहे। कालान्तर में उनके किसी शिष्य अथवा मतानुयायियों ने इन विचारों को लेखबद्ध कर लिया और ये विचार पुस्तक रूप में इस विचारधारा के प्रवर्तक के नाम से ही प्रस्तुत किये गये और इस कृति को जनता ने उन्हीं आदि गुरु की कृति समझ कर ग्रहण किया। लेखक ने इस पुस्तक में किसी प्रसङ्ग में भी इस ओर लेशमात्र भी संकेत न किया जिसके आधार पर इस बात का अनुमान भी हो सके कि यह कृति उस वैदिक ऋषि की न होकर अमुक व्यक्ति की है। इस सम्पादनकर्ता ने बड़ी चतुराई से इस विषय को गुप्त रखने की चेष्टा की है कि यह

रचना समझते हैं। साथ ही उन्होंने इस ग्रंथ में स्थान-स्थान पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि यह उन्हीं वैदिक ऋषि की रचना है। ठीक इसी रूप में शुक्रनीति ग्रन्थ भी जनता के समक्ष प्रस्तुत किया गया जिसको जनता ने शुक्राचार्य की रचना समझ कर श्रद्धापूर्वक अपनाया।

प्रस्तुत शुक्रनीति का रचनाकाल—अब यह प्रश्न उठता है कि प्रस्तुत शुक्रनीति ग्रन्थ का रचना-काल क्या हो सकता है? इस विषय में विद्वानों में भिन्न मत होने पर भी शुक्रनीति ग्रन्थ में उपलब्ध सामग्री के अन्वेषण एवं विश्लेषण करने के उपरान्त एक निश्चितकाल पर पहुँच जाना असम्भव न होगा।

शुक्रनीति में भारतीय समाज का जो चित्रण किया गया है वह अत्यन्त विकसित समाज का चित्र है। वर्णव्यवस्था जाति-व्यवस्था में परिणत हो चुकी थी। विभिन्न व्यवसायों अथवा धन्धों के आधार पर समाज में अनेक जातियों का निर्माण हो चुका था। इन जातियों के आचार-विचार, खान-पान विवाह-सम्बन्ध आदि के कठोर नियम बन चुके थे। अपनी जाति के बाहर विवाह-सम्बन्ध करना अथवा सहभोज में सम्मिलित होना वर्जित हो चुका था। जातियाँ जन्मपरक मानी जाने लगी थी। शूद्र और नारी जाति समाज में पतित एवं अपने स्वामी के आश्रित समझी जाने लगी थी। धन्धों और व्यवसायों की संख्या बहुत बढ़ चुकी थी। यह समाज गुप्तकालीन है। इसके पूर्व का कदापि नहीं। इस दृष्टि से प्रस्तुत शुक्रनीति का रचनाकाल गुप्तकाल के पूर्व का नहीं माना जा सकता।

शुक्रनीति ग्रन्थ में मूर्तिकला का विवेचन विशद रूप में उपलब्ध है। इस वर्णन में बौद्धधर्म-सम्बन्धी मूर्तियों का निर्माण करने अथवा तत्सम्बन्धी कला पर किञ्चित् मात्र भी प्रकाश नहीं डाला गया। ब्राह्मण धर्म से सम्बन्ध रखनेवाले देवी-देवताओं, उनके वाहनों और देवमन्दिरों का निर्माण करने की कला का वर्णन बड़ा सुन्दर और रोचक किया गया है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि गुप्तकाल के पूर्व ब्राह्मण धर्म से सम्बन्धित देवी-देवताओं के स्वरूपों का निश्चय नहीं हो सका था और इसीलिए इनसे सम्बन्धित मूर्तिकला एवं भवन-निर्माण कला का पूर्ण विकास गुप्तकाल के पूर्व नहीं हुआ था। परन्तु शुक्रनीति में इस विषय का जो वर्णन किया हुआ है वह यह सिद्ध करता है कि शुक्रनीति के रचना-काल में मूर्तिकला का विकास अपनी चरमसीमा तक पहुँच चुका था और देवी-देवताओं एवं उनके वाहनों तथा मन्दिरों आदि के स्वरूप निश्चित हो चुके थे। इस वर्णन के आधार पर यह सिद्धान्त स्थिर हो जाता है कि शुक्रनीति का रचनाकाल गुप्तकाल के पूर्व नहीं माना जा सकता। यह सम्पूर्ण सामग्री इस ग्रन्थ को गुप्तकाल की रचना बताती है।

शुक्रनीति में कुछ ऐसी संस्थाओं का वर्णन किया हुआ है जो सम्राट् हर्ष की मृत्यु के पश्चात् प्रायः लुप्त हो चुकी थीं। परन्तु इसके पूर्व वह सक्रिय रूप से अपने कर्तव्यों का पालन करती रही हैं। ये संस्थाएँ कुल श्रेणी गण आदि हैं। शुक्रनीति में ऐसा स्पष्ट वर्णन है कि कुल श्रेणी गण आदि संस्थाएँ अपने-अपने क्षेत्र में न्याय वितरण-कार्य सक्रिय रूप से निरन्तर करती थीं। भारतीय इतिहास के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सम्राट् हर्ष की मृत्यु के उपरान्त ये संस्थाएँ प्रायः लुप्त हो गयी थीं और न्याय-वितरण-सम्बन्धी अपने कर्तव्य से च्युत हो चुकी थीं। परन्तु गुप्तकालीन भारत में ये न्याय-संस्थाएँ अपने-अपने क्षेत्र में न्याय-वितरण कार्य का सम्पादन करने में सक्रिय रूप से संलग्न रहती थीं। इस कथन की पुष्टि गुप्तकालीन अभिलेखों ताम्रपत्रों एवं साहित्य के द्वारा होती है। इस दृष्टि से शुक्रनीति का रचनाकाल सम्राट् हर्ष के पूर्व अर्थात् गुप्तकाल मानना उचित होगा।

परन्तु इतना अवश्य है कि इस समय शुक्रनीति की जो पोथी उपलब्ध है, उसमें यत्र-तत्र कुछ श्लोक एवं अवश्य हैं जो गुप्तकाल के बहुत पीछे के हैं और जो पीछे से मूल शुक्रनीति में जोड़ दिये गये हैं। वे श्लोक इस चतुराई से जोड़े गये हैं कि उन सब का इस समय पृथक् करना कठिन समस्या है। परन्तु यह कोई नवीन बात नहीं है। प्राचीन भारत का अधिक साहित्य ऐसा है जिसके ग्रन्थों में समय-समय पर हेर फेर किये गये हैं और उनमें कुछ न कुछ वृद्धि की गयी है। इसलिए शुक्रनीति ग्रन्थ में आये हुये इन प्रक्षिप्त अंशों के आधार पर उसका रचना-काल इधर हटाया नहीं जा सकता। प्रस्तुत शुक्रनीति में जो राजशास्त्र-सम्बन्धी सामग्री उपलब्ध है वह निस्सन्देह गुप्तकालीन है। अतः इस आधार पर शुक्रनीति के रचयिता को गुप्त काल का राजशास्त्र-विचारक मानना ही उचित होगा।

शुक्र के राजनीतिक विचार

राज्य का स्वरूप—राज्य के स्वरूप के विषय में शुक्र ने जो विचार शुक्रनीति में व्यक्त किये हैं, उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि वह राज्य के आवयविक स्वरूप में आस्था रखते हैं। उनके मतानुसार राज्य एक अवयवी है, जिसका निर्माण सात अवयवों के संयोग से है जिन्हें वह राज्य के सात अंग मानते हैं। इसी आधार पर वह राज्य को सप्तांग राज्य के नाम से सम्बोधित करते हैं। उनके मतानुसार राज्य के ये सात अंग स्वामी अमात्य सुहृद्, कोष राष्ट्र दुर्ग और बल हैं। इस प्रकार मनु, भीष्म

१ श्लोक ६१ अ । १ शुक्रनीति।

रचना समझी है। साथ ही उन्होंने इस ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि यह उन्हीं वैदिक ऋषि की रचना है। ठीक इसी रूप में शुक्र-नीति ग्रन्थ भी जनता के समक्ष प्रस्तुत किया गया, जिसको जनता ने शुक्राचार्य की रचना समझ कर श्रद्धापूर्वक अपनाया।

प्रस्तुत शुक्रनीति का रचनाकाल—अब यह प्रश्न उठता है कि प्रस्तुत शुक्रनीति ग्रन्थ का रचना-काल क्या हो सकता है? इस विषय में विद्वानों में भिन्न मत होने पर भी शुक्रनीति ग्रन्थ में उपलब्ध सामग्री के अन्वेषण एवं विश्लेषण करने के उप-रान्त एक निश्चितकाल पर पहुँच जाना असम्भव न होगा।

शुक्रनीति में भारतीय समाज का जो चित्रण किया गया है, वह अत्यन्त विक-सित समाज का चित्र है। वर्णव्यवस्था जाति-व्यवस्था में परिणत हो चुकी थी। विभिन्न व्यवसायों अथवा धन्धों के आधार पर समाज में अनेक जातियों का निर्माण हो चुका था। इन जातियों के आचार-विचार, खान-पान विवाह-सम्बन्ध आदि के कठोर नियम बन चुके थे। अपनी जाति के बाहर विवाह-सम्बन्ध करना अथवा सहभोज में सम्मिलित होना वर्जित हो चुका था। जातियाँ जन्मपरक मानी जाने लगी थी। शूद्र और नारी जाति समाज में पतित एवं अपने स्वामी के आश्रित समझी जाने लगी थी। धन्धों और व्यवसायों की संख्या बहुत बढ़ चुकी थी। यह समाज गुप्तकालीन है। इसके पूर्व का कदापि नहीं। इस दृष्टि से प्रस्तुत शुक्रनीति का रचनाकाल गुप्तकाल के पूर्व का नहीं माना जा सकता।

शुक्रनीति ग्रन्थ में मूर्तिकला का विवेचन विशद रूप में उपलब्ध है। इस वर्णन में बौद्धधर्म-सम्बन्धी मूर्तियों का निर्माण करने अथवा तत्सम्बन्धी कला पर किञ्चित् मात्र भी प्रकाश नहीं डाला गया। ब्राह्मण धर्म से सम्बन्ध रखनेवाले देवी-देवताओं उनके वाहनों और देवमन्दिरों का निर्माण करने की कला का वर्णन बड़ा सुन्दर और रोचक किया गया है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि गुप्त-काल के पूर्व ब्राह्मण धर्म से सम्बन्धित देवी-देवताओं के स्वरूपों का निश्चय नहीं हो सका था और इसीलिए इनसे सम्बन्धित मूर्तिकला एवं भवन-निर्माण कला का पूर्ण विकास गुप्तकाल के पूर्व नहीं हुआ था। परन्तु शुक्रनीति में इस विषय का जो वर्णन दिया हुआ है वह यह सिद्ध करता है कि शुक्रनीति के रचना-काल तक मूर्तिकला का विकास अपनी चरमसीमा तक पहुँच चुका था और देवी-देवताओं एवं उनके वाहनों तथा मन्दिरों आदि के स्वरूप निश्चित हो चुके थे। इस वर्णन के आधार पर यह सिद्धान्त स्थिर हो जाता है कि शुक्रनीति का रचनाकाल गुप्तकाल के पूर्व नहीं माना जा सकता। यह सम्पूर्ण सामग्री इस ग्रन्थ को गुप्तकाल की रचना बताती है।

इस प्रकार मनु और भीष्म के समान ही शुक्र भी राजा की दैवी उत्पत्ति मानते है। उन्ही के समान शुक्र भी राजा को परमदेवता अथवा विशिष्ट देव मानते है। शुक्र का राजा सर्वदेवमय नही है और न वह एक अथवा अनेक देवो का साक्षात् रूप ही है। वह आठ प्रधान देवो की केवल उन सारभूत मात्राओ को धारण करता है, जिनकी आवश्यकता राज्य-सचालन हेतु, उसके लिए अनिवार्य है। इतना होने पर भी शुक्र का दैवी राजा मनु एव भीष्म के दैवी राजा से भिन्न है। शुक्र सभी राजाओ को दैवी राजा का पद देने के पक्ष में नही है। उन्होने प्रकृति के तीन गुणो—तम रज और सत्व—के आधार पर राजाओ को तीन श्रेणियो में विभक्त किया है। जिन राजाओ में तमोगुण का प्राधान्य है उन्हें वह राक्षसाशधारी राजाओं की श्रेणी में स्थान देते है। रजोगुण का प्राधान्य जिन राजाओ में पाया जाता है वह भी दैवी राज के पद से परित्यक्त बतलाये गये है। इस कोटि के राजाओ को शुक्र ने मानवाशधारी राजाओ की श्रेणी में स्थान दिया है। दैवी राजाओ की श्रेणी में उन्होने केवल उन राजाओ को परिगणित किया है जिनमें सतोगुण का प्राधान्य है[1]। इस प्रकार शुक्र ने केवल थोडे से ही राजाओ को देवकोटि में परिगणित किया है। इस दृष्टि से उन्होने जिस दैवी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, वह राजशास्त्र के इतिहास में अपना पृथक स्थान रखता है और उसकी समता तत्सम्बन्धी अन्य सिद्धान्तो से नही की जा सकती। इस क्षेत्र में शुक्र की यह देन मौलिक है।

राजा का स्वरूप—मनु, भीष्म और कौटिल्य के समान ही शुक्र ने भी राजा को दण्ड का प्रतीक माना है। प्रजा में शान्ति और सुव्यवस्था की स्थापना हेतु वह दण्ड धारण करता है और उसका सम्यक् प्रयोग करता है। राजा के दण्ड के भय के कारण सभी स्वधर्म में प्रवृत्त रहते है[2]। वह अपने तीक्ष्ण स्वभाव और उग्र दण्ड से प्रजा को स्वधर्म में नियोजित करता है[3]। राजा ही जगत् की उत्पत्ति का हेतु है, ऐसा वृद्ध पुरुष मानते आये है। जिस प्रकार समुद्र के आनन्द और वृद्धि का हेतु चन्द्र है उसी प्रकार प्रजा के नेत्रो का आनन्ददाता राजा होता है[4]। राजा दण्ड धारण करता है परन्तु उसका प्रयोग जनकल्याण के निमित्त ही होना चाहिए, ऐसा शुक्र का मत है। इसीलिए उन्होने राजा का स्वरूप प्रजापालक माना है। इसके अतिरिक्त राजा प्रजा के आचार का प्रेरक बतलाया गया है। शुक्र के मतानुसार प्रजा में आचार का प्रेरक राजा होता है। इसीलिए राजा को काल का

१ श्लोक १५ अ १ शुक्रनीति।   २ श्लोक ६ अ १ शुक्रनीति।
३ श्लोक २१ अ १ शुक्रनीति।   ४. श्लोक ६४ अ १ शुक्रनीति।

और कौटिल्य के समान ही यह राज्य का स्वरूप सप्तात्मक अथवा सप्तांग मानते हैं। अन्तर केवल कतिपय अंगों के नामों में है।

शुक्र ने राज्य के इन सात अंगों के आपेक्षिक महत्व का भी उल्लेख किया है। स्वामी को उन्होंने सर्वोच्च स्थान दिया है। वह स्वामी (राजा) को राज्य का मस्तक एवं मूल मानते हैं। उन्होंने राज्य के आवयविक स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उसकी कल्पना पुरुष रूप में की है। उनके मतानुसार राज्य एक पुरुष है जिसके अवयव हैं, इस पुरुष रूप राज्य में स्वामी (राजा) मस्तक, अमात्य नेत्र, सुहृद् कान, कोष मुख, दुर्ग हाथ, राष्ट्र पाद, और बल मन है[1]। इस प्रकार शुक्र ने राज्य के आवयविक स्वरूप की स्पष्ट स्थापना उसे पुरुष की समता देकर की है। इसी प्रसंग में दूसरे स्थल पर वह राज्य की उपमा वृक्ष से तथा उसके अंगों की तुलना वृक्ष के अवयवों से करते हैं 'राज्य एक वृक्ष है जिसका मूल राजा होता है, उसका स्कन्ध मंत्री, उसकी शाखा सेनापति, उसके पल्लव और कुसुम सेना, फल प्रजा, और बीज भूभाग' है[2]।

परन्तु इन उद्धरणों से यह सिद्ध नहीं होता कि शुक्र द्वारा प्रतिपादित राज्य के आवयविक स्वरूप के सिद्धान्त में तत्सम्बन्धी आधुनिक सिद्धान्त के सभी तत्व प्राप्य हैं। शुक्र द्वारा प्रतिपादित इस सिद्धान्त के विषय में केवल इतना कहा जा सकता है कि शुक्र, किसी अंश तक राज्य के आवयविक सिद्धान्त से परिचित अवश्य रहे होंगे। परन्तु इस विषय में उनकी वास्तविक धारणा का क्या स्वरूप रहा होगा यह कुछ भी कहा नहीं जा सकता।

दैवी सिद्धान्त—राज्य की उत्पत्ति के विषय में प्राचीन भारत में अनेक सिद्धान्तों की स्थापना की गयी है। इन सिद्धान्तों में दैवी सिद्धान्त का प्रमुख स्थान रहा है। शुक्रनीति में इन सिद्धान्तों में केवल इसी एक सिद्धान्त का उल्लेख है। इससे यह स्पष्ट है कि शुक्र दैवी सिद्धान्तमात्र में आस्था रखते हैं। राज्य की उत्पत्ति के अन्य सिद्धान्तों की सत्यता में उन्हें सन्देह जान पड़ता है। शुक्र के मतानुसार राजा का निर्माण आठ प्रधान देवों के विशिष्ट अंशों के संयोग से हुआ है। ये वे देवांश हैं जिनकी आवश्यकता राज्य-संचालन हेतु अनिवार्य है। इस प्रकार आठ प्रधान देवों के इन विशिष्ट देवांशों को संगृहीत कर राजा का निर्माण किया गया। शुक्र के मतानुसार ये आठ विशिष्ट देव इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र और कुबेर हैं[3]।

१ श्लोक ६१-६२ अ० १ शुक्रनीति। २ श्लोक १२-१७-५८ अ० ४ शुक्रनीति।
३ श्लोक ७१ अ० १ शुक्रनीति।

धारित्रा पर बहुत बड़ा प्रतिबन्ध राजा की नियुक्ति के इन सिद्धान्तों को अपना कर लगा दिया गया है।

(ब) पैतृक अधिकार का सिद्धान्त—शुक्रनीति में ऐसे संकेत हैं जो राजा के पैतृक अधिकार की स्थापना के पुष्ट प्रमाण माने जा सकते हैं। इस सिद्धान्त से शुक्र का तात्पर्य यह है कि राजा के द्वारा राजपद के रिक्त किये जाने पर, उसके पुत्र को वह रिक्त राजपद प्राप्त होना चाहिए। सम्भवतः इस सिद्धान्त का मूल आधार जनता के इस विश्वास पर निर्भर रहा होगा कि मनुष्य के आचरण के निर्माण पर पिता के आचरण का बहुत प्रभाव पड़ता है। रक्त का प्रभाव वातावरण के प्रभाव की अपेक्षा बलिष्ठ एवं अधिक प्रभावशाली होता है। राजघरानों में पालन-पोषण होने और उसके जीवन से निरन्तर सम्पर्क में रहने के कारण राजकुमार को राजोचित गुणों की प्राप्ति स्वभावतः हो सकती है। अतः राजा के पुत्र को अपने पिता द्वारा रिक्त किये गये पद को ग्रहण करने का अधिकार प्राप्त होना चाहिए।

इसके अतिरिक्त इस विषय में रिक्त राजपद के लिए उपयुक्त व्यक्ति की सरलता एवं सुगमता से प्राप्ति की महान् समस्या भी है। राजा की मृत्यु के उपरान्त राजपद की प्राप्ति हेतु कलह होना अनिवार्य है। यह कलह अराजकता एवं विप्लव का रूप धारण कर सकता है। ऐसी परिस्थिति में इस कलह को सीमित करने के लिए उचित समझा गया होगा कि राज्याधिकार की सीमा राजवंश तक ही सीमित कर दी जाय जिससे सर्वसाधारण जनता इस कलह से मुक्त रहे और शान्तिपूर्वक अपने कर्तव्यों का पूर्ववत् पालन करती रहे। सम्भवतः इन्हीं कारणों के होते हुए शुक्र ने राज्याधिकार के पैतृक सिद्धान्त की स्थापना की है।

राजा की नियुक्ति के पैतृक सिद्धान्त की पुष्टि हेतु शुक्रनीति में विशेष व्याख्या न करके इस ओर संकेत मात्र किये गये हैं। इस उदासीनता का यह कारण हो सकता है कि शुक्रनीति के रचनाकाल में यह सिद्धान्त पूर्ण रूप से स्थिर हो चुका था। अतः इस पर टीका-टिप्पणी करना व्यर्थ समझा गया होगा।

प्रजा-द्वेषी राजा की निन्दा करते हुए शुक्र ने व्यवस्था दी है—"प्रजा के गुण नीति और बल का द्वेषी राजा कुलक्रमागत होने पर भी अधार्मिक समझा जायगा। इस प्रकार के राष्ट्र-विनाशक राजा की भक्ति का परित्याग कर देना चाहिए। ऐसी परिस्थिति में पुरोहित को चाहिए कि इस राजा के स्थान में राजकुल से उत्पन्न किसी दूसरे व्यक्ति को प्रजा की अनुमति प्राप्त कर स्थापित कर दे[1]।"

१ श्लोक २३३-२३४ अ १ शुक्रनीति।

धारण करना बतलाया गया है। जिस प्रकार वायु सुगन्ध को लेकर चलती है, उसी प्रकार राजा प्रजा के धर्म का प्रेरक होता है। राजा धर्म का प्रवर्तक और अधर्म का नाशक, इस प्रकार होता है जिस प्रकार सूर्य प्रकाश का प्रवर्तक और अन्धकार का नाशक होता है[१]।

इस प्रकार राजा दण्डधारी भी है। वह प्रजा में शान्ति एवं सुव्यवस्था की स्थापना हेतु दण्ड धारण करता है। वह दण्ड के सम्यक्-प्रयोगमात्र का ही अधिकारी है। वह प्रजापालक एवं प्रजारंजक है, प्रजा में आचार का प्रेरक एवं प्रजा के समक्ष आदर्श चरित्र की साक्षात् मूर्ति होता है।

राजा के कर्तव्य—शुक्र ने संक्षेप में राजा के कर्तव्यों का उल्लेख किया है। उनके मतानुसार राजा का परम धर्म प्रजापरिपालन और दुष्ट-निग्रह है। राजा को प्रजारंजन कार्य में नित्य तत्पर रहना चाहिए[४]। शुक्रनीति में राजा के कर्तव्यों का उल्लेख संक्षेप में इस प्रकार है—दुष्टनिग्रह, प्रजा-परिपालन, राजसूय आदि यज्ञों का यजन, न्यायानुसार कोश-अर्जन, राजाओं को अधीन करके राजाओं के धन में परिणत करना, शत्रुपरिमर्दन और भूमिसंग्रह करना। इसप्रकार शुक्र के मतानुसार राजा के ये आठ कर्तव्य हैं, जिनका पालन करना उसका परम धर्म बतलाया गया है।

राजा की नियुक्ति के सिद्धान्त—शुक्र राजतन्त्रवादी हैं, इसीलिए उन्होंने राज्य में सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान राजा को दिया है। उनके मतानुसार राज्य का प्राण राजा ही होता है और वही राज्य की समस्त क्रियाओं की शक्ति होता है। परन्तु राजपद इतना महत्त्वपूर्ण होने पर भी शुक्र ने राजा के निरंकुश हो जाने का विरोध किया है। उन्होंने तत्कालीन सम्राटों की भाँति स्वेच्छाचारी एवं निरंकुश राजाओं की स्थापना कहीं नहीं की है। इसीलिए राजपद-प्राप्ति हेतु कतिपय योग्यताओं का धारण करना अनिवार्य बतलाया है। इनमें से कुछ ऐसी योग्यताएँ भी हैं जो प्राचीन काल से प्रचलित चली आती हैं और जो सिद्धान्त रूप में परिणत होकर भारतीय संविधान का विशेष अंग बन गयी थीं। यद्यपि भारतीय राज्य के संविधान का यह अंग लिखित न था परन्तु उसके अलिखित होने पर भी इस अंग का पालन किया जाना अनिवार्य समझा गया था। इन नियमों का उल्लंघन जनता की अनुमति प्राप्त किये बिना नहीं किया जा सकता था। इस प्रकार राजा की निरंकुशता एवं स्वेच्छा-

१. श्लोक ११ अ. १ शुक्रनीति।
२. श्लोक ७१ अ. १ शुक्रनीति।
३. श्लोक १४ अ. १ शुक्रनीति।
४. श्लोक २ अ. १ शुक्रनीति।

जातियों पर बहुत बड़ा प्रतिबन्ध राजा की नियुक्ति के इन सिद्धान्तों को अपना कर लगा दिया गया है।

(ख) पैतृक अधिकार का सिद्धान्त—शुक्रनीति में ऐसे उल्लेख हैं जो राजा के पैतृक अधिकार की स्थापना के पुष्ट प्रमाण माने जा सकते हैं। इस सिद्धान्त से शुक्र का तात्पर्य यह है कि राजा के द्वारा राजपद के रिक्त किये जाने पर, उसके पुत्र को वह रिक्त राजपद प्राप्त होना चाहिए। सम्भवतः इस सिद्धान्त का मूल आधार जनता के इस विश्वास पर निर्भर रहा होगा कि मनुष्य के आचरण के निर्माण पर पिता के आचरण का बहुत प्रभाव पड़ता है। रक्त का प्रभाव वातावरण के प्रभाव की अपेक्षा बलिष्ठ एवं अधिक प्रभावशाली होता है। राजघराने में पालन पोषण होने और उसके जीवन से निरन्तर सम्पर्क में रहने के कारण राजकुमार को राजोचित गुणों की प्राप्ति स्वभावतः हो सकती है। अतः राजा के पुत्र को अपने पिता द्वारा रिक्त किये गये पद को ग्रहण करने का अधिकार प्राप्त होना चाहिए।

इसके अतिरिक्त इस विषय में रिक्त राजपद के लिए उपयुक्त व्यक्ति की सरलता एवं सुगमता से प्राप्ति की महान समस्या भी है। राजा की मृत्यु के उपरान्त राजपद की प्राप्ति हेतु कलह होना अनिवार्य है। यह कलह अराजकता एवं विप्लव का रूप धारण कर सकता है। ऐसी परिस्थिति में इस कलह को सीमित करने के लिए उचित समझा गया होगा कि राज्याधिकार की सीमा राजवंश तक ही सीमित कर दी जाय जिससे सर्वसाधारण जनता इस कलह से मुक्त रहे, और शान्तिपूर्वक अपने कर्तव्यों का पूर्ववत् पालन करती रहे। सम्भवतः इन्हीं कारणों के होते हुए शुक्र ने राज्याधिकार के पैतृक सिद्धान्त की स्थापना की है।

राजा की नियुक्ति के पैतृक सिद्धान्त की पुष्टि हेतु शुक्रनीति में विशेष व्याख्या न करके इस ओर संकेत मात्र किये गये हैं। इस उदासीनता का यह कारण हो सकता है कि शुक्रनीति के रचनाकाल में यह सिद्धान्त पूर्ण रूप से स्थिर हो चुका था। अतः इस पर टीका-टिप्पणी करना व्यर्थ समझा होगा।

प्रजा-द्वेषी राजा की निन्दा करते हुए शुक्र ने व्यवस्था दी है—"प्रजा के गुण नीति और बल का द्वेषी राजा कुलकलंक होने पर भी अधार्मिक समझा जायगा। इस प्रकार के राष्ट्र-विनाशक राजा को शक्ति का परित्याग कर देना चाहिए। ऐसी परिस्थिति में पुरोहित को चाहिए कि इस राजा के स्थान में राजकुल से उत्पन्न किसी दूसरे व्यक्ति को प्रजा की अनुमति प्राप्त कर स्थापित कर दे[1]।"

[1] श्लोक १२३-१२४ अ० १ शुक्रनीति।

(ख) ज्येष्ठता का सिद्धान्त—राज्याधिकार-सम्बन्धी दूसरा सिद्धान्त मिलता है जिसकी शुक्र की आस्था बतलायी गयी है, ज्येष्ठता का सिद्धान्त है। ज्येष्ठता के सिद्धान्त से शुक्र का तात्पर्य यह है कि राज्य का अधिकारी राजा का ज्येष्ठ पुत्र होता है। पिता की ही पुत्र-क्रम में पुत्र उत्पन्न होता है। इस सिद्धान्त में भारतीय जनता की बहुत आस्था रही है। ज्येष्ठ पुत्र में पिता की आत्मा का प्रतिबिम्ब पूर्णरूप से माना जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार राजा के ज्येष्ठ पुत्र में अपने अन्य भ्राताओं की अपेक्षा राजपद के लिए वाञ्छनीय गुण अधिक मात्रा में होने की सम्भावना पाई जाती है। इसलिए राजा के ज्येष्ठ पुत्र को अपने पिता के राज्य का अधिकारी माना गया है।

ज्येष्ठता के इस सिद्धान्त की स्थापना हेतु शुक्र ने इस प्रकार व्यवस्था दी है—"यदि राजकुल में अनेक पुरुष (राजकुमार) हों तो ऐसी परिस्थिति में ज्येष्ठ को ही राजपद दिया जाता है। अन्य भ्राता अपने ज्येष्ठ भ्राता के ही कार्य के साधक होते हैं[2]। यदि इस नियम का उल्लंघन किया जायगा तो राज्य अनेक भागों में विभक्त हो जायगा और यह राज्य के लिए नितान्त अनिष्टकर सिद्ध होगा। इस विषय में शुक्र व्यवस्था देते हैं—"राज्य के अनेक भागों में विभक्त हो जाने से राज्य का अकल्याण होता है। जब राज्य अनेक भागों में विभक्त हो जायगा तो इसके इन छोटे-छोटे भागों का अपहरण करने के लिए शत्रु तत्पर हो जायेंगे[3]।

इस प्रकार शुक्र ने राज्याधिकार के इस सिद्धान्त का समर्थन किया है और यह स्पष्ट व्यवस्था दी है कि राज्याधिकार राजा के ज्येष्ठ पुत्र को ही प्राप्त है।

(ग) शारीरिक परिपूर्णता का सिद्धान्त—शुक्र ने राजपद के लिए शारीरिक परिपूर्णता का प्रतिबन्ध अनिवार्य माना है। अङ्गहीनता शारीरिक अपूर्णता है और यह व्यक्तित्व के विकास में बाधक होती है, ऐसा शुक्र का मत है। इसलिए उन्होंने अङ्गहीन व्यक्ति को राजपद के अधिकार से वंचित रखने का आदेश दिया है। उन्होंने इस विषय में इस प्रकार व्यवस्था दी है—"यदि ज्येष्ठ भ्राता बधिर, गूंगा, अन्धा अथवा नपुंसक हो तो वह राज्याधिकारी नहीं होगा। उसके स्थान पर उसका भ्राता अथवा उसका पुत्र राजपद का अधिकारी होगा। शुक्र द्वारा दी गयी इस व्यवस्था से इस सिद्धान्त की स्थापना होती है कि राजपद पर राजा के ज्येष्ठ पुत्र को अधि-

१ श्लोक ११४ से ११६ अ. २ शुक्रनीति।
२ श्लोक ३४१ अ. १ शुक्रनीति।　३ श्लोक ३४५ अ. १ शुक्रनीति।
४ श्लोक ३४२ अ. १ शुक्रनीति।

कार है। परन्तु यह अधिकार उसको तभी तक प्राप्त होता है, जब तक कि वह शरीर दोष से मुक्त रहता है। अङ्गहीनता उसके लिए एक ऐसी अयोग्यता है, जो उसको अन्य प्रकार से योग्य होने पर भी राज्याधिकार से वंचित कर देती है।

(ई) चारित्रिक योग्यता का सिद्धान्त—राजतन्त्रात्मक राज्य का प्राण राजा होता है। राज्य की समस्त क्रियाचक्र की नाभि राजा ही होता है। इसलिए राजतन्त्रात्मक राज्य में राजपद परम महत्त्वपूर्ण है। परन्तु राजा के परम महत्त्व का मूल कारण उसका उच्च आचरण माना गया है। यही कारण है कि प्राचीन शास्त्र में राज्याधिकारी होने के लिए, सबसे महत्त्वपूर्ण योग्यता उच्च आचरण-सम्बन्धी गुणों की प्राप्ति पर निर्भर की गयी है। राजकुल में जन्म लेने राजा के ज्येष्ठ पुत्र होने एवं शरीर सम्बन्धी दोष से सर्वथा मुक्त होने पर भी व्यक्ति राजपद प्राप्ति का अधिकारी नहीं समझा गया है। शुक्र ने भी इस परम्परा को मान्यता दी है। उनका मत है कि प्रजा के आचार का प्रेरक राजा ही होता है[1]। शुक्र ने इस सिद्धान्त की पुष्टि में ऐसे अनेक राजाओं के उदाहरण दिये हैं जो चरित्र-दोष के कारण राजपद से च्युत कर दिये गये थे। धर्म-विरुद्ध आचरण करने से राजा नहुष और राजा वेणु नष्ट हो गये। राजा पृथु धर्मावलम्बी होने के कारण वृद्धि को प्राप्त हुआ[2]। राजा दूसरों को उत्तम आचरण-धारण करने का उपदेश देता रहे परन्तु स्वयं आचरण न करे, ऐसा नहीं होना चाहिए। इस दुर्गुण में ग्रस्त गुणवान् राजा भी राज्याधिकार से वंचित हो जाते हैं[3]। राजा में इन्द्र वायु, यम कुबेर, सूर्य अग्नि और चन्द्र के गुण होने चाहिए। उसको इन्द्र के समान पराक्रमी वायु के समान परोपकारी यम के समान दुष्टों का दमन करनेवाला कुबेर के समान दानी सूर्य के समान प्रकाश (ज्ञान-प्रसार) करने वाला अग्नि के समान प्रबल और चन्द्रवत् आह्लादकारी होना चाहिए। राजा में ये सभी गुण होने चाहिए, जिससे उसकी प्रजा उसको अपना माता-पिता अथवा गुरु, भ्राता और बन्धु समझने लगे[4]। राजा को इन सात गुणों का परित्याग कभी नहीं करना चाहिए[5]। राजा को सर्वप्रथम विनय गुण की प्राप्ति करनी चाहिए। इसके उपरान्त गुण अमात्य भृत्य और प्रजा का सदा कामप्रद हो सकेगा[6]। शुक्र ने राजा के लिए इन्द्रिय-विजय का विधान इस प्रकार किया है—"विषय एक विशाल वन है, जिसमें इन्द्रियरूप मदोन्मत्त हाथी घूम रहे हैं। राजा ज्ञानरूपी अंकुश से

१ श्लोक ११ अ १ शुक्रनीति। २ श्लोक १८,१९ अ० १ शुक्रनीति।
३ श्लोक ६१ अ १ शुक्रनीति। ४ श्लोक ७८,७७ अ १ शुक्रनीति।
५ श्लोक ८१ अ १ शुक्रनीति। ६ श्लोक ९९ अ १ शुक्रनीति।

इस इन्द्रिय रूपी मदोन्मत्त हाथियों को सदैव वश में रखे । यह मन व्याघ्र रूप विषयरूपी मांस के लोभ से इन्द्रियरूप स्तंभ को निरन्तर झोंकता रहता है । [illegible] इस मन को प्रयत्नपूर्वक दमन करता रहे । यदि उसने इस मन का दमन कर लि[illegible] तो उसके जितेन्द्रिय होने में संशय नहीं रहता[1] । जिस राजा का मन स्त्रियों [illegible] फँस जाता है, वह हाथी के समान बन्धन को प्राप्त होता है । जो राजा अपने [illegible] को वश में करने में भी असमर्थ है, वह कायर राजा समुद्र पर्यन्त इस सम्पूर्ण पृ[illegible] का विजय करने में क्योंकर समर्थ हो सकेगा अर्थात् जिस राजा का मन और उसक[illegible] इन्द्रियाँ वश में नहीं है, वह राज्याधिकारी नहीं है[2] । जुआ स्त्री-सम्भोग औ[illegible] सुरापान ये तीनों अनुचित से सेवन करने पर महान् अनर्थ के कारण बने हैं[3] [illegible] नल धर्मराज युधिष्ठिर आदि द्यूत से ही नष्ट हुए[4] । परस्त्री की कामना करने वाले मनुष्य से राजा नष्ट हो गये । इनमें इन्द्र दण्डक नहुष रावण आदि के उदाहरण जगत् प्रसिद्ध है । उसे परस्त्री सम्भोग में काम पराधन हरण में लोभ तथा प्रजा को दण्ड देने में क्रोध का आश्रय नहीं लेना चाहिए[5] । उसे धर्मशास्त्र का अध्ययन कर अपने मन और अपनी इन्द्रियों को यथोचित रोकते रहना चाहिए । राजा को अपना आचरण इस प्रकार बनाना चाहिए जिससे उसे इस लोक में यश और परलोक में आनन्द की प्राप्ति हो सके[6] । यौवन जीवन मन कान्ति लक्ष्मी, स्वामित्व ये छ चंचल है, ऐसा समझकर उसे नित्य धर्मपरायण होना चाहिए[7] । उसे काम क्रोध लोभ मोह, मान और मद इन छ दुर्गुणों का त्याग कर देना चाहिए । राजा जब इन षड्वर्ग का त्याग कर देगा तभी वह सुखी हो सकेगा[11] । राजा को सदैव विभिन्न विद्याओं के ज्ञान का अर्जन करते रहना चाहिए । इन विद्याओं के ज्ञान से ही धर्म की स्थिति रह सकती है[12] । उसे बलवान्, बुद्धिमान्, शूरवीर और समय पर उचित पराक्रम दिखानेवाला होना चाहिए । इसी प्रकार का राजा सम्पत्ति से सम्पन्न इस वसुधा के भोगने में समर्थ होता है और वही सच्चा राजा होता है[13] । पराक्रम बल बुद्धि और शौर्य—ये राजा के उत्तम गुण है[14] ।

१ श्लोक १७ अ १ शुक्रनीति । २ श्लोक १८ अ १ शुक्रनीति ।
३ श्लोक १ अ १ शुक्रनीति । ४ श्लोक ११ अ १ शुक्रनीति ।
५ श्लोक १ ८ अ १ शुक्रनीति । ६ श्लोक १ ९ अ १ शुक्रनीति ।
७ श्लोक ११३ अ १ शुक्रनीति । ८ श्लोक ११८ अ १ शुक्रनीति ।
९ श्लोक ११२ अ १ शुक्रनीति । १ श्लोक ११८ अ १ शुक्रनीति ।
११ श्लोक १४२ अ १ शुक्रनीति । १२ श्लोक १५१ अ १ शुक्रनीति ।
१३ श्लोक १०४ अ १ शुक्रनीति । १४ [illegible]

इस प्रकार शुक्र ने राजा की चारित्रिक योग्यता को बड़ा महत्त्व दिया है। उन्होंने स्पष्ट व्यवस्था दी है कि जो राजा गुणहीन है और जिसके द्वारा प्रजा का अकल्याण होता है उसका तुरन्त परित्याग कर देना चाहिए।

(३) प्रजा की अनुमति का सिद्धान्त—शुक्रनीति में इस सिद्धान्त की पुष्टि के प्रमाण उपलब्ध हैं कि नूतन राजा की नियुक्ति के अवसर पर प्रजा की अनुमति का होना भी आवश्यक होता है। यह अनुमति चाहे प्रत्यक्ष हो अथवा अप्रत्यक्ष परन्तु उसके अभाव में राजपद पर नूतन राजा की नियुक्ति अवैध मानी गयी है। प्रजा ऐसे राजा को राजपद से हटाने और उसके स्थान में नूतन राजा की नियुक्ति करने की व्यवस्था देते हुए शुक्रनीति में जो वर्णन किया है वह इस सिद्धान्त की पुष्टि में ज्वलन्त प्रमाण है। यह वर्णन इस प्रकार है—"यदि राजा प्रजा के गुण नीति और बल का द्वेषी है तो कुलक्रमागत राजा होने पर भी वह राजा अधार्मिक समझा जायगा। इस राजा के स्थान में राजकुल में उत्पन्न किसी दूसरे गुणवान् अधिकारी व्यक्ति को प्रजा की अनुमति लेकर राज्य की रक्षा हेतु पुरोहित राज्य के सिंहासन पर स्थापित कर दे[1]।"

परन्तु इस विषय में यह स्मरण रहे कि राजा की नियुक्ति में प्रजा की अनुमति का जो सिद्धान्त शुक्र ने स्थिर किया है उसके लिए बहुत कम अवसर आने की सम्भावना की गयी है। उत्तराधिकार के सामान्य नियमों के अनुसार नूतन राजा की नियुक्ति हो जानी चाहिए। उसमें प्रजा की मूक अनुमति समझ लेनी चाहिए। परन्तु इन नियमों का उल्लंघन किये जाने पर प्रजा अपने इस अधिकार के बरतने के हेतु अवसर होती हुई दिखलायी गयी है। ऐसी परिस्थिति के उपस्थित हो जाने पर प्रजा की प्रत्यक्ष अनुमति की प्राप्ति अनिवार्य बतलायी गयी है। इस प्रकार राजा की नियुक्ति के लिए प्रजा को अपनी अनुमति प्रदान करने अथवा न करने का पूर्ण अधिकार वैध रूप से प्राप्त है, ऐसा शुक्र का मत है।

(४) राज्याभिषेक का सिद्धान्त—प्राचीन भारत में राजा की नियुक्ति-सम्बन्धी कतिपय निश्चित प्रतिबन्धों में राज्याभिषेक के कृत्य का सम्पादन किया जाना भी एक मुख्य प्रतिबन्ध माना गया है। इस कृत्य के सम्पन्न हुए बिना कोई भी व्यक्ति राजपद के लिए वह चाहे कितना योग्य क्यों न हो राजपद पर आरूढ़ होने पर भी विधिविहित राजा नहीं माना जायगा। अनभिषिक्त राजा निन्दनीय एवं पतित माना गया है। वैदिक युग में राज्याभिषेक के अवसर पर समाज के प्रतिनिधि एकत्र होते

१ श्लोक १६६ व २ शुक्रनीति।

थे और नूतन राजा की नियुक्ति में अपनी अनुमति देते थे। राज्याभिषेक की परम्परा प्राचीन भारत में निरन्तर प्रचलित रही। ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता गया और मनुष्य की जीवन-सम्बन्धी समस्याएँ जटिल होती गयीं इस संस्कार के कृत्यों में भी जटिलता बढ़ती गयी। शुक्रनीति में राज्याभिषेक के कृत्यों का वर्णन नहीं है। इसलिए अनुमान नहीं कहा जा सकता कि वैदिक युग के राज्याभिषेक के कृत्यों के स्वरूप में कौन कौन से परिवर्तन शुक्रनीति के रचना-काल तक हो चुके थे। परन्तु इस विषय में कतिपय ऐसे उल्लेख अवश्य किये गये हैं जो इस सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं कि शुक्रनीति के रचना-काल में राजपद-प्राप्ति हेतु नूतन राजा के लिए राज्याभिषेक के कृत्यों का सम्पादन करना अनिवार्य समझा गया है।

शुक्र ने एक प्रसंग में व्यवस्था दी है कि राजा की नियुक्ति पुरोहित द्वारा होनी चाहिए। इसका तात्पर्य यही है कि पुरोहित द्वारा नूतन राजा का राज्याभिषेक हो जाने के उपरान्त वह राजपद पर आरूढ़ होता है। इसी विषय में अन्य स्थल पर राजा के अभिषिक्त होने की ओर संकेत किया गया है[1]। इससे भी यह प्रमाणित होता है कि राजपद के लिए नूतन राजा का अभिषिक्त किया जाना अनिवार्य कृत्य समझा गया है। इस प्रकार शुक्र ने राज्याभिषेक के सिद्धान्त को स्वीकार किया है।

मंत्रिपरिषद् की आवश्यकता

शुक्र ने मंत्रिपरिषद् को राज्य का अनिवार्य तत्त्व माना है। मंत्रिपरिषद् के अभाव में अपंग पुरुष की भांति राज्य स्वकर्तव्य-पालन में असफल रहता है। शुक्र का मत है—"कार्य छोटे-से-छोटा क्यों न हो परन्तु अकेले मनुष्य के द्वारा उसका सम्पादन नहीं हो सकता फिर असहाय मनुष्य विशाल राज्य के प्रशासन में क्योंकर सफल हो सकता है[2]?" राजा द्वारा मंत्र का अकेले निर्णय करने का निषेध शुक्र द्वारा किया गया है। उनका मत है कि ऐसा करने से राजा स्वेच्छाचारी हो जाता है। राजा के स्वेच्छाचारी हो जाने से उस पर विपत्ति अवश्य आती है। ऐसा राजा राज्य के नाश का कारण होता है। उसकी प्रजा और उसके अमात्यादि में भेद उत्पन्न हो जाता है। भिन्न-भिन्न मनुष्यों में भिन्न-भिन्न प्रकार का बुद्धि-वैभव देखा गया है। अकेला मनुष्य सब कुछ जान लेने में समर्थ नहीं हो सकता, इसलिए प्रजापालन के महान् कार्य में विद्वान् और बुद्धिमान् पुरुषों की सहायता अवश्य लेनी चाहिए[3]।

१ श्लोक १६५ अ० २ शुक्रनीति।
२ श्लोक ९६ अ० १ शुक्रनीति।
३ श्लोक १ अ० २ शुक्रनीति।
४ श्लोक ४ अ० २ शुक्रनीति।
५ श्लोक ५ अ० २ शुक्रनीति।
६ श्लोक ७ अ० २ शुक्रनीति।

इस प्रकार राज्य-संचालन में सहायता एवं सहयोग वास्तविक मन्त्रणा की प्राप्ति एवं राजा के स्वेच्छाचार की रोक-थाम के लिए मन्त्रिपरिषद् की परम आवश्यकता शुक्र द्वारा प्रमाणित की गयी है।

मन्त्रिपरिषद् की सदस्य संख्या

मन्त्रिपरिषद् की सदस्य-संख्या के विषय में प्राचीन भारत के राजशास्त्र-विचारकों में एक मत नहीं है। मन्त्रिपरिषद् की सदस्य-संख्या के विषय में कौटिल्य ने अपने से पूर्व के आचार्यों के मतों का उल्लेख करते हुए बतलाया है कि मनु के मतानुयायी मन्त्रिपरिषद् में बारह सदस्य रखना उचित समझते हैं। बृहस्पति के मतानुयायियों के अनुसार सोलह और उशना के मतावलम्बियों के अनुसार बीस सदस्य मन्त्रिपरिषद् में होने चाहिएँ[1]। परन्तु कौटिल्य अपना मत देते हुए यह व्यवस्था देते हैं कि समय और आवश्यकतानुसार मन्त्रिपरिषद् की सदस्य-संख्या निर्धारित करनी चाहिए[2]। भीष्म ने सैंतीस सदस्यों की मन्त्रिपरिषद् रखने की व्यवस्था दी है[3]। मानव धर्मशास्त्र में सात अथवा आठ मन्त्रियों के रखने का आदेश दिया गया है[4]। वाल्मीकि भी आठ सदस्यों की मन्त्रिपरिषद् रखने के समर्थक जान पड़ते हैं[5]।

शुक्र का मत है कि मन्त्रिपरिषद् में दस सदस्य होने चाहिए। परन्तु इसी प्रसंग में उन्होंने यह भी बतलाया है कि किन्हीं विद्वानों ने मन्त्रिपरिषद् में आठ सदस्य रखने की व्यवस्था दी है। इस प्रकार शुक्र के मतानुसार मन्त्रिपरिषद् में दस अथवा आठ सदस्य होने चाहिए। शुक्र ने इन सदस्यों के पदों का भी उल्लेख किया है जो पुरोधा, प्रतिनिधि, प्रधान, सचिव, मन्त्री, प्राड्विवाक, पण्डित, सुमन्त्र, अमात्य और दूत हैं। इन सदस्यों को शुक्र दस प्रकृतियों की उपाधि देते हैं[6]। आठ सदस्यों की मन्त्रिपरिषद् में पुरोधा और दूत को स्थान नहीं दिया गया है।

मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों की सामान्य योग्यताएँ

मन्त्रिपरिषद् राज्य का परम आवश्यक अंग माना गया है। मन्त्रिपरिषद् के बिना राजा अपने कर्तव्य-पालन में असफल रहता है। शुक्र ने युवराज और अमात्यवर्ग को राजा के दाहिने और बाएँ नेत्र और कर्ण माना है। इनके बिना राजा चक्षु कर्ण

१ वार्ता ५३,५४,५५ अ १५ अधि १ अर्थशास्त्र।
२ वार्ता ५६ अ १५ अधि १ अर्थशास्त्र।
३ श्लोक ७,८ अ ८५ शान्तिपर्व। ४ श्लोक ५४ अ ७ मानवधर्मशास्त्र।
५ श्लोक २ सर्ग ७ बालकाण्ड वाल्मीकीय रामायण।
६ श्लोक ६९,७ अ २ शुक्रनीति।

और श्रेष्ठ हीन समझा गया है। इसलिए राजा को बड़े योग्य व्यक्ति को अपना युव-राज और अमात्य बनाना चाहिए।

इसलिए मंत्रिपरिषद् के सदस्यों की कतिपय सामान्य योग्यताओं का निर्धारण शुक्र द्वारा किया गया है। इन योग्यताओं में सर्वप्रथम योग्यता कुलीन वंश में उत्पन्न होने की बतलायी गयी है[1]। इस विषय में दूसरी योग्यता आयु-सम्बन्धी है। शुक्र के मतानुसार मंत्रिपरिषद् के सदस्य आयुवान् (वृद्ध) होने चाहिए[2]। ऐसा ज्ञात होता है कि इस योग्यता-प्राप्ति के सम्बन्ध में अनुभव-प्राप्ति का विचार निहित रहा होगा। शुक्र ने तीसरी सामान्य योग्यता राजभक्ति धारण करने की निर्धारित की है। चौथी योग्यता उत्तम चरित्र धारण करना है[3]। इन सामान्य योग्यताओं का धारण करना मंत्रिपरिषद् की सदस्यता हेतु अनिवार्य बतलाया गया है।

मंत्रिपरिषद् के क्षेत्र में शुक्र की सबसे महती देन इसके सदस्यों के विशेष कार्यों का स्पष्ट वर्णन है। शुक्र ने मंत्रिपरिषद् के इन सब सदस्यों की योग्यताएँ उनके अधिकार एवं कर्तव्यों का वर्णन पृथक्-पृथक् किया है। यह वर्णन इतना स्पष्ट है कि इसके आधार पर इन सदस्यों के पदों का बोध भली प्रकार से हो जाता है। प्राचीन भारत के अन्य किसी भी राजशास्त्र-विचारक ने मंत्रिपरिषद् के सदस्यों का पृथक्-पृथक् विवरण इस सुघरता से नहीं किया है। प्राचीन भारतीय राजशास्त्र के इतिहास में शुक्र की यह देन सर्वत्र अमर रहेगी।

कार्यप्रणाली

मंत्रिपरिषद् की कार्यप्रणाली की एक विशेषता विभाग-पद्धति का अनुसरण करना है। शुक्रनीति में मंत्रिपरिषद् के विभिन्न सदस्यों के जो पद दिये गये हैं और उनके अनुसार सदस्यों की पृथक्-पृथक् विशेषताएँ एवं उनके कर्तव्यों तथा अधि-कारों का जो विवरण दिया गया है, उसके आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि मंत्रिपरिषद् के प्रत्येक सदस्य का कार्यक्षेत्र निश्चित एवं निर्धारित है और उसका उत्तर दायित्व सम्बन्धित सदस्य पर निर्भर है। इसके अतिरिक्त शुक्र ने यह भी व्यवस्था की है कि मंत्रिपरिषद् के प्रत्येक सदस्य को अपनी मुद्रा रखनी चाहिए जिसका प्रयोग सम्बन्धित लेखा पर करना चाहिए[5]। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि

१ श्लोक ८ अ २ शुक्रनीति। २ श्लोक ८ अ २ शुक्रनीति।
३ श्लोक ८ अ २ शुक्रनीति। ४ श्लोक ८, ९, १ अ २ शुक्रनीति।
५ श्लोक ३५८, ३६१ अ २ शुक्रनीति।

मंत्रिपरिषद् का प्रत्येक सदस्य अपने अधीन विभाग का पोर्टफोलियो (Portfolio) धारण करने का अधिकारी माना गया है।

मंत्रिपरिषद् की कार्यप्रणाली में दूसरी विशेष बात शुक्र के मतानुसार, यह थी कि प्रत्येक समस्या सम्बन्धित विभाग में ही सर्वप्रथम प्रस्तुत की जानी चाहिए। उक्त विभाग के अधिकारी को अपने मत के साथ उक्त समस्या राजा के सम्मुख प्रस्तुत करनी चाहिए[1]। मंत्रिपरिषद् के सम्बन्धित सदस्य को उसके सम्बन्ध में राजा के साथ विचार करना चाहिए। तत्पश्चात् उसे मंत्रिपरिषद् के समस्त सदस्यों की बैठक में विचार हेतु प्रस्तुत करना चाहिए। प्रत्येक सदस्य का मत लेखबद्ध किया जाना चाहिए। तत्पश्चात् राजा को स्वयं अपना विचार प्रकट करना चाहिए। इस प्रणाली की पुष्टि करते हुए शुक्र ने इस प्रकार व्यवस्था की है—"राजा को अपने मंत्रियों के मत को साधक-बाधक प्रमाणसहित पृथक्-पृथक् लेखबद्ध करना चाहिए। इसके उपरान्त अपनी बुद्धि से उस पर विचार करना चाहिए। जिस पक्ष में बहुमत हो, उसी को व्यवहार में लाना चाहिए[2]।

राजकर्मचारियों की नियुक्ति के सिद्धान्त

राज्य-सञ्चालन महान् कार्य होता है। राज्य का विधिवत् सञ्चालन एक दो व्यक्तियों मात्र के सहयोग से नहीं हो सकता। उसके लिए अनेक छोटे-बड़े कर्मचारियों की आवश्यकता होती है। शुक्र ने राजा को यह आदेश दिया है कि राज्य के इन कर्मचारियों की नियुक्ति एवं विमुक्ति कतिपय निर्धारित सिद्धान्तों के आधार पर होनी चाहिए। इन सिद्धान्तों में सर्वप्रथम सिद्धान्त परीक्षा के आधार पर अभ्यर्थी की नियुक्ति करना बतलाया गया है।

राज्य के कर्मचारियों की नियुक्ति में परीक्षा-प्रणाली के अवलम्बन करने की पुष्टि में शुक्र ने अपना मत इस प्रकार दिया है—"किसी व्यक्ति के विद्याध्ययन काल के समाप्त हो जाने के उपरान्त उस व्यक्ति की योग्यता एवं सामर्थ्य के अनुरूप उसे कार्य में नियुक्त कर देना चाहिए[3]।

कर्मचारियों की नियुक्ति में जाति और कुल का क्या स्थान होना चाहिए इस विषय में भी शुक्र ने अपना मत इस प्रकार प्रकट किया है—"कर्मचारियों की जाति अथवा उनके कुलमात्र का ही महत्त्व नहीं दिया जाना चाहिए। मनुष्य के कर्म शील और गुण पूज्य होते हैं। जाति और कुल की पूजा सज्जनों को मान्य नहीं

१ श्लोक ९९ अ० २ शुक्रनीति।
२ श्लोक ११४ अ० १ शुक्रनीति। ३ श्लोक ११७ अ० १ शुक्रनीति।

होती। जाति अथवा कुलमात्र की उच्चता के आधार पर कोई व्यक्ति श्रेष्ठ नहीं हो जाता[1]। विवाह और भोजन में कुल और जाति का विचार किया जाता है[2]। इस प्रकार राज्य के कर्मचारियों की नियुक्ति के लिए शुक्र ने जाति एवं कुल की उच्चता पर जोर नहीं दिया है। उन्होंने उच्च आचरण एवं कर्म करने की क्षमता को प्राथमिकता दी है।

इस विषय में शुक्र ने एक विशेष सिद्धान्त का अनुसरण करने का आदेश दिया है। यह अनुक्रम-सिद्धान्त है। इसे स्पष्ट करते हुए वे अपना मत इस प्रकार व्यक्त करते हैं—"राज्य में जैसा पद हो उस पर उसी के अनुसार अधिकारी की नियुक्ति करनी चाहिए और उसकी नियुक्ति यथासम्भव अनुक्रम सिद्धान्त के अनुसार होनी चाहिए। अर्थात् सहायक कर्मचारी को रिक्त पद मिलना चाहिए, क्योंकि वह उस कार्य का सम्पादन यथापूर्व कर सकेगा। राज्य के उच्च अधिकारियों के अतिरिक्त राज्य के जो अन्य छोटे-बड़े अधिकारियों के पद रिक्त हों, उनकी पूर्ति में भी इस नियम का पालन किया जाना चाहिए[3]।" इस प्रकार कर्मचारी के प्रोन्नत (Promote) करने की प्रणाली की स्थापना शुक्र द्वारा की गयी है।

कर्मचारियों की नियुक्ति-सम्बन्धी सिद्धान्तों में एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त यह भी बतलाया गया है कि पिता के द्वारा रिक्त किये गये पद पर उसके योग्य पुत्र की नियुक्ति की जानी चाहिए। इस सिद्धान्त की स्थापना करते हुए शुक्र ने यह व्यवस्था दी है—"यदि किसी राजकर्मचारी का पुत्र अपने पिता के कार्य-भार के वहनयोग्य है तो ऐसी परिस्थिति में उस कर्मचारी के उक्त पुत्र को पिता द्वारा रिक्त किये गये पद पर नियुक्त कर देना चाहिए[4]।" इस सिद्धान्त के अन्तस्तल में यह विचार निहित माना गया है कि यदि किसी राजकर्मचारी ने पवित्र-भक्ति-सहित राज्य की सेवा की है तो उसके योग्य पुत्र को भी राज्य की सेवा करने का अवसर मिलना चाहिए।

इन सिद्धान्तों के अतिरिक्त शुक्र ने एक विशेष सिद्धान्त का पालन करने का भी आदेश दिया है। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य के महत्त्वपूर्ण पदों पर तीन अधिकारियों की नियुक्ति होनी चाहिए। इनमें एक प्रधान और दो उसके सहायक कर्मचारी होने चाहिए[5]। आधुनिक युग में भी इस नियम का पालन उच्च पदाधि-

१ श्लोक ५४ ५५ अ २ शुक्रनीति।
२ श्लोक ५६ अ २ शुक्रनीति।
३ श्लोक ११५ अ २ शुक्रनीति।
४ श्लोक ११० अ २ शुक्रनीति।
५ श्लोक ११४ अ २ शुक्रनीति।
६ श्लोक १ १ अ २ शुक्रनीति।

चारियों की नियुक्ति करते समय प्राय: किया जाता है। इस व्यवस्था के अनुसार कार्य-सञ्चालन में सुव्यवस्था एवं सुविधा आने की अधिक सम्भावना होती है।

पदच्युति-सिद्धान्त—राजकर्मचारियों की पदच्युति के विषय में भी शुक्र ने कतिपय संकेत किये हैं। इस विषय में सर्वप्रथम सिद्धान्त यह बतलाया गया है कि अयोग्य एवं कार्य करने में असमर्थ होने पर राजकर्मचारी को पदच्युत कर दिया जाना चाहिए। इस सिद्धान्त की पुष्टि में शुक्र ने संकेत रूप में इस प्रकार व्यवस्था दी है—"ऐसे-वैसे व्यक्ति को अधिक काल तक अधिकारी नहीं रखना चाहिए"[1]। इस विषय की जानकारी करने के लिए कि अमुक कर्मचारी काम करने में अयोग्य एवं असमर्थ है उसके द्वारा किये जानेवाले कार्य की जाँच होनी चाहिए। इस जाँच के आधार पर जो कर्मचारी अयोग्य एवं असमर्थ सिद्ध हो जाय वह पदच्युत अथवा पदावनत कर दिया जाना चाहिए। अन्यथा कर्मचारी राजा के प्रसाद-काल-पर्यन्त कार्य करने का अधिकारी माना गया है।

पदच्युति-सम्बन्धी दूसरा सिद्धान्त यह बतलाया गया है कि राजकर्मचारी अपने पद पर उसी काल तक कार्य करने का अधिकारी माना गया है जबतक कि वह जनप्रिय रहता है। जनता की अप्रियता उसकी पदच्युति का कारण हो जाती है। इस सिद्धान्त की पुष्टि में शुक्र ने इस प्रकार व्यवस्था दी है "यदि प्रजा के सौ मनुष्य मिलकर राजा के किसी अधिकारी के विरुद्ध राजा के समीप जाकर निवेदन करें तो राजा अपने उस कर्मचारी को तुरन्त पदच्युत कर दे यहाँ तक कि वह राजा का मंत्री ही क्यों न हो"[2]।

इस विषय में तीसरा सिद्धान्त आचरण-श्रेष्ठता पर आधारित माना गया है। शुक्र ने आचरण की पवित्रता पर विशेष बल दिया है। उन्होंने सत्याचरण परोपकार और सदाचरण, ये तीन गुण प्रत्येक राजकर्मचारी के लिए अनिवार्य रूप से धारण करने की व्यवस्था दी है[3]। इन गुणों से च्युत हो जाने पर कर्मचारी को उसके पद से तुरन्त पृथक् कर देना चाहिए। हिंसा और मिथ्याभाषण उसके लिए महान् दुर्गुण बतलाये गये हैं। इन दोनों दुर्गुणों से युक्त कर्मचारी को तुरन्त पदच्युत कर देना चाहिए। वेतनों के दोष बतलाते हुए शुक्र ने कतिपय ऐसे दोषों का उल्लेख किया है जिनके कारण कर्मचारी को पदच्युत करने का विधान है। वे दोष इस प्रकार हैं—"दुष्टता असमर्थता आलस्य प्रमाद विषमाचरण पराया अविश्वासन उग्र

१ श्लोक १११ अ २ शुक्रनीति। २ श्लोक ३७५ अ २ शुक्रनीति।
३ श्लोक २ ४ अ २ शुक्रनीति। ४ श्लोक २ ५ अ २ शुक्रनीति।

तथा व्यसनों में रत आतुरता, उत्कोच-ग्रहण करना तथा नास्तिकता आदि[1]। इनमें से प्रत्येक दुर्गुण सेवक के लिए त्याज्य माना गया है।

इस प्रकार कार्य करने में अयोग्यता एवं अकर्मण्यता पद-अभिमत्तता और चारित्रिक दोष के कारण राजकर्मचारियों के पदच्युत किये जाने का नियम विहित माना गया है।

कार्य में कुशलता एवं दक्षता के साधन—राज्य के कर्मचारियों में कार्यकुशलता, दक्षता एवं कुशलता लाने के लिए शुक्र ने कतिपय साधनों को अपनाने की व्यवस्था की है। इन साधनों में कर्मचारियों के स्थानान्तरण करने की प्रणाली भी एक प्रमुख साधन माना गया है। इस प्रणाली के अपनाने से कर्मचारी स्थानीय कुप्रभाव से मुक्त रहता है। इसमें नवीन स्फूर्ति का संचार होता रहता है और इस प्रकार इन पर प्रमाद उदासीनता दीर्घसूत्रता आदि अपना कुप्रभाव नहीं डाल पाते। सम्भवतः इसीलिए शुक्र ने स्थानान्तरण-प्रणाली के अपनाने की व्यवस्था इस प्रकार दी है—"राजा अपने अमात्यादि राजकर्मचारियों को अदल-बदल कर पृथक्-पृथक् कार्यों में नियुक्त करता रहे[2]। जिस कर्मचारी में जितना कौशल हो, उसको उसी के अनुसार स्थानान्तरित करते रहना चाहिए[3]।

इस विषय में दूसरा साधन कर्मचारियों के कार्यों का निरीक्षण कर तदनुसार उनको प्रोन्नयन अथवा अवनयन करना है। शुक्र का मत है कि प्रत्येक कर्मचारी के कार्य का निरीक्षण अवश्य होना चाहिए। उसकी कार्यकुशलता एवं दक्षता तथा कुशलता का मूल्यांकन कर, जो कर्मचारी जिस पद के योग्य समझा जाय उस को उस पद पर पदोन्नत अथवा पदावनत करते रहना चाहिए[4]।

इस सम्बन्ध में तीसरा साधन कार्य करने की शक्ति, उसकी मात्रा एवं कार्य की गुरुता तथा लघुता के आधार पर कर्मचारियों के वेतनों का निर्धारण करना बतलाया गया है। शुक्र ने इस सिद्धान्त की पुष्टि में अपना मत इस प्रकार प्रकट किया है—"कार्य करने की शक्ति के अनुसार मन्द, मध्य और तीव्र इन तीन श्रेणियों में कर्मचारियों को स्थान मिलना चाहिए और भृति भी इस प्रकार सम मध्य और श्रेष्ठ इन तीन प्रकार की होनी चाहिए[5]। भिन्न-भिन्न गुणों से युक्त जो सेवक हो, उसको उतनी ही भृति अवश्य देनी चाहिए। इसी में स्वामी और सेवक का कल्याण होता

१ श्लोक १६, १७, १८ अ० २ शुक्रनीति। २ श्लोक १०७ अ० २ शुक्रनीति।
३ श्लोक १११ अ० २ शुक्रनीति। ४ श्लोक ११ अ० २ शुक्रनीति।
५ श्लोक १११ अ० २ शुक्रनीति। ६ श्लोक ११६ अ० २ शुक्रनीति।

है[1]। सेवक की भृति रोकने अथवा उसके देने में विलम्ब करने या न्यून वेतन देने का निषेध किया गया है। इस विषय में शुक्र ने इस प्रकार व्यवस्था दी है—"सेवक की भृति रोकना नहीं चाहिए और न भृति के देने में विलम्ब ही करना चाहिए। सेवक को उचित मात्रा में भृति देनी चाहिए। सेवक की भृति से ही उसके आश्रितों का पालन-पोषण होता है। इसलिए सेवक जितनी भृति के योग्य हो उसके लिए उतनी भृति अवश्य प्रदान करनी चाहिए[2]। जिन सेवकों को न्यून भृति दी जाती है, वे सेवक अपने शत्रु के साधक बन जाते हैं, समय पड़ने पर अपने स्वामी के छिद्र-प्रकाशित करते हैं और कोष का अपहरण करनेवाले बन जाते हैं, जिससे प्रजा-को कष्ट होता है[3]।

सेवकों को उनके कर्तव्य-पालन हेतु प्रोत्साहित करने के लिए पुरस्कार देने की प्रथा अपनाने का भी विधान शुक्र ने किया है[4]। इतना ही नहीं वरन उनके सेवा-काल के उपरान्त उनके निर्वाह हेतु विशेष पुरस्कार, मुआवजा आदि की व्यवस्था का भी शुक्र ने विधान किया है[5]।

जहाँ शुक्र ने सेवकों को इतनी सुविधाएँ दी हैं वहीं उन्होंने यह व्यवस्था भी दी है कि यदि सेवक अपने कर्तव्य-पालन में प्रमाद करता है तो उसे समुचित दण्ड भी दिया जाना चाहिए। यह दण्ड अर्थ-दण्ड वाक्-दण्ड एवं काय-दण्ड के रूप में होने चाहिए[6]।

राज्य की आय के साधन

शुक्र ने राज्य की आय के अनेक साधन बतलाए हैं जिन्हें उन्होंने विविध कर, दण्ड उपायन विजय और अपहरण के अन्तर्गत परिगणित किया है।

राज्य की स्थायी आय का मुख्य साधन विविध करों द्वारा प्रजा से प्राप्त धन माना गया है। इन करों को शुक्र ने भाग आकर-कर, शुल्क भाटक और भार-तालीन-कर के नाम से सम्बोधित किया है। भूमि-कर को वह भाग की संज्ञा देते हैं। भारत कृषिप्रधान देश होने के कारण भाग राजकोष का प्रधान अंग माना गया है। भाग-कर के प्राप्त करने की सुविधा हेतु शुक्र ने कृषि-भूमि को तीन श्रेणियों में विभक्त करने का आदेश दिया है। ये तीन श्रेणियाँ बहु अल्प और मध्य भाग

१ श्लोक ३९१ अ० २ शुक्रनीति। २ श्लोक ३८९,३९३ अ० २ शुक्रनीति।
३ श्लोक अ० २ शुक्रनीति। ४ श्लोक ४ ५ अ० २ शुक्रनीति।
५ श्लोक ४ २ से ४ ४ अ० २ शुक्रनीति।
६ श्लोक ४ ७ अ० २ शुक्रनीति।

से सम्बोधित की गयी है[1]। भू भाग और जल उपज के अनुसार भू कृमिकर लगाना चाहिए[2]। आकर-कर खानों से प्राप्त द्रव्यों पर लगाना चाहिए। इस विषय में शुक्र ने कुछ उदाहरण भी दिये हैं। उनका मत है कि रत्नों की उपज और धातु आदि की उत्पत्ति में व्यय निकाल कर, लाभ का आधा प्राप्त करना चाहिए। यदि खान के स्वामी को विषम लाभ हो तो तदनुसार कर ग्रहण कर लेना चाहिए। उनके लाभ का तृतीयांश पंचमांश, सप्तमांश अथवा दशमांश जितना उचित समझा जाय प्राप्त किया जा सकता है। तृण काष्ठ आदि लानेवालों अथवा उत्पन्न करने वालों से उनके मूल्य का बीसवाँ भाग कर-रूप में लिया जा सकता है[3]। जिस कृषक को जो कुछ रजत प्राप्त हो उसका बीसवाँ भाग राजा के लिए लेना चाहिए[4]। यही क्रम स्वर्ण और चाँदी में समझना चाहिए। ताम्र की उत्पत्ति में तृतीयांश, कपास वन और पौधे की उपज में चतुर्थांश अथवा षष्ठांश आकर-कर के रूप में राजकोष के लिए प्राप्त करना चाहिए[5]।

क्रय एवं विक्रयकर्ताओं को जो धन राजा के लिए कर के रूप में देना पड़ता है, शुक्र ने उसे शुल्क नाम से सम्बोधित किया है[6]। शुल्क-ग्रहण करने के स्थान हट्टों के मार्ग कर-सीमा (चुंगी घर) आदि बतलाये गये हैं[7]। क्रय-विक्रय की वस्तुओं तथा सामग्री पर शुल्क-कर लगाने का एक नियम यह बतलाया गया है कि वस्तु अथवा सामग्री पर एक बार ही कर लगाया जाना चाहिए, अनेक बार नहीं[8]। छल-कपट का आश्रय लेकर किसी वस्तु या सामग्री पर बार-बार शुल्क-कर लगाने का निषेध किया गया है। शुक्र ने कतिपय वस्तुओं एवं सामग्री पर शुल्क की दर भी निर्धारित कर दी है। परन्तु ऐसा करने में उन्होंने इस बात का विशेष ध्यान रखा है कि लागत एवं व्यय निकाल कर शुद्ध लाभ पर ही शुल्क-कर लगाना उचित होगा।

मार्गक नाम का कर भी राजकोष की वृद्धि का साधन बतलाया गया है। शुक्र ने मार्गक-कर के स्वरूप की व्याख्या नहीं की है। परन्तु प्रसंग से ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में आवागमन के मार्गों की जो व्यवस्था की जाती थी उस पर मार्गक

१ श्लोक १११ अ० ४ शुक्रनीति।
२ श्लोक ११२ अ० ४ शुक्रनीति।
३ श्लोक १२६,२१ अ० ४ शुक्र०।
४ श्लोक १२० अ० ४ शुक्रनीति।
५ श्लोक ११८ अ० ४ शुक्रनीति।
६ श्लोक ११० अ० ४ शुक्रनीति।
७ श्लोक ११८ अ० ४ शुक्रनीति।
८ श्लोक ११८ अ० ४ शुक्रनीति।
९ श्लोक ११९ अ० ४ शुक्रनीति।

मार्ग का कर राज्य की ओर से लगाया जाता था। इस कर के लगाने का उद्देश्य आवागमन के साधनों की व्यवस्था पर राज्य का नियन्त्रण रखना था।

इस प्रसंग में दण्ड से शुक्र का तात्पर्य आर्थिक दण्ड से है। राज्य के नियमों को भंग करनेवाले व्यक्तियों के लिए अनेक प्रकार के दण्ड नियत किये गये हैं। इन दण्डों में एक अर्थदण्ड भी है। अर्थदण्ड छोटे-बड़े अनेक प्रकार के नियत किये गये हैं। इन आर्थिक दण्डों से जो धन एकत्र होता था वह राजकोष में शामिल कर लिया जाता था। इसलिए शुक्र द्वारा दण्ड को भी कोष-संग्रह का एक साधन बतलाया गया है।

उपायन द्वारा प्राप्त धन भी राजकोष की वृद्धि का साधन माना गया है। राजा की वर्षगाँठ पुत्रोत्पत्ति यज्ञ उत्सव समारोह आदि के अवसरों पर प्रजा अथवा करद राजा भेंट के रूप में जो धन राजा को समर्पित करते थे वह उपायन के नाम से सम्बोधित किया गया है।

शुक्र ने अधार्मिक राजा के राज्य एवं धन के अपहरण का आदेश दिया है। इस विषय में शुक्र ने व्यवस्था दी है— 'यदि कोई राजा अधर्मयुक्त है तो ऐसे राजा पर धार्मिक राजा को आक्रमण करना चाहिए और अधर्म से संचित उसके कोष को छीन लेना चाहिए'[1]। छल-बल प्रयोग कर किसी भी भाँति शत्रु के राष्ट्र का हरण कर लेना चाहिए। इस प्रकार धार्मिक राजा को चाहिए कि दुष्ट प्रकृति के राजा को पराजित कर उसका धन राजकोष की वृद्धि हेतु प्राप्त कर ले। ऐसा शुक्र का मत है।

इन साधनों के अतिरिक्त कुछ व्यक्तियों के धन-अपहरण से भी राजकोष की वृद्धि का आदेश शुक्र द्वारा दिया गया है। जो व्यक्ति सन्मार्ग से धनोपार्जन कर सन्मार्ग में ही उसे व्यय करता है शुक्र उसे पात्र के नाम से सम्बोधित करते हैं। इसके विपरीत जो व्यक्ति अधर्म से धनोपार्जन कर उस धन को आनन्द-प्रमोद मात्र में व्यय करता है वह अपात्र कहलाता है। शुक्र ने यह व्यवस्था दी है कि अपात्र का धन राजा को छीन लेना चाहिए। यदि अपात्र का सारा धन भी राजा छीन लेता है तो भी राजा पाप का भागी नहीं होता[2]। इस प्रकार अपात्र से अपहरण किया गया धन भी राजकोष की वृद्धि का साधन माना गया है।

राजा को अपने राज्य में निर्धारित मात्रा से अधिक करवृद्धि करने का निषेध

१ श्लोक १२२ अ ४ शुक्रनीति।
२ श्लोक १११ अ ४ शुक्रनीति।

में वृद्धि होती है तथा व्यापारीगण समृद्ध एवं सम्पन्न होते हैं और इस प्रकार राज-कोष की वृद्धि होती है।

इस विषय में दूसरा सिद्धान्त यह बतलाया गया है कि राजा को उतनी मात्रा में कर लगाना चाहिए, जिसका भुगतान करने में प्रजा को लेशमात्र भी क्लेश न होने पावे। इस सिद्धान्त की पुष्टि में शुक्र ने माली का उदाहरण दिया है—"राजा को माली की भाँति अपने भाग (कर) को ग्रहण करना चाहिए, कोयला बनानेवाले की भाँति व्यवहार नहीं करना चाहिए। अर्थात् वृक्ष के खिले फूलों तथा पके फलों को जो कि भूमि पर गिर कर नष्ट हो जानेवाले हैं एकत्र कर माली उनका उप-भोग करता है परन्तु कोयला बनानेवाले वृक्ष को मूल से नष्ट कर देते हैं[1]। माली वृक्षों को यत्नपूर्वक परिपुष्ट करके जिस प्रकार उनके फूलों और फलों को समय-समय कर चुनता है इसी प्रकार करग्राहक (भाग-हार) को होना चाहिए[2]।

इस सम्बन्ध में तीसरा सिद्धान्त शुक्र ने यह बतलाया है कि राजा प्रजा के रक्षण के अधिकार से कर-ग्रहण करने का अधिकारी होता है[3]। राजा भूख के कारण चाहे काष्ठवत् सूख जाय परन्तु उसको किसी कार्य का बहाना बनाकर प्रजा से धन-याचना कभी नहीं करनी चाहिए। शुक्र ऐसे राजा की निन्दा करते हैं जो नीति का परि-त्याग कर प्रजा-पीडन कर धन-संग्रह करता है। इस प्रकार के राजा का राज्य एक-न-एक दिन शत्रु के वश अवश्य हो जाता है[4]। राजा प्रजा-रक्षण के कारण ही करों का भोक्ता माना गया है[5]।

इस प्रकार शुक्र ने कोष-वृद्धि के हेतु कतिपय सिद्धान्त निर्धारित कर राजा के मनमाने कर लगाने की प्रवृत्ति की रोक-थाम की है।

न्याय-व्यवस्था की आवश्यकता—

शुक्र ने राजा के आठ कर्तव्य निर्धारित किये हैं। इन आठ कर्तव्यों में दुष्ट निग्रह भी एक प्रमुख कर्तव्य है। राज्य में कौन दुष्ट और कौन साधु है दुष्ट में किस मात्रा में दुष्टता और साधु में किस मात्रा में साधुता है जिसके आधार पर दुष्ट को दण्ड और साधु को सत्कार मिलना चाहिए, इसके लिए न्याय-व्यवस्था की स्थापना की परम आवश्यकता प्रतीत हुई। इसी कार्य के सम्पादन हेतु शुक्र ने न्यायालयों की स्थापना करने की व्यवस्था दी है। न्यायकार्य की परिभाषा करते

१ श्लोक १२१ अ ४ शुक्रनीति। २ श्लोक १७१ १७२अ २ शुक्रनीति।
३ श्लोक ७२ अ १ शुक्रनीति। ४ श्लोक २११अ २ शुक्रनीति।
५ श्लोक १११ अ ४ शुक्रनीति। ६ श्लोक ७४ अ १ शुक्रनीति।

हुए उन्होंने कहा है—"जिस कार्य के करने से सत् और असत् का विचार कर राजा अपनी प्रजा को धर्म में संलग्न रखता है, उस कार्य को व्यवहार की संज्ञा दी है।[1] इस प्रकार शुक्र के मतानुसार न्याय-विभाग का एकमात्र कर्तव्य अभियोगों को सुनना उन पर चिन्तन करना एवं निर्णय देना है।

न्यायालयों का संगठन—शुक्र ने जिन न्यायालयों का उल्लेख किया है उन्हें दो मुख्य शाखाओं में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम शाखा के अन्तर्गत वे न्याया-लय आते हैं, जिनका निर्माण स्थानीय संस्थाओं के रूप में हुआ माना गया है। दूसरी शाखा के अन्तर्गत उन न्यायालयों को स्थान दिया जायगा, जिन पर राज्य की सरकार का प्रत्यक्ष नियंत्रण रहता है और इन न्यायालयों में काम करनेवाले न्याया-धीश सदस्य तथा अन्य कर्मचारी राजा की ओर से नियुक्त होते हैं।

स्थानीय न्यायालय—न्यायालय-क्षेत्र में स्थानीय न्यायालयों का बहुत बड़ा महत्त्व होता है। पारस्परिक सहयोग एवं सद्भावना से विवादग्रस्त विषय में जो निर्णय दिया जाता है, वह स्थायी एवं सन्तोषप्रद होता है। इस प्रकार दिये गये निर्णय से वादी और प्रतिवादी दोनों सन्तुष्ट हो जाते हैं और उनके मध्य भविष्य में शान्ति रहने की अधिक सम्भावना होती है, क्योंकि पारस्परिक प्रतिशोध अथवा द्वेष की ज्वाला प्रज्वलित होने नहीं पाती।

इस प्रणाली की दूसरी उपयोगिता वास्तविकता तक पहुँचने की है। स्थानीय लोग विवाद के मूल कारण से परिचित रहते हैं। इसलिए उनके द्वारा दिये गये निर्णय में वास्तविकता रहने की अपेक्षाकृत अधिक सम्भावना रहती है। स्थानीय जन स्थानीय धर्मों से विशेष परिचित होते हैं। विवादग्रस्त विषयों में निर्णय देने के लिए इन धर्मों के ज्ञान की परम आवश्यकता होती है। इस दृष्टि से स्थानीय लोगों को न्यायकार्य सौंपना उचित ही होगा।

न्यायक्षेत्र में इस प्रणाली के अपनाने से न्याय संस्थाओं की स्थापना के वास्त-विक उद्देश्य की प्राप्ति की अधिक आशा की जाती है। इस प्रणाली से निर्णय तत्काल होता है न्याय तक सर्वसाधारण की पहुँच होती रहती है, न्याय-प्राप्ति में अल्प व्यय होता है और वास्तविक न्याय होता है।

स्थानीय न्यायालयों द्वारा विवादों में निर्णय होना चाहिए, इस सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए शुक्र ने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—"कीनाश कारीगर, शिल्पी व्याज पर रुपए देने वाले व्यापारियों के दल नर्तक संन्यासी और चोर

१ श्लोक ५१० अ ४ शुक्रनीति।

वे सब अपने धर्म के अनुसार के अपने विवादों का निर्णय स्वयं कर लें[1]। इनके विवादों के निर्णय दूसरों द्वारा नहीं किये जाने चाहिए, वरन् उन्हीं के संघ अथवा उन्हीं की जाति के द्वारा होने चाहिएं[2]। तपस्वियों के विवादों के निर्णय तीनों वेदों के ज्ञाताओं द्वारा निबटाने चाहिएं[3]। मायावी और तान्त्रिक लोगों के विवादों के निर्णय राजा को स्वयं नहीं करने चाहिए। वनवासियों के विवाद वनवासियों द्वारा और भ्रमणशील व्यापारियों के विवाद उनके वर्ग द्वारा होने चाहिए[4]। सैनिक सैनिकों द्वारा और ग्रामवासी ग्रामवासियों द्वारा अपने विवादों का निर्णय करा लिया करें[5]।

शुक्र के मतानुसार स्थानीय न्यायालय मुख्यतः तीन प्रकार के हैं, जिन्हें उन्होंने कुल श्रेणी और गण नाम से सम्बोधित किया है। परन्तु जिस प्रसंग में इन न्याया-लयों का उल्लेख है, वहीं इनके अन्त में आदि शब्द का भी प्रयोग किया गया है[6]। इससे यह विदित होता है कि इन तीन प्रकार के न्यायालयों के अतिरिक्त इसी कोटि के कतिपय अन्य न्यायालयों की स्थापना की पुष्टि शुक्र ने की है।

सरकार के प्रत्यक्ष निरीक्षण में न्यायालय — शुक्र ने सरकार के प्रत्यक्ष नियमन में साहसाधिपति का न्यायालय सभ्य-न्यायालय अमात्य-न्यायालय और राजा के अधीन न्याय-सभा नाम के न्यायालयों को स्थान दिया है। अधिकार की दृष्टि से इन न्यायालयों में सबसे छोटा न्यायालय साहसाधिपति न्यायालय और सबसे उच्च राजा के अधीन न्याय-सभा है।

शुक्र ने यह आदेश दिया है कि राज्य के प्रत्येक ग्राम तथा पुर में शासन-प्रबन्ध के लिए छ कर्मचारी नियुक्त करने चाहिए। इनमें एक कर्मचारी साहसाधिपति भी बतलाया गया है[7]। ग्राम एवं पुर के साहस-सम्बन्धी (criminal) साधारण अभियोगों के सुनने एवं उनपर निर्णय देने का अधिकार इसी राजकर्मचारी को दिया गया है। इसके उपरान्त सभ्य-न्यायालय का स्थान निर्धारित किया गया है। शुक्र ने इस विषय में यह व्यवस्था दी है—"जो सभ्य व्यवहार की धुरी के धारण करने में बलवान् बैल की भांति समर्थ हों, वे लोक और वेद की नीति और धर्म के जानने वाले तीन पाँच अथवा सात की संख्या में न्याय-कार्य हेतु नियुक्त किये

१ श्लोक ५४१ अ ४ शुक्रनीति। २ श्लोक ५४२ अ ४ शुक्रनीति।
३ श्लोक ५४३ अ ४ शुक्रनीति। ४ श्लोक ५४४ अ ४ शुक्रनीति।
५ श्लोक ५४५ अ ४ शुक्रनीति। ६ श्लोक ५४६ अ ४ शुक्रनीति।
७ श्लोक ५५२ अ ४ शुक्रनीति। ८ श्लोक १२ अ १ शुक्रनीति।

इन विषयों का विशेष वर्णन किया गया है। इन तीन प्रमाणों के अभाव में तीन अन्य साधनों के अपनाने का भी उल्लेख शुक्र ने किया है। ये तीन साधन युक्ति अन्वेषण युक्तिप्रयोग और शपथ बतलाये गये हैं। इन तीन साधनों को शुक्र ने तीन विधि के नाम से सम्बोधित किया है और उन्होंने यह भी बतलाया है कि इन का प्रयोग क्रम से होना चाहिए अर्थात् प्रथम युक्ति अन्वेषण फिर युक्ति प्रयोग और अन्त में शपथ का आश्रय लेना चाहिए[1]।

न्यायालयों में कार्य-प्रणाली का जो वर्णन किया गया है वह आधुनिक ढंग जैसा है। यह प्रणाली लगभग वही है जो कि आधुनिक न्यायालयों में अपनायी गयी है।

राष्ट्र एवं उसमें विविध बस्तियाँ शुक्र ने राष्ट्र एवं उसकी विविध बस्तियों का वर्णन किया है। शुक्र ने राष्ट्र की परिभाषा इस प्रकार की है—"राजा के अधीन जो (भू-भाग) होता है, वह राष्ट्र कहलाता है[2]। स्थावर और जंगम ये दोनों राष्ट्र में ही माने गये हैं[3]। दूसरे शब्दों में यों समझना चाहिए कि जितनी चर और अचर सृष्टि किसी राजा के अधीन होती है वह समस्त राष्ट्र के ही अन्तर्गत आती है। राष्ट्र में छोटी-बड़ी अनेक बस्तियाँ होती हैं। इन बस्तियों को शुक्र ने कुम्भ पल्लि ग्राम और नगर की संज्ञा दी है।

कुम्भ—कुम्भ बस्ती ग्राम की चौथाई अथवा पल्लि की आधी होनी चाहिए।

पल्लि—पल्लि ग्राम और कुम्भ के बीच की बस्ती मानी गयी है। अर्थात् पल्लि ग्राम की आधी और कुम्भ की दुगुनी होनी चाहिए[4]।

ग्राम—पल्लि से बड़ी और नगर से छोटी बस्ती को ग्राम की संज्ञा दी गयी है। ग्राम बस्ती के चारों ओर एक कोस की दूरी तक समस्त भूमि पर ग्राम का अधिकार होना चाहिए। ग्राम को एक हजार चाँदी के कर्ष राजा के निमित्त कर के रूप में (प्रतिवर्ष) देने चाहिए, ऐसा शुक्र का मत है[6]। ग्रामों के बसाने में स्वास्थ्य रक्षा कृषि और व्यापार आदि की सुविधा का विशेष ध्यान रखने की व्यवस्था दी गयी है। ग्राम और नगरों में घर किस प्रकार के होने चाहिए, इस विषय में शुक्र ने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—"तीन पाँच अथवा सात कोठों (कमरों) से युक्त जो स्थान हो उसे गृह कहते हैं[7]। गृह में बरामदे और कोठरियाँ होनी

१ श्लोक ७४२,७४३ अ ४ शुक्र । २ श्लोक २७३ अ ४ शुक्रनीति।
३ श्लोक २८२ अ ४ शुक्रनीति। ४ श्लोक १९२ अ १ शुक्रनीति।
५ श्लोक १९२ अ १ शुक्रनीति। ६ श्लोक १९२ अ १ शुक्रनीति।
७ श्लोक २२९ अ १ शुक्रनीति।

चाहिए। बरामदे खम्भों पर और कोठरियाँ दीवारों के सहारे पर बनायी जानी चाहिए[1]। प्रत्येक कोठरी में वायु और प्रकाश के संचार हेतु वातायन होने चाहिए। जिन घरों में कोठरियाँ वातायन युक्त होती हैं, वे घर सुखवासी होते हैं[2]। एक घर का द्वार दूसरे घर के द्वार से मिला हुआ नहीं होना चाहिए। गृह अन्य गृहकीय स्तम्भ मार्ग पीठ, कुआँ इन सब से मिला हुआ भी गृहद्वार नहीं होना चाहिए[3]। इन घरों के द्वार गलियों के दोनों किनारों पर पंक्तिबद्ध होने चाहिए[4]। ये गलियाँ कम-से-कम दस हाथ चौड़ी होनी चाहिए[5]। ग्रामवासियों को गलियों की भूमि उत्तम पुल के रूप की कछुए की पीठ के समान कठोर और ढालू बना देनी चाहिए[6]। पानी के निकास के निमित्त ग्रामवासियों को इन गलियों के किनारे-किनारे नालियों का निर्माण करना चाहिए[7]। इन घरों के पीछे सेवकों के घर और घर के पीछे की गली में मल-मूत्र उत्सर्ग के स्थान होने चाहिए[8]। मार्गों की रक्षा हेतु ग्रामिकों को रात्रि में पहरा देना चाहिए, जिससे चोर और अत्याचारियों की दाल न गलने पाये[9]। इन ग्रामिकों के वेतन-भुगतान का भार गली में स्थित घरों के गृहपतियों पर होना चाहिए[10]। ग्रामों में अनेक प्रकार के वृक्षों के लगाने को महत्त्व दिया गया है। ग्राम में वृक्षारोपण किस प्रकार किया जाना चाहिए, इस विषय में शुक्र ने अनेक महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये हैं।

ग्राम के अधिकारी—राज्य की ओर से ग्राम के सुप्रबन्ध हेतु शुक्र ने छ अधिकारियों की नियुक्ति की व्यवस्था की है। उन्होंने ये छ अधिकारी साहसाधिपति ग्रामनेता भागहार, लेखक शुल्कग्राहक और प्रतिहार नाम से सम्बोधित किये हैं[11]। साहसाधिपति दण्डविधायक बतलाया गया है। ग्रामवासियों की पारस्परिक कलह का निवारण करना और दुष्टों को दण्ड देने की व्यवस्था करना साहसाधिपति का कर्तव्य बतलाया गया है। सम्भवतः इसीलिए शुक्र ने साहसाधिपति को दण्डविधायक की उपाधि दी है। साहसाधिपति की योग्यता के विषय में शुक्र ने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—"जिस प्रकार प्रजा नष्ट न होने

१ श्लोक २२९ अ १ शुक्रनीति। २ श्लोक २११ अ १ शुक्रनीति।
३ श्लोक २१२ अ १ शुक्रनीति। ४ श्लोक २६७ अ १ शुक्रनीति।
५ श्लोक २६४ अ १ शुक्रनीति। ६ श्लोक २६५ अ १ शुक्रनीति।
७ श्लोक २६५ अ १ शुक्रनीति। ८ श्लोक २६६ अ १ शुक्रनीति।
९ श्लोक २६१ २६२ अ १ शुक्र। १० श्लोक २८९ अ १ शुक्रनीति।
११ श्लोक १८० १८१ अ १ शुक्र०। १२ श्लोक १२ अ २ शुक्रनीति।

पाये उस प्रकार कोमल दण्ड देनेवाला दण्डविधायक होना चाहिए। उसे न अधिक क्रूर और न अधिक कोमल हृदय का ही होना चाहिए[1]।

इन ग्राम-अधिकारियों में ग्राम-नेता भी एक अधिकारी बतलाया गया है। प्रथम से ऐसा ज्ञात होता है कि ग्राम-नेता को ही शुक्र ने ग्रामप नाम से सम्बोधित किया है। ग्रामप के कर्तव्यों की व्याख्या करते हुए शुक्र ने बतलाया है कि लुटेरे, चोर और राज्य के कर्मचारियों से माता-पिता की भाँति जो प्रजा की रक्षा करने में समर्थ हो ऐसे व्यक्ति को ग्रामप होना चाहिए[2]। ग्राम से जो राजस्व राजा को प्राप्त होता है, उसका छठा भाग ग्रामप को उसकी सेवाओं के लिए दिया जाना चाहिए[3]।

तीसरा अधिकारी भागहार है। ग्रामवासियों से भूमिकर संचय करना और संचित धन-धान्य को राजकोष में पहुँचाना इस अधिकारी का कर्तव्य बतलाया गया है। उसके आचरण के विषय में यहाँ वृक्षों का पोषण कर फूल चुननेवाले माली की पुरानी उपमा दी गयी है।

शुल्कग्राहक नाम का अधिकारी शुल्क-संचयकर्ता बतलाया गया है। उसका कर्तव्य व्यापारियों से शुल्क ग्रहण करना है। जिस प्रकार व्यापारियों के मूलधन का नाश न होने पाये उसी प्रकार शुल्क-संचय करने में समर्थ चौकिक अथवा शुल्क-ग्राहक नियुक्त करना चाहिए[4]।

शासन-सम्बन्धी निर्णीत विषयों को लेखबद्ध करना ग्राम-सम्बन्धी समस्त आय-व्यय का अंकन करना लेखक का कर्तव्य बतलाया गया है। लेखक को गणना में चतुर, देश-भाषाओं का जाननेवाला और स्वच्छ एवं स्पष्ट लिखने में समर्थ होना चाहिए।[5]

प्रतिहार के विषय में शुक्र लिखते हैं—"जो व्यक्ति शस्त्र और अस्त्र के प्रयोगों में कुशल दृढ़ अंगवाला आलस्यरहित और नम्रभाव से लोगों को बुला लाने की योग्यता रखता हो, ऐसे व्यक्ति को प्रतिहार नियुक्त करना चाहिए[6]। प्रतिहार पद आधुनिक चपरासियों के समान माना गया है।

१ श्लोक १६९, १७० अ० २ शुक्रनीति।
२ श्लोक १७० १७१ अ० २ शुक्रनीति।
३ श्लोक २२७ अ० ४ शुक्रनीति। ४ श्लोक १७१ १७२ अ० २ शुक्रनीति।
५ श्लोक ७४ १७५ अ० २ शुक्रनीति।
६ श्लोक १७२, १७३ अ० २ शुक्रनीति। ७ श्लोक १७३ १७४ अ० २ शुक्रनीति।

चाहिए। बरामदे खम्भों पर और कोठरियाँ दीवारों के सहारे पर बनानी चाहिए[1]। प्रत्येक कोठरी में वायु और प्रकाश के प्रचार हेतु वातायन होने चाहिए। जिन घरों में कोठरियाँ वातायन युक्त होती हैं, वे घर सुखदायी होते हैं[2]। एक घर का द्वार दूसरे घर के द्वार से मिला हुआ नहीं होना चाहिए। वृक्ष अन्य गृहरोध स्तम्भ मार्ग पीठ, कुआँ इन सब से विद्ध हुआ भी गृह-द्वार नहीं होना चाहिए[3]। इन घरों के द्वार गलियों के दोनों किनारों पर पंक्तिबद्ध होने चाहिएँ[4]। ये गलियाँ कम-से-कम दस हाथ चौड़ी होनी चाहिए[5]। ग्राम-वासियों को गलियों की भूमि उत्तम पुरुष के हाथ की कछुए की पीठ के समान कठोर और ढालू बना देनी चाहिए । पानी के निकास के निमित्त ग्रामवासियों को इन गलियों के किनारे-किनारे नालियों का निर्माण करना चाहिए[7]। इन घरों के पीछे सेवकों के घर और घर के पीछे की गली में मल-मूत्र उत्सर्ग के स्थान होने चाहिए[8]। गृहों की रक्षा हेतु यामिकों को रात्रि में पहरा देना चाहिए, जिससे चोर और अन्यायकारियों का डर न सताने पाये । इन यामिकों के वेतन-भुगतान का भार गली में स्थित गृहों के गृहपतियों पर होना चाहिए[10]। ग्रामों में अनेक प्रकार के वृक्षों के लगाने को महत्त्व दिया गया है। ग्राम में वृक्षारोपण किस प्रकार किया जाना चाहिए, इस विषय में शुक्र ने अनेक महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये हैं ।

ग्राम के अधिकारी—राज्य की ओर से ग्राम के सुप्रबन्ध हेतु शुक्र ने छ अधिकारियों की नियुक्ति की व्यवस्था दी है। उन्होंने ये छ अधिकारी साहसाधिपति ग्रामनेता भागहार, लेखक, शुल्कग्राहक और प्रतिहार नाम से सम्बोधित किये हैं[12]। साहसाधिपति दण्डविधायक बतलाया गया है। ग्रामवासियों की पारस्परिक कलह का निवारण करना और दुष्टों को दण्ड देने की व्यवस्था करना साहसाधिपति का कर्तव्य बतलाया गया है। सम्भवतः इसीलिए शुक्र ने साहसाधिपति को दण्डविधायक की उपाधि दी है। साहसाधिपति की योग्यता के विषय में शुक्र ने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—"जिस प्रकार प्रजा दण्ड न होने

१ श्लोक २९८ अ० १ शुक्रनीति। २ श्लोक २११ अ० १ शुक्रनीति।
३ श्लोक २१२ अ० १ शुक्रनीति। ४ श्लोक २१० अ० १ शुक्रनीति।
५ श्लोक २१४ अ० १ शुक्रनीति। ६ श्लोक २१६ अ० १ शुक्रनीति।
७ श्लोक २१५ अ० १ शुक्रनीति। ८ श्लोक २१६ अ० १ शुक्रनीति।
९ श्लोक २११-२१२ अ० १ शुक्र०। १० श्लोक १८९ अ० १ शुक्रनीति।
११ श्लोक १८ १८१ अ० १ शुक्र०। १२ श्लोक ११ अ० २ शुक्रनीति।

माने उस प्रकार कोमल दण्ड देनेवाला दण्डविधायक होना चाहिए। उसे न अधिक क्रूर और न अधिक कोमल हृदय का ही होना चाहिए[1]।

इन छः ग्राम-अधिकारियों में ग्राम-नेता भी एक अधिकारी बतलाया गया है। प्रसंग से ऐसा ज्ञात होता है कि ग्राम-नेता को ही शुक्र ने ग्रामप नाम से सम्बोधित किया है। ग्रामप के कर्तव्यों की व्याख्या करते हुए शुक्र ने बतलाया है कि लुटेरे, चोर और राज्य के कर्मचारियों से माता-पिता की भाँति जो प्रजा की रक्षा करने में समर्थ हो ऐसे व्यक्ति को ग्रामप होना चाहिए[2]। ग्राम से जो राजाय राजा को प्राप्त होता है, उसका छठा भाग ग्रामप को उसकी सेवाओं के लिए दिया जाना चाहिए[3]।

तीसरा अधिकारी भागहार है। ग्रामवासियों से भूमिकर संचय करना और संचित धन-धान्य को राजकोष में पहुँचाना इस अधिकारी का कर्तव्य बतलाया गया है। उसके आचरण के विषय में वही वृक्षों का पालन कर फूल चुननेवाले माली की पुरानी उपमा दी गयी है।

शुल्कग्राहक नाम का अधिकारी शुल्क-सञ्चयकर्ता बतलाया गया है। उसका कर्तव्य व्यापारियों से शुल्क ग्रहण करना है। जिस प्रकार व्यापारियों के मूलधन का नाश न होने पावे उसी प्रकार शुल्क-संचय करने में समर्थ यौक्तिक अथवा शुल्क-ग्राहक नियुक्त करना चाहिए[5]।

शासन-सम्बन्धी निर्णीत विषयों को लेखबद्ध करना ग्राम-सम्बन्धी समस्त आय-व्यय का अंकन करना लेखक का कर्तव्य बतलाया गया है। लेखक को गणना में चतुर, देश-भाषाओं का जाननेवाला और स्वच्छ एवं स्पष्ट लिखने में समर्थ होना चाहिए।[6]

प्रतिहार के विषय में शुक्र लिखते हैं—"जो व्यक्ति शस्त्र और अस्त्र के प्रयोगों में कुशल, दृढ़ अंगवाला, आलस्यरहित और नम्रभाव से लोगों को बुला लाने की योग्यता रखता हो ऐसे व्यक्ति को प्रतिहार नियुक्त करना चाहिए"[7]। प्रतिहार पद आधुनिक चपरासियों के समान माना गया है।

१ श्लोक ११८, १७ अ २ शुक्रनीति।
२ श्लोक १७ १७१ अ २ शुक्रनीति।
३ श्लोक ११० अ ४ शुक्रनीति। ४ श्लोक १७१ १७२ अ २ शुक्रनीति।
५ श्लोक ७४ १७५ अ २ शुक्रनीति।
६ श्लोक १७८, १७९ अ २ शुक्रनीति। ७. श्लोक १७८, १७४ अ २ शुक्रनी ।

सैन्यबल—राज्य में शान्ति और सुव्यवस्था की स्थापना सेना के ही अधीन होती है। राज्य में आन्तरिक विद्रोहियों एवं विध्वंसकारियों का दमन करना और बाह्य आक्रमणकारियों से राज्य की रक्षा करना सेना का मुख्य कर्तव्य होता है। राजा के लिए सुसज्जित और सुसंगठित सेना की आवश्यकता बतलाते हुए शुक्र ने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—'जिस राजा के पास नीति और सैन्यबल होता है उसके पास लक्ष्मी चारों ओर से दौड़कर आती है'[1]। इसलिए राजा को अपने राज्य की रक्षा और उसमें सुव्यवस्था स्थिर रखने के लिए उत्तम प्रकार की सेना रखने का आयोजन निरन्तर करते रहना चाहिए।

सेना-प्रकरण—शस्त्रास्त्र से सुसज्जित मनुष्य-समूह को शुक्र ने सेना की संज्ञा दी है[2]। शुक्र ने सेना विविध प्रकार की बतलायी है। सर्वप्रथम उन्होंने स्वगमा और अन्यगमा इन दो विभागों में सेना का विभाजन किया है। स्वगमा तो उन्होंने पैदल सेना और अन्यगमा को हाथी घोड़ा रथ आदि वाहनों पर गमन करने वाली सेना माना है। इसके उपरान्त उन्होंने स्वगमा और अन्यगमा सेना के इन दोनों भागों में प्रत्येक को दैवी आसुरी और मानवी इस तरह तीन प्रकार की सेना में विभाजन किया है। इसमें मानवी से आसुरी और आसुरी से दैवी सेना बलवती बतलायी गयी है। इसके उपरान्त इन तीन प्रकार की सेनाओं में से प्रत्येक को दो भागों में विभाजित किया है जिन्हें वह अपनी सेना और मित्रसेना के नाम से सम्बोधित करते हैं। जो सेना अपनी वृत्ति से पाली गयी है, वह अपना बल (स्वीय) और जो कार्यसिद्धि हेतु सम्पन्नता से पाली जावे, उसे मित्रसेना-बल के नाम से सम्बोधित किया गया है[3]। फिर इन दोनों प्रकार की सेनाओं के पृथक्-पृथक् दो नाम मौल और साद्यस्क नाम से किये गये हैं। बहुत काल से वृत्ति लेकर चली आनेवाली सेना को मौल और आवश्यकता पड़ने पर भर्ती कर सेना का जो निर्माण किया जाता है उसे साद्यस्क सेना की संज्ञा दी गयी है[4]। इसके उपरान्त इनमें से प्रत्येक को सार और असार इन दो भागों में विभक्त किया गया है। युद्ध के लिए उत्साहित सेना सार और जो युद्ध से मुँह मोड़ती है उसे असार सेना की उपाधि दी गयी है। इसके पुनः दो-दो भेद माने गये हैं। उन्हें शिक्षित और

१ श्लोक १७ अ १ शुक्रनीति। २ श्लोक ८६४ अ ४ शुक्रनीति।
३ श्लोक ८६६ अ ४ शुक्रनीति। ४ श्लोक ८६५ अ ४ शुक्रनीति।
५ श्लोक ८७१, ८७२ अ ४ शुक्रनीति।
६ श्लोक ८७३ अ ४ शुक्रनीति। ७ श्लोक ८७४ अ ४ शुक्रनीति।

अधिष्ठित नाम से सम्बोधित किया गया है। व्यूह-रचना में कुशल सेना शिक्षित और इसके विपरीत सेना अशिक्षित मानी गयी है[1]। शिक्षित और अशिक्षित सेना में से प्रत्येक के दो भेद बतलाये गये हैं, जिन्हें गुल्मीभूत और अगुल्मीभूत की संज्ञा दी गयी है। अपने अधिकारी सहित जो सेना हो वह गुल्मीभूत और जिसके साथ उसका स्वामी न हो वह अगुल्मीभूत सेना मानी गयी है[2]।

सेना के इन प्रकारों के अतिरिक्त आरण्यक और शत्रुसेना को भी सेना-संगठन में स्थान दिया गया है। परन्तु इन दोनों प्रकार की सेनाओं को शुक्र दुर्बल सेना मानते हैं, क्योंकि इन सेनाओं के अधीन स्वतन्त्र कार्य छोड़ा नहीं जा सकता। ये स्वतन्त्रतापूर्वक काम करने के अयोग्य समझी गयी हैं[3]। शुक्र का मत है कि किरात आदि की स्वतन्त्र सेना आरण्यक सेना और शत्रुद्वारा परित्यक्त अथवा तोड़ फोड़ कर अपनी ओर मिलायी गयी शत्रु की सेना शत्रुबल कहलाती है।

सेना के अङ्ग—शुक्र चतुरंगिणी सेना में आस्था रखते हैं। इस सेना के ये चार अंग पैदल अश्वारोही गजारोही और रथी बतलाये गये हैं। भारवहन के निमित्त बैलों और खच्चरों का विशेष प्रयोग होना चाहिए, ऐसा शुक्र का मत है। भारवाली गाड़ियों को बैल खींचते हैं और खच्चर अपनी पीठ पर भारवहन करते हैं। इसके अतिरिक्त सेना में सेवा-शुश्रूषा आदि करनेवाले सेवक, समाचारवाहक आदि भी होने चाहिए। रणस्थल से समाचार शीघ्र ले जाने के लिए पक्षियों के उपयोग की भी व्यवस्था की गयी है। सेना में पैदल अधिक होने चाहिए[4]।

सेना में जिन पशुओं का युद्धस्थल अथवा भारवहन में उपयोग होता था उनके पालन-पोषण सेवा-शुश्रूषा चिकित्सा आदि का विशेष ध्यान रखना चाहिए। राज्य की ओर से इन पशुओं को अलग-अलग विभागों के अन्तर्गत रखना चाहिए। इन पशुओं के शिक्षक होने चाहिए। इनके अतिरिक्त अन्य सेवक भी होने चाहिए। शुक्र ने इन पशुओं की विविध जातियों उत्तम मध्यम तथा अधम पशुओं के विशेष लक्षण उनके खाद्य-पदार्थों, औषधि शारीरिक अभ्यास आदि का विशेष वर्णन किया है।

युद्ध—शुक्र ने युद्ध की परिभाषा इस प्रकार की है—"जब दो राजाओं में शत्रुभाव उत्पन्न हो जाता है और वे दोनों राजा अपनी विजय के लिए उद्यत होने का दृढ़

१ श्लोक ८७५ अ० ४ शुक्रनीति।   २ श्लोक ८७५ अ० ४ शुक्रनीति।
३ श्लोक ८७७ अ० ४ शुक्रनीति।   ४ श्लोक ८७८ अ० ४ शुक्रनीति।
५ श्लोक १४२ अ० २ शुक्रनीति।

शस्त्र कर लेते और परस्पर संघर्ष में संलग्न हो जाते हैं तो ऐसी अवस्था को युद्ध कहते हैं[१]।

युद्ध के प्रकार—शुक्र ने युद्ध-संचालन की प्रणाली के आधार पर युद्ध के मुख्य पांच प्रकार बतलाये हैं जिन्हें वह दैविक युद्ध आसुर युद्ध, मानव युद्ध, शस्त्र-युद्ध और बाहु-युद्ध के नाम से सम्बोधित करते हैं।

दैविक युद्ध—मंत्र से प्रेरित करके महाशक्तिशाली बाण आदि के द्वारा जो युद्ध किया जाता और जिसके द्वारा शत्रु का विनाश किया जाता है वह दैविक अथवा मांत्रिक युद्ध कहलाता है। युद्ध के इस प्रकार को शुक्र सर्वोपरि मानते हैं[२]।

आसुर युद्ध—यान्त्रिक अस्त्रों से होनेवाले युद्ध को शुक्र ने आसुर युद्ध कहा है। युद्ध के इस प्रकार में नालिक अस्त्र में अग्निचूर्ण भर कर लक्ष्य पर गोली या गोले फेंकने का विधान किया गया है। इस प्रकार के युद्ध को नालिकास्त्र-युद्ध भी कहते हैं[३]। इस युद्ध को मध्यम श्रेणी का युद्ध बतलाया गया है ।

मानव युद्ध—मानव युद्ध दो प्रकार का बतलाया गया जिन्हें शुक्र ने शस्त्र-युद्ध और बाहु-युद्ध की संज्ञा दी है।

शस्त्र-युद्ध—सैनिकों की भुजाओं के बल से शस्त्र चला कर जो युद्ध किया जाय उसे शुक्र ने शस्त्र-युद्ध के नाम से सम्बोधित किया है। इस प्रकार के युद्ध में कुन्त आदि शस्त्रों के द्वारा शत्रु-विनाश किया जाता है। यह युद्ध नालास्त्र के अभाव में किया जाता है[४]। इस प्रकार के युद्ध को कनिष्ठ श्रेणी का युद्ध माना गया है[५]।

बाहु-युद्ध—उलट-पलट कर शत्रु को खींच-खींच कर, उसकी संधियों को आघात पहुँचा कर, जब शत्रु को मुष्टि से मारा अथवा बांधा जाता है तो उस युद्ध को बाहु युद्ध कहते हैं[७]। इस युद्ध में बाहुओं के द्वारा युद्ध किया जाता है, शस्त्रों द्वारा नहीं। इस प्रकार के युद्ध को शुक्र ने अधम कोटि में परिगणित किया है[८]।

१ श्लोक अ शुक्रनीति।
२ श्लोक ११५६,११६ अ ४ शुक्रनीति।
३ श्लोक ११६ ११६१ अ ४ शुक्रनीति।
४ श्लोक ११६१ ११५८ अ ४ शुक्रनीति।
५ श्लोक ११६२ अ ४ शुक्रनीति। ६. श्लोक ११५९ अ ४ शुक्रनीति।
७ श्लोक ११६२, ११६१ अ ४ शुक्रनीति।
८ श्लोक ११५९ अ ४ शुक्रनीति।

इन पाँच प्रकार के युद्धों के अतिरिक्त युद्धकालीन नियमों के अनुसार युद्ध के दो प्रकार बतलाये गये हैं जिन्हें धर्मयुद्ध और कूटयुद्ध के नाम से सम्बोधित किया गया है।

धर्मयुद्ध—धर्मशास्त्र प्रणेताओं द्वारा निर्धारित नियमों के अनुसार जो युद्ध किया जाता है उसे शुक्र धर्मयुद्ध मानते हैं[1]।

कूटयुद्ध—जिन युद्धों में युद्ध के निर्धारित नियमों का उल्लंघन किया जाता है उन्हें कूटयुद्ध की संज्ञा दी गयी है[2]। बलवान् शत्रु के विनाश हेतु शुक्र ने कूट युद्ध को उत्तम माना है[3]।

धर्मयुद्ध के नियम—धर्मयुद्ध के नियमों का जो उल्लेख शुक्र ने किया है वह लगभग वही है जो कि मनु और भीष्म ने किया है[4]।

षाड्गुण्य मंत्र—शुक्र ने आदेश किया है कि राजा को मन्त्रविद् होना चाहिए। मंत्र ही राज्य का मूल माना गया है। प्राचीन भारत के राजशास्त्र के लगभग सभी प्रमुख आचार्यों ने मंत्र को षाड्गुणी माना है। षाड्गुणी मंत्र के षड् गुण शुक्र के मतानुसार सन्धि विग्रह यान आसन आश्रय और द्वैधीभाव हैं। मनु और कौटिल्य दोनों ने आश्रय के स्थान पर संश्रयगुण माना है।

उपाय—प्राचीन भारत में राजशास्त्र के आचार्यों ने राजाओं की सफलता हेतु चार उपायों का विधान किया है जिन्हें उन्होंने साम दाम भेद और दण्ड नाम से सम्बोधित किया है। शुक्र ने भी यही चार उपाय माने हैं और उपायों की इस प्रकार व्यवस्था दी है—"लोहा अति कठोर होता है परन्तु वह भी उपाय से पिघल जाता है[5]। लोक में प्रसिद्ध है कि पानी अग्नि को बुझा देता है परन्तु यदि उपाय से श्रम किया जाय तो अग्नि समस्त जल को सुखा देता है[6]। मदोन्मत्त हाथियों के सर पर भी उपाय द्वारा पैर रखा जाता है[7]।"

इस प्रकार शुक्र ने राज्य-शासन की अनुपम एवं विस्तृत व्याख्या की है। शुक्र-नीति के उपरान्त राज्य-शासन का इतना स्पष्ट वर्णन अन्य किसी ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं है।

१ श्लोक ११७ अ ४ शुक्रनीति। २ श्लोक ११७ अ ४ शुक्रनीति।
३ श्लोक ११७१ अ ४ शुक्रनीति।
४ श्लोक ११७५ से ११७६ अ ४ शुक्रनीति।
५. श्लोक ११९६ अ ४ शुक्रनीति। ६ श्लोक ११९७ अ ४ शुक्रनीति।
७ श्लोक ११९८ अ ४ शुक्रनीति।

७

सोमदेव सूरि

सोमदेव का संक्षिप्त परिचय—नीतिवाक्यामृत की रचना किसने की इस विषय में नीति-ग्रन्थ में स्पष्ट कुछ भी उल्लेख नहीं है। परन्तु नीतिवाक्यामृत के अन्त में जो प्रशस्ति दी हुई है उससे ज्ञात होता है कि इसके रचयिता इस नीति-ग्रन्थ की रचना करने के पूर्व यशस्तिलकचम्पू काव्य की रचना कर चुके थे। इस आधार पर यह स्पष्ट है कि यशस्तिलकचम्पू काव्य और नीतिवाक्यामृत की रचना एक ही व्यक्ति ने की है। नीतिवाक्यामृत में दी हुई प्रशस्ति में यशस्तिलकचम्पू के रचयिता सोमदेव सूरि बतलाये गये हैं। अतः यह निर्विवाद है कि नीतिवाक्यामृत की रचना भी उन्हीं के द्वारा सम्पन्न हुई थी। जनश्रुति के आधार पर भी नीतिवाक्यामृत के रचयिता सोमदेव सूरि ही माने जाते हैं।

सोमदेव सूरि जैनधर्मावलम्बी थे। यशस्तिलकचम्पू काव्य की प्रशस्ति इन्हें देवसंघ का आचार्य प्रमाणित करती है। इसी प्रशस्ति में इनके गुरु का नाम नेमिदेव बतलाया गया है जो यशोदेव के शिष्य थे। कतिपय विद्वानों का मत है कि सोमदेव सूरि ने कान्यकुब्ज नरेश महाराज महेन्द्रदेव की प्रेरणा से नीतिवाक्यामृत की रचना की थी। महाराज महेन्द्रदेव ने कौटिल्य के अर्थशास्त्र की दुरूहता दुर्बोधता एवं विशालता का अनुभव कर उसको सरल सुबोध एवं संक्षिप्त आकार में परिणत करने की आवश्यकता अनुभव की थी। उन्होंने यह कार्य सोमदेव सूरि को सौंपा। नीतिवाक्यामृत महाराज महेन्द्रपाल की इसी प्रेरणा का फल है। परन्तु यह मत सर्वमान्य नहीं है। इस मत के सर्वमान्य होने में कई आपत्तियाँ उठती

१ +++कविकुलराजप्रभृति-प्रशस्तिप्रशस्तालङ्कारेण षण्णवतिप्रकरण-युक्तिचिन्तामणिसूत्रमहेन्द्रमातलिसञ्जल्पयशोधरमहाराजचरितमहाशास्त्रवेध-सा श्रीसोमदेवसूरिणा विरचितम्।

॥ ग्रन्थकर्तुः प्रशस्ति, नीतिवाक्यामृतम् ॥

२ नीतिवाक्यामृतान्तर्गत ग्रन्थकर्त्ता की प्रशस्ति देखिए।

गयी है। इस विषय में सर्वप्रथम आपत्ति दोनों के समय में अन्तर होने की है। महेन्द्रपालदेव का समय विक्रम संवत् ९९ से ९६४ तक निश्चित हुआ है। परन्तु यशस्तिलकचम्पू काव्य का रचना-काल इससे पचास वर्ष पीछे माना गया है। नीतिवाक्यामृत की रचना यशस्तिलक की रचना हो जाने के उपरान्त हुई थी। इस लिए नीतिवाक्यामृत का सम्बन्ध कान्यकुब्ज नरेश महाराज महेन्द्रपाल से जोड़ना उचित नहीं है। इसके अतिरिक्त सभी विद्वान् यह बात मानने को तैयार नहीं हैं कि नीतिवाक्यामृत कौटिल्य के अर्थशास्त्र का संक्षिप्त रूप है। उनके मतानुसार नीतिवाक्यामृत स्वतन्त्र ग्रन्थ है। उसकी अपनी विशेषता एवं उपयोगिता है। इस विषय में एक और आपत्ति प्रस्तुत की जाती है—नीतिवाक्यामृत की प्रशस्ति में महेन्द्रपालदेव की ओर संकेत का न होना। प्राचीन भारतीय साहित्यिक परम्परा के अनुसार इस प्रकार की रचनाओं में रचयिता अपने आश्रयदाता की ओर अपनी कृतज्ञता किसी-न-किसी रूप में अवश्य प्रकट करता रहा है। परन्तु इस कृति में आश्रयदाता (महेन्द्रपालदेव) के विषय में एक शब्द का भी न लिखा जाना आश्चर्यजनक है और पाठक को भ्रमित कर देता है।

उपर्युक्त तथ्यपूर्ण सामग्री के होते हुए यह कदापि नहीं माना जा सकता कि नीतिवाक्यामृत कौटिल्य के अर्थशास्त्र का सरल सुबोध एवं संक्षिप्त आकार मात्र है और यह महाराज महेन्द्रपालदेव की प्रेरणा का फल है।

सोमदेव की काव्य-सेवा के विषय में बतलाया गया है कि उन्होंने यशस्तिलक-चम्पू काव्य और नीतिवाक्यामृत के अतिरिक्त तीन अन्य ग्रन्थों की भी रचना की थी। नीतिवाक्यामृत में दी हुई प्रशस्ति के आधार पर उनकी ये तीन रचनाएँ युक्ति-चिन्तामणि, त्रिवर्गमहेन्द्र मातलिजल्प और षण्णवतिप्रकरण के रूप में थी। परन्तु उनकी ये तीनों कृतियाँ अभी तक प्राप्त नहीं हुई हैं। सम्भव है, कहीं छिपी पड़ी हों अथवा दीमक या चूहों ने उन्हें नष्ट कर दिया हो।

इस प्रकार सोमदेव सूरि की प्रतिभा बहुमुखी प्रमाणित होती है। प्राचीन भारतीय राजशास्त्र के साहित्य में नीतिवाक्यामृत का स्थान ऊँचा है। शुक्रनीति की रचना के उपरान्त प्राचीन भारतीय राजशास्त्र विषय पर नीतिवाक्यामृत के अतिरिक्त इतने महत्त्वपूर्ण किसी अन्य मौलिक ग्रन्थ की रचना सम्भवतः अभी तक नहीं हुई है। इस दृष्टि से प्राचीन भारतीय राजशास्त्र के प्रणेताओं में सोमदेव सूरि अन्तिम प्रणेता हैं। ग्यारहवीं शताब्दी के प्रथम चरण एवं इसके आस-पास की भारतीय राजनीतिक विचारधारा के ज्ञान हेतु नीतिवाक्यामृत का अध्ययन अनिवार्य है।

नीतिवाक्यामृत का रचनाकाल—नीतिवाक्यामृत की रचना कब हुई, इस विषय में स्वयं उसमें तो स्पष्ट उल्लेख नहीं है। परन्तु उसमें कुछ ऐसे संकेत अवश्य पाये जाते हैं जो इसके रचनाकाल के निर्धारण में सहायक हैं। नीतिवाक्यामृत में विष्णुगुप्त अथवा चाणक्य एवं कामन्दक का उल्लेख जिस रूप में हुआ है वह प्रकट करता है कि इस कृति की रचना के बहुत पूर्व उनका जन्म हो चुका था। नीतिवाक्यामृत में स्पष्ट शब्दों में लिखा गया है—"ऐसा सुना जाता है कि प्राचीन काल में राज्याधिकारी न होने पर भी चन्द्रगुप्त को विष्णुगुप्त के अनुग्रह से साम्राज्यपद प्राप्त हुआ था[1]। इसी ग्रन्थ के एक प्रसंग में अन्य स्थल पर बतलाया गया है—"यह सुना जाता है कि प्राचीन काल में चाणक्य ने तीक्ष्णदूत-प्रयोग द्वारा नन्दवंश के राजा का वध करा दिया था[2]। इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि विष्णुगुप्त अथवा चाणक्य के बहुत पश्चात् किसी समय नीतिवाक्यामृत की रचना हुई थी।

नीतिवाक्यामृत के एक प्रसंग में स्पष्ट उल्लिखित है—"सुना जाता है कि पुराने समय की बात है कि दूर होने पर भी माधव के पिता ने कामन्दकीय प्रयोग द्वारा माधव के लिए मालती को प्राप्त किया था[3]।" नीतिवाक्यामृत में आये हुए इस वाक्य से स्पष्ट है कि कामन्दक के बहुत पश्चात् और मालती-माधव के नाटककार भवभूति के उदयकाल के भी पश्चात् किसी समय नीतिवाक्यामृत की रचना हुई है। भवभूति का उदयकाल ईसा की आठवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध बतलाया जाता है। इसलिए यह निर्विवाद है कि नीतिवाक्यामृत की रचना ईसा की आठवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के पश्चात् किसी समय हुई होगी।

नीतिवाक्यामृत के अन्त में जो प्रशस्ति दी गयी है उससे ज्ञात होता है कि इस कृति के रचयिता इसकी रचना करने के पूर्व चार अन्य ग्रन्थों की भी रचना कर चुके थे। इनमें यशोधर महाराजचरित्र अथवा यशस्तिलकचम्पू काव्य भी है।

१ तथा चानुश्रूयते विष्णुगुप्तानुग्रहादनधिकृतोऽपि किल चन्द्रगुप्तः साम्राज्य-पदमवापेति। ।वार्ता ४ समु १ नीतिवाक्यामृतम्।
२ श्रूयते हि किल चाणक्यस्तीक्ष्णदूतप्रयोगेणैकं नन्दं जघानेति।
।वार्ता १४ समु ११ नीतिवाक्यामृतम्।
३ श्रूयते हि दूरस्थोऽपि माधवपिता कामन्दकीय प्रयोगेण माधवाय मालतीं साधयामास। ।वार्ता ७ समु १ नीतिवाक्यामृतम्।
४ षण्णवतिप्रकरणयुक्तिचिन्तामणिस्तवमहेन्द्रमातलिसंजल्प-यशोधरमहाराजचरितमहाशास्त्रवेधसा श्रीसोम-देवसूरिणा विरचितम्। ग्रन्थान्तः प्रशस्ति नीतिवाक्यामृतम्।

इस महाकाव्य के चौथे आश्वास में संस्कृत भाषा के प्राचीन महाकवियों की सूची दी गयी है। इस सूची में अन्तिम महाकवि राजशेखर हैं[1]। इससे ज्ञात होता है कि यशस्तिलकचम्पू महाकाव्य के रचना-काल में राजशेखर लोकप्रसिद्ध हो चुके थे। संस्कृत भाषा के लब्धप्रतिष्ठ कवियों में उन्हें उचित स्थान प्राप्त हो चुका था। राजशेखर को इस ख्याति की स्थापना हेतु कम-से-कम अर्धशताब्दी की अवधि आवश्यक है। अतः यशस्तिलकचम्पू महाकाव्य के रचना-काल और राजशेखर के उदय-काल में कम-से-कम पचास वर्ष का अन्तर होना चाहिए। राजशेखर कान्यकुब्जनरेश महेन्द्रपालदेव के राजकवि रहे हैं। महाराज महेन्द्रपालदेव का समय संवत् ९६० से ९६४ वि. तक निश्चित हुआ है। इसके लगभग पचास वर्ष पश्चात् अर्थात् ९६४+५०=१०१४ विक्रमाब्द के आस-पास यशस्तिलकचम्पू महाकाव्य की रचना हुई होगी। इस तथ्य की पुष्टि यशस्तिलकचम्पू महाकाव्य में दी हुई प्रशस्ति से भी होती है। इस प्रशस्ति में इस प्रकार वर्णन है—"चैत्र सुदी १३ शक संवत् ८८१ को यह काव्य समाप्त हुआ"[2]। नीतिवाक्यामृत की रचना यशस्तिलकचम्पू महाकाव्य की रचना हो जाने के उपरान्त हुई है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इस नीतिग्रन्थ की रचना शक संवत् ८८१ अर्थात् विक्रम संवत् १०१६ के एक-दो वर्ष बाद हुई होगी।

नीतिवाक्यामृत की मौलिकता—कुछ विद्वानों का मत है कि सोमदेव सूरि ने कौटिल्य के अर्थशास्त्र की दुरूहता, दुर्बोधता एवं विशालता को देखकर उसे सरल, सुबोध एवं लघु आकार में परिणत करने के लिए नीतिवाक्यामृत की रचना की। इसलिए उनके मतानुसार नीतिवाक्यामृत अर्थशास्त्र का सरल एवं सुबोध संक्षिप्त संस्करण है। नीतिवाक्यामृत में अर्थशास्त्र से एक-दो नहीं वरन् अनेक सूत्रों का चयन कर उन्हें ज्यों का त्यों रखा गया है। नीतिवाक्यामृत की पृष्ठभूमि भी अर्थशास्त्र की विषयवस्तु पर अवलम्बित जान पड़ती है। इन तथ्यों के आधार पर उपर्युक्त मत की पुष्टि होती है और इस दृष्टि से नीतिवाक्यामृत के मौलिक ग्रन्थ होने में संदेह होता है।

ऐसा होने पर भी नीतिवाक्यामृत का जब गम्भीर एवं विवेकपूर्ण अध्ययन किया जाता है और उसकी विषयवस्तु का मूल्यांकन वास्तविक रूप में किया जाता है,

१ उर्वभारविभवभूतिभर्तृहरिभर्तृमेण्ठकण्ठगुणाढ्यव्यासभासवोसकालिदासबाणमयूरनारायणकुमारमाघराजशेखरादिमहाकविकाव्येषु (आश्वास ४ यशस्तिलक)

२. शकनृपकालातीतसंवत्सरशतेष्वष्टस्वेकाशीत्यधिकेषु गतेषु अङ्कतः (८८१) × × × निर्मापितमिदं काव्यमिति (प्रशस्ति, यशस्तिलक)

बात का विशेष ध्यान रखा है कि वह जिस विषयवस्तु का उपयोग करने जा रहे हैं, वह उस समय अनुपयोगी अथवा कालबाधित तो नहीं हो चुकी है । उन्होंने उसे समयानुकूल एवं लोकोपयोगी बनाने का प्रयत्न किया है । ऐसा करने में उन्होंने उस विषयवस्तु में आवश्यकतानुसार वृद्धि एवं काट-छाँट कर उस पर अपनी छाप लगा दी है[1] । कौटिल्य ने भी तो अर्थशास्त्र के अनेक ग्रन्थों की विषयवस्तु का इसी प्रकार उपयोग कर नवीन अर्थशास्त्र का निर्माण किया था । उसमें आलोचक किसी ने भी इस प्रकार की आपत्ति करने का साहस नहीं किया । अतः नीतिवाक्यामृत के साथ इस प्रकार का व्यवहार करना न्यायसंगत नहीं है ।

नीतिवाक्यामृत की अपनी उपयोगिता है और प्राचीन भारतीय राजशास्त्र के इतिहास में उसका अपना स्थान है । वह किसी अन्य ग्रन्थ का संक्षिप्त रूप नहीं है। नीतिवाक्यामृत प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्रों, धर्मशास्त्रों एवं नीतिग्रन्थों के गम्भीर एवं विवेकपूर्ण अध्ययन का फल है । शुक्रनीति की रचना के उपरान्त प्राचीन भारतीय राजशास्त्र पर नीतिवाक्यामृत के अतिरिक्त अन्य किसी मौलिक ग्रन्थ की रचना नहीं हुई है । नीतिवाक्यामृत राजशास्त्र का मूल ग्रन्थ है और ग्यारहवीं शताब्दी के प्रथम चरण के आस-पास की भारतीय राजनीतिक विचारधारा एवं उस युग की राजनीतिक संस्थाओं के अध्ययन हेतु परम आवश्यक साधन है । सोमदेव सूरि ने नीतिवाक्यामृत की रचना कर गागर में सागर भर देने की कहावत को चरितार्थ कर दिया है ।

नीतिवाक्यामृत का आकार—नीतिवाक्यामृत जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है, सूत्रमय है । इसमें छोटे-छोटे वाक्यों अथवा सूत्रों में सम्पूर्ण विषय का प्रतिपादन

1 द्वादशवर्षा स्त्री प्राप्तव्यवहारा भवति । षोडशवर्षः पुमान् । (अर्थशास्त्र)
द्वादशवर्षा स्त्री षोडशवर्षः पुमान् प्राप्तव्यवहारौ भवतः । (नीतिवाक्यामृत)
तत्र वचनान्तः शल्यः । (अर्थशास्त्र)
वचनान्तः शल्यः । (नीतिवाक्यामृत)
बाह्याभ्यन्तरस्थानमनुपश्येत । (अर्थशास्त्र)
बाह्याभ्यन्तरस्था उपायाः । (नीतिवाक्यामृत)
परापण क्रयः । (अर्थशास्त्र)
परपण्यस्यार्थं क्रयः । (नीतिवाक्यामृत)
मौलभृतश्रेणीमित्रामित्राटवीबलानां कालं ज्ञात्वा विधानम् । (अर्थशास्त्र)
मौलभृतकभृत्यश्रेणीमित्रामित्राटवीबलम् । (नीतिवाक्यामृत)

छन्द और ज्योतिष) चतुर्नीति (आन्वि क्षिकी, त्रयी वार्ता दण्डनीति) इतिहास पुराण मीमांसा न्याय और धर्मशास्त्र हैं। इन चौदह विषयों के यथार्थ ज्ञान को उन्होंने चौदह विद्याओं के नाम से सम्बोधित किया है। इस प्रकार त्रयी विद्या के अन्तर्गत ये चौदह विद्याएँ आती हैं[1]। सोमदेव के मतानुसार त्रयी विद्या प्राणियों के धर्म-अधर्म की व्याख्या करती है और वर्णाश्रम धर्म की स्थापना हेतु व्यवस्था देती है[2]। अपने अधीन प्रजा में वर्णाश्रम धर्म की स्थापना हेतु राजा के लिए त्रयी विद्या का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है[3]।

कौटिल्य के मतानुसार वेद-विद्या त्रयी विद्या होती है। ऋक् यजु और साम—ये तीन वेद त्रयी के अन्तर्गत आते हैं। अथर्ववेद और प्राचीन इतिहास को भी वेद कहा है[4]। शिक्षा कल्प व्याकरण निरुक्त, छन्द और ज्योतिष वेदांग हैं[5]। इस प्रकार कौटिल्य के मतानुसार ऋक् यजु साम और अथर्व—ये चार वेद, प्राचीन इतिहास और वेद के छः अंगों का यथार्थ ज्ञान जिस विद्या के द्वारा प्राप्त होता है, उसे त्रयी विद्या कहते हैं। उन्होंने त्रयी विद्या का उद्देश्य वर्णाश्रम धर्म की व्याख्या कर समाज में उसकी सम्यक स्थापना हेतु समुचित व्यवस्था का यथार्थ ज्ञान देना माना है। इसीलिए उन्होंने त्रयी विद्या के अन्तर्गत धर्म और अधर्म के यथार्थ स्वरूप का वर्णन माना है[6]। कौटिल्य का मत है कि त्रयी विद्या द्वारा स्थापित की गयी वर्णाश्रम धर्म की मर्यादा द्वारा रक्षित लोक प्रसन्न रहता है और कभी पीड़ित नहीं होता।[7]

(३) वार्ता—सोमदेव सूरि ने तीसरी राजविद्या वार्ता मानी है। उन्होंने वार्ता के अन्तर्गत कृषि पशुपालन और वाणिज्य के यथार्थ ज्ञान को स्थान दिया है। इस प्रकार सोमदेव के मतानुसार वार्ता वह विद्या है जिसके द्वारा कृषि पशुपालन और वाणिज्य के यथार्थ ज्ञान का बोध होता है। उनका मत है कि राज्य की सम्पूर्ण समृद्धि का मूल वार्ता है। इसलिए उन्होंने व्यवस्था दी है कि वार्ता की समृद्धि ही राज्य की समृद्धि होती है।[?] अतः राज्य की समृद्धि हेतु वार्ता विद्या की परम आवश्यकता होती है।

१ वार्ता १ समु० ७ नीतिवाक्यामृत। २ वार्ता २ समु ७ नीतिवाक्यामृत।
३ वार्ता १९ समु० ७ नीतिवाक्यामृत। ४ वार्ता १ अ १ अधि १ अर्थशास्त्र।
५ वार्ता २ अ १ अधि १ अर्थ। ६ वार्ता ३ अ० १ अधि १ अर्थशास्त्र।
७ वार्ता ४ अ १ अधि १ अर्थ। ८ वार्ता ११ अ २ अधि १ अर्थ।
९. श्लोक १० अ १ अधि १ अर्थ। १० वार्ता १ समु ८ नीतिवाक्यामृत।
११ वार्ता १ समु ८ नीतिवाक्यामृत।

कौटिल्य ने भी वार्ता की परिभाषा की है। उन्होंने वार्ता की परिभाषा करते हुए बतलाया है कि कृषि पशुपालन और वाणिज्य के यथार्थ ज्ञान को वार्ता कहते हैं[1]। उनका मत है कि धान्य पशु, सोना विविध पदार्थ तथा सेवकों आदि की प्राप्ति कराने के कारण वार्ता लोक का महान् उपकार करने वाली होती है[2]। राजा भी वार्ता विद्या द्वारा उपार्जित किये गये पदार्थों से कोश और सैन्यबल को प्राप्त होता है और स्वराष्ट्र तथा परराष्ट्र के लोगों को वश में रखने में समर्थ होता है[3]।

(४) दण्डनीति—सोमदेव ने चौथी विद्या दण्डनीति बतलायी है। प्राणियों को उनके दोष के अनुसार दण्ड देने की नीति को उन्होंने दण्डनीति की संज्ञा दी है[4]। प्रजा में उनके दोष-विशुद्धि का एकमात्र साधन दण्ड बतलाया गया है[5]। परन्तु काम क्रोधादि से प्रभावित होकर अथवा अज्ञान से दण्ड देना सर्वनाश का कारण होता है[6]। अप्रणीत दण्ड का प्रयोग जनता में मात्स्यन्याय की स्थापना करता है और उसकी स्थापना हो जाने से बली प्राणी निर्बल प्राणियों को क्ले-शित एवं पीड़ित करता है[7]। राजा को सदैव प्रजा की विशुद्धि के निमित्त दण्ड का सम्यक् प्रयोग करते रहना चाहिए। इसी लिए सोमदेव ने साधु-पालन और दुष्ट-निग्रह को दण्डनीति बतलाया है[8]।

कौटिल्य का मत है कि आन्वीक्षिकी त्रयी और वार्ता—इन तीनों के सुचारु संचालन में दण्ड ही समर्थ होता है। दण्ड प्रदान करने की नीति को दण्डनीति कहते हैं[9]। इसलिए दण्ड का सम्यक् प्रयोग करना राजा का परम धर्म है। कौटिल्य का मत है कि तीक्ष्ण दण्डप्रदान से प्रजा उद्विग्न हो जाती है[10]। मृदुदण्ड-प्रदान से लोग राजा का तिरस्कार करने लगते हैं[11]। यथार्थ दण्डप्रदान से राजा पूजनीय बन जाता है[12]। यथार्थ दण्डप्रदान प्रजा को धर्म अर्थ और काम की सिद्धि देता है[13]। काम क्रोध और अज्ञान से दिया गया दण्ड वानप्रस्थ और परि

१ वार्ता १ अ ४ अधि० १ सर्ग । २ वार्ता २ अ ४ अधि १ सर्ग ।
३ वार्ता ३ अ ४ अधि १ सर्ग । ४ वार्ता १ समु ९ नीतिवाक्यामृत ।
५ वार्ता १ समु ९ नीतिवाक्यामृत । ६ वार्ता ६ समु ९ नीतिवाक्यामृत ।
७ वार्ता ७ समु ९ नीतिवाक्यामृत । ८ वार्ता ९ समु ९ नीतिवाक्यामृत ।
९ वार्ता ४ अ ४ अधि १ सर्ग । १० वार्ता ५ अ० ४ अधि १ सर्ग ।
११ वार्ता ११ अ ४ अधि १ सर्ग । १२ वार्ता १२ अ ४ अधि १ सर्ग ।
१३ वार्ता १३ अ ४ अधि १ सर्ग । १४ वार्ता १४ अ ४ अधि १ सर्ग ।

किया गया है। इस ग्रन्थ का विभाजन समुद्देशों में है और वह विषयानुकूल ही छोटे-बड़े हैं। प्रत्येक समुद्देश में एक ही मुख्य विषय की व्याख्या है। इसीलिए इन समुद्देशों के आकार प्रकार में एकरूपता नहीं है। सम्पूर्ण ग्रन्थ बत्तीस समुद्देशों में विभाजित है। इनमें से सबसे छोटे समुद्देश में केवल सात और सबसे बड़े समुद्देश में एकसौ इकहत्तर सूत्र हैं। सबसे छोटा समुद्देश दण्डनीति-समुद्देश और सबसे बड़ा मन्त्रि-समुद्देश है। सम्पूर्ण ग्रन्थ में सूत्र-संख्या सवापन्द्रह सौ है[1]।

सोमदेव सूरि के राजनीतिक विचार

विद्या—किसी पदार्थ के यथार्थ ज्ञान को विद्या की संज्ञा दी गयी है। विद्याएँ अनेक हैं। प्राचीन भारत में सम्पूर्ण ज्ञान चार श्रेणियों और चार विद्याओं के अन्तर्गत विभक्त किया गया है। ये चार विद्याएँ आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति बतलायी गयी हैं। परन्तु इस विषय में भी विद्वानों में एकमत नहीं है। कौटिल्य ने इस विषय में कतिपय विद्वानों के मतों को उद्धृत किया है। मनु के अनुयायियों ने त्रयी वार्ता और दण्डनीति यही तीन विद्याएँ मानी हैं[2]। उन्होंने आन्वीक्षिकी को पृथक् विद्या नहीं माना अपितु उसे त्रयी के अन्तर्गत ही रखा है। बृहस्पति के मतानुयायियों ने वार्ता और दण्डनीति—यही दो विद्याएँ मानी हैं[3]। उन्होंने त्रयी विद्या को आडम्बरमात्र बतलाया है। अतः वे आन्वीक्षिकी और त्रयी को पृथक् विद्याएँ नहीं मानते। उशना के अनुयायियों ने दण्डनीति मात्र को विद्या की संज्ञा दी है। उनका मत है कि सम्पूर्ण ज्ञान का उद्गम दण्डनीति पर ही आश्रित है। दण्डनीति के विनष्ट होने पर किसी विषय के भी यथार्थ ज्ञान की उपलब्धि नहीं होने पाती। परन्तु कौटिल्य ने इन मतों का समर्थन नहीं किया है। उन्होंने आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता और दण्डनीति इन चारों को विद्या की संज्ञा दी है।

१ प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना में नाथूराम प्रेमी, मंत्री माणिकचन्द्र-जैनग्रन्थमाला, हीराबाग, बम्बई द्वारा प्रकाशित नीतिवाक्यामृत विक्रमाब्द १९७९ के संस्करण का आश्रय लिया गया है। सम्पूर्ण टिप्पणियाँ नीतिवाक्यामृत की इसी पोथी पर आधारित हैं।

२ प्रकर्ण१ अ २ अधि १ अर्थशास्त्र। ३. प्रकर्ण२ अ २ अधि १ अर्थशास्त्र।

४. प्रकर्ण३ अ २ अधि १ अर्थशास्त्र। ५. प्रकर्ण४ अ २ अधि १ अर्थशास्त्र।

६ प्रकर्ण५ अ २ अधि १ अर्थशास्त्र। ७. प्रकर्ण६ अ २ अधि १ अर्थशास्त्र।

८ प्रकर्ण ७ अ २ अधि १ अर्थशास्त्र।

९ प्रकर्ण ८ अ २ अधि १ अर्थशास्त्र।

कौटिल्य ने विद्या की परिभाषा करते हुए बतलाया है कि जिस ज्ञान के द्वारा धर्म और अर्थ का यथार्थ बोध होता है वह विद्या कहलाता है[1] ।

सोमदेव कौटिल्य द्वारा प्रतिपादित राजशास्त्र-सम्बन्धी विचारों के पोषक हैं। सम्भवतः इसीलिए उन्होंने चार विद्याएँ मानी हैं। ये वही चार विद्याएँ हैं, जिन्हें कौटिल्य ने विद्या की संज्ञा दी है। परन्तु सोमदेव ने इन चार विद्याओं—आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता और दण्डनीति—को राजविद्या के नाम से सम्बोधित किया है[2] । विद्या की परिभाषा करते हुए सोमदेव सूरि ने बतलाया है कि जिस ज्ञान के द्वारा आत्महित की प्राप्ति और आत्म-अहित का नाश होता है, उस ज्ञान को विद्या कहते हैं[3] । इस प्रकार आत्मकल्याण की उपलब्धि करानेवाले ज्ञान को उन्होंने विद्या माना है। उन्होंने विद्या के क्षेत्राधिकार को केवल धर्म-अर्थ-सम्बन्धी ज्ञान तक ही सीमित न रखकर उसके क्षेत्र को विशाल बनाने का प्रयत्न किया है। आत्मकल्याण ही प्राणिमात्र के जीवन का एकमात्र उद्देश्य है। आत्मकल्याण का आधार आत्मज्ञान है। आत्मसाक्षात्कार हो जाने पर मनुष्य की कर्मनिवृत्ति हो जाती है। इस प्रकार सोमदेव द्वारा विद्या की जो परिभाषा की गयी है, उपयुक्त ही है और उसमें कुछ विशेषता लाने का प्रयत्न किया गया है।

(१) आन्वीक्षिकी —सोमदेव सूरि ने आन्वीक्षिकी विद्या को अध्यात्म विद्या अथवा अध्यात्मयोग के नाम से सम्बोधित किया है। आत्मा मन मरुत—शरीरस्थ पञ्च प्राण—और तत्त्वसमता के यथार्थ ज्ञान को उन्होंने अध्यात्म-विद्या अथवा अध्यात्मयोग की संज्ञा दी है[4] । उनका मत है कि अध्यात्मयोग प्राणियों में विकारों का शमन करता है और उनमें समता का उद्रेक करता है। राजा अध्यात्म विद्या के द्वारा ही विकारों से मुक्त होकर अपने अधीन प्रजा की वृद्धि के निमित्त सम्यक् व्यवस्था स्थापित करने में समर्थ होता है[5] । कौटिल्य ने भी आन्वीक्षिकी विद्या की परिभाषा अर्थशास्त्र में दी है। इस परिभाषा के अनुसार सांख्य (कर्मोत्साह) योग (कर्मफलत्याग) और लोकायत सम्बन्धी सभी शास्त्र आन्वीक्षिकी विद्या के अन्तर्गत आते हैं[6] ।

(२) त्रयी सोमदेव सूरि ने चौदह विद्या के यथार्थ ज्ञान को त्रयी विद्या माना है। ये चौदह विद्या चार वेद व वेदांग (शिक्षा कल्प व्याकरण निरुक्त

१ वार्ता१ अ २ अधि १ अर्थशास्त्र। २ वार्ता/५५ समु ५ नीतिवाक्यामृत।
३ वार्ता/५४ समु ५ नीतिवाक्यामृत। ४ वार्ता १ समु ६ नीतिवाक्यामृत।
५ वार्ता २ समु ६ नीतिवाक्यामृत। ६ वार्ता १ अ २ अधि १ अर्थशास्त्र।

छन्द और ज्योतिष) दण्डनीति (सन्धि विग्रह, यान आसन संश्रय और द्वैधीभाव) इतिहास पुराण मीमांसा न्याय और धर्मशास्त्र हैं। इन चौदह विषयों के यथार्थ ज्ञान को उन्होंने चौदह विद्याओं के नाम से सम्बोधित किया है। इस प्रकार त्रयी विद्या के अन्तर्गत ये चौदह विद्याएँ आती हैं[1]। सोमदेव के मतानुसार त्रयी विद्या प्राणियों के धर्म-अधर्म की व्याख्या करती है और वर्णाश्रम धर्म की स्थापना हेतु व्यवस्था देती है[2]। अपने अधीन प्रजा में वर्णाश्रम धर्म की स्थापना हेतु राजा के लिए त्रयी विद्या का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है।

कौटिल्य के मतानुसार वेद-विद्या त्रयी विद्या होती है। ऋक्, यजु और साम—ये तीन वेद त्रयी के अन्तर्गत आते हैं। अथर्ववेद और प्राचीन इतिहास को भी वेद कहा है[5]। शिक्षा कल्प व्याकरण, निरुक्त छन्द और ज्योतिष वेदाङ्ग हैं[6]। इस प्रकार कौटिल्य के मतानुसार ऋक्, यजु, साम और अथर्व—ये चार वेद, प्राचीन इतिहास और वेद के छः अंगों का यथार्थ ज्ञान जिस विद्या के द्वारा प्राप्त होता है, उसे त्रयी विद्या कहते हैं। उन्होंने त्रयी विद्या का उद्देश्य वर्णाश्रम धर्म की व्याख्या कर समाज में उसकी सम्यक् स्थापना हेतु समुचित व्यवस्था का यथार्थ ज्ञान देना माना है[7]। इसीलिए उन्होंने त्रयी विद्या के अन्तर्गत धर्म और अधर्म के यथार्थ स्वरूप का वर्णन माना है[8]। कौटिल्य का मत है कि त्रयी विद्या द्वारा स्थापित की गयी वर्णाश्रम धर्म की मर्यादा द्वारा रक्षित लोक प्रसन्न रहता है और कभी पीड़ित नहीं होता।

(३) वार्ता—सोमदेव सूरि ने तीसरी राजविद्या वार्ता मानी है। उन्होंने वार्ता के अन्तर्गत कृषि पशुपालन और वाणिज्य के यथार्थ ज्ञान को स्थान दिया है। इस प्रकार सोमदेव के मतानुसार वार्ता वह विद्या है जिसके द्वारा कृषि पशुपालन और वाणिज्य के यथार्थ ज्ञान का बोध होता है। उनका मत है कि राज्य की सम्पूर्ण समृद्धि का मूल वार्ता है। इसलिए उन्होंने व्यवस्था दी है कि वार्ता की समृद्धि ही राज्य की समृद्धि होती है[10] अतः राज्य की समृद्धि हेतु वार्ता विद्या की परम आवश्यकता होती है।

१ वार्ता १ समु ७ नीतिवाक्यामृत। २ वार्ता २ समु ७ नीतिवाक्यामृत।
३ वार्ता ११ समु ७ नीतिवाक्यामृत। ४ वार्ता १ अ ३ अधि १ अर्थशास्त्र।
५ वार्ता २ अ ३ अधि १ अर्थ। ६ वार्ता ३ अ ३ अधि १ अर्थशास्त्र।
७ वार्ता ४ अ ३ अधि १ अर्थ। ८ वार्ता ११ अ ३ अधि १ अर्थ।
९ श्लोक १७ अ ३ अधि १ अर्थ। १० वार्ता १ समु ८ नीतिवाक्यामृत।
११ वार्ता २ समु ८ नीतिवाक्यामृत।

कौटिल्य ने भी वार्ता की परिभाषा की है। उन्होंने वार्ता की परिभाषा करते हुए बतलाया है कि कृषि पशुपालन और वाणिज्य के व्यापार ज्ञान को वार्ता कहते हैं[१]। उनका मत है कि धान्य पशु, सोना खनिज पदार्थ तथा सेवकों आदि की प्राप्ति कराने के कारण वार्ता कोष का महान् उपकार करने वाली होती है[२]। राजा भी वार्ता विद्या द्वारा उपार्जन किये गये पदार्थों से कोष और सैन्यबल को प्राप्त होता है और स्वपक्ष तथा शत्रुपक्ष के लोगो को वश में रखने में समर्थ होता है।

(४) दण्डनीति—सोमदेव ने चौथी विद्या दण्डनीति बतलायी है। प्राणियो को उनके दोष के अनुसार दण्ड देने की नीति को उन्होंने दण्डनीति की संज्ञा दी है[४]। प्राणियों में उनके दोष-विशुद्धि का एकमात्र साधन दण्ड बतलाया गया है[५]। परन्तु काम क्रोधादि से प्रभावित होकर अथवा अज्ञान से दण्ड देना सर्वनाश का कारण होता है[६]। अप्रणीत दण्ड का प्रयोग जनता में मात्स्यन्याय की स्थापना करता है और उसकी स्थापना हो जाने से बली प्राणी निर्बल प्राणियो को कष्ट-सित एवं पीड़ित करता है[७]। राजा को अधीन प्रजा की विशुद्धि के निमित्त दण्ड का सम्यक् प्रयोग करते रहना चाहिए। इसी लिए सोमदेव ने साधु-पालन और दुष्ट-निग्रह को दण्डनीति बतलाया है[८]।

कौटिल्य का मत है कि आन्वीक्षिकी त्रयी और वार्ता—इन तीनो के सुचारु सम्पालन में दण्ड ही समर्थ होता है[९]। दण्ड प्रदान करने की नीति को दण्डनीति कहते हैं[१०]। इसलिए दण्ड का सम्यक प्रयोग करना राजा का परम धर्म है। कौटिल्य का मत है कि तीक्ष्ण दण्डप्रदान से प्रजा उद्विग्न हो जाती है[११]। मृदुदण्ड-प्रदान से लोग राजा का तिरस्कार करने लगते हैं[१२]। यथार्थ दण्डप्रदान से राजा पूजनीय बन जाता है[१३]। यथार्थ दण्डप्रदान प्रजा को धर्म अर्थ और काम की सिद्धि देता है[१४]। काम क्रोध और अज्ञान से दिया गया दण्ड वानप्रस्थ और परि-

१ वार्ता १ अ ४ अधि १ अर्थ। २ वार्ता १ अ ४ अधि १ अर्थ।
३ वार्ता १ अ ४ अधि १ अर्थ। ४ वार्ता १ समु ९ नीतिवाक्यामृत।
५ वार्ता १ समु ९ नीतिवाक्यामृत। ६ वार्ता १ समु ९ नीतिवाक्यामृत।
७ वार्ता ७ समु ९ नीतिवाक्यामृत। ८ वार्ता १ समु ५ नीतिवाक्यामृत।
९ वार्ता ४ अ ४ अधि १ अर्थ। १० वार्ता ५ अ ४ अधि १ अर्थ।
११ वार्ता ११ अ ४ अधि १ अर्थ। १२ वार्ता १२ अ ४ अधि १ अर्थ।
१३ वार्ता १३ अ ४ अधि १ अर्थ। १४ वार्ता १४ अ ४ अधि १ अर्थ।

बान्धवों को भी कुपित कर देता है[1]। अयथार्थ दण्डप्रयोग से मात्स्यन्याय की स्थापना हो जाती है[2]। इसलिए कौटिल्य ने व्यवस्था दी है—दण्ड द्वारा रक्षित हुए चारों वर्ण और चारों आश्रम स्वधर्म-पालन में संलग्न रहते हैं तथा अपने-अपने निर्दिष्ट मार्ग पर चलते रहते हैं[3]। इसी कारण आन्वीक्षिकी त्रयी और वार्ता, इन तीनों विद्याओं का मूल दण्ड माना गया है[4]। कौटिल्य ने इसी प्रसंग में दण्डनीति की परिभाषा करते हुए "लब्ध और अलब्ध के यथार्थ ज्ञान को दण्डनीति विद्या माना है[5]। लब्ध से उनका तात्पर्य मनुष्य के उन कार्यों से है जिनके द्वारा योग-क्षेम की निष्पत्ति होती है[6]। योग-क्षेम की सिद्धि में आपत्तियों का आगमन अलब्ध माना गया है[7]।

इसी प्रकार सोमदेव ने भी चार राजविद्याएँ मानी हैं और इनका स्वरूप एवं इनके विशेष लक्षण तथा प्राणियों के लिए इनकी उपयोगिता के विषय में उन्होंने लगभग वही विचार व्यक्त किये हैं, जो कौटिल्य के हैं।

राज्य की उत्पत्ति—राज्य अथवा राजा की उत्पत्ति के विषय में सोमदेव मौन हैं। इस लिए इस महत्त्वपूर्ण विषय पर उनका क्या मत रहा होगा, प्रमाण कुछ भी ज्ञात नहीं हो सकता। इस विषय पर उनके इस प्रकार मौन रहने का कारण स्पष्ट नहीं है। उन्होंने कुछ ऐसे संकेत अवश्य दिये हैं जिनसे ज्ञात होता है कि वह राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त में आस्था रखते थे। परन्तु इन संकेतों से यह स्पष्ट नहीं होता कि उनके इस दैवी सिद्धान्त का क्या स्वरूप था।

राजा का दिव्य रूप—सोमदेव ने कई ऐसे संकेत दिये हैं जिनसे "राजा महती देवता है" इस सिद्धान्त की पुष्टि होती है। इस प्रसंग में उन्होंने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—"राजा परम देव है इसलिए गुरुजनों से भी नमस्कार का अधिकारी होता है फिर भला साधारण प्राणियों के लिए कहना ही क्या है[8]। देव रूप (देवमूर्ति) धारण करने से पत्थर भी सम्मान का पात्र बन जाता है, फिर उस मनुष्य के सम्मानित होने में सन्देह ही क्या है, जिसने देवरूप धारण कर लिया है[9]। राजा का अपमान किसी दशा में भी नहीं होना चाहिए, यहाँ तक कि उसके लिए

१ वार्ता १५ अ ४ अधि १ अर्थ।
२ वार्ता ११ अ ४ अधि १ अर्थ। ३ श्लोक १९ अ ४ अधि १ अर्थ।
४ वार्ता १ अ ५ अधि १ अर्थ। ५ वार्ता ११ अ २ अधि १ अर्थ।
६ वार्ता १२ अ २ अधि १ अर्थ। ७ वार्ता ११ अ २ अधि १ अर्थ।
८ वार्ता १७ समु ५ नीतिवाक्यामृत। ९ वार्ता १ समु० ७ नीतिवाक्यामृत।

के प्रति भी अनादर करना अनुचित होता है, क्योंकि (मन्त्री कोष सेना आदि से हीन होने पर भी) धाम तेज धारण किये हुए मनुष्य रूप में राजा महती देवता ही होता है।[1]

मनु ने भी राजपद परम पुनीत बतलाया है। उनका मत है कि चाहे जो व्यक्ति क्यों न हो, राजपद पर आसीन हो जाने पर, वह परम देवत्व को प्राप्त हो जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार मनु ने व्यवस्था दी है कि राजा बालक ही क्यों न हो परन्तु मनुष्य समझ कर उसका अपमान नहीं करना चाहिए, क्योंकि राजा महान् देवता ही होता है जो मनुष्य रूप धारण कर पृथिवीतल पर विचरण करता है[2]।

सोमदेव ने मनु के समान ही राजा के पद को परम पुनीत प्रतिष्ठित और मर्यादा-पूर्ण माना है। उन्होंने भी राजा को इस भूतल पर विचरण करने वाला नर रूपधारी महान् देवता बतलाया है और इस प्रकार मनु के तत्सम्बन्धी सिद्धान्त की ही दूसरे शब्दों में पुष्टि की है।

दैवी राजा की विशेषता—सोमदेव ने राजा को त्रिदेव की साक्षात् मूर्ति माना है। उनका मत है कि राजा ब्रह्मचर्य-व्रत धारण कर सम्पूर्ण विद्याओं को धारण कर लेने से ब्रह्मा हो जाता है। इस प्रकार एक विशेष प्रकार के आचरण का *निर्माता* होने के कारण राजा ब्रह्मदेव का पद प्राप्त कर लेता है[3]। विष्णु लक्ष्मीपति हैं और सृष्टि का पालन करते हैं। राज्याभिषेक होने पर राजा को राजलक्ष्मी सौंप दी जाती है और इस प्रकार राजा लक्ष्मीपति हो जाता है। वह लक्ष्मीपति होकर प्रजारंजन-कार्य में संलग्न होने से नारायण अर्थात् विष्णु कहलाता है। राजा विशेष प्रतापवान् होता है और अपने इस प्रताप रूपी त्रिनेत्र से राष्ट्र-कण्टकों एवं राज्य के शत्रुओं को उसी प्रकार भस्म कर डालता है, जिस प्रकार कि महादेव *अपने त्रिनेत्र से पापियों एवं दुष्टों को भस्म कर डालते हैं। इसीलिए राजा महा-*देव है[4]। अनुकूल आचरणकारी के प्रति मित्रवत् होने से राजा इन्द्र और विपरीत आचरण धारण करने से यमवत् होने के कारण राजा यम कहलाता है[5]। इस प्रकार सोमदेव ने राजा का देवत्व उसके दिव्य आचरण पर आश्रित माना है। परिस्थिति के अनुसार समय-समय पर वह राजा विभिन्न देवों का रूप धारण किया करता है।

१ वार्ता१४ समु २९ नीतिवाक्यामृत। २ श्लोक ८ अ ७ मानवधर्मशास्त्र।
३. वार्ता१७ समु २९ नीतिवाक्यामृत। ४ वार्ता१८ समु २९ नीतिवाक्यामृत।
५. वार्ता१९ समु २९ नीतिवाक्यामृत। ६. वार्ता १ समु ५ नीतिवाक्यामृत।

दैवी सिद्धान्त के समर्थक लेखकों ने राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि माना है। उन्होंने राजाज्ञाओं का उल्लंघन ईश्वर की आज्ञाओं का उल्लंघन बतलाया है। दैवी सिद्धान्त के इन लेखकों के मतानुसार राजा द्वारा दी गयी उचित अथवा अनुचित सभी प्रकार की आज्ञाओं का पालन किया जाना प्रजा का परम कर्तव्य है। दैवयोग से यदि किसी भूभाग में दुष्ट राजा होता है तो इसका तात्पर्य यह मानना गया है कि ईश्वर ने उस भूभाग के निवासियों के पाप-कर्मों के परिणाम स्वरूप उन्हें दण्डित करने के लिए दुष्ट राजा को भेजा है। राजा के विरुद्ध प्रजा के कोई भी अधिकार नहीं रहते, जो कुछ भी अधिकार प्रजा भोगती है वह राजा द्वारा प्रदान किया हुआ उसका प्रसाद मात्र है।

परन्तु सोमदेव ने इस प्रकार के दैवी सिद्धान्त की स्थापना नहीं की है। सोमदेव का दैवी राजा इसी लोक का एक विशेष पुरुष है। वह तप और त्याग के द्वारा विशेष आचरण निर्माण कर, अपने अधीन प्रजा में आचार एवं सुख-शान्ति का दर्शन कराता, प्रजा का रक्षण और पालन करता तथा दुष्ट-निग्रह करता है, और इस प्रकार ब्रह्मा, विष्णु, महेश का रूप धारण करता है। राजा प्रजा-द्रोही होने पर पदच्युत किया जा सकता है। उसे प्रजा द्वारा अधिकार प्राप्त होते हैं न कि ईश्वर द्वारा। वह ईश्वर का प्रतिनिधि नहीं है।

राज्य का स्वरूप—सोमदेव ने राज्य के स्वरूप के विषय में अपना मत स्पष्ट व्यक्त नहीं किया है। प्राचीन भारत के लगभग सभी राजशास्त्र-प्रणेताओं ने राज्य के सप्ताङ्ग अथवा सप्तात्मक स्वरूप की कल्पना की है। सोमदेव ने कहीं भी सप्ताङ्ग अथवा सप्तात्मक राज्य की कल्पना नहीं की है और न उसका कहीं उल्लेख ही किया है। हाँ, उन्होंने पृथक्-पृथक् समुद्देशों में स्वामी, अमात्य, कोष, दुर्ग, जनपद, मित्र और बल का वर्णन किया है। इन उल्लेखों के आधार पर यह अवश्य नहीं कहा जा सकता कि सोमदेव के राज्य का वास्तविक स्वरूप क्या रहा होगा।

राजा की नियुक्ति के सिद्धान्त—सम्राट् हर्ष के निधन के उपरान्त भारत की राजनीतिक एकता छिन्न-भिन्न हो गयी। भारत छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो गया। इन राज्यों के स्वाभिमानी नरेश परस्पर कलह में संलग्न होकर एक दूसरे को नीचा दिखाने में अपना गौरव समझने लगे। एक दूसरे का राज्य छीनने के लिए संघर्ष करने में व्यस्त रहने लगे। इस युग में भारत पर बाह्य आक्रमण भी तेज से हो रहे थे। अतः इन परिस्थितियों में राजपद के लिए कुछ विशेष योग्यताओं की आवश्यकता अनुभव होने लगी। सोमदेव ने सम्भवतः इसीलिए राजपद

प्राप्ति हेतु कतिपय विशेष सिद्धान्तों की ओर ध्यान दिया है और संकेत किये हैं। इन सिद्धान्तों में कुछ इस प्रकार है—

(क) क्रम-सिद्धान्त—सोमदेव ने क्रम और विक्रम को राज्य का मूल माना है[1]। इसलिए सोमदेवके मतानुसार राज्य की स्थापना एवं उसके स्थायित्व के लिए राजा की नियुक्ति में क्रम-विक्रम-सिद्धान्त का पालन किया जाना चाहिए। क्रम-सिद्धान्त से सोमदेव का वास्तविक तात्पर्य क्या है, उन्होंने कहीं स्पष्ट नहीं किया है। प्रसंग से ज्ञात होता है कि क्रमसिद्धान्त से तात्पर्य परम्परागत सिद्धान्त से है। इस सिद्धान्त के अनुसार राज-पद-प्राप्ति का अधिकार पैतृक अधिकार है।

क्रम-सिद्धान्त का पालन करने में सोमदेव के दो उद्देश्य हो सकते हैं। एक यह कि रक्त का प्रभाव वातावरण के प्रभाव से बलिष्ठ होता है। इसलिए राजा के पुत्र में राजपद के उपयुक्त गुणों एवं योग्यताओं का होना स्वाभाविक है। इसके साथ ही यह भी है कि राजा के पुत्र को शासन सम्बन्धी-अनुभव एवं योग्यताओं की प्राप्ति हेतु अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक अवसर सुलभ होते हैं। अतः उसमें ये गुण एवं योग्यताएँ शीघ्र तथा स्वाभाविक रूप से वास करने लगती हैं।

इस विषय में सोमदेव का दूसरा उद्देश्य यह भी हो सकता है कि राजा के निधन अथवा उसके द्वारा राजपद त्याग देने के उपरान्त उसके पद के लिए उपयुक्त व्यक्ति का प्राप्त करना सरल नहीं होता। पद की प्राप्ति के लिए कलह हो सकता है जो अराजकता के प्रसार में सहायक होता है जिससे राज्य का परम अनिष्ट होता है। ऐसी परिस्थिति में इस कलह के क्षेत्र को सीमित करने के लिए सोमदेव ने यह उचित समझा होगा कि राज्याधिकार की परिधि राजवंश तक ही सीमित कर दी जाय विशेषकर ऐसे युग में जब कि राजपद-प्राप्ति हेतु प्रतिक्षण बाह्य और आन्तरिक दोनों ओर से आपदाएँ उपस्थित हों।

(ख) आचार-सम्पत्ति-सिद्धान्त—सोमदेव का मत है कि आचार-सम्पत्ति नय-सिद्धान्त की जननी है[2]। जिस राजवंश में आचार सम्पत्ति का ह्रास हो जाता है वह राजपद-प्राप्ति के अनुपयुक्त समझा जाता है। इसलिए क्रमागत अधिकार की रक्षा हेतु आचार-सम्पत्ति का धारण करना अनिवार्य होता है। ऐसे अनेक राज-वंश हुए हैं जिनमें पिता के उपरान्त पुत्र को अपने पिता के राज्य का अधिकारी इसी कारण नहीं समझा गया कि वह आचार-सम्पत्ति से विहीन था। अयोध्या के प्रसिद्ध राजकुमार असमंजस का उदाहरण इसका ज्वलन्त प्रमाण है। इसलिए राज-

१ वार्ता२६ समु ५ नीतिवाक्यामृत। २ वार्ता२७ समु ५ नीतिवाक्यामृत।

वंश के क्रम-सिद्धान्त को स्थायी रूप देने के लिए राजपद में आचार-सम्पत्ति का स्थापित्व परम आवश्यक है।

आचार-सम्पत्ति से सोमदेव का तात्पर्य लोक-व्यवहार धारण करने से है। इस लिए भावी राजा को लोक-व्यवहार में निपुण होना चाहिए। लोक-व्यवहार-हीन राजा का शीघ्र नाश हो जाता है।

(ग) विक्रम-सिद्धान्त—सोमदेव जिस युग में हुए हैं, वह वीरता का युग माना जाता है। व्यक्ति के विशेष बल-पौरुष का उस युग में बड़ा महत्त्व रहा है। विक्रम-सम्पन्न पुरुष ही उस युग में राज्य की रक्षा में सफल हुआ देखा गया है। सोमदेव का युग वीरों के संघर्ष का युग रहा है। सम्भवतः इसीलिए सोमदेव ने राज्याधिकार के क्षेत्र में *विक्रम-सिद्धान्त की स्थापना की है। उनका मत है कि क्रम और* विक्रम राज्य का मूल है[1]। विक्रमसम्पन्न पुरुष राजपद पाने का अधिकारी बतलाया गया है। यदि शासक राजा का पुत्र विक्रमहीन है तो ऐसी परिस्थिति में वह राजकुमार-राजपद के अधिकार से वंचित समझा जायगा। यदि किसी तरह उस राजकुमार को राजपद प्राप्त भी हो गया तो वह शीघ्र ही राज्य के नाश का कारण हो जाता है।[2] इसलिए क्रम-सिद्धान्त को तभी तक मान्यता दी जायगी, जब तक भावी राजा राजपद के उपयुक्त विक्रम धारण करता है।

परन्तु सोमदेव ने उस विक्रम को राजपद के लिए अनुपयुक्त माना है जिसमें लेश मात्र भी उद्रेक अथवा गर्व की गन्ध पायी जाय। उन्होंने विक्रम के शुद्ध स्वरूप को ही राजपद-प्राप्ति के लिए उपयुक्त बतलाया है। गर्वानुप्राणित विक्रम को सोमदेव ने निन्दनीय बतलाया है। गर्वत्याग को उन्होंने विक्रम का अलंकार अथवा आभूषण बतलाया है। जिस पुरुष में गर्वयुक्त विक्रम होता है उसका पतन निश्चित है।

सोमदेव के पूर्व भी, राजपद-प्राप्ति हेतु, विक्रम-सिद्धान्त का अनुसरण किया गया है, इस तथ्य की पुष्टि में इतिहास साक्षी है। रामगुप्त विक्रमहीन है, ऐसा जान कर प्रजा ने उसे राजपद से च्युत कर दिया। इतना ही नहीं अपितु उस वंश की भी अवहेलना की गयी। चन्द्रगुप्त द्वितीय को राजपद दिया गया, क्योंकि वह विक्रम-सम्पन्न था। इसी आधार पर उसे विक्रमादित्य (विक्रम का आदित्य) की उपाधि से सुशोभित किया गया।

१ वार्ता२१ समु ५ नीतिवाक्यामृत। २ वार्ता२९ समु ५ नीतिवाक्यामृत।
३ वार्ता २८ समु ५ नीतिवाक्यामृत।

इस प्रकार सोमदेव ने राजपद की प्राप्ति हेतु विक्रम-सिद्धान्त को मान्यता दी है। परन्तु उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया कि विक्रम अपने शुद्ध रूप में ही होना चाहिए। उत्कोच अथवा धर्म से दूषित विक्रम राजपद-प्राप्ति में बाधक होता है।

(घ) बुद्धि-सिद्धान्त—सोमदेव का मत है कि श्रम और विक्रम का अधिष्ठान बुद्धि है[1]। इसलिए उन्होंने राजपद की प्राप्ति के निमित्त बुद्धि का धारण करना अनिवार्य माना है। इस सिद्धान्त के अनुसार बुद्धिमान् विक्रम-सम्पन्न राजकुमार को राज्याधिकार प्राप्त होना चाहिए। उन्होंने लिखा है कि विद्यासम्पन्न विनीत-मति पुरुष को बुद्धिमान् पुरुष कहते हैं[2]। इस प्रकार प्रत्येक विषय (विविधशास्त्र) का यथार्थ ज्ञान रखने वाले विनीतमति राजकुमार को राजपद मिलना चाहिए, ऐसा सोमदेव का मत है। उनका मत है कि केवल विक्रम अथवा केवल ज्ञान अथवा विक्रम और ज्ञान इन दोनों मात्र से कार्य सधता नहीं। विक्रम ज्ञान और विनीत-मति ये तीनों राजपद के लिए परम आवश्यक हैं। अपने इस सिद्धान्त की पुष्टि में उन्होंने कई दृष्टान्त दिये हैं। केवल पौरुष पर आश्रित सिंह चिरकाल तक सुख-पूर्वक रहने नहीं पाता[3]। बुद्धि का आश्रय ग्रहण कर पराक्रम-सम्पन्न सिंह का वध कर दिया जाता है। शास्त्र-ज्ञान-रहित प्रज्ञावान् पुरुष शत्रु द्वारा बन्धन को उसी प्रकार प्राप्त होता है, जिस प्रकार कि शूर पुरुष शस्त्रहीन होने पर शत्रु के वश हो हो जाता है[4]। नेत्रों द्वारा पदार्थ अदृश्य होने पर भी शास्त्ररूपी तीसरे नेत्र से उसका ज्ञान प्राप्त कर लिया जाता है[5]। जिसने शास्त्र-ज्ञान प्राप्त नहीं किया है, वह नेत्र-विहीन पुरुष के समान है[6]। अज्ञानी पुरुष पशुवत् होता है[7]। सोमदेव ने मूर्खराजावाले राज्य की अपेक्षा अराजक राज्य को अच्छा बतलाया है[8]।

इस प्रकार सोमदेव ने आदेश दिया है कि राजपद बुद्धिमान्, शास्त्र का यथार्थ ज्ञान रखने वाले लोक व्यवहार में निपुण विक्रमसम्पन्न राजकुमार को प्राप्त होना चाहिए।

(ङ) संस्कार-सिद्धान्त—प्राचीन भारत में राजपद-प्राप्ति के निमित्त राज्या-भिषेक संस्कार अनिवार्य बतलाया गया है। उस युग में अनभिषिक्त राजा राज्य का वैध अधिकारी नहीं समझा जाता था। राज्याभिषेक-सम्बन्धी कृत्य का

१ वार्ता ९ समु ५ नीतिवा। २ वार्ता ११ समु ५ नीतिवाक्यामृत।
३ वार्ता १२ समु ५ नीतिवा। ४ वार्ता १३ समु ५ नीतिवाक्यामृत।
५ वार्ता १४ समु ५ नीतिवा। ६ वार्ता १५ समु ५ नीतिवाक्यामृत।
७ वार्ता १६ समु ५ नीतिवा। ८ वार्ता १७ समु ५ नीतिवाक्यामृत।

अनुष्ठान किये बिना राजपद पर आसीन हो जाने पर भी राजा भारतीय जनता की दृष्टि में अवैध राजा ही समझा गया है। वैदिक युग में इस संस्कार के अवसर पर जनता के प्रतिनिधि एकत्र होते थे और भावी राजा की नियुक्ति हेतु अपनी अनुमति देते थे। राज्याभिषेक-सम्बन्धी यह प्रथा प्राचीन भारत में निरन्तर प्रचलित रही। ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता गया और मनुष्य की जीवन-सम्बन्धी समस्याएँ जटिल होती गयी, उसी के साथ-साथ राज्याभिषेक के कृत्यों की पद्धति एवं उसके कृत्यों में भी जटिलता एवं वृद्धि होती गयी।

सोमदेव ने राज्याभिषेक की पद्धति अथवा उसके कृत्यों का उल्लेख नीतिवाक्यामृत में नहीं किया है। अतः इस संस्कार के स्वरूप एवं उसकी दृष्टि में राजपद के लिए उसकी आवश्यकता पर सोमदेव के क्या विचार थे इसे उन पर कुछ भी प्रकाश डाला नहीं जा सकता और यह भी निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि राजाओं के लिए यह संस्कार उनके मतानुसार अनिवार्य योग्यता के रूप में था अथवा वह इसे समय-परिवर्तन के साथ-साथ आवश्यक कृत्य समझते थे, जैसा कि आगे चलकर चण्डेश्वर ने इस कृत्य के विषय में अपना मत व्यक्त किया है।

सोमदेव के संस्कार-सिद्धान्त से उनका तात्पर्य उन संस्कारों का विधिवत् पालन करने से है जो कि प्रत्येक व्यक्ति के, अपनी जाति विशेष के अनुसार होने चाहिए। सोमदेव ने राजपद के लिए यह आवश्यक योग्यता निर्धारित की है कि अपनी जाति के अनुसार संस्कारों का अनुष्ठान किया हुआ पुरुष राजपद के लिए प्रत्याशी होना चाहिए। सोमदेव के मतानुसार पुरुष जिस जाति में उत्पन्न हुआ है, उस जाति में विहित संस्कारहीन पुरुष को राज्याधिकार से बहिष्कृत समझा जाना चाहिए।[1] उनका मत है कि जिस प्रकार असंस्कृत उत्तम रत्न भी आभूषण हेतु अनुपयुक्त होता है, उसी प्रकार कुलीन वंश में उत्पन्न होने पर भी असंस्कृत राजकुमार शासन-पद के अयोग्य होता है।[2]

संस्कार-सिद्धान्त के इस स्वरूप से यह भी सिद्ध होता है कि सोमदेव राज्याधिकार क्षत्रियवर्ग तक ही सीमित रखना उचित नहीं समझते। राजा किसी भी जाति का हो सकता है, परन्तु वह उस जाति के लिए निर्धारित संस्कारों से युक्त होना चाहिए।

(च) चरित्र-सिद्धान्त—प्राचीन भारत में राजतन्त्रात्मक राज्यों में सबसे प्रमुख एवं महत्त्वपूर्ण पद राजपद बतलाया गया है। परन्तु राजपद के महत्त्व का मूल कारण

१. वही ११ एवं ... नीतिवा... । २. वही १८ ... नीतिवाक्यामृत ।

राजा का उच्च आचरण माना गया है। सोमदेव ने भी राजपद के लिए उच्च आच रण की आवश्यकता बतलायी है। राजा अपनी प्रजा के लिए आदर्श चरित्र की साक्षात् मूर्ति होता है और उसके द्वारा प्रजा को उत्तम चरित्र धारण करने के लिए प्रतिक्षण प्रेरणा मिलती रहती है।

राजा उच्च चरित्र धारण करने के निमित्त सर्वप्रथम अपने अन्तरंग शत्रुओं का मूलोच्छेदन करे। सोमदेव ने इन अन्तरंग शत्रुओं को अरिषड्वर्ग नाम से सम्बोधित किया है। काम क्रोध लोभ मद, मान और हर्ष को उन्होंने राजाओं के अन्तरंग अरि अथवा अरिषड्वर्ग की संज्ञा दी है। राजा सर्वप्रथम इन पर विजय प्राप्त करे, सोमदेव का ऐसा मत है[1]। कौटिल्य ने भी इसी अरिषड्वर्ग को दमन कर इन्द्रिय-विजय करना राजा का परम कर्तव्य निर्धारित किया है[2]। अविजितेन्द्रिय राजा राज्य के गुरु भार को वहन करने में कभी समर्थ नहीं हो सकता।

राजा को विनयशील होना चाहिए। सोमदेव का मत है कि संसार में भूकम्प आदि अनेक उत्पात बतलाये गये हैं। इन उत्पातों से बचने के भी उपाय एवं साधन होते हैं। परन्तु राजा के दुर्विनीत हो जाने से प्रजा के विनाश हेतु जो उत्पात खड़े हो जाते हैं उनके शान्त करने का एक भी उपाय नहीं होता[3]। इसलिए राज्य के योगक्षेम के निमित्त राजा का विनयसम्पन्न होना अनिवार्य है। सोमदेव ने दुर्विनीत राजा की व्याख्या करते हुए बतलाया है कि जो राजा युक्त और अयुक्त (योग्य और अयोग्य) विषय में विवेकहीन है और अयोग्यों का आदर एवं योग्यों का अनादर करता है तथा जो शिष्ट पुरुषों के आचरण को न मानकर पापाचरण में रत रहता है वह दुर्विनीत होता है[4]। सोमदेव का मत है कि जो राजा विद्यावृद्ध पुरुषों का सत्संग नहीं करता और स्वेच्छापूर्ण आचरण करता है वह निरंकुश गज के समान तुरन्त नाश को प्राप्त होता है[5]।

इन गुणों के अतिरिक्त सोमदेव ने राजपद के लिए कतिपय अन्य गुणों का भी निर्धारण किया है। उनका मत है कि राजा धर्मपरायण विशुद्ध वंश में उत्पन्न कुलाचार के अनुसार आचरण करनेवाला प्रतापवान् और न्यायनिपुण होना चाहिए। उसे आवश्यकतानुसार दुष्टों पर कोप और साधुओं पर हर्ष प्रदर्शन करनेवाला आत्म विकास का अविच्छिन्न वर्धन करनेवाला और स्वतन्त्र विचार रखनेवाला (दूसरों के

१ वार्ता १ समु ४ नीतिवाक्यामृत। २ वार्ता १ अ ७ अधि १ अर्थ।
३ वार्ता १९ समु ५ नीतिवाक्यामृत। ४ वार्ता ६२ समु ५ नीतिवाक्यामृत।
५ वार्ता ४ समु ५ नीतिवाक्यामृत। ६ वार्ता १ समु १७ नीतिवाक्यामृत।

दुर्व्यसनों में न आनेवाला) होना चाहिए[1]। उसे दानशील और उपकारी एवं कृतज्ञ होना चाहिए[2]। इन गुणों के अतिरिक्त सोमदेव ने राजपद के लिए कतिपय दुर्गुणों का भी उल्लेख करते हुए बतलाया है कि राजा इन दुर्गुणों का सर्वथा त्याग कर दे। ये दुर्गुण असत्यभाषण, व्यसन, क्षुद्र पारिषदों का रखना, अकृतज्ञता, अविवेकता, आत्मपोषिता, अनुत्साह, अन्याय आदि हैं। राजा के असत्यवादी होने से उसके अन्य सभी गुणों का नाश हो जाता है[3]। व्यसनी राजा शीघ्र नष्ट हो जाता है और उसके परिजन उसका परित्याग कर देते हैं[4]। जिस राजा के पारिषद् क्षुद्र होते हैं, उसका आश्रय लेना सर्पवान् पुरुष के आश्रय के समान बतलाया गया है। क्षुद्र-पारिषद् राजा किसी के भी आश्रययोग्य नहीं होता[5]। कृतघ्न राजा पर आपत्ति आने पर उसका कोई सहायक नहीं होता[6]। जो राजा अविवेकी है, शिष्ट पुरुष उसका आश्रय त्याग देते हैं[7]। आत्मभरण में लीन राजा को उसकी स्त्री भी त्याग देती है[8]। अनुत्साह सम्पूर्ण आपत्तियों का द्वार माना गया है[9]। अन्यायी राजा शीघ्र राज्य-विहीन हो जाता है[9]। जिस राज्य में राजा न्यायपूर्ण शासन करता है, उस राज्य में प्रजा के निमित्त सम्पूर्ण दिशाएँ कामधेनु के समान सभी कामनाओं को तुष्ट करने वाली होती हैं। ऐसे राज्य में समय पर मेघ वर्षा करते हैं और सभी आपदाएँ शान्त हो जाती हैं[10]। राजा का व्यसनमुक्त रहना परम आवश्यक बतलाया गया है। सोमदेव ने स्त्री, पान, मृगया, द्यूत आदि अट्ठारह व्यसन बतलाये हैं। उनका मत है कि एक व्यसनमात्र के कारण ही चतुरंगिणी सेनावाला राजा भी विनाश को प्राप्त होता है, फिर उस राजा के विनाश के विषय में कहना ही क्या है, जो अट्ठारहों व्यसनों से ग्रस्त है[1]।

इस प्रकार सोमदेव ने यह बतलाया है कि चरित्रहीन राजा राजपद के लिए निर्धारित अन्य योग्यताओं को धारण करने पर भी सर्वथा अयोग्य ही माना जायगा।

(ख) शारीरिक परिपूर्णता-सिद्धान्त—प्राचीन भारत में राज्याधिकारी होने के लिए जहाँ अन्य योग्यताएँ बतलायी गयी हैं, वहाँ शारीरिक परिपूर्णता भी एक अनिवार्य

१ वार्ता २ समु १७ नीतिवाक्यामृत। २ वार्ता ८,९ समु १७ नीतिवाक्यामृत।
३ वार्ता ९ समु १७ नीतिवाक्यामृत। ४ वार्ता ७ समु १७ नीतिवाक्यामृत।
५ वार्ता १४ समु १७ नीतिवाक्यामृत। ६ वार्ता १५ समु १७ नीतिवाक्यामृत।
७ वार्ता १६ समु १७ नीतिवाक्यामृत। ८ वार्ता १७ समु १७ नीतिवाक्यामृत।
९ वार्ता १८ समु १७ नीतिवाक्यामृत। १ वार्ता २ समु १७ नीतिवाक्यामृत।
११ वार्ता ५१ समु १७ नीतिवाक्यामृत। १२ वार्ता ३१ समु १६ नीतिवाक्यामृत।

योग्यता निर्धारित की गयी है। अवदोष अथवा अङ्गहीनता शारीरिक अपूर्णता समझी गयी है। उस युग में लोगों का विश्वास था कि अङ्गहीन व्यक्ति द्वारा किये गये यज्ञ को देवगण स्वीकार नहीं करते[1]। प्रजा-परिपालन एवं प्रजारञ्जन-कार्य भी एक महान् यज्ञ है जिसमें राजा होता का स्थान ग्रहण करता है। अतः अङ्गहीन राजा द्वारा किये गये इस यज्ञ को देवगण स्वीकार नहीं कर सकते। इस सिद्धान्त के अनुसार अङ्गहीन व्यक्ति को राज्याधिकार से वंचित रखा गया है। राज्याधिकार के इस सिद्धान्त की सम्पुष्टि प्राचीन भारत के लगभग सभी राजशास्त्र-प्रणेताओं ने इसी रूप में की है। प्राचीन भारतीय इतिहास में ऐसे अनेक राजकुमारों का उल्लेख है जो राजपद के लिए अन्य सभी योग्यताओं से सम्पन्न होने पर भी अवदोष के कारण राज्याधिकार से बहिष्कृत समझे गये।

सोमदेव ने भी राजपद की प्राप्ति हेतु अवदोष अयोग्यता घोषित की है। परन्तु उन्होंने प्राचीन भारत के विधान को इस बारे में संशोधन किया है, जो उनकी अपनी सूझ है। इस संशोधन के अनुसार राजा के अन्य योग्य पुत्र के अभाव में अङ्गहीन राजकुमार के लिए भी पुत्र उत्पत्ति-काल तक राजा बनाया जाना विधि-विहित होगा । परन्तु उन्होंने भी सामान्य नियम यही स्वीकार किया है कि अङ्ग-हीन व्यक्ति को राज्याधिकार प्राप्त नहीं है।

इस प्रकार जन्म-सिद्धान्त आचार-सम्मति सिद्धान्त विनय-सिद्धान्त बुद्धि-सिद्धान्त संस्कार-सिद्धान्त चारित्रिक सिद्धान्त और शारीरिक परिपूर्णता-सिद्धान्त के आधार पर राज्याधिकार का निर्णय करना सोमदेव के मतानुसार, विधिविहित बतलाया गया है।

उत्तराधिकार-विधि—उपर्युक्त सिद्धान्तों को दृष्टि में रखकर राज्याधिकार का निर्णय किया जाना सोमदेव ने विधिविहित माना है। इन सिद्धान्तों के अनुसार योग्यताएँ धारण करनेवाले सभी राजकुमार राज्याधिकारी बतलाये गये हैं। परन्तु इतने मात्र से कार्य नहीं चलता। इसलिए उत्तराधिकार-सम्बन्धी विशेष विधियों के निर्माण की आवश्यकता होती है। इसी आवश्यकता की पूर्ति हेतु सोमदेव ने उत्तराधिकार-सम्बन्धी कतिपय विधियों का भी निर्माण किया है। इन विधियों के द्वारा सोमदेव ने राज्य के उत्तराधिकारियों के राज्याधिकार के वास्तविक महत्त्व को अंकित करते हुए स्पष्ट व्यवस्था दी है कि राज्य का सर्वप्रथम अधिकारी निज

१ श्लोक ३५ अ० १४९ उद्योग पर्व महाभारत।
२ वही ७ सू० २४ नीतिवाक्यामृत।

राजकुमार को समझा जाय और उसके अभाव में किस व्यक्ति को राजपद देना उचित होगा।

सोमदेव ने राज्याधिकारी सात व्यक्ति माने हैं। राजपद के लिए उपर्युक्त योग्यताओं का धारण करना इन सातों प्रकार के राज्याधिकारियों के लिए आवश्यक है। इन सात प्रकार के राज्याधिकारियों में सर्वप्रथम स्थान शासक राजा के पुत्र को दिया गया है। पुत्र के अभाव में राजा के सहोदर भाई को राज्य प्राप्त होना चाहिए। यदि सहोदर भाई भी न हो तो शासक राजा के सौतेले भाई को राजपद देना उचित होगा। यदि सौतेला भाई न हो तो राजा के पिता के भाई को राजपद पर अभिषिक्त करना चाहिए। यदि यह भी न हो तो राजा के कुल में उत्पन्न पुत्र को राजपद मिलना चाहिए। यदि यह भी न हो तो राजा की पुत्री के पुत्र को राजा बनाना विधिविहित होगा। राजा के नाती (दौहित्र) के अभाव में किसी भी योग्य व्यक्ति को जो राजपद के अनुरूप योग्यताएँ धारण किये हो राजपद पर आसीन करना विधिविहित होगा। यह स्पष्ट है कि इस अन्तिम राज्याधिकारी के लिए जनविश्वास का उपभोग करना आवश्यक होगा।

परन्तु इन सात प्रकार के राज्याधिकारियों में नारी को स्थान नहीं दिया गया है। इससे स्पष्ट है कि सोमदेव ने नारी को राज्याधिकार से वंचित रखना उचित माना है। कौटिल्य ने नारी को भी राज्याधिकारियों में स्थान दिया है। कौटिल्य का मत है कि राजा के विपन्न होने अथवा राज्यत्याग कर देने पर राजकुमार, राजकुमार का पुत्र, राजपुत्री का पुत्र—इनके अभाव में—राजकन्या अथवा पटरानी राजमहिषी को राजपद पर नियुक्त करना विधिविहित होगा[1]। इस दृष्टि से कौटिल्य की अपेक्षा सोमदेव ने नारी के अधिकारों को सङ्कीर्ण करने का प्रयास किया है। उन्होंने स्पष्ट व्यवस्था दी है कि नारी को केवल चार विषयों में स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए, अन्यत्र नहीं। नारी की स्वतन्त्रता के ये चार विषय सन्तति का पालन-पोषण, गृहकार्य, शरीर-संस्कार (शरीर का सजाना) और शयन के अवसर बतलाये हैं[2]। इस प्रकार सोमदेव ने नारी के अधिकार सीमित रखने का प्रतिपादन किया है।

राजा के कर्तव्य—प्राचीन भारत में राजा की नियुक्ति प्रजा की सेवा हेतु की जाती थी। इसलिए उस युग में कुछ ऐसे कार्य निर्धारित कर दिये गये थे जिनका

१ वार्ता ४१ अ १ अधि ५ अर्थ ।
२ वार्ता १९ सनु २४ नीतिवाक्यामृत।

सम्पादन राजा के कर्तव्य-क्षेत्र के अन्तर्गत माना गया है। सोमदेव ने भी राजा के कुछ ऐसे कर्तव्यों का उल्लेख नीतिवाक्यामृत में किया है। राजा के ये कर्तव्य इस प्रकार बतलाये गये हैं—

(क) वर्णाश्रम-व्यवस्था का सम्यक् संचालन—प्राचीन भारत में व्यक्ति और उसके समाज के कल्याण हेतु वर्णाश्रम-व्यवस्था का निर्माण किया गया था। उस युग की जनता का विश्वास था कि इस व्यवस्था के सम्यक् कार्यान्वित होने से मनुष्य इस लोक में सुखी और शान्तिमय जीवन व्यतीत कर मरने के उपरान्त भी अनन्त सुख का भोग करता है। इस व्यवस्था को विधिवत् संचालित रखना राजा का कर्तव्य बतलाया गया है।

सोमदेव ने भी इस व्यवस्था के विधिवत् संचालन का भार राजा को सौंपा है। सोमदेव ने व्यवस्था दी है "स्वधर्म का अतिक्रमण करनेवाले पुरुष को राजा स्वधर्मपालन हेतु पुनः नियोजित करता है। इसीलिए राजा सबसे महान् पुरुष होता है। अपने इस कर्तव्य के पालन करने से वह प्रजा के पुण्य का भागी होता है तथा सभी के धर्मों (वर्णाश्रमधर्म) की रक्षा करने के कारण उनके द्वारा किये पुण्य कर्मों का षष्ठांश राजा को प्राप्त होता है[2]। जिस राज्य की प्रजा में वर्णसंकर नहीं होता वहाँ धर्म अर्थ और काम की उपलब्धि होती है[3]।

इस प्रकार सोमदेव ने इन शब्दों में वर्णाश्रम-व्यवस्था की सम्यक् स्थापना एवं उसके विधिवत् संचालन का गुरु भार राजा को सौंपा है। इस विषय में कौटिल्य ने भी व्यवस्था दी है—"अपने-अपने धर्म का पालन स्वर्ग और मोक्ष के निमित्त होता है[4]। यदि धर्मों का लोप किया गया तो वर्णसंकरता होकर संसार में उथल-पुथल मच जायगी[5]। जब वर्णाश्रम-धर्म की मर्यादा राजा द्वारा स्थापित हो जाती है तो इस प्रकार सुरक्षित होकर जगत् प्रसन्न रहता है, कभी पीड़ित नहीं होता[6]। राजा द्वारा सुरक्षित हुए चारों वर्ण और चारों आश्रम अपने-अपने धर्म और कर्म में संलग्न और स्वकर्तव्य-पालन में रत रहते हैं[7]।

मनु भीष्म कामन्दक शुक्र आदि सभी राजशास्त्र-प्रणेताओं ने वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था की स्थापना एवं उसका प्रजा में विधिवत् संचालन करना राजा का

१ वार्ता १२ अनु० ७ नीतिवा० । २ वार्ता २१ अनु० ७ नीतिवाक्यामृत ।
३ वार्ता ३ अनु० ७ नीतिवा० । ४ वार्ता १४ अ० ३ अधि० १ अर्थ० ।
५ वार्ता १५ अ० ३ अधि० १ अर्थ० । ६ श्लोक १६ अ० ३ अधि० १ अर्थ० ।
७ श्लोक १७ अ० ३ अधि० १ अर्थशास्त्र ।

प्रधान कर्तव्य निर्धारित किया है। सोमदेव ने इन सभी राजशास्त्र-प्रणेताओं का अनुसरण किया है।

(ख) प्रजापरिपालन—अपने अधीन राज्य की प्रजा का परिपालन एवं उसकी प्रत्येक प्रकार की रक्षा करना राजा का कर्तव्य बतलाया गया है। सोमदेव ने राजा के इस कर्तव्य को लक्षित करते हुए स्पष्ट व्यवस्था दी है—"वह राजा किस काम का है अर्थात् व्यर्थ ही राजा कहलाता है जो अपने अधीन प्रजा की रक्षा नहीं करता"[1]। सोमदेव ने उसी राजा को प्रजा से कर ग्रहण करने का अधिकारी माना है जो उसकी रक्षा करता है[2]। उन्होंने प्राणिमात्र की रक्षा करना भी राजा का एक प्रधान कर्तव्य बतलाया है[3]।

प्रत्येक राज्य में कुछ-न-कुछ दुष्ट-स्वभाव प्राणी अवश्य होते हैं। इन दुष्ट प्राणियों का दमन करना तथा जो परिपन्थी एवं शत्रु, राज्य की प्रजा को कष्ट देने का प्रयत्न करते रहते हैं उन परिपन्थियों एवं शत्रुओं का निग्रह करना और इसी प्रकार शिष्ट पुरुषों का परिपालन करना राजा का प्रधान कर्तव्य सोमदेव द्वारा निर्धारित किया गया है[4]। सोमदेव ने इसीलिए राज्य की परिभाषा करते हुए बतलाया है कि पृथिवीपालन हेतु उचित कर्मों का सम्पादन राज्य होता है[5]। राज्य की स्थापना का मूल उद्देश्य प्रजापरिपालन है।

प्रजारक्षण एवं प्रजापरिपालन-सम्बन्धी राजा के कर्तव्य के विषय में मनु, भीष्म कौटिल्य, शुक्र आदि सभी ने इसी प्रकार महत्त्व दिया है। भीष्म ने इसी आधार पर उस राज्य को सर्वश्रेष्ठ राज्य बतलाया है जिसमें समस्त प्राणी निर्भय होकर उस प्रकार विचरण करते हैं, जिस प्रकार पुत्र अपने पिता के घर में अपने को सुरक्षित समझकर, निर्भय होकर विचरते रहते हैं[6]।

(ग) न्याय-व्यवस्था की स्थापना—प्रजा के अधिकारों की रक्षा हेतु न्याय-व्यवस्था की स्थापना अनिवार्य समझी गयी है। राज्य में न्याय होता रहे और एक प्राणी दूसरे प्राणी के अधिकारक्षेत्र पर आक्रमण न करने पाये इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु सोमदेव ने भी न्याय-व्यवस्था की स्थापना और उसके सम्यक् सञ्चालन का भार राजा को सौंपा है। इस विषय में सोमदेव ने इस प्रकार व्यवस्था दी है— अपने

१ वार्ता २१ समु० ७ नीतिवा०। २ वार्ता १९ समु० ७ नीतिवाक्यामृत।
३ वार्ता ८ समु० ७ नीतिवा०। ४ वार्ता २ समु० ५ नीतिवाक्यामृत।
५ वार्ता ४ समु० ५ नीतिवाक्यामृत।
६ श्लोक २१ अ० ५७ शान्तिपर्व महाभारत।

अधीन प्रजा के गुण-दोष की सुरक्षा एवं वसुता के ज्ञान हेतु राजा गुप्तचर के समान होता है[1]। अर्थात् राजा का यह कर्तव्य है कि वह प्रजा के मध्य न्याय-व्यवस्था की स्थापना कर उसका विधिवत् संचालन करे। इस कार्य के सम्पादन हेतु राजा राज्य में विविध प्रकार के न्यायालयों की स्थापना कर उनमें न्यायाधीशों की नियुक्ति करे। सोमदेव ने भी विविध प्रकार के न्यायालयों की स्थापना हेतु व्यवस्था दी है[2]। इन न्यायालयों में किस प्रकार के न्यायाधीशों की नियुक्ति होनी चाहिए तथा उन्हें किस कार्यप्रणाली का आश्रय लेना चाहिए, आदि विषयों पर भी उन्होंने व्यवस्थाएँ दी हैं[3]।

इस प्रकार राज्य में न्याय-व्यवस्था की स्थापना एवं उसके विधिवत् संचालन की सम्यक् व्यवस्था करना राजा का प्रधान कर्तव्य सोमदेव द्वारा बतलाया गया है।

(च) असहाय तथा अनाथ-परिपोषण—राज्य में कुछ प्राणी असहाय एवं अनाथ होते हैं। उनके भरण-पोषण का कोई साधन नहीं होता। इसलिए ऐसे अनाथ अथवा असहाय प्राणियों के भरण-पोषण का भार उस राज्य के राजा पर होता है। इस तथ्य को सोमदेव ने भी स्वीकार किया है। उन्होंने सभी प्रकार के अनाथ एवं असहाय व्यक्तियों के भरण-पोषण का भार राजा को सौंप कर उसे उसके कर्तव्य-क्षेत्र के अन्तर्गत सम्मिलित किया है।

राजा की दिनचर्या—सोमदेव ने अपने नीतिवाक्यामृत में दिवसानुष्ठान समुद्देश के अन्तर्गत राजा की दिनचर्या दी है। इस दिनचर्या में राजा के स्वास्थ्यकाम, उसके भोजन-शयन, उसके गमनागमन, उसके द्वारा शासन-सम्बन्धी कार्यों के अवलोकन आदि के नियमों का उल्लेख कर राजा के दैनिक जीवन को नियमबद्ध करने का प्रयास किया गया है। इस प्रकरण में कोई नवीनता जान नहीं पड़ती। कौटिल्य ने राजा की जो दिनचर्या अर्थशास्त्र में दी है उसके समक्ष यह फीकी सी लगती है।

राजा की रक्षा—सोमदेव का मत है कि राजा के रक्षित रहने में सभी की रक्षा होती है, इसलिए अपने और पराये सभी लोगों से राजा की रक्षा की जानी चाहिए[4]। राजा की रक्षा के मार्ग में उसके परिशिष्ट पुरुष (स्त्रियां) पुत्र तथा दायभागी विशेष बाधक होते हैं सोमदेव का ऐसा मत है[5]। इसलिए ऐसे राजा को सुरक्षित रखने के लिए सोमदेव ने अनेक उपाय बतलाये हैं। ये उपाय परम्परागत हैं। इनमें सोम-

१ वार्ता १ समु २८ नीतिवा। २ वार्ता २१ समु २८ नीतिवा।
३ वार्ता ३,१५ समु २८ नीतिवा। ४ वार्ता ९ समु ८ नीतिवा।
५ वार्ता १ समु २४ नीतिवा। ६ वार्ता ७ समु २४ नीतिवा।

देव की कोई नवीन सूझ नहीं है। इसलिए इसकी विशेष व्याख्या करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। शान्तिपर्व में राजा को रक्षित रखने पर इन्होंने विशेष महत्त्व दिया है।

मन्त्रियों की आवश्यकता—सोमदेव का मत है कि अकेला मनुष्य किसी भी कार्य के सिद्ध करने में असमर्थ होता है[1]। जैसे एक पहिए के सहारे गाड़ी चल नहीं सकती[2] अथवा बिना वायु का आश्रय लिये हुए ईंधन होते हुए भी अग्नि प्रज्वलित नहीं होती इसी प्रकार अकेले मनुष्य से कार्य नहीं चल सकता। अतः कार्य-सम्पादन हेतु दूसरे का आश्रय लेना ही पड़ता है।

राज्य-संचालन के लिए अनेक पुरुषों की आवश्यकता होती है। सोमदेव का मत है कि राजा प्रत्येक कार्य का आरम्भ सचिवगण मन्त्र-निर्णय कर लेने के उपरान्त करे। इसीलिए सोमदेव ने स्पष्ट व्यवस्था दी है कि जो राजा अपने मन्त्रिमण्डल द्वारा दी गयी मन्त्रणा का अतिक्रमण कर कार्य आरम्भ कर देता है, वह राजपद से भ्रष्ट हो जाता है। इस प्रकार सोमदेव ने राजा के लिए मन्त्रियों की परम आवश्यकता बतलायी है। उन्होंने मन्त्री को राजा का हृदय माना है[8]। जिस प्रकार मनुष्य के जीवित रहने के लिए हृदय का होना अनिवार्य है उसी प्रकार राजा के लिए मन्त्री अनिवार्य होता है।

इसके अतिरिक्त यह भी विचारणीय है कि एक ही मनुष्य में वे सभी गुण हों जो शासन-सम्बन्धी कार्य के निमित्त सद्-मन्त्रणा हेतु वांछनीय हैं। यह सम्भव नहीं। इसलिए राजा एक ही व्यक्ति से शासन-सम्बन्धी समस्त विषयों में वास्तविक मन्त्रणा प्राप्त कर सके सम्भव नहीं। इसीलिए सोमदेव ने एक अथवा दो मन्त्री रखने का निषेध किया है। उन्होंने अनेक विषयों के ज्ञाता एवं सदाचरण में रत तीन पाँच अथवा सात मन्त्रियों के रखने की व्यवस्था दी है। मन्त्रियों की नियुक्ति की आवश्यकता का एक और कारण दिया है। वह है समय पर सद्मन्त्रणा की प्राप्ति की सुविधा। उनका मत है कि कार्य उपस्थित हो जाने पर उसके सम्पादन हेतु मन्त्रणा करने एवं तदनुसार कार्य आरम्भ करने के लिए योग्य पुरुषों का प्राप्त करना दुर्लभ

१ वार्ता २ समु १८ नीतिवा । २ वार्ता ३ समु १८ नीतिवाक्यामृत।
३ वार्ता ४ समु १८ नीतिवा । ४ वार्ता २२ समु १ नीतिवाक्यामृत।
५ वार्ता ५८ समु १ नीतिवा । ६ वार्ता ५५ समु १ नीतिवाक्यामृत।
७ वार्ता १६,५८ समु १ नीतिवाक्यामृत।
८ वार्ता ७१ समु १ नीतिवाक्यामृत।

होता है[1]। इसलिए ऐसे पुरुषों का संग्रह उनकी आवश्यकता होने के पूर्व ही होना चाहिए। घर में आग लग जाने पर आग शान्त करने के लिए जल-प्राप्ति हेतु कुआ खोदना व्यर्थ ही होता है[2]। इसलिए राजा के लिए मंत्री रखना अनिवार्य है।

इन शब्दों में सोमदेव ने राजा के लिए मंत्रियों का रखना अनिवार्य बतलाया है।

मंत्रि-संख्या—सोमदेव ने अमात्य-परिषद्, मंत्रि-परिषद् अथवा मंत्रि-मण्डल का उल्लेख कहीं नहीं किया है। अतः यह सप्रमाण कहा नहीं जा सकता कि इस विषय में उनका क्या मत था। उन्होंने मंत्रि-संख्या पर अपना मत स्पष्ट व्यक्त किया है। उनका मत है कि राजा एक मंत्री न रखे[3]। एक मंत्री से मंत्रणा करने से मतभेद के स्थान में मंत्र का निश्चय नहीं हो सकता। एक मंत्री होनेपर वह अपनी इच्छानुसार सोचे-विचारे बिना उच्छृंखल रूप से कार्य कर सकता है[4]। दो मंत्रियों से मंत्रणा करने पर भी कार्य की सिद्धि नहीं हो पाती। दो मंत्रियों का परस्पर मिल जाना स्वाभाविक है। दोनों में मतभेद होने पर मंत्र का निर्णय नहीं हो सकता इस प्रकार राज्य का नाश हो जाएगा[5]। इस लिए तीन पाँच अथवा सात मंत्री होने चाहिए। इससे अधिक मंत्रियों के रखने का निषेध किया गया है। मंत्रिसंख्या के विषय में सोमदेव ने जो अपना मत दिया है, वह लगभग वही है जो कि कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में व्यक्त किया है।

मंत्र-निर्णय—मंत्र-निर्णय का आधार क्या होना चाहिए, इस विषय में भी सोमदेव ने अपना मत व्यक्त किया है। उनका मत है कि मंत्र-निर्णय में बहुपक्ष का आश्रय ही सदा किया जाय यह उचित या आवश्यक नहीं है। जिसमें बहु-गुण देख पड़े उसी को कार्यान्वित करना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि जिस मंत्री अथवा जिन मंत्रियों द्वारा दी गयी मंत्रणा बहुगुणवती है चाहे वह मंत्रणा अल्पपक्ष पर ही आश्रित क्यों न हो उसी को कार्यान्वित करना उचित होगा। इस लिए सोमदेव के मतानुसार सद्मन्त्रणा का मापदण्ड गुण है बहुपक्ष नहीं। यदि मंत्रियों का बहुपक्ष निर्णय गुणयुक्त कार्य का पोषण नहीं करता है तो ऐसी मंत्रणा का त्याग कर देना चाहिए। सोमदेव का कहना है जिस प्रकार अन्धों का महान्

१ वार्ता ८३ लघु १ नीतिवा। २ वार्ता ८४ लघु १ नीतिवा।
३ वार्ता ६६ लघु १ नीतिवा। ४ वार्ता ६७ लघु १ नीतिवा।
५ वार्ता ६८ लघु १ नीतिवा। ६ वार्ता ६९ लघु १ नीतिवा।
७ वार्ता ७ लघु १ नीतिवा। ८ वार्ता ७१ लघु १ नीतिवा।
९ वार्ता ७५ लघु १ नीतिवा।

अनुरक्त होने पर भी रूपदर्शन करने में असमर्थ ही रहेगा। इसी प्रकार बहुत से मन्त्रियों द्वारा दी गयी गुणहीन मन्त्रणा से कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती। ऐसी परिस्थिति में गुणसम्पन्न मन्त्रणा जिसका आधार अल्पमत ही क्यों न हो ग्रहण करना उचित है[१]। इस सिद्धान्त की पुष्टि में वह दृष्टान्त देते हैं—"यह देखा जाता है कि दो बलवान् बैल गुरु भार के वहन करने में समर्थ होते हैं। ठीक इसी प्रकार दो (एक अथवा दो) मन्त्रियों द्वारा दी गयी यथोक्त गुणसम्पन्न मन्त्रणा ग्रहणीय होती है[२]।

इस प्रकार सोमदेव ने मन्त्र-निर्णय का आधार बहुमत न मानकर गुण एवं कार्य-सिद्धि की श्रेष्ठता को माना है। इस दृष्टि से मन्त्र-निर्णय-सम्बन्धी इस विषय में सोमदेव ने अपने पूर्व के उन आचार्यों के मत से भिन्न मत प्रकट किया है।

मन्त्रि-पद की योग्यताएँ—राज्य में राजपद के उपरान्त मन्त्रिपद का महत्त्व बतलाया गया है। इसलिए इस पद के निमित्त कतिपय विशेष योग्यताएँ भी निर्धारित की गयी हैं। सोमदेव ने भी इस महत्त्वपूर्ण पद के निमित्त निम्नलिखित योग्यताएँ निर्धारित की हैं।

(क) निवास-योग्यता—सोमदेव का मत है कि मन्त्रिपद उसी राज्य के उत्पन्न हुए पुरुष को देना उचित होगा[३]। विदेशी को मन्त्रिपद देना सोमदेव अनुचित समझते हैं। अपने इस सिद्धान्त की पुष्टि में उन्होंने यह हेतु दिया है कि समस्त पक्षपातों में स्वदेश-पक्षपात महान् होता है[४]। इस सिद्धान्त के मूल में यह रहस्य है कि राज्य के जन्मजात निवासी होने से मनुष्य उस राज्य से आबद्ध होता है और ऐसी परिस्थिति में वह राज्य के कल्याण में अपना कल्याण और उसके अकल्याण में अपना अकल्याण समझता है। इसलिए अपने इस राज्य के प्रति उसकी अटूट आस्था एवं निष्ठा रहती है। स्वदेशज मन्त्री अपनी मातृभूमि के प्रति विश्वासघात करने का साहस नहीं कर सकेगा। विदेशी का हित अपने राज्य के हित में आबद्ध होता है। समय पड़ने पर विदेशी मन्त्री का अपने राज्य के राजा से मिल जाना असाधारण बात नहीं है। इसलिए विदेशी व्यक्ति को राज्य-सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण पद कभी नहीं देना चाहिए, विशेष रूप से राज्य का वह पद जिस पर कि राज्य का भविष्य ही निर्भर हो।

१ वार्ता ७८ समु १ नीतिवा। २ वार्ता ७७ समु १ नीतिवा।
३ वार्ता ५१ समु १ नीतिवा। ४ वार्ता ५ समु १ नीतिवा।
५ वार्ता ६ समु १ नीतिवा।

आधुनिक युग के लगभग प्रत्येक राज्य में इस सिद्धान्त का कठोरता से पालन किया जाता है। प्राचीन भारत में भी मंत्री का स्वदेशज होना मंत्रिपद के लिए अनिवार्य योग्यता निर्धारित की गयी थी। भीष्म कौटिल्य कामन्दक आदि राज शास्त्र-प्रणेताओं ने मंत्रिपद के लिए स्वदेशज होना अनिवार्य बतलाया है[१]।

(ख) आचार-शुद्धि—मंत्रिपद के लिए दूसरी अनिवार्य योग्यता सोमदेव के मतानुसार, आचार-शुद्धि है[२]। उनका कहना है कि जिस प्रकार विषयुक्त अन्न शरीर के सभी गुणों का नाश कर देता है, उसी प्रकार दुराचार मंत्री के सभी गुणों का नाश कर, राज्य का भी नाश कर देता है[३]। इस प्रकार सोमदेव ने आचार-शुद्धि को महत्त्व देकर सर्वगुण सम्पन्न होने पर भी दुराचारी पुरुष को मंत्रिपद के अयोग्य घोषित किया है। प्राचीन भारत में सभी राजशास्त्र प्रणेताओं ने आचार-शुद्धि मंत्रि परिषद् के लिए अनिवार्य योग्यता निर्धारित की है।

(ग) व्यभिचार-विशुद्धि—सोमदेव ने मंत्रिपद के लिए अभिजन-विशुद्धि तृतीय अनिवार्य योग्यता निर्धारित की है। अभिजन-विशुद्धि से उनका तात्पर्य निष्कलंक कुलीनता अर्थात् मातृ-पितृपक्ष की विशुद्धता से है। उनके अनुसार दुष्परिजन मंत्री ऊँच-नीच कार्य करने में लज्जित नहीं होता। राजा के प्रति द्रोह अथवा अपकार करने में वह लज्जित नहीं होता। इसलिए दुष्परिजन पुरुष मंत्रिपद के योग्य नहीं होता।

(घ) अव्यसनशीलता—सोमदेव ने मंत्रिपद के लिए चौथी अनिवार्य योग्यता व्यसन-शुद्धि निर्धारित की है। उनका मत है कि व्यसन-ग्रस्त मंत्रीवाला राजा शीघ्र नाश हो जाता है। मंत्र ही राज्य का मूल बतलाया गया है। मंत्र-निर्णय मंत्री के अधीन होता है। व्यसन-ग्रस्त पुरुष अपनी स्वाभाविक दशा में नहीं रह सकता। व्यसन-ग्रस्त होने के कारण उसका मन चलायमान रहता है। वह किसी निश्चित निर्णय तक पहुँच नहीं पाता। ऐसा पुरुष किसी भी समस्या पर यथार्थ निर्णय देने में असमर्थ होता है। इसलिए मंत्री का अव्यसनी होना अनिवार्य है। सोमदेव ने व्यसन-ग्रस्त मंत्रीवाला राजा की उस व्यक्ति से समता दी है, जो कि दुष्ट हाथी पर सवार है। इसलिए मंत्रिपद के निमित्त द्यूत स्त्री पान मृगया आदि व्यसनों

१ श्लोक १९ व ८१ शान्तिपर्व महाभारत।
वार्ता १ अ ९ अधि १ अर्थ। श्लोक १८ सर्ग ४ कामन्दकनीति।
२ वार्ता ५ अनु १ नीतिवा। ३ वार्ता ७ अनु० १ नीतिवा।
४ वार्ता ९ अनु १ नीतिवा। ५ वार्ता ८ अनु० १ नीतिवा।
६ वार्ता ७ अनु १ नीतिवा। ७ वार्ता ९ अनु १ नीतिवा।

से विमुक्त होना अनिवार्य बतलाया गया है। भरद्वाज ने तो मन्त्रिपद के लिए व्यसन-विमुक्ति पर इतना महत्त्व दिया है कि उन्होंने अमात्य का व्यसन राजा के व्यसन से कहीं अधिक अनिष्टकारी माना है। प्राचीन भारत के अन्य राजशास्त्र-प्रणेताओं ने भी मन्त्री को व्यसनी होना राज्य का परम अनिष्टकारी बतलाया है।

(ङ) व्यभिचार-विमुक्ति—सोमदेव ने मन्त्रिपद के लिए पाँचवी योग्यता व्यभिचार-विमुक्ति निर्धारित की है[2]। व्यभिचार से उनका तात्पर्य अप्रशस्त कर्म करने से है। वह लिखते हैं—"जब मन्त्री से कोई कार्य सिद्ध नहीं होता तो विपत्ति उपस्थित होने पर राजा के अनुकूल कार्य नहीं करता अपितु उसके विरोधी कार्य में संलग्न हो जाता है। इस प्रकार आचरण करनेवाले मन्त्री को सोमदेव ने व्यभिचारी मन्त्री बतलाया है। इसीलिए उन्होंने अन्य सभी वाञ्छनीय गुण एवं योग्यताओं को धारण कर लेने पर भी व्यभिचारी पुरुष को मन्त्रिपद देने का निषेध किया है।

(च) व्यवहारतन्त्रज्ञता—सोमदेव ने मन्त्रिपद के लिए समस्त व्यवहारतन्त्रों का ज्ञान होना अनिवार्य योग्यता निर्धारित की है। व्यवहार-तन्त्र से सोमदेव का क्या तात्पर्य है स्पष्ट नहीं है। यदि व्यवहार-तन्त्र से उनका तात्पर्य उन ग्रन्थों से है जो लोकाचार-सम्बन्धी ज्ञान देते हैं, तो ऐसी परिस्थिति में मन्त्री को लोकव्यवहार अथवा लोकाचार का ज्ञाता होना चाहिए। परन्तु प्रसंग से ज्ञात होता है कि सोमदेव के समय में कुछ तन्त्र-ग्रन्थ भी थे। इनमें कृषि वाणिज्य पशुपालन शिल्प कला आदि के व्यावहारिक ज्ञान का वर्णन शास्त्रीय पद्धति के आधार पर होता था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में इस श्रेणी के तन्त्र-ग्रन्थों की ओर संकेत किया गया है। मन्त्री के लिए इस श्रेणी के तन्त्र-ग्रन्थों का ज्ञान प्राप्त किये हुए होना चाहिए।

(छ) अस्त्रज्ञता—मन्त्रिपद के लिए सातवीं योग्यता अस्त्रज्ञता बतलायी गयी है[6]। मन्त्री अस्त्रों का सम्यक् ज्ञाता होना चाहिए। परन्तु सोमदेव अस्त्रज्ञान मात्र से सन्तुष्ट नहीं है। उनके मतानुसार उसको अस्त्रों का व्यावहारिक ज्ञाता भी होना अनिवार्य है, अर्थात् मन्त्री अस्त्र-प्रयोग का कुशल अभ्यासी होना चाहिए। इसीलिए सोमदेव ने स्पष्ट व्यवस्था दी है कि ऐसे अस्त्र से क्या लाभ है जिससे आत्मरक्षा

१ वार्ता ७ अ १ अधि ८ अर्थ । २ वार्ता ५ सूत्र १ नीतिवाक्य ।
३ वार्ता १ सूत्र १ नीतिवाक्य । ४ वार्ता ५ सूत्र १ नीतिवाक्य ।
५ वार्ता १ अ २४ अधि २ अर्थशास्त्र ।
६ वार्ता ५ सूत्र १ नीतिवाक्यामृत ।

न हो सके[1]। समय पड़ने पर राजा के संकट-मोचन हेतु मंत्री को अस्त्र-प्रयोग करने पड़ते हैं। आत्मरक्षा के निमित्त भी आपत्काल में अस्त्रों का आश्रय लेना पड़ता है। इसलिए मंत्री को अस्त्रधारी एवं अस्त्र-प्रयोग का अभ्यासी होना चाहिए।

(ज) उपधा-विशुद्धि—मंत्रिपद के निमित्त अन्तिम परन्तु परम आवश्यक योग्यता उपधा-विशुद्धि बतलायी गयी है[2]। उपधाएँ अनेक हैं। इनमें धर्मोपधा, अर्थोपधा, कामोपधा, भयोपधा आदि मुख्य बतलायी गयी हैं[3]। दूसरे के चित्त की परीक्षा करना उपधा-परीक्षा मानी गयी है। परीक्षा की इस प्रणाली द्वारा प्रत्याशी की गुप्त परीक्षा कर इस निर्णय पर पहुँचा जाता है कि वह व्यक्ति धर्मपरायण है अथवा नहीं, वह कामलोलुप तो नहीं है, वह धनलोभी अथवा शीघ्र भयभीत हो जाने वाला तो नहीं है। मंत्रिपद के लिए प्रत्याशी की इस प्रकार परीक्षा कर उपधा-विशुद्ध व्यक्ति की ही नियुक्ति की जानी चाहिए।

कौटिल्य ने भी सर्वोपधा-विशुद्ध व्यक्ति को मंत्रिपद पर नियुक्त करने की व्यवस्था दी है। प्राचीन भारतीय संस्कृत साहित्य में मंत्री के इस गुण के सम्बन्ध में प्रचुर प्रमाण उपलब्ध हैं।[5]

इस प्रकार सोमदेव ने मंत्रिपद प्राप्ति हेतु आठ अनिवार्य योग्यताएँ निर्धारित की हैं। ये आठ योग्यताएँ राज्य में निवास, आचार-विशुद्धि, अभिजन-विशुद्धि, अव्यसनता, व्यभिचार-विशुद्धि, व्यवहारज्ञता, अस्त्रज्ञता और उपधाविशुद्धि हैं[6]।

मंत्राधिकार-विषय सोमदेव का मत है कि प्रत्येक कार्य का आरम्भ सम्यक् मंत्र के निर्णय कर लेने के उपरान्त होना चाहिए। यथार्थ मंत्र का चयन कर लेने पर ही कार्य की सफलता निर्भर होती है। सोमदेव ने मंत्र का क्षेत्राधिकार बतलाते हुए अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है— अज्ञात विषय का ज्ञान लेना ज्ञात विषय का निश्चय करना, निश्चित विषय को दृढ़ करना, मतभेद के स्थानों में संशय का न रहने देना, एक अंश के ज्ञान होने पर उसके अवशिष्ट अंश का ज्ञान प्राप्त करना आदि कार्य मंत्र द्वारा साधने चाहिए। इस प्रकार सोमदेव के मतानुसार मंत्र का क्षेत्राधिकार इन सभी विषयों तक होता है।

१ वार्ता ११ समु १ नीतिवा । २ वार्ता ५ समु १ नीतिवा ।
३ वार्ता १४ समु १ नीतिवा । ४ श्लोक २४ अ १ अधि १ अर्थ ।
५ श्लोक २२ व ८३ शान्तिपर्व महाभारत ।
जूनागढ़ में प्राप्त स्कन्दगुप्त के समय का अभिलेख ।
६ वार्ता ५ समु १ नीतिवा । ७ वार्ता २१ समु १ नीतिवा ।

ऐसा ज्ञात होता है कि सोमदेव ने कौटिल्य के अर्थशास्त्र से ही उक्त विषय-वस्तु को लेकर अपने नीतिवाक्यामृत में ज्यों-का-त्यों उद्धृत कर दिया है[1]।

मन्त्रि-कर्तव्य—सोमदेव ने मन्त्रि-कर्तव्य की ओर भी संकेत किया है—"आरम्भ नहीं किये हुए कार्य का आरम्भ मन्त्रियों द्वारा किया जाना चाहिए। उन्हें आरम्भ किए हुए कार्य को सम्यक् प्रकार से समाप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए और जिन कार्यों की समाप्ति हो चुकी है, उनमें विशेषता लाने का प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार राज्य के कार्यों के आरम्भ करने उनके विधिवत् समाप्त होने समाप्त हुए कार्यों में विशेषता लाने आदि कार्य मन्त्रियों को करने चाहिए[2]। सम्भवतः ये यह विषयवस्तु भी अर्थशास्त्र से ली है[3]।

पंचांग मन्त्र—सोमदेव ने मन्त्र के पाँच अंग माने हैं। इन पाँच अंगों के विषय में अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—"कार्यों को आरम्भ करने के उपाय योग्य पुरुषों का तथा द्रव्य सम्पत् देश और काल का विचार एवं तदनुसार कार्य आये हुए आपत्तियों से रक्षा और अपने अभीष्ट की सिद्धि करना मन्त्र के ये पाँच अंग हैं। उन्होंने यह विषयवस्तु भी अर्थशास्त्र से ही लेकर ज्यों-की-त्यों अपने नीतिवाक्यामृत में रख दी है[4]।

मन्त्रगोपन—मन्त्र गुप्त रखना चाहिए, इस विषय को सोमदेव ने विशेष महत्त्व दिया है। उनका मत है कि जबतक कार्य आरम्भ न कर दिया जाय मन्त्र गुप्त रखना चाहिए। कार्य द्वारा ही मन्त्र का प्रकाशन होना चाहिए। मन्त्रियों अथवा राजा को मन्त्र-प्रकाशन करने की कोई आवश्यकता नहीं[5]। इसलिए उनका मत है कि मन्त्रणा-स्थान प्रत्येक प्रकार से सुरक्षित होना चाहिए। मन्त्रणा करने के पूर्व मन्त्रणा-स्थान का भलीभाँति शोधन कर लेना चाहिए। ऐसा न हो कि मन्त्रणा-स्थान के किसी कोने में कोई व्यक्ति छिपा बैठा हो[6]। मन्त्रणा-स्थान प्रतिध्वनि करने वाला नहीं होना चाहिए[7]। इस स्थान में पशु-पक्षियों की भी पहुँच नहीं होनी चाहिए[8]। मन्त्रणा के समय मन्त्रणा हेतु जिसे बुलाया नहीं गया है, उसे मन्त्रणा-स्थान में ठहरने का निषेध कर देना चाहिए। जिस व्यक्ति के अन्तु-वाक्यों में

१ वार्ता ११ म १५ अधि १ अर्थ। २ वार्ता २४ अनु १ नीतिवा।
३ वार्ता ५८ म १५ अधि १ अर्थ। ४ वार्ता २५ अनु १ नीतिवा।
५ वार्ता ६० म १५ अधि १ अर्थ। ६ वार्ता २८ अनु १ नीतिवा।
७ वार्ता २९ अनु १ नीतिवा। ८ वार्ता ३६ अनु १ नीतिवा।
९ वार्ता ११ अनु १ नीतिवा। १ वार्ता ३२ अनु १ नीतिवा।

मन्त्र चाहे कितना उत्तम क्यों न हो परन्तु यदि उस मन्त्र को कार्यान्वित करने वाले मन्त्री राजा के हितैषी नहीं हैं और स्वच्छन्द होकर राजा के अहित एवं अपकार में संलग्न रहते हैं, तो ऐसी परिस्थिति में मन्त्र विफल हो जाता है और उससे राजा का महान् अनिष्ट होता है । इसलिए मन्त्रसिद्धि के लिए अनुकूल एवं कर्तव्यपरायण मन्त्रियों तथा अन्य कार्यकर्ताओं की आवश्यकता बतलायी गयी है ।

इन कारणों के अतिरिक्त मतभेद भी मन्त्र की विफलता का प्रमुख कारण बतलाया गया है । सोमदेव का मत है कि जबतक कार्य सिद्ध न हो जाय मन्त्र गुप्त रहना चाहिए[2] । मन्त्र कार्य द्वारा प्रकट होना चाहिए ।

दूत-पद—कामन्दक ने दूत को चर-विशेष माना है । उन्होंने इसी आधार पर दूत को प्रकाशचर के नाम से सम्बोधित किया है । सोमदेव ने इस मत का समर्थन नहीं किया है । उन्होंने दूत की मन्त्रि-श्रेणी में परिगणित किया है । सोमदेव का मत है कि दूत राज्य का बाह्यमन्त्री (बाह्यविषयों का मन्त्री) होता है[4] । इस प्रकार सोमदेव ने शुक्र के मत का अवलम्बन कर दूत को मन्त्रिविशेष माना है[5] ।

दूत की योग्यता—सोमदेव ने दूत-पद के निमित्त कतिपय विशेष योग्यताएँ निर्धारित की हैं । वे योग्यताएँ स्वामिभक्ति, अव्यसनिता, दक्षता, शुचिता, अमूर्खता, प्रागल्भ्य, प्रतिभा, क्षान्ति, परमर्मवेदित्व और कुलीनता हैं[6] । दूत स्वामिभक्त होना चाहिए । उसे द्यूत स्त्री पान मृगया आदि व्यसनों से सर्वथा मुक्त होना चाहिए । उसे कार्यकुशल पवित्र आचरणवान्, विद्वान्, वाक्पटु, प्रतिभावान्, सहनशील, शत्रु के रहस्यों का भेद रखने वाला और श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न हुआ पुरुष होना चाहिए । दूत इन सभी गुणों एवं योग्यताओं से सम्पन्न होना चाहिए, सोमदेव का ऐसा मत है । आधुनिक युग में भी दूत के लिए इन गुणों एवं योग्यताओं का धारण करना वांछनीय है ।

मनु ने दूत की योग्यताओं के विषय में अपना मत व्यक्त करते हुए बतलाया है कि दूत इंगित आकार और चेष्टा का जाननेवाला, पवित्र आचरणवान्, उच्च कुल में उत्पन्न, राजभक्त, देश और काल का ज्ञाता, स्मृतिमान्, सुन्दर शरीर वाला, निर्भीक, वाग्मी और समस्त शास्त्र-विशारद होना चाहिए[7] ।

१ वार्ता ५२ सूत्र १ नीतिवा । २ वार्ता २८ सूत्र १ नीतिवा ।
३ श्लोक १२ सर्ग १२ कामन्दक । ४ वार्ता १ सूत्र १३ नीतिवा ।
५ श्लोक ७ अ० २ शुक्रनीति । ६ वार्ता २ सूत्र १३ नीतिवा ।
७ श्लोक ६३, ६४ अ० ७ [illegible] ।

शुक्र के मतानुसार इंगित आकार और चेष्टा का ज्ञाता स्मृतिमान्, देश और काल का ज्ञाता सन्धि-विग्रह-गुण का मर्मज्ञ वाग्मी और निर्भीक व्यक्ति दूत होना चाहिए[1]।

दूत-भेद—सोमदेव ने कौटिल्य के मत के अनुसार ही दूत के तीन भेद माने हैं, जिन्हें उन्होंने निसृष्टार्थ परिमितार्थ और शासनहर नाम से सम्बोधित किया है[2]। इन तीन प्रकार के दूतों के कर्तव्यों एवं अधिकारों में क्या अन्तर होना चाहिए, इस विषय में सोमदेव मौन हैं। उन्होंने केवल निसृष्टार्थ दूत के कतिपय कर्तव्यों एवं अधिकारों का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार किया है—"जिस दूत को अपने स्वामी की ओर से पर राजा (जिस राजा के पास वह भेजा गया है) से सन्धि अथवा विग्रह करने का अधिकार प्राप्त हो वह निसृष्टार्थ दूत कहलाता है, अर्थात् निसृष्टार्थ श्रेणी के दूतों को परराज्यों से सन्धि अथवा विग्रह करने का अधिकार दिया गया है। उदाहरण देते हुए सोमदेव ने लिखा है कि कृष्ण पाण्डवों के दूत बनाकर धृतराष्ट्र के पास भेजे गये थे। उस समय वह निसृष्टार्थ दूत के रूप में थे[3]।

दूत के कर्तव्य—सोमदेव ने दूत के सामान्य कर्तव्यों का वर्णन किया है। दूत के इन कर्तव्यों का निरूपण करते हुए उन्होंने लिखा है—"परराज्य में जो काम भेद योग्य (कृत्य) हैं, उन्हें अपने स्वामी के पक्ष में कर लेने का प्रयत्न करना जो भेद योग्य न हों उनमें उनके स्वामी के प्रति असन्तोष उत्पन्न करना शत्रु राजा के अध्यक्ष पुत्रों एवं सम्बन्धियों में भेद उत्पन्न करना अन्तपाल एवं आटविकों से सम्पर्क स्थापित करना अपने स्वामी के राजमण्डल में प्रवेश कर शत्रु के चरों का पता लगाना शत्रु के राष्ट्र, कोष सैन्यबल और मित्र की वास्तविक स्थिति का ज्ञान प्राप्त करना कन्या रत्न वाहन आदि के दान की सम्यक् व्यवस्था करना अपने अभीष्ट पुरुषों के प्रयास द्वारा शत्रु की प्रकृतियों (मन्त्री कोष, दुर्ग सेनादि) में क्षोभ उत्पन्न करना—ये सभी दूतकर्म हैं[4]। इस प्रकार राज्य में दूतपद अत्यन्त उपयोगी एवं आवश्यक माना गया है।

दूत के लिए कतिपय विशेष नियम—दूत के लिए आवश्यक है कि वह आचरण एवं व्यवहार सम्बन्धी कतिपय विशेष नियमों का पालन करे। इन नियमों में कुछ इस प्रकार हैं—"बिना पूर्व सूचना दिये हुए दूत परराज्य में प्रवेश अथवा उससे गमन न करे। परन्तु विशेष परिस्थिति में इस नियम का अतिक्रमण भी किया जा

१ श्लोक ८६ व ९ शुक्रनीति।
२ वार्ता ३ समु १३ नीतिवा।
३ वार्ता ४ समु १३ नीतिवा।
४ वार्ता ८ समु १३ नीतिवा।
५ वार्ता ५ समु १३ नीतिवा।

लगता है। सन्धि के प्रतिबन्धों का भंग करनेवाला शत्रु राजा यदि दूत को रोक रखना चाहता है, तो चरों से ऐसा समाचार मिलने पर, दूत को चाहिए कि वह उस राजा को सूचना दिये बिना ही राज्य से चुप-चाप गमन कर दे[1]। शत्रु राजा द्वारा दूत को शीघ्र ही वापस किया जा रहा है इसके कारण पर उसे (दूत को) विचार करना चाहिए[2]। जब दूत अपने को असमर्थ देखता है तो ऐसी परिस्थिति में उसे शत्रु द्वारा कहे गये अनिष्ट वचनों को भी सहन कर लेना चाहिए[3]। परन्तु गुरु अथवा स्वामी के अपमान हेतु कहे गये वचनों को वह कदापि सहन न करे[4]।

दूत की अवध्यता—प्राचीन भारत में दूत प्रत्येक दशा में अवध्य बतलाया गया है। सोमदेव ने व्यवस्था दी है कि महान् अपराध करने पर भी दूत अवध्य होता है[5]। शस्त्र के उठ जाने पर (युद्ध प्रारम्भ होने पर) भी राजाओं के मध्य परस्पर बात करने का साधन दूत ही होता है[6]। शूद्र जाति में उत्पन्न दूत भी अवध्य होता है फिर ब्राह्मण दूत के वध का प्रश्न ही क्या है[7]। दूत अवध्य है इसीलिए वह सब कुछ कहता है[8]। बुद्धिमान् पुरुष दूत के वचनों में अपना अप-कर्ष और शत्रु का उत्कर्ष नहीं मानते ।

इन शब्दों में सोमदेव ने दूत की अवध्यता के सिद्धान्त की पुष्टि की है। दूत की अवध्यता के सिद्धान्त के विषय में सोमदेव के यह विचार नवीन नहीं हैं, जो कि कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में इस विषय में व्यक्त किये हैं। कौटिल्य ने स्पष्ट व्यवस्था दी है कि दूत चाण्डाल ही क्यों न हो वह प्रत्येक देश, काल और परिस्थिति में अवध्य ही होता है। राजा द्वारा शस्त्र उठा लेने पर भी उसे सच्ची बात कहनी चाहिए[10]। यदि चाण्डाल दूत भी ऐसी परिस्थिति में अवध्य है तो फिर ब्राह्मण दूत के अवध्य होने में सन्देह ही क्या है[11]। दूत का धर्म दूसरे की बात को ज्यों-का-त्यों कह देना है[12]।

वचन-विक्रम-बोधी पुरुष—सोमदेव ने शत्रु के आशय तथा उसके रहस्यों को

१ वही ६ समु १३ नीतिवा । २. वही ७ समु १३ नीतिवा ।
३ वही ८ समु १३ नीतिवा । ४ वही ११ समु १३ नीतिवा ।
५ वही १७ समु १३ नीतिवा । ६. वही १८ समु १३ नीतिवा ।
७ वही १९ समु १३ नीतिवा । ८ वही २० समु १३ नीतिवा ।
९ वही २१ समु १३ नीतिवा । १०. वही १७ अ १६ अधि १ अर्थ ।
११ वही १८ अ १६ अधि १ अर्थशास्त्र ।
१२ वही १९ अ १६ अधि १ अर्थशास्त्र ।

जानने के लिए कुछ ऐसे पुरुष एवं स्त्रियों के उपयोग करने की व्यवस्था दी है, जो शत्रु-राज्य के निवासियों के अनुरूप ही गुण शील तथा आचार धारण करने वाले हों[1]। सोमदेव के इस कथन से ज्ञात होता है कि उनके समय में कुछ ऐसी स्त्रियाँ और कुछ ऐसे पुरुष पर-राज्यों में भेजे जाते थे जो उन राज्यों के निवासियों के गुण शील और आचार को धारण कर वहाँ सेवा-कार्य ग्रहण कर बैठे थे और जिसके लिए उन्हें उन राज्यों में वेतन भी प्राप्त होते थे। इस प्रकार उन स्त्री-पुरुषों को अपने राज्य और पर-राज्य दोनों से वेतन मिलते थे। इसी आधार पर ये स्त्री-पुरुष उभय-वेतन-भोगी प्रणिधि कहलाते थे। इनका प्रधान कर्तव्य सम्बन्धित शत्रु राजा के आशय एवं रहस्यों को गुप्त रीति से जानकर उनसे अपने राजा को अवगत कराते रहना था।

चर और उसकी उपयोगिता—प्रजा का परम कर्तव्य प्रजापरिपालन एवं प्रजा रंजन बतलाया गया है। इसलिए राजा को अपनी प्रजा के सुख-दुख के कारणों का सम्यक् बोध होना चाहिए। राज्य में भले-बुरे सभी प्रकार के लोग रहते हैं। इनके दैनिक कार्यों एवं व्यवहार की सूचना राजा को समय पर मिलनी चाहिए। इसके अतिरिक्त राज्य पर आनेवाली बाह्य एवं आन्तरिक आपदाओं का भी सम्यक् ज्ञान राजा को होना चाहिए। शत्रु, मित्र एवं तटस्थ राज्यों में उसके अनुकूल अथवा विरुद्ध जो कार्य किये जा रहे हैं, अथवा होने वाले हैं उन सब की सूचना समय पर राजा तक पहुँचती रहनी चाहिए। ये सभी प्रकार की सूचनाएँ एवं तत्सम्बन्धी ज्ञान जिन पुरुषों के द्वारा राजा को सुलभ होता है उन्हें चर की संज्ञा दी गयी है। चर-कर्म के कुशलतापूर्वक सम्पादन हेतु चर-व्यवस्था की स्थापना की जाती है। सोमदेव ने चर की आवश्यकता एवं उसकी उपयोगिता बतलाते हुए अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—"अपने राजमण्डल और परराजमण्डलों में जो कार्य एवं अकार्य हो रहे हैं अथवा होने वाले हैं उनका अवलोकन करने के लिए राजा के चर ही उसके चक्षु होते हैं[2]। चर के अभाव में राजा चक्षुहीन पुरुष की भाँति दृष्टि-रहित हो जायगा। इसलिए राजा के लिए सम्यक् चर व्यवस्था की स्थापना परम आवश्यक है।

मनु ने भी राजा के लिए चर की आवश्यकता एवं उसकी उपयोगिता पर विशेष बल दिया है। उन्होंने भी चर को राजा का चक्षु माना है[3]। इस प्रकार

१ वही १२ समु० १३ नीतिवा० । २ वही १ समु० १४ नीतिवा० ।
३ श्लोक २९६ अ० ९ मानवधर्म ।

चर-रहित राजा चक्षुहीन पुरुष की भाँति होकर अपने प्रजा-परिपालन एवं प्रजा-रक्षण कर्तव्य के पालन में असमर्थ हो जाता है और वह राजपद से च्युत कर दिया जाता है।

चर के विशेष गुण—मनु और सोमदेव दोनों ने चर को राजा के चक्षु की उपाधि दी है। राजा अपने चर-चक्षु द्वारा समीप और दूर के सभी कार्य-अकार्य एवं लोगों के आचरण तथा व्यवहार का अवलोकन एक स्थान में रहने पर भी, करता रहता है। इसलिए राजा के निमित्त चर अत्यन्त उपयोगी राजकर्मचारी समझा गया है। इस उपयोगी राजकर्मचारी में अपने पद के अनुरूप ही विशेष गुण होने चाहिए। सोमदेव ने भी इन गुणों की ओर संकेत किया है। सोमदेव का मत है कि चर को गम्भीर, आलस्यत्यागी सत्यवादी और त्वरित बुद्धियुक्त पुरुष होना चाहिए। इस प्रकार चर में गम्भीरता अमन्दता अमृषाभाषिता और त्वरितबुद्धि गुण होने चाहिए[1]।

चर का वेतन—सोमदेव का मत है कि चर का वेतन इतना होना चाहिए जिससे उसकी तुष्टि हो सके[2]। यह वेतन इतना पर्याप्त होना चाहिए जिससे चर अर्थ-चिन्ता से मुक्त रह सके और अपने इस वेतन के लोभ से अपने कर्तव्य-पालन में रुचि लेता रहे।

इस प्रकार चर के वेतन-निर्धारण में सोमदेव ने तुष्टि-सिद्धान्त के अनुसरण करने की व्यवस्था की है।

सूचना अथवा समाचार की परख—राज्य के दैनिक कार्यों का बहुत कुछ अंश चरों द्वारा प्राप्त सूचना के आधार पर आरम्भ किया जाता है। यदि चर द्वारा प्राप्त सूचना असत्य है तो ऐसी सूचना के आधार पर आरम्भ किये कार्य से राज्य का महान् अनिष्ट हो सकता है। इसलिए चरों द्वारा प्राप्त सूचना की सत्यता की परख करने के निमित्त कोई साधन अवश्य होना चाहिए। सोमदेव ने भी सूचना की सत्यता एवं असत्यता की परख हेतु कतिपय साधनों का उल्लेख किया है। इनमें एक साधन यह व्यवस्था है कि संदिग्ध विषय के वास्तविक स्वरूप के निर्णय हेतु एक विषय की सूचना कई चरों से प्राप्त करनी चाहिए। यदि उस सूचना में परस्पर विरोध जान पड़े तो उस सूचना को असत्य समझना चाहिए। जिस विषय में तीन चर एक ही सूचना अथवा समाचार दें उसे सत्य समझ कर ग्रहण करना

१ वार्ता १ समु १४ नीतिवाक्य । २ वार्ता ३ समु १४ नीतिवाक्य ।
३ वार्ता ४ समु १४ नीतिवाक्य ।

चाहिए, सोमदेव का ऐसा मत है[1]। इस प्रकार चर द्वारा लाये गये समाचार अथवा उसके द्वारा लायी गयी सूचना की विवेचना कर उसे वास्तविकता पर पहुँचने का सतत प्रयत्न करना चाहिए।

संदिग्ध समाचार अथवा सूचना में तीन चरों का एक ही मत होने पर उसे सत्य समझने की व्यवस्था कौटिल्य द्वारा भी दी गयी है[2]। इस प्रकरण से ऐसा ज्ञात होता है कि इस विषय में सोमदेव ने कौटिल्य द्वारा स्थापित इस सिद्धान्त को ही अपनाया है[3]।

चर-भेद—सोमदेव ने चर के अनेक भेद बतलाये हैं और उनके विशेष लक्षणों का भी उल्लेख किया है। सोमदेव द्वारा चर के जो भेद बतलाये गये हैं, वे कौटिल्य द्वारा निर्धारित चर-भेद पर ही आधारित जान पड़ते हैं। सोमदेव ने चर के जो भेद बताये हैं उनकी संख्या कौटिल्य द्वारा दिये चर-भेद की संख्या से कहीं अधिक है। सोमदेव के मतानुसार चर के मुख्य भेद कापटिक उदास्थित गृहपतिक वैदेहिक तापस कितव किरात यमपट्टिक अहितुण्डिक शौण्डिक शोभिक पाटच्चर, विट, विदूषक पीठमर्दक नटनर्तक गायक वादक वाग्जीवक गणक, शाकुनिक भिषक् ऐन्द्रजालिक नैमित्तिक सूद, आरालिक संवाहिक तीक्ष्ण क्रूर, रसद जड़ मूक बधिर, अन्ध छद्म अवसर्प और स्थायियायि हैं। विविध प्रकार के इन चरों के विशेष लक्षणों का भी उल्लेख सोमदेव द्वारा किया गया है।

कौटिल्य ने चरों को मुख्य नौ श्रेणियों में परिलक्षित किया है जिन्हें उन्होंने कापटिक उदास्थित गृहपतिक वैदेहक तापस सत्री तीक्ष्ण रसद, और भिक्षु नाम से सम्बोधित किया है[4]।

इस प्रकार सोमदेव ने चर की आवश्यकता एवं उसकी उपयोगिता चरों के वेतन उनकी विशेष योग्यताएँ एवं गुण उनके विविध भेद तथा उन भेदों के अनुसार उनके पृथक्-पृथक् लक्षणों उनके कर्तव्यों आदि का वर्णन किया है। चर-सम्बन्धी सोमदेव द्वारा किया गया यह वर्णन कौटिल्य द्वारा किये गये तत्सम्बन्धी वर्णन पर आधारित जान पड़ता है।

न्याय-व्यवस्था की आवश्यकता—प्राचीन भारत में राज्य के निर्माण का एक मात्र ध्येय प्रजा में धर्म की संस्थापना बतलाया गया है। राज्य की ओर से

१ वार्ता ५ समु १४ नीतिवा । २ वार्ता १७ अ १२ अधि १ अर्थ ।
३ वार्ता १८ अ १२ अधि १ अर्थ । ४ वार्ता ८ समु १४ नीतिवा ।
५. वार्ता ९ से १७ तक समु १४ नीतिवा । ६ वार्ता २ अ ११ अधि १ अर्थ ।

प्राणियों में इस प्रकार व्यवस्था स्थापित की जानी चाहिए, जिससे सभी सुख पूर्वक स्वधर्म-पालन करते रहें और एक-दूसरे के धर्मपालन में बाधक न होने पावें। परन्तु मनुष्य-समाज में सभी प्राणी एक ही स्तर के नहीं होते। कुछ प्राणी साधु और कुछ दुष्ट होते हैं। इसलिए उनमें कलह होता रहता है। इस प्रकार होनेवाले कलह के मूल कारणों की खोज करना दोषी को उसके दोष के अनुसार राज्य की विधि के आधार पर दण्ड का निर्धारण करना, विधियों की व्याख्या करना आदि कार्यों के सम्पादन हेतु न्याय-व्यवस्था की स्थापना की आवश्यकता होती है। सोमदेव ने भी इसी आधार पर न्याय-व्यवस्था की स्थापना के लिए आदेश दिया है।

न्यायालय—राज्य में कितने और किस प्रकार के न्यायालयों की स्थापना होनी चाहिए, इस विषय में सोमदेव ने स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है। उन्होंने सम्य-न्यायालय मात्र का वर्णन किया है। इतना अवश्य है कि उन्होंने इस ओर संकेत किया है कि राज्य में ग्रामों और पुरों में होने वाले विवादों में निर्णय दिये जाते थे[1]। सोमदेव के इस कथन से ज्ञात होता है कि ग्रामों और पुरों में न्यायालय अवश्य रहे होंगे। इससे यह स्पष्ट है कि सोमदेव ने राज्य में चार प्रकार के न्यायालयों की स्थापना हेतु व्यवस्था दी है। चार प्रकार के ये न्यायालय ग्राम्यन्यायालय पुरन्यायालय सम्यन्यायालय और राजा के अधीन न्यायालय हैं।

ग्राम्यन्यायालय—सोमदेव ने व्यवस्था दी है कि ग्राम में जिस विवाद पर निर्णय दे दिया गया है परन्तु वादी अथवा प्रतिवादी उस निर्णय से सन्तुष्ट नहीं है, ऐसी परिस्थिति में वह विवाद राजा के समक्ष निर्णय हेतु प्रस्तुत किया जाना चाहिए[2]। सोमदेव द्वारा दी गयी इस व्यवस्था से ज्ञात होता है कि उनकी इस योजना के अनुसार प्रत्येक ग्राम अथवा दो-तीन ग्रामों में एक न्यायालय की स्थापना की जानी चाहिए। इस न्यायालय के समक्ष सम्बन्धित ग्राम अथवा ग्रामों के निवासियों के छोटे मोटे विवाद निर्णय हेतु प्रस्तुत किये जाने चाहिए। ग्राम-न्यायालय के स्वरूप उस के अधिकार, उसकी कार्यप्रणाली उसके न्यायाधीशों की योग्यता इन विषयों पर सोमदेव ने अपना मत व्यक्त नहीं किया है। अतः इस विषय पर सप्रमाण कुछ भी कहा नहीं जा सकता। सोमदेव ने ग्रामन्यायालयों के विषय में इतना अवश्य लिखा है कि इन न्यायालयों में निर्णीत विवादों के पुनर्विचारण हेतु उन्हें राजा के समक्ष प्रस्तुत करना चाहिए। इस प्रकार ग्राम्यन्यायालयों द्वारा निर्णीत विवादों पर, वाद-

१ वार्ता २१ समु २८ नीतिवा० । २ वार्ता २१ समु २८ नीतिवा० ।
३. वार्ता २१ समु २८ नीतिवा ।

...तानुसार, राजा द्वारा पुनर्विचार किया जाना चाहिए और इस पुनर्विचार के आधार पर राजा द्वारा दिया गया निर्णय अन्तिम निर्णय माना गया है[1]।

पुरन्यायालय—पुरवासियों के विवादग्रस्त विषयों पर पुर में जो निर्णय दिये ...में उन निर्णयों से यदि वादी अथवा प्रतिवादी सन्तुष्ट न हो तो उन निर्णीत ...वादों पर अन्तिम निर्णय हेतु उन्हें राजा के समक्ष प्रस्तुत करना चाहिए[2]। सोम... द्वारा दी गयी इस व्यवस्था से ज्ञात होता है कि पुरवासियों के छोटे-मोटे विवादों ...निर्णय हेतु पुरन्यायालय होने चाहिए। यह स्पष्ट है कि सोमदेव ने पुरवासियों ...लिए पुरन्यायालयों की स्थापना हेतु व्यवस्था दी है। परन्तु ग्रामन्यायालयों के ...साथ ही पुरन्यायालयों के स्वरूप उनके अधिकार, उनकी कार्यप्रणाली उनके न्या-...धीशों की योग्यता आदि विषयों पर सोमदेव ने कुछ भी लिखा नहीं है। अतः ...इस विषय में भी प्रमाण कुछ भी कहा नहीं जा सकता।

राज्यन्यायालय—राज्य में राज्यन्यायालय महत्वपूर्ण न्यायसंस्था कहलाती थी ...है। इस संस्था को सभा के नाम से सम्बोधित किया गया है। इस सभा में न्याय ...कार्य सम्पादन हेतु कितने सभ्य होने चाहिए, इस विषय में सोमदेव मौन है। उन्होंने ...यह व्यवस्था अवश्य दी है कि इस सभा का एक सभापति होना चाहिए[3]। इसी ...सभापति के सभापतित्व में विवादों का अवलोकन कर उन पर निर्णय दिया जाना ...चाहिए। प्रश्न से ऐसा ज्ञात होता है कि इस सभा में राजा को सभापति का आसन ...ग्रहण करना चाहिए, सोमदेव इस पक्ष में है। सोमदेव ने सभा के न्यायाधीशों की ...संख्या सभा के अधिकार, उसकी कार्यप्रणाली आदि का स्पष्ट वर्णन नहीं किया है।

सभ्य-योग्यता सोमदेव का मत है कि राज्यन्यायालयों के सभ्यों को स्मृति-उक्त व्यवहारों का शास्त्रीय एवं व्यावहारिक दोनों प्रकार का ज्ञान एवं अनुभव प्राप्त होना चाहिए। उन्होंने स्पष्ट व्यवस्था दी है कि जिस व्यक्ति ने स्मृति-उक्त व्यवहारों को देखा और सुना नहीं है वह सभ्य नहीं हो सकता। यदि किसी प्रकार ऐसा व्यक्ति सभ्यपद पर नियुक्त भी कर दिया जाय तो उस सभ्य को राज्य का शत्रु समझना चाहिए। सोमदेव के मतानुसार सभ्य को विषय प्रतिभावान् पुरुष होना चाहिए जिससे वह विधि सम्बन्धी गुत्थियों को तुरन्त सुलझाने में समर्थ रहे। विधियों की व्याख्या हेतु विशेष प्रतिभा वाञ्छनीय होती है। विधि के यथार्थ ज्ञान एवं अर्थ के बोध एवं उसका विधिवत् प्रस्तुत करने के लिए प्रतिभा चाहिए। सभ्य के लिए प्रतिभा

१ वार्ता ११ समु० २८ नीतिवा । २ वार्ता २२ समु० २८ नीतिवा ।
३ वार्ता ५६ समु० २८ नीतिवा । ४ वार्ता ४ समु० २८ नीतिवा ।

माननीय है, इस सिद्धान्त की पुष्टि में सोमदेव ने सूर्य का दृष्टान्त दिया है। जिस प्रकार आदित्य अपने प्रताप के द्वारा जगत् में सभी पदार्थों के वास्तविक स्वरूप को प्रकट कर देता है इसी प्रकार प्रतिभावान् पुरुष अपनी विशेष प्रतिभा के द्वारा यथार्थ प्रकट कर देता है[1]।

सोमदेव का मत है कि सभ्य को निर्लोभी निष्पक्ष एवं यथार्थवादी होना चाहिए। लोभी पक्षपाती और अयथार्थवादी सभ्य से न्यायालय की कुख्याति होती है। इस प्रकार के सभ्य से न्यायालय (सभा) के सभापति के मान और अर्थ की क्षति होती है। सभ्य के लिए विवाद अवलोकन करने एवं निर्णय की प्रक्रिया में अप्रतिभापन तथा वचन-कौशल का आश्रय लेने का निषेध किया गया है। सभ्य नितान्त यथार्थ एवं स्पष्टवादी होना चाहिए। इसके विरुद्ध आचरण करनेवाला सभ्य सोमदेव के मतानुसार, राज्य का शत्रु होता है।

राजा का न्यायालय—सोमदेव ने न्याय क्षेत्र में राजा को परमाधिकारी माना है। इससे ज्ञात होता है कि राज्य में उच्चतम न्यायालय राजा का न्यायालय है। इस न्यायालय में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विवाद राजा द्वारा निर्णय हेतु प्रस्तुत होने चाहिए। इन महत्त्वपूर्ण विवादों के अतिरिक्त राजा के समक्ष अन्य न्यायालयों द्वारा निर्णीत विवाद भी पुनर्निरीक्षण हेतु प्रस्तुत होने चाहिए, सोमदेव ने ऐसी व्यवस्था दी है[6]। उन्होंने स्पष्ट व्यवस्था दी है कि राजा द्वारा निर्णीत विवाद का निर्णय अन्यत्र नहीं हो सकता अर्थात् राजा के अधीन न्यायालय द्वारा दिया गया निर्णय अन्तिम निर्णय होता है[7]।

इस प्रकार सोमदेव ने राज्य में विवाद-ग्रस्त विषयों के निर्णय हेतु ग्रामन्यायालय पुरन्यायालय धर्मन्यायालय और राजा के अधीन न्यायालय—इन चार प्रकार के न्यायालयों की स्थापना हेतु व्यवस्था दी है।

प्रमाण—विवादों के निर्णय हेतु प्रमाणों का आश्रय लेना पड़ता है। प्राचीन भारत में विवाद-निर्णय में तीन प्रकार के प्रमाण निर्धारित किये गये हैं—लिखित प्रमाण साक्ष्य प्रमाण और भुक्ति प्रमाण। सोमदेव ने भी विवाद-निर्णय में इन्हीं तीन प्रकार के प्रमाणों को मान्यता दी है। उन्होंने इन प्रमाणों को भुक्ति साक्षी और शासन के नाम से सम्बोधित किया है।

१ वार्ता ३ समु २८ नीतिवा । २ वार्ता ५ समु २८ नीतिवा ।
३ वार्ता ८ समु २८ नीतिवा । ४ वार्ता २१ समु २८ नीतिवा ।
५ वार्ता २२ समु २८ नीतिवा । ६ वार्ता ११ समु २८ नीतिवा ।
७ वार्ता ९ समु २८ नीतिवा ।

(१) भुक्ति प्रमाण—जो पदार्थ किसी व्यक्ति के भोग में है और उसके द्वारा भोगे जाने में किसी ने आपत्ति नहीं उठायी है, इस भोग को सोमदेव ने भुक्ति-प्रमाण के अन्तर्गत माना है[१]। मनु, भीष्म, कौटिल्य, शुक्र आदि ने भुक्ति की मान्यता हेतु भोग की कुछ अवधि निर्धारित की है। उनके अनुसार वह भोग मान्य होगा जो उस अवधि के लिए व्यक्ति-विशेष के भोग में निरापत्ति रहा है। परन्तु सोमदेव इस ओर मौन हैं। अतः इनके द्वारा प्रतिपादित भोग की क्या अवधि रही होगी इस विषय में अनुमान कुछ कहा नहीं जा सकता।

सोमदेव ने उस भोग को प्रमाण कोटि में परिगणित नहीं किया है जो सापवाद है, अथवा जिसका भोग बलपूर्वक किया गया है। इसी प्रकार उन्होंने अन्यायपूर्ण भोग को भी अमान्य बतलाया है। राजबल भय अथवा अनुचित प्रभाव या दबाव से प्राप्त भाग को भी उन्होंने अमान्य भोग की श्रेणी में रखा है। इस प्रकार अपवाद रहित शुद्ध भाग को ही सोमदेव ने प्रमाण-कोटि में परिगणित किया है[२]।

(२) साक्षी—विवाद-ग्रस्त घटना को आँखों देखने से और कानों से सुननेवाले व्यक्ति को साक्षी कहते हैं। परन्तु इस प्रकार का व्यक्ति शुद्ध होने से ही साक्षी समझा गया है। वैर से प्रभावित होकर साक्ष्य हेतु न्यायालय में प्रस्तुत होनेवाला व्यक्ति अमान्य साक्षी समझा गया है। इस प्रकार के साक्षी से साक्ष्य लेने का निषेध किया गया है। इसी प्रकार बलपूर्वक अथवा शासन के अनुचित प्रभाव से जो साक्ष्य दिया जाय उसे भी अमान्य कोटि में परिगणित किया गया है[४]। शुद्ध साक्ष्य को ही साक्ष्य प्रमाण के अन्तर्गत स्थान दिया गया है।

साक्षी कितने होने चाहिए, उनसे साक्ष्य किस प्रकार लिया जाना चाहिए, मिथ्या साक्ष्य देने पर साक्षी को कितना और किस रूप में दण्ड दिया जाना चाहिए, किस विवाद में किस प्रकार का साक्षी होना चाहिए, इन समस्त विषयों पर सोमदेव ने अपना मत व्यक्त नहीं किया है।

(३) शासन प्रमाण—शासन द्वारा मान्यता प्राप्त लेख, दानपत्र आदि शासन प्रमाण के अन्तर्गत परिगणित किये गये हैं। तीन प्रकार के प्रमाणों—भोग, साक्षी और शासन—में सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान शासन-प्रमाण को दिया गया है। विवाद निर्णय में शुद्ध शासन प्रमाण का स्थान श्रेष्ठ होता है। परन्तु स्वार्थवश मनुष्य कुछ एक भी कूट दानपत्र आदि न्यायालय में अपनी विजय-कामना से प्रेरित होकर प्रस्तुत

१ वार्ता १ सूत्र २८ नीतिवा०। २ वार्ता ११ सूत्र २८ नीतिवा०।
३ वार्ता १ सूत्र २८ नीतिवा०। ४ वार्ता ११ सूत्र २८ नीतिवा०।

रूप में प्रस्तुत करता है जो वास्तव में शासन-प्रमाण नहीं होते। वे छल से लिखवाये गये होते हैं। कुछ लेख शासपत्रादि बलात्कार, अन्यायपूर्ण अथवा शासकवर्ग के अनुचित प्रभाव या दबाव से लिखवाये गये होते हैं। इस प्रकार के लेखों, शासपत्रों आदि को सोमदेव ने अमान्य बतलाकर प्रमाण-कोटि से बहिष्कृत करने की व्यवस्था दी है। इस प्रकार सोमदेव ने कूटलिखित बलात्कृत अन्यायाकृत और राजकृत लेखों शासपत्रों आदि को शासनप्रमाण के अन्तर्गत स्थान नहीं दिया है[1]।

शपथ—इन तीन प्रमाणों के अतिरिक्त विवाद-निर्णय में शपथ का आश्रय लिया जाना भी उचित समझा गया है। जब उपर्युक्त तीनों प्रमाण कुण्ठित होते जान पड़ें और निर्णय संदिग्ध जान पड़ता हो ऐसी परिस्थिति में शपथ का आश्रय लिया जाना उचित समझा गया है।

सोमदेव ने समाज में विविध स्तर के लोगों के लिए उनके अनुरूप ही पृथक्-पृथक् शपथों का निर्धारण किया है। ब्राह्मण के लिए हिरण्य और यज्ञोपवीत को स्पर्श कर शपथ लेना[2] क्षत्रिय के लिए शस्त्र रत्न भूमि वाहन पल्याण स्पर्श, वैश्य के लिए कान और वत्स अथवा काकिणी (सिक्का विशेष) और हिरण्य का स्पर्श[3] शूद्र के लिए क्षीर और बीज अथवा वल्मीकस्पर्श[4] कारुक (रजक चर्मकारादि) जिस पदार्थ का व्यवसाय करता है (चर्मकार को चर्म बढ़ई को काष्ठ आदि) उसका स्पर्श[5] तपस्वियों के लिए इष्टदेव-पादस्पर्श उनकी प्रदक्षिणा, दिव्यकोश से तन्दुल चबवाने अथवा तुलारोहण करा कर, व्याध को धनुर्लङ्घन कराकर, और चाण्डाल को गीले चर्म पे बैठाकर शपथ लेनी चाहिए।

कार्य प्रणाली—न्यायालयों में विवाद प्रस्तुतीकरण एवं उस पर निर्णय देने में किस प्रणाली का अनुसरण किया जाना चाहिए, सोमदेव ने इस विषय का वर्णन नहीं किया है। इससे ऐसा ज्ञात होता है कि उनके समय में न्यायालयों में कार्य-प्रणाली की व्यवस्था ने स्थायित्व प्राप्त कर लिया था और यह प्रणाली सर्वमान्य हो चुकी थी। इसलिए सोमदेव ने इस विषय पर टीका-टिप्पणी करने की आवश्यकता नहीं समझी होगी।

१ वार्ता १ ११ अनु २८ नीतिवाक्यामृत।
२ वार्ता ३ अनु २८ नीतिवा। ३ वार्ता ११ अनु २८ नीतिवा।
४ वार्ता १२ अनु २८ नीतिवा। ५ वार्ता १३ अनु २८ नीतिवा।
६ वार्ता १४ अनु २८ नीतिवा। ७ वार्ता १५ अनु २८ नीतिवा।
८ वार्ता १६ अनु २८ नीतिवा। ९ वार्ता १७ अनु २८ नीतिवा।

पराजित के लक्षण—सोमदेव ने कतिपय ऐसे लक्षणों का उल्लेख किया है जिनके
ाधार पर तथ्यहीन विवाद का नाश सरलतापूर्वक होता था। ये लक्षण इस
कार बतलाये गये हैं— "न्यायालय में विवाद प्रस्तुत कर न्यायालय द्वारा निर्धारित
तिथि एवं समय पर न्यायालय में उपस्थित न होना न्यायालय द्वारा बुलाये जाने
र भी न्यायालय में उपस्थित न होना उत्तरोक्त विषय पूर्वोक्त विषय का विरोधी
ोना सभ्यों द्वारा प्रश्न एवं परिप्रश्न होने पर निरुत्तर हो जाना अपना दोष
ुरने पर भगना सभ्यों द्वारा यथार्थ वचन कहने पर भी न्यायालय को ही दोषी
ठहराना"—ये वे लक्षण बतलाये गये हैं जिनसे वादी अथवा प्रतिवादी पराजित हुआ
ाया देना चाहिए[1]।

कोष की परिभाषा—सोमदेव ने कोष की परिभाषा करते हुए अपना मत इस
प्रकार व्यक्त किया है—"जिसके द्वारा सम्पत्ति और विपत्ति दोनों कालों में सेना की
पूर्ति हो उसे कोष कहते हैं।[2]" कोष की परिभाषा करते हुए शुक्र ने अपना मत
इस प्रकार व्यक्त किया है "भिन्न-भिन्न वस्तुओं का संग्रह एक स्थान में होता है वह
उसका नाम कहलाता है[3]। सोमदेव ने कोष की जो परिभाषा की है उससे विदित
होता है कि उनके समय में राज्य की आय का प्रधान अंश सैन्यबल के निमित्त व्यय
होता था। इसलिए कोष-संग्रह का प्रधान उद्देश्य सैन्यबल का संघटन एवं उसका
सम्पुष्ट मात्र समझा जाता था।

कोष के गुण—सोने-चाँदी की अति प्रचुरता व्यावहारिक द्रव्यों का बाहुल्य
और महान् आपत्तियों एवं संकटों तथा दुर्दिनों के सहन कर सकने की सामर्थ्य का होना
कोष के विशेष गुण बतलाये गये हैं[4]। इस प्रकार सोमदेव के मतानुसार कोष में
ये सभी गुण होने से राजा एवं प्रजा दोनों का कल्याण होता है।

कोष की महिमा—राजा के लिए कोष परम उपयोगी होता है, इस सिद्धान्त की
पुष्टि करते हुए सोमदेव ने कहा है—"राजाओं के जीवन का हेतु कोष होता है उनके
प्राण नहीं[5]। कोष के क्षीण हो जाने पर राजा पुर और राष्ट्र की जनता को पीड़ित
करता है (अन्याय से धन ग्रहण करता है)। ऐसा होने पर पुर और राष्ट्रवासी राज्य
का परित्याग कर दूसरे राज्यों में बस जाते हैं[6]। कोष ही राजा होता है न कि

१ वार्ता ७ समु २८ नीतिवा ।
२ वार्ता १ समु २१ नीतिवा० ।
३ श्लोक ११६ अ ४ शुक्रनीति ।
४ वार्ता २ समु २१ नीतिवा ।
५ वार्ता ५ समु २१ नीतिवा ।
६ वार्ता ६ समु २१ नीतिवा ।

उसका शरीर[१]। जिसके हाथ में द्रव्य होता है वही विजय को प्राप्त करता है[२]। मनुष्य के धनहीन हो जाने पर उसकी स्त्री भी उसे त्याग देती है फिर अन्य लोगों के द्वारा उसके त्याग देने में सन्देह ही क्या है[३]। आचारवान् होने पर भी निर्धन पुरुष की सेवा कोई नहीं करता[४] अर्थात् ऐसे पुरुष से सभी दूर रहना चाहते हैं। जिस पुरुष के पास प्रचुर धन होता है वही महान् कुलीन पुरुष समझा जाता है, चाहे वह निकृष्ट पुरुष ही क्या न हो[५]। वह कुलीनता अथवा महत्ता व्यर्थ ही होती है, जिससे दूसरा का पोषण न हो सके[६]। उस बड़े तड़ाग से क्या लाभ, जिसमें जल नहीं है, अर्थात् जलहीन बड़े से बड़ा तड़ाग व्यर्थ ही होता है।

इन शब्दों में सोमदेव ने राजा के लिए कोष की उपयोगिता प्रमाणित की है। कौटिल्य ने भी कोष को ही सर्वोपरि स्थान दिया है[८]। उनके मतानुसार प्रत्येक कार्य का आरम्भ कोष ही पर निर्भर करता है[९]।

क्षीण कोष की वृद्धि के साधन—सोमदेव ने क्षीण कोष की वृद्धि हेतु चार मुख्य साधन बतलाये हैं। ये चार साधन इस प्रकार बतलाये गये हैं—"वह देवद्रव्य जिसका उपयोग धार्मिक कृत्यों के लिए नहीं हो रहा है, अथवा धार्मिक कृत्यों में उपयोग होनेवाले धन का अवशेष अंश वह विद्यमान जो उनके आश्रितों के भरण-पोषण से बच रहा है और वह वणिक्-धन जो व्यापार कार्य हेतु उपयोग में नहीं आ रहा है—ऐसे अवशेष धनों के सम्यक् अंशों को ग्रहण कर लेना क्षीणकोष की वृद्धि का प्रथम साधन बतलाया गया है। जो मनुष्य आढ्य है जो विधवा स्त्रियाँ हैं, जो ग्राम-कूटाधीश हैं जो वेश्याजन हैं जो मठाधीश आदि हैं, इन सभी के वैभव के सम्यक् अंश को ग्रहण कर क्षीण राजकोष की वृद्धि कर लेनी चाहिए। क्षीण राजकोष की वृद्धि का यह दूसरा साधन है। राज्य में पुर और राष्ट्र के समृद्ध वासियों को बुलाकर उनके धन-धान्य के उचित अंश को प्राप्त कर कोष-वृद्धि करनी क्षीणकोष की वृद्धि का तीसरा साधन बतलाया गया है। जिनकी लक्ष्मी नष्ट नहीं हुई है, ऐसे मंत्री, पुरोहित सामन्त और भूमिपतियों से अनुनयविनयपूर्वक उनकी लक्ष्मी का उचित अंश प्राप्त करना क्षीणकोष की वृद्धि का चौथा एवं अन्तिम साधन बतलाया गया है।

१ वार्ता ७ समु २१ नीतिवा । ३ वार्ता ८ समु २१ नीतिवा ।
३ वार्ता ९ समु २१ नीतिवा । ४ वार्ता १ समु २१ नीतिवा ।
५ वार्ता ११ समु २१ नीतिवा । ६ वार्ता १२ समु २१ नीतिवा ।
७ वार्ता १३ समु २१ नीतिवा । ८ वार्ता १ अ ७ अधि १ अर्थ० ।
९ वार्ता १ अ ८ अधि २ अर्थ । १ वार्ता १४ समु २१ नीतिवा० ।

कोष-वृद्धि-सिद्धान्त—राजकोष की वृद्धि हेतु धन-धान्य आदि का संचय किन सिद्धान्तों के आधार पर होना चाहिए, इस विषय में सोमदेव ने विशेष प्रकाश डालने का प्रयास नहीं किया है। इसलिए कोषवृद्धि के सिद्धान्तों पर सोमदेव का जो मत रहा होगा उसका विशेष उल्लेख करना सम्भव नहीं। इतना अवश्य है कि इस विषय में उन्होंने कतिपय संकेत किये हैं। इन संकेतों के आधार पर निम्नलिखित कुछ सिद्धान्तों की स्थापना की जा सकती है—

(क) प्रजापरिपुष्टि-सिद्धान्त—कोष-समृद्धि प्रजा-समृद्धि पर आश्रित होती है। समृद्ध प्रजा ही कोष की समृद्धि हेतु प्रचुर धन-धान्य आदि देने में समर्थ होती है। इसलिए प्रजा-समृद्धि हेतु राजा प्रयत्नशील रहे। सोमदेव ने इस सिद्धान्त की स्थापना की है कि प्रजा की सम्यक् परिपुष्टि हो जाने पर उस पर कर लगाना उचित होगा। इस प्रकार सोमदेव ने कोष-वृद्धि हेतु प्रजा-परिपुष्टि-सिद्धान्त का आश्रय लेना उचित बतलाया है। इस सिद्धान्त की स्थापना करते हुए उन्होंने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—"धुनियाते (दूध पक रहा है जिनमें ऐसे) गेहूँ जौ आदि धान्य का ग्रहण करनेवाला राजा अपने अधीन समस्त की प्रजा का उन्मूलक होता है[1]" अर्थात् जो राजा अपनी प्रजा से धन को अपरिपक्वावस्था में ही ग्रहण करता है वह अपनी उस प्रजा का नाश करता है। सोमदेव द्वारा दी गयी इस व्यवस्था से स्पष्ट हो जाता है कि सोमदेव ने प्रजा की सम्यक् परिपुष्टि हो जाने के उपरान्त उस पर कर लगाना उचित समझा है और इस प्रकार उन्होंने राजकोष की वृद्धि हेतु प्रजा-परिपुष्टि सिद्धान्त के पालन करने का आदेश दिया है।

प्रजापरिपुष्टि का यह सिद्धान्त प्राचीन भारत में अपनाया गया है, इस तथ्य की पुष्टि में मनु, भीष्म कौटिल्य शुक्र आदि ने प्रमाण दिये हैं। सोमदेव ने दूसरे प्रकार से इसी सिद्धान्त की परिपुष्टि की है।

(ख) बाधा-मुक्त सिद्धान्त—कोष-वृद्धि का दूसरा सिद्धान्त प्रजा को बाधा मुक्त करने से सम्बन्धित बतलाया गया है। बाधा-ग्रस्त प्रजा विक्षुब्ध निर्धन एवं निर्बल होती है। इस प्रजा से कोष-वृद्धि की आशा नहीं की जा सकती। सोमदेव ने व्यवस्था दी है—"प्रजा की सभी प्रकार की बाधाएँ कोषपीडन का हेतु होती हैं[2]। इसलिए राजा का परम धर्म अपने अधीन प्रजा को बाधा-मुक्त रखना है। प्रजा बाधा-मुक्त हो जाने पर समृद्धि को प्राप्त होती है। ऐसी परिस्थिति में उससे धन-धान्य

१ वार्ता १५ समु १९ नीतिवा ।
२ वार्ता १७ समु १९ नीतिवा ।

आदि की याचना भी की जा सकती है। इसलिए सोमदेव का मत है कि प्रजा को बाधा-मुक्त करने के उपरान्त ही उस पर कर लगाना उचित होगा।

(ग) मर्यादा-पालन-सिद्धान्त—कोष-वृद्धि हेतु मर्यादाओं का अतिक्रमण करना निषिद्ध बतलाया गया है। मर्यादा-उल्लंघन प्रजा में अविश्वास उत्पन्न करता है और उससे वह अपने राजा के प्रति श्रद्धा एवं विश्वास का परित्याग कर देती है। इसका परिणाम कोष-वृद्धि का घातक होता है। सोमदेव का मत है कि राजा द्वारा मर्यादा का अतिक्रमण समृद्ध भूभाग को भी अरण्य में परिवर्तित कर देता है। इसलिए कोष-वृद्धि करनेवाले राजा को मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करना चाहिए। सोमदेव ने इसी प्रसंग में व्यवस्था दी है कि जिन पुरुषों को अकर (करमुक्त) घोषित किया जा चुका है उनपर कर लगाना अथवा कर में छूट दी गयी है उनसे उस कर धन का प्राप्त करना अनुचित होगा[2]।

(घ) धान्यग्राम-रक्षण सिद्धान्त—राज्य में कुछ ऐसे ग्राम भी होते हैं, जो विशेष धान्य-उत्पादक होते हैं। ये ग्राम राज्य का अन्न-भाण्डागार माने गये हैं। राजकोष की समृद्धि इन ग्रामों पर विशेष रूप में आश्रित होती है। अतः इन ग्रामों के दान का निषेध किया गया है। सोमदेव का मत है कि राज्य में जो ग्राम विशेष धान्य-उत्पादक हों उनकी विशेष रक्षा की जानी चाहिए। इन ग्रामों का दान कोष को रिक्त कर देता है। इन्हीं ग्रामों पर राज्य की सेना की अभिवृद्धि निर्भर होती है।

(ङ) कृषि-रक्षा सिद्धान्त—कृषि-समृद्धि पर राजकोष की सम्पन्नता बहुत कुछ निर्भर होती है। इसलिए कृषि-विकास एवं उसकी समृद्धि की ओर विशेष ध्यान रखने की आवश्यकता होती है। सोमदेव ने इसीलिए व्यवस्था दी है कि फसल काल में (धान्य-सम्पन्न फसल के समय) सेना-प्रचार नहीं होना चाहिए। ऐसे समय सेना-प्रचार से धान्य-सम्पन्न फसल का नाश होता है जिससे जनपद में दुर्भिक्ष होता है। ऐसी परिस्थिति में दुर्भिक्ष-पीड़ित होने के कारण प्रजा राजकोष के निमित्त धन धान्य आदि देने में असमर्थ हो जाती है। इसी प्रसंग में सोमदेव ने यह भी उल्लेख किया है कि जिस देश में कृषि वर्षा के आश्रित होती है,—सिंचाई के अन्य साधन नहीं होते वहाँ दुर्भिक्ष रहता है। इसलिए कृषि-समृद्धि के साधनों एवं उपायों को जुटाना चाहिए। तदुपरान्त ही कृषि की उपज कोष-वृद्धि का पुष्ट साधन बन सकेगी।

१ वार्ता १९ सू १९ नीतिवा । २ वार्ता १९ सू १९ नीतिवा ।
३ वार्ता २२ सू १९ नीतिवा । ४ वार्ता १६ सू १९ नीतिवा ।
५ वार्ता १ सू ९ नीतिवा ।

(च) *युक्तशुल्क सिद्धान्त—व्यापारिक सामग्री के क्रय-विक्रय की समुचित व्यवस्था* करने से राज्य में उद्योग-धन्धों एवं वाणिज्य-व्यापार की वृद्धि होती है। उद्योग-धन्धों एवं वाणिज्य-व्यापार की वृद्धि से राज्य धन-धान्य से परिपूरित रहता है जिसके परिणाम से कोष-वृद्धि हेतु धन-धान्य की प्राप्ति सुगम हो जाती है। व्यापारिक सामग्री के क्रय-विक्रय की सम्यक व्यवस्था करने के अधिकार से राजा राजकोष के निमित्त शुल्क नाम के कर लगाने का अधिकारी होता है। परन्तु शुल्क लगाने एवं उसके ग्रहण करने में अन्याय का आश्रय लेने से कोष क्षीण हो जाता है। इसीलिए *सोमदेव ने युक्त-शुल्क कोष-वृद्धि का कारण माना है*[1]। सोमदेव ने व्यवस्था दी है कि शुल्क चौकी की न्यायपूर्ण रक्षा राजाओं की कामधेनु है[2]। इस व्यवस्था से सोमदेव का तात्पर्य यह है कि वणिक जन से न्याययुक्त शुल्क ग्रहण करना चाहिए। ऐसा करने से कोष-वृद्धि होती है। जिस राज्य में शुल्ककर में वृद्धि कर दी जाती है और अल्प मूल्य देकर बलपूर्वक व्यापारिक सामग्री क्रय की जाती है उस राज्य में बाहर से विक्रय हेतु सामग्री का प्रवेश नहीं होता[3]। इसलिए युक्त-शुल्क लगाना चाहिए और युक्त मूल्य पर ही माल की खरीद करना व्यापार-वृद्धि का साधन होगा जिससे राजकोष की भी वृद्धि हो सकेगी।

(छ) गोमण्डल-विकास-सिद्धान्त—सोमदेव ने गोमण्डल को भी कोषवृद्धि का साधन बतलाया है। इसलिए राजा को अपने अधीन राज्य में गोमण्डल के सम्यक विकास की योजना का निर्माण कर उसे कार्यान्वित करते रहना चाहिए। गोमण्डल की वृद्धि एवं उसके विकास से जो पदार्थ उपलब्ध होते हैं उनका कुछ अंश राजकोष के लिए संचित किया जाता है। इसके अतिरिक्त राज्य के लिए भार-वाहन युद्ध आदि के निमित्त जिन पशुओं की आवश्यकता होती है, उसकी पूर्ति का भी गोमण्डल प्रमुख साधन होता है ऐसा सोमदेव का मत है।

विविध कर—सोमदेव विविध करों के विषय में मौन हैं। उन्होंने केवल शुल्क कर की ओर संकेत किया है। ऐसी परिस्थिति में विविध करों के विषय में उनके जो विचार रहे होंगे उनके विषय में सप्रमाण कुछ भी कहा नहीं जा सकता।

भूमि-दान—भारत में भूदान-प्रथा पुरातन काल से चली आयी है। सोमदेव ने भी इस प्रथा को मान्यता दी है। उन्होंने ब्राह्मणों और देवों (देवालय देवमन्दिरों आदि) के निमित्त भूमिदान करना उचित बतलाया है। जितनी भूमि दान की जाती

१ वार्ता २१ समु १९ नीतिवा । २ वार्ता २१ समु १९ नीतिवा ।
३ वार्ता ११ समु ८ नीतिवा । ४ वार्ता २१ समु १९ नीतिवा ।

चाहिए, इस विषय में उन्होंने व्यवस्था दी है कि गोचर्म (गाय का चर्म) जितनी भूमि तक फैलाई पर यान उतनी भूमि का दान करना उचित होगा। इससे अधिक भूमिदान उचित नहीं है। सोमदेव के मतानुसार इतनी भूमि से भूमिदाता और भूमिप्रतिग्राही दोनों सुख का अनुभव करते हैं[1]।

भूमिदान की सापेक्षिक उपयोगिता पर भी उन्होंने अपना मत प्रकट किया है। उन्होंने पाँच प्रकार के भूमिदान बतलाये हैं, जिन्हें क्षेत्र वन (उद्यान) भूमिखण्ड, गृह और देवालय बतलाया है। सोमदेव का मत है कि इनमें पूर्व की अपेक्षा उत्तर के निर्माण हेतु भूमिदान उचित होगा[2]। इस व्यवस्था के अनुसार सर्वप्रथम देवालय के निर्माण हेतु भूमिदान करना चाहिए। इसके उपरान्त गृह-निर्माण, फिर भूमिखण्ड तत्पश्चात् वन और सबसे अन्त में क्षेत्र हेतु भूमिदान होना चाहिए।

दुर्ग और उसकी उपयोगिता—प्राचीन भारत में राज्य दो भागों में विभाजित माना जाता था। इन दो भागों को पुर और जनपद अथवा राष्ट्र के नाम से सम्बोधित किया गया है। पुर अथवा दुर्ग से तात्पर्य उस नगर अथवा दुर्ग से था जिसमें राज्य की राजधानी होती थी। पुर क्षेत्र को पृथक करने के उपरान्त राज्य का जो भाग अवशेष रह जाता था उसे राष्ट्र अथवा जनपद के नाम से सम्बोधित किया जाता था। इस विभाजन से सोमदेव भी सहमत जान पड़ते हैं।

दुर्ग की परिभाषा करते हुए सोमदेव ने इस प्रकार लिखा है—"जिसमें स्थित हो जाने से शत्रु के सभी उद्योग विफल हो जाते हैं अथवा शत्रु दुःख को प्राप्त होता है और स्वयं अपनी आपत्तियों का निवारण होता है, उसे दुर्ग कहते हैं[3]। सोमदेव के मतानुसार दुर्गहीन देश शत्रु द्वारा अवश्य पीड़ित किया जाता है[4]। दुर्गरहित राजा उसी प्रकार आपद्ग्रस्त रहता है जिस प्रकार कि समुद्र के मध्य में जहाज से भटका हुआ पक्षी आपद्ग्रस्त होता है[5]। इसीलिए राजा एवं राज्य के कल्याण हेतु दुर्ग अत्यन्त आवश्यक बतलाया गया है।

दुर्ग-भेद—सोमदेव ने दुर्गों के दो भेद बतलाये हैं, जिन्हें उन्होंने आहार्य दुर्ग और स्वाभाविक दुर्ग के नाम से सम्बोधित किया है[6]। आहार्य-श्रेणी में उन दुर्गों को स्थान दिया गया है, जिनका निर्माण मनुष्य द्वारा होता है। परन्तु दूसरी श्रेणी में

१ वार्ता २४ सूत्र १९ नीतिका । २ वार्ता २५ सूत्र १९ नीतिका ।
३ वार्ता १ सूत्र ९ नीतिका । ४ वार्ता ४ सूत्र २ नीतिका ।
५ वार्ता ५ सूत्र १ नीतिका ।
६ वार्ता १ सूत्र २ नीतिका ।

इन दुर्गों को स्थान दिया गया है, जिनका निर्माण प्रकृति ने स्वयं किया है। जलदुर्ग गिरिदुर्ग महिदुर्ग वनदुर्ग आदि इसी श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं।

मनु और भीष्म दोनो ने छः प्रकार के दुर्ग बतलाए हैं। छः प्रकार के इन दुर्गों में मनु ने गिरिदुर्ग को सर्वश्रेष्ठ माना है[1]। भीष्म ने धन्व (मरुभूमि युक्त) दुर्ग महिदुर्ग गिरिदुर्ग मनुष्यदुर्ग मृत्तिकादुर्ग और वनदुर्ग—यह छः प्रकार के दुर्ग बतलाये हैं[2]।

दुर्गसम्पद् —सोमदेव ने दुर्ग की सम्पदा का भी उल्लेख संक्षेप में किया है। उनका मत है कि जो दुर्ग सम्पद्वान होते हैं, वे श्रेष्ठ होते हैं। दुर्गसम्पद् के विशेष लक्षणों का उल्लेख करते हुए वह कहते हैं—"दुर्ग विषम स्थान में स्थित होना चाहिए दुर्ग में विशाल स्थान होना चाहिए उसमें घास ईंधन पेय जल आदि की सुविधा होनी चाहिए या घास ईंधन पेय जल आदि के प्रवेश में शत्रु द्वारा किंचमात्र भी बाधा न डाली जा सके दुर्ग में धान्य और रसो का बाहुल्य होना चाहिए दुर्ग में और पुरुषों का होना आवश्यक है—यह सभी दुर्ग की सम्पदा कहलाती है[3]। इन लक्षणों से सम्पन्न दुर्गों को सोमदेव ने उत्तम दुर्ग की उपाधि दी है।

दुर्ग गमनागमन नियमावली— सोमदेव का मत है कि युद्ध द्वारा शत्रु के दुर्ग पर विजय प्राप्त करना असम्भव सा होता है। इसलिए विजयाभिलाषी को शत्रु के दुर्ग पर साम दाम भेद और दण्ड उपायो के सम्यक् प्रयोग द्वारा विजय प्राप्त करने का उपाय करना चाहिए। दुर्ग के चारो ओर घेरा डालने से जंगलों में छिपकर छल तथा तीक्ष्ण (घातक) गुप्तचरो के प्रयोग आदि साधनो का आश्रय लेने से शत्रु के दुर्ग में प्रवेश सुगम बतलाया गया है[4]।

इसलिए दुर्ग में आने-जानेवाले पुरुषो पर समुचित नियन्त्रण रखना परमावश्यक होता है। सोमदेव ने आदेश दिया है कि दुर्गपति को ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए, जिससे राजमुद्रारहित किसी भी पुरुष के दुर्ग में गमनागमन का निषेध हो। जो व्यक्ति दुर्ग में प्रवेश करे अथवा दुर्ग से बाहर गमन करे, उसका विधिवत् शोधन कर लेना चाहिए, जिससे कोई भी अपरिचित व्यक्ति दुर्ग में प्रवेश न कर सके और न दुर्ग से बाहर जा सके[5]।

जनपद—सोमदेव ने जनपद की परिभाषा देते हुए अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—"वर्णाश्रम में स्थित लोग जिस भूभाग में बसते हो और जो उनके विविध

१ श्लोक ७१ अ ७ मानव । २ श्लोक ५ अ ८६, शान्तिपर्व महा. ।
३. वार्ता ३ समु २ नीतिवा । ४ वार्ता ६ समु १ नीतिवाक्यामृत ।
५. वार्ता ७ समु २ नीतिवा ।

और उसकी भूमि उन समस्त साधनों की जननी होनी चाहिए जिनसे बलवती एवं शस्त्रयुक्त सेना का संगठन एवं उसका सम्यक् भरण-पोषण आदि सुविधापूर्वक किया जा सके। वह उन समस्त पदार्थों को भी जनन करनेवाली होनी चाहिए जो राज्य के कोष को समृद्ध बनाए रखने में समर्थ हों।

(३) विषय—विविध वस्तु प्रदान करने और स्वामी के घर में गजों और अश्वों आदि को बाँधने की सामर्थ्य रखने के कारण भूभाग को सोमदेव ने विषय की संज्ञा दी है[1]।

(४) मण्डल—सोमदेव ने उस भूभाग को मण्डल की संज्ञा दी है, जिसमें अपने स्वामी की सम्पूर्ण कामनाओं की तुष्टि करने की सामर्थ्य और उसके हृदय का मण्डन करने की शक्ति होती है[2]। इस प्रकार सोमदेव के मतानुसार मण्डल में दो विशेष लक्षण होते हैं। इनमें प्रथम लक्षण यह बतलाया गया है कि उक्त भूभाग कामधेनु के समान अपने स्वामी की कामनाओं की तुष्टि करने वाला होता है। उसका दूसरा लक्षण स्वामी के हृदय को भूषित अथवा मण्डित करने की सामर्थ्य का होना बतलाया गया है।

(५) वरम्—जिस भूभाग में अपने स्वामी में उत्कर्ष-वृद्धि और उसके शत्रु के हृदय को विदीर्ण कर देने की सामर्थ्य होती है वह वरम् कहलाता है[3]। वरम् की इस व्याख्या से ऐसा ज्ञात होता है कि वीर पुरुषों से भरे हुए भूभाग को सोमदेव ने वरम् की संज्ञा दी है।

(६) निगम—अपनी समृद्धि के द्वारा अपने स्वामी को उसकी सर्व आपदाओं एवं उसके सभी संकटों से मुक्त करने की सामर्थ्य रखने के कारण भूभाग निगम की संज्ञा ग्रहण करता है, सोमदेव का ऐसा मत है[4]। इस प्रकार अति समृद्ध भूभाग को सोमदेव ने निगम की उपाधि दी है।

सोमदेव के बहुत पूर्व निगम भू-वाचक नहीं माना जाता था। समृद्ध व्यापारियों के संघ को निगम की संज्ञा दी गयी थी।

इस प्रकार सोमदेव ने राष्ट्र, देश, विषय, जनपद, वरम् और निगम नाम के भूभागों की व्याख्या कर उनके स्वरूप पृथक्-पृथक् निर्धारित किये हैं। उन्होंने छोटे बड़े क्षेत्रों की ओर ध्यान न देकर उनकी शक्ति एवं समृद्धि मात्र को ही ध्यान में रखकर उनके स्वरूपों को निर्धारित किया है।

१ वार्ता ३ सूत्र १९ नीतिवाक्यामृत। २ वार्ता ४ सूत्र १९ नीतिवाक्य।
३ वार्ता ६ सूत्र १९ नीतिवाक्य। ४ वार्ता ७ सूत्र १९ नीतिवाक्य।

अरि—सोमदेव का कहना है—"जो राजा किसी राजा के अपराध में संलग्न है और उसके प्रतिकूल आचरण करता है वह उस राजा का अरि कहलाता है[१]।" कौटिल्य ने अरि की परिभाषा करते हुए बतलाया है कि अरि सम्पत्ति से सम्पन्न सामन्त अरि कहलाता है[२]। कौटिल्य ने अरि के तीन भेद माने हैं—"सहज अरि, कृत्रिम अरि और प्रकृति अरि जिन्हें सोमदेव भी मानते हैं। उन्होंने उनकी वही परिभाषा दी जो कौटिल्य के प्रकरण में हमने दी है।

मित्र—सोमदेव का मत है कि जो राजा किसी दूसरे राजा के प्रति उसकी सम्पत्ति और विपत्ति दोनों परिस्थितियों में समान स्नेह रखता है वह उस राजा का मित्र होता है[३]। सोमदेव ने मित्र भी तीन प्रकार के बतलाये हैं, जिन्हें उन्होंने सहज मित्र कृत्रिम मित्र और प्रकृति मित्र के नाम से सम्बोधित किया है। कौटिल्य ने भी यही तीन प्रकार के मित्र बतलाये हैं।

(क) सहजमित्र—जिन राजाओं में पिता-पितामह से परम्परागत मित्र-सम्बन्ध चला आता है, वे सहज मित्र कहलाते हैं सोमदेव का ऐसा मत है। कौटिल्य के मतानुसार माता-पिता से सम्बन्ध रखनेवाले (ममेरे, फुफेरे भाई आदि) सहजमित्र होते हैं[४]।

(ख) कृत्रिममित्र—सोमदेव ने उस मित्र को कृत्रिम मित्र की संज्ञा दी है जो धन जीविका आदि के आधार पर आश्रय ग्रहण करता है[५]। कौटिल्य ने भी धन और जीविका के निमित्त आश्रय लेनेवाले पुरुष को कृत्रिम मित्र माना है।

(ग) प्रकृति-मित्र—किसी राजा के राज्य-सीमा से सम्बद्ध राज्य की सीमा पर स्थित राज्य के राजा को सोमदेव ने प्रकृति-मित्र बतलाया है[६]। प्रकृति-मित्र के विषय में कौटिल्य का मत भी यही है।

नित्यमित्र—सोमदेव का कथन है कि जो बिना प्रयोजन (स्वार्थ) के अपने मित्र की रक्षा में प्रवृत्त रहता है वह नित्यमित्र होता है[१०]। कौटिल्य ने उस नित्यमित्र बतलाया है जो लोभ अथवा स्वार्थ के बिना ही अपने पूर्व सम्बन्ध की रक्षा में तत्पर रहता है[११]।

१ वार्ता २४ समु. २९ नीतिवा.। २ वार्ता १९ अ. १ अधि. ६ अर्थ.।
३ वार्ता १ समु. २३ नीतिवा.। ४ वार्ता ३ समु. २३ नीतिवाक्यामृत।
५ वार्ता १० अ. २ अधि. ६ अर्थ.। ६ वार्ता ४ समु. २३ नीतिवाक्यामृत।
७ वार्ता १८ अ. ६ अधि. ६ अर्थ.। ८ वार्ता १५ समु. २९ नीतिवा.।
९ वार्ता १० अ. २ अधि. ६ अर्थ.। १० वार्ता २ समु. २३ नीतिवाक्यामृत।
११ श्लोक ५१ अ. ९ अधि. ७ अर्थशास्त्र।

मण्डल सिद्धान्त—प्राचीन भारत में विभिन्न राज्यों में पारस्परिक सम्बन्धों की स्थापना का प्रमुख आधार मण्डल सिद्धान्त माना गया है। कौटिल्य और कामन्दक ने अनेक प्रकार के राजमण्डलों का उल्लेख कर उनके विशेष लक्षणों का वर्णन किया है। उन्होंने यह भी बतलाया है कि समय एवं परिस्थिति के अनुसार राजमण्डल का निर्माण कर उसका आश्रय लेने से राजाओं का कल्याण होता है। सोमदेव भी इसी मत के पोषक जान पड़ते हैं। परन्तु उन्होंने राजमण्डल के विविध भेदों एवं उनके विशेष लक्षणों का वर्णन नहीं किया है।

मण्डल-सिद्धान्त के अनुसार कौटिल्य ने राजाओं के नौ भेद किये हैं। राजाओं के यह नौ भेद उदासीन, मध्यम, विजिगीषु, अरि, मित्र, पार्ष्णिग्राह, आक्रन्द, पार्ष्णिग्राहासार और आक्रन्दासार हैं।[1] सोमदेव ने इस विषय में कौटिल्य के मत का ही अनुसरण किया है। उन्होंने भी राजाओं को इन्हीं नौ श्रेणियों में परिगणित किया है[2]। सोमदेव ने नौ प्रकार के इन राजाओं के विशेष लक्षणों का पृथक्-पृथक् स्पष्ट उल्लेख किया है, जो अन्यत्र इतना स्पष्ट प्राप्त होना कठिन है। उनके मतानुसार इन राजाओं के विशेष लक्षण इस प्रकार हैं—

उदासीन—अपने राज्य के आगे पीछे अथवा पार्श्व में स्थित अथवा राज मण्डल में स्थित विग्रहीत राजाओं का निग्रह करने अथवा वशीभूत राजाओं पर अनुग्रह करने में समर्थ होने पर भी किसी राजा के विरुद्ध किसी दूसरे राजा द्वारा विजय की कामना से आक्रमण किये जाने पर जो (कारण वश) चुपचाप बैठा रहता है, वह उदासीन कहलाता है।[3]

मध्यम—जो राजा अनियतमण्डल है और विजिगीषु तथा विजिगीषु के शत्रु राजा, इन दोनों से अधिक बलवान् है परन्तु कारणवश मध्यस्थता (मौन) ग्रहण किये बैठा रहता है सोमदेव के मतानुसार, मध्यम अथवा वह मध्यस्थ राजा कहलाता है[4]।

विजिगीषु—आत्मसम्पद्युक्त अनुकूल दैवात्मा परिपूरित भाग्यभाग्युक्त परिपुष्ट प्रकृति (अमात्य तथा राष्ट्रादि) से सम्पन्न और नय तथा विक्रमयुक्त राजा विजिगीषु कहलाता है। कौटिल्य ने विजिगीषु राजा की व्याख्या करते हुए अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—"आत्म द्रव्य प्रकृति आदि की सम्पत्ति से सम्पन्न और नय का अधिष्ठान राजा विजिगीषु कहलाता है[5]।"

१ वार्ता २१ से ३। तुलना ३ अधि ६ अर्थ। २ वार्ता २ अनु २९ नीति।
३ वार्ता २१ अनु २९ नीतिवा। ४ वार्ता २१ अनु २९ नीतिवा।
५ वार्ता २१ अनु २९ नीतिवा। ६ वार्ता २१ [illegible] २ अधि ६ अर्थ।

अरि—सोमदेव का कहना है—"जो राजा किसी राजा के अपकार्य में संलग्न है और उसके प्रतिकूल आचरण करता है वह उस राजा का अरि कहलाता है।[1]" कौटिल्य ने अरि की परिभाषा करते हुए बतलाया है कि अरि सम्पत्ति से सम्पन्न सामन्त अरि कहलाता है[2]। कौटिल्य ने अरि के तीन भेद माने हैं—"सहज अरि, कृत्रिम अरि और प्रकृति अरि किये हैं, जिन्हें सोमदेव भी मानते हैं। उन्होंने उनकी वही परिभाषा दी जो कौटिल्य के प्रकरण में वर्णन की है।

मित्र—सोमदेव का मत है कि जो राजा किसी दूसरे राजा के प्रति उसकी सम्पत्ति और विपत्ति दोनों परिस्थितियों में समान स्नेह रखता है वह उस राजा का मित्र होता है[3]। सोमदेव ने मित्र भी तीन प्रकार के बतलाये हैं जिन्हें उन्होंने सहज मित्र कृत्रिम मित्र और प्रकृति मित्र के नाम से सम्बोधित किया है। कौटिल्य ने भी यही तीन प्रकार के मित्र बतलाये हैं।

(क) सहजमित्र—जिन राजाओं में पिता-पितामह से परम्परागत मित्र-सम्बन्ध चला आता है, वे सहज मित्र कहलाते हैं सोमदेव का ऐसा मत है[4]। कौटिल्य के मतानुसार माता-पिता से सम्बन्ध रखनेवाले (ममेरे, फुफेरे भाई आदि) सहजमित्र होते हैं[5]।

(ख) कृत्रिममित्र—सोमदेव ने उस मित्र को कृत्रिम मित्र की संज्ञा दी है जो धन जीविका आदि के आधार पर आश्रय ग्रहण करता है[6]। कौटिल्य ने भी धन और जीविका के निमित्त आश्रय लेनेवाले पुरुष को कृत्रिम मित्र माना है[7]।

(ग) प्रकृति-मित्र—किसी राजा के राज्य-सीमा से सम्बद्ध राज्य की सीमा पर स्थित राज्य के राजा को सोमदेव ने प्रकृति-मित्र बतलाया है[8]। प्रकृति-मित्र के विषय में कौटिल्य का मत भी यही है[9]।

नित्यमित्र—सोमदेव का कथन है कि जो बिना प्रयोजन (स्वार्थ) के अपने मित्र की रक्षा में प्रवृत्त रहता है, वह नित्यमित्र होता है[10]। कौटिल्य ने उसे नित्यमित्र बतलाया है जो लोभ अथवा स्वार्थ के बिना ही अपने पूर्व सम्बन्ध की रक्षा में तत्पर रहता है[11]।

१. वार्ता २४ सनु २९ नीतिवा । २ वार्ता १९ अ ९ अधि ६ अर्थ ।
३ वार्ता १ सनु २१ नीतिवा । ४ वार्ता ३ सनु २१ नीतिवाक्यामृत ।
५. वार्ता २० अ ९ अधि ६ अर्थ । ६ वार्ता ४ सनु २१ नीतिवाक्यामृत ।
७. वार्ता २८ अ २, अधि ६ अर्थ । ८. वार्ता १५ सनु २९ नीतिवा ।
९. वार्ता २० अ २ अधि ६ अर्थ । १ वार्ता २ सनु २३ नीतिवाक्यामृत ।
११ श्लोक ५१ अ ९ अधि ७ अर्थशास्त्र ।

अरि—सोमदेव का कहना है—"जो राजा किसी राजा के सकस्थान में सम्पन्न है और उसके प्रतिकूल आचरण करता है वह उस राजा का अरि कहलाता है[1]।" कौटिल्य ने अरि की परिभाषा करते हुए बतलाया है कि अरि सम्पत्ति से सम्पन्न सामन्त अरि कहलाता है[2]। कौटिल्य ने अरि के तीन भेद माने हैं—"सहज अरि, कृत्रिम अरि और प्रकृति अरि जिसे हैं जिन्हें सोमदेव भी मानते हैं। उन्होंने उनकी वही परिभाषा दी जो कौटिल्य के प्रकरण में हमने दी है।

मित्र—सोमदेव का मत है कि जो राजा किसी दूसरे राजा के प्रति उसकी सम्पत्ति और विपत्ति दोनों परिस्थितियों में समान स्नेह रखता है वह उस राजा का मित्र होता है[3]। सोमदेव ने मित्र भी तीन प्रकार के बतलाये हैं जिन्हें उन्होंने सहज मित्र कृत्रिम मित्र और प्रकृति मित्र के नाम से सम्बोधित किया है। कौटिल्य ने भी यही तीन प्रकार के मित्र बतलाये हैं।

(क) सहजमित्र—जिन राजाओं में पिता-पितामह से परम्परागत मित्र-सम्बन्ध चला आता है, वे सहज मित्र कहलाते हैं सोमदेव का ऐसा मत है। कौटिल्य के मतानुसार माता-पिता से सम्बन्ध रखनेवाले (ममेरे, फुफेरे भाई आदि) सहजमित्र होते हैं[4]।

(ख) कृत्रिममित्र—सोमदेव ने उस मित्र को कृत्रिम मित्र की संज्ञा दी है जो धन जीविका आदि के आधार पर आश्रय ग्रहण करता है[5]। कौटिल्य ने भी धन और जीविका के निमित्त आश्रय लेनेवाले पुरुष को कृत्रिम मित्र माना है[6]।

(ग) प्रकृति-मित्र—किसी राजा के राज्य-सीमा से सम्बद्ध राज्य की सीमा पर स्थित राज्य के राजा को सोमदेव ने प्रकृति-मित्र बतलाया है[8]। प्रकृति-मित्र के विषय में कौटिल्य का मत भी यही है[9]।

नित्यमित्र—सोमदेव का कथन है कि जो बिना प्रयोजन (स्वार्थ) के अपने मित्र की रक्षा में प्रवृत्त रहता है वह नित्यमित्र होता है[10]। कौटिल्य केवल नित्यमित्र बतलाता है जो लाभ अथवा स्वार्थ के बिना ही अपने पूर्व सम्बन्ध की रक्षा में तत्पर रहता है[11]।

१ वार्ता २४ अनु. २९ नीतिवा. । २ वार्ता १९ अ. ३ अधि. ६ अर्थ. ।
३ वार्ता १ अनु. ३३ नीतिवा. । ४ वार्ता ३ अनु. २३ नीतिवाक्यामृत ।
५ वार्ता २० अ. २ अधि. ६ अर्थ. । ६ वार्ता ४ अनु. २३ नीतिवाक्यामृत ।
७ वार्ता २८ अ. २ अधि. ६ अर्थ. । ८ वार्ता ३५ अनु. २९ नीतिवा. ।
९ वार्ता २७ अ. २ अधि. ६ अर्थ. । १० वार्ता २ अनु. २३ नीतिवाक्यामृत ।
११ श्लोक ५१ अ. ९ अधि. ७ अर्थशास्त्र ।

मण्डल सिद्धान्त—प्राचीन भारत में विभिन्न राज्यों में पारस्परिक सम्बन्धों की स्थापना का प्रमुख आधार मण्डल सिद्धान्त माना गया है। कौटिल्य और कामन्दक ने अनेक प्रकार के राजमण्डलों का उल्लेख कर उनके विशेष लक्षणों का वर्णन किया है। उन्होंने यह भी बतलाया है कि समय एवं परिस्थिति के अनुसार राजमण्डल का निर्माण कर उसका आश्रय लेने से राजाओं का कल्याण होता है। सोमदेव भी इसी मत के पोषक जान पड़ते हैं। परन्तु उन्होंने राजमण्डल के विविध भेदों एवं उनके विशेष लक्षणों का वर्णन नहीं किया है।

मण्डल-सिद्धान्त के अनुसार कौटिल्य ने राजाओं के भी भेद किये हैं। राजाओं के यह भी भेद उदासीन मध्यम विजिगीषु, अरि, मित्र पार्ष्णिग्राह आक्रन्द, पार्ष्णिग्राहासार और आक्रन्दासार हैं।[1] सोमदेव ने इस विषय में कौटिल्य के मत का ही अनुसरण किया है। उन्होंने भी राजाओं को इन्हीं नौ श्रेणियों में परिगणित किया है[2]। सोमदेव ने नौ प्रकार के इन राजाओं के विशेष लक्षणों का पृथक्-पृथक् स्पष्ट उल्लेख किया है, जो अन्यत्र इतना स्पष्ट प्राप्त होना कठिन है। उनके मतानुसार इन राजाओं के विशेष लक्षण इस प्रकार हैं—

उदासीन—अपने राज्य के आगे पीछे अथवा पार्श्व में स्थित अथवा राजमण्डल में स्थित विग्रहित राजाओं का निग्रह करने अथवा सन्धीभूत राजाओं पर अनुग्रह करने में समर्थ होने पर भी किसी राजा के विरुद्ध किसी दूसरे राजा द्वारा विजय की कामना से आक्रमण किये जाने पर जो (कारण वश) चुपचाप बैठा रहता है, वह उदासीन कहलाता है।

मध्यम—जो राजा अनियतमण्डल है और विजिगीषु तथा विजिगीषु के शत्रु राजा इन दोनों से अधिक बलवान् है परन्तु कारणवश मध्यस्थता (मौन) ग्रहण किये बैठा रहता है सोमदेव के मतानुसार, मध्यम अथवा वह मध्यस्थ राजा कहलाता है[3]।

विजिगीषु—आत्मसम्पद्युक्त अनुकूल दैवात्मा परिशुद्धि भाग्यसम्पद्युक्त और द्रव्य प्रकृति (अमात्य देश इत्यादि) से सम्पन्न और नय तथा विक्रमयुक्त राजा विजिगीषु कहलाता है[4]। कौटिल्य ने विजिगीषु राजा की व्याख्या करते हुए अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—"आत्म, द्रव्य प्रकृति आदि की सम्पत्ति से सम्पन्न और नय का अधिष्ठान राजा विजिगीषु कहलाता है[5]।"

१ वार्ता २१ से ३ तक व २ अवि ६ वर्ग । २ वार्ता २ अनु २९ नीति ।
३ वार्ता ११ अनु २९ नीतिवा । ४ वार्ता २२ अनु २९ नीतिवा ।
५ वार्ता ११ अनु २९ नीतिवा । ६ वार्ता १६ अ २ अवि ६ वर्ग ।

शक्ति सम्पन्न आर्य राजा का आश्रय लेना अथवा किसी दृढ़ एवं अभेद्य दुर्ग का आश्रय लेना है। जब यह आश्रय दुर्बल हो अथवा इन आश्रयों से रहित शत्रु हो, तो ऐसी परिस्थिति में उस शत्रु का उच्छेदन करना सरल हो जाता है।

पीडन अथवा कर्षण योग्य शत्रु—पीडन अथवा कर्षणयोग्य शत्रु के लक्षणों के विषय में भी सोमदेव ने कौटिल्य के मत का ही समर्थन किया है। इस विषय में सोमदेव ने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—"शत्रु ने विजिगीषु से मित्रता कर ली है परन्तु वह उसके अपकार करने की चिन्ता में संलग्न रहता है। ऐसी परिस्थिति में विजिगीषु को अपने इस शत्रु को मित्रविहीन कर देना चाहिए अथवा दूसरे से उस शत्रु से युद्ध कराकर उसका कर्षण करना चाहिए[1]। इन लक्षणों से युक्त शत्रु पीडन अथवा कर्षण योग्य बतलाया गया है। कौटिल्य ने भी अपना मत लगभग इसी प्रकार व्यक्त किया है[2]।

षाड्गुण्यनीति राजाओं की सफलता एवं उनकी विफलता षाड्गुण्य नीति के उचित अथवा अनुचित प्रयोग पर बतलायी गयी है। जो राजा षड्गुण्यनीति का उचित प्रयोग करता है वह सफलता प्राप्त करता है। इसके विपरीत आचरण करने से उसका नाश होता है। सोमदेव ने भी इसी मत का समर्थन किया है। उनके द्वारा वर्णित छः गुण वही हैं जिनका उल्लेख हम पूर्वाचार्यों के सम्बन्ध में कर चुके हैं।

(१) सन्धि—सोमदेव ने सन्धि की वही परिभाषा की है जो कि कौटिल्य द्वारा की गयी है। उन्होंने कौटिल्य द्वारा प्रयुक्त सूत्र की पुनरावृत्ति कर दी है। इस परिभाषा के अनुसार कुछ पण (conditions) का आश्रय लेकर दो राजाओं में जो मेल हो जाता है उसे सन्धि की संज्ञा दी गयी है[3]।

जिन परिस्थितियों में राजा सन्धि गुण का आश्रय ले इस विषय में सोमदेव ने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—"यदि कोई राजा अपने शत्रु राजा से हीनबल है, और यह समझता है कि सन्धि कर लेने पर शत्रु सन्धि के पणों का उल्लंघन नहीं करेगा ऐसी परिस्थिति में उसे सन्धिगुण का आश्रय लेना उचित होगा[4]। कौटिल्य का मत है कि यदि कोई राजा शत्रु की अपेक्षा स्वयं को दुर्बल समझता है तो उसे सन्धि कर लेनी चाहिए[5]। इस प्रकार सोमदेव ने कौटिल्य द्वारा दी गयी

१ वार्ता १२ समु० २९ नीतिवा० । २ वार्ता २१ अ० २ अधि० ९ अर्थ० ।
३ वार्ता ४३ समु० २९ नीतिवाक्यामृत।
वार्ता ६ अ० १ अधि० ७ अर्थशास्त्र।
४ वार्ता ५ समु० २९ नीतिवा० । ५. वार्ता १९ अ० १ अधि० ७ अर्थ० ।

पार्ष्णिग्राह—विजिगीषु द्वारा विजय के लिए गमन करने के उपरान्त विजिगीषु के राज्य के पृष्ठ में स्थित राज्य का जो राजा विजिगीषु के राज्य का मर्दन करता है अथवा उस पर आक्रमण करता है, वह पार्ष्णिग्राह कहलाता है। सोमदेव ने पार्ष्णिग्राह के ये लक्षण बतलाये हैं[1]।

आक्रन्द—विजिगीषु के पृष्ठ में पार्ष्णिग्राह के राज्यसीमा से सम्बद्ध सीमावाले राज्य का राजा अर्थात् पार्ष्णिग्राह के राज्य के पृष्ठ में स्थित राज्य का राजा आक्रन्द के नाम से सम्बोधित किया गया है[2]। आक्रन्द उस विजिगीषु राजा का प्रकृति-मित्र होता है।

पार्ष्णिग्राहासार—आक्रन्द राजा के पृष्ठ में उसके राज्य की सीमा से सम्बद्ध सीमावाले राज्य का राजा पार्ष्णिग्राहासार कहलाता है[3]। यह पार्ष्णिग्राह का प्रकृति-मित्र होता है।

आक्रन्दासार—पार्ष्णिग्राहासार के पृष्ठ में उसकी राज्य सीमा से सम्बद्ध सीमा वाले राज्य के राजा को सोमदेव ने आक्रन्दासार के नाम से सम्बोधित किया है[4]। आक्रन्दासार आक्रन्द का प्रकृति-मित्र होता है।

इस प्रकार सोमदेव ने उपर्युक्त नौ प्रकार के राजाओं की स्थिति एवं उनके विशेष लक्षणों का स्पष्ट वर्णन किया है। यह वर्णन कौटिल्य तत्सम्बन्धी विचारों पर आश्रित है।

आक्रमणयोग्य शत्रु—किन लक्षणों से युक्त शत्रु पर आक्रमण करना उचित होगा सोमदेव ने इस विषय का भी उल्लेख किया है। जो शत्रु राजा आलसी लोभी दुर्व्यसनी विरक्तप्रकृति अन्यायप्रवर्तक या व्यसनी है अथवा जिस राजा के अमात्य मित्र बान्धव और सेनापति उसके विरुद्ध हो गये हैं, वे आक्रमण योग्य होते हैं[5]। इन लक्षणों से युक्त शत्रु पर आक्रमण करने पर विजिगीषु विजय को प्राप्त होता है।

उच्छेदनीय शत्रु—सोमदेव का मत है कि आश्रयहीन अथवा दुर्बल आश्रयवाले शत्रु का उच्छेदन बलपूर्वक किया जा सकता है[6]। कौटिल्य का भी यही मत है[7]। आश्रय दो प्रकार का बतलाया गया है। यह दो प्रकार का आश्रय किसी

१. वार्ता २६ अनु० २९ नीतिवा०।
२. वार्ता २७ अनु० २९ नीतिवा०। ३. वार्ता २८ अनु० २९ नीतिवा०।
४. वार्ता २८ अनु० २९ नीतिवा०। ५. वार्ता ३ अनु० २९ नीतिवाक्यामृत।
६. वार्ता ३१ अनु० २९ नीतिवा०। ७. वार्ता १८ २ अधि० १ अर्थ०।

सम गुण सम्पन्न हो और उसका राष्ट्र राजकण्टकों (चोर, चरट, पापकारक श्रमण राजवल्लभ आदि) से मुक्त हो ऐसी परिस्थिति में यान गुण का आश्रय लेना उचित होगा[1]। इस प्रकार सोमदेव का मत है कि राज्य आन्तरिक विघ्न-बाधाओं से मुक्त हो और अधिपति गुणसम्पन्न हो, तभी यान गुण का आश्रय लिया जाना चाहिए अन्यथा नहीं। अपने अधीन राष्ट्र का सम्यक् परिपालन एवं परिरक्षण न करके दूसरे राज्य पर आक्रमण करने से उसी प्रकार मूर्खता होगी जिस प्रकार कि अन्धे का दूसरे अन्धे पर हंसना है[2]। इसलिए अपने राष्ट्र की रक्षा की सम्यक् व्यवस्था करने के उपरान्त पर-राष्ट्र पर आक्रमण करना उचित होगा ऐसा सोमदेव का मत है।

(५) संश्रय—शत्रु या विजिगीषु अथवा अन्य किसी बलवान् राजा के प्रति आत्मसमर्पण करना कौटिल्य और सोमदेव दोनों ने संश्रय गुण माना है[3]।

कौटिल्य का मत है कि जब राजा अपनी परिस्थिति इस प्रकार देखता है कि वह शत्रु के कार्यों में हानि पहुँचाने में असमर्थ है और अपने कार्यों की रक्षा करने में भी असमर्थ है तो उसे किसी दूसरे राजा का आश्रय ग्रहण कर लेना चाहिए। इसके उपरान्त उसे अपना कार्य साधते हुए इस क्षणिक क्षय से स्थान की प्राप्ति करनी चाहिए और तदनन्तर, स्थान के उपरान्त वृद्धि की प्राप्ति करनी चाहिए[4]। सोमदेव का मत है कि संश्रय गुण का आश्रय लेने से असमर्थ राजा भी समर्थ हो जाता है। उन्होंने इस विषय में यह दृष्टान्त दिया है—"असमर्थ तन्तुओं के परस्पर सम्मिलित हो जाने से वे ही तन्तु समर्थ रस्सी के रूप में परिणत होकर हाथी के बांधने में समर्थ हो जाते हैं[5]।" परन्तु संश्रय गुण का आश्रय लेने में सोमदेव ने व्यसन-ग्रस्त राजा का आश्रय लेने का निषेध किया है। जो राजा स्वयं असमर्थ है उसके आश्रय में जाने का भी निषेध सोमदेव द्वारा किया गया है। उन्होंने इस विषय में अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—"बलवान् से भयभीत होकर असमर्थ राजा का आश्रय लेना उसी प्रकार व्यर्थ होता है जिस प्रकार हाथी से भयभीत होकर एरण्ड वृक्ष का आश्रय लेना होता है[6]। जो राजा स्वयं अस्थिर है, उसका आश्रय लेना

१ वार्ता ५३ समु० २९ नीतिवा०। २ वार्ता ५४ समु० २९ नीतिवा०।
३ वार्ता ४७ समु० २९ नीतिवाक्यामृत।
वार्ता १ अ० १ अधि० ७ अर्थशास्त्र।
४ वार्ता १ ११ अ० १ अधि० ६ अर्थशास्त्र।
५ वार्ता ५५ समु० २९ नीतिवा०। ६ वार्ता ५६ समु० २९ नीतिवा०।

सन्धि की परिस्थितियों में वृद्धि की है। उन्होंने इतना और प्रतिबन्ध लगाना उचित समझा है कि यदि हीनबल राजा यह समझता है कि उसका शत्रु सन्धि की मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करेगा तब सन्धि करनी उचित होगी।

(२) विग्रह—विग्रह गुण की परिभाषा करते हुए सोमदेव ने लिखा—किसी राजा का दूसरे राजा के प्रति अपराध करना विग्रह कहलाता है[१]। कौटिल्य के मतानुसार दो राजाओं का परस्पर अपकार में हो जाना विग्रह कहलाता है[२]। यदि राजा यह समझता है कि वह शत्रु की अपेक्षा अधिक बलिष्ठ है और उसकी सेना में किसी प्रकार का क्षोभ नहीं है, ऐसी परिस्थिति में विग्रह गुण का आश्रय लेना उचित होगा—सोमदेव का ऐसा मत है। प्रत्येक प्रकार से राजा के शक्तिसम्पन्न होने पर विग्रह करना उचित होगा—ऐसा कौटिल्य का मत है। सोमदेव ने कौटिल्य द्वारा की गयी विग्रह की परिभाषा में भी कुछ विशेषता लाने का प्रयत्न किया है। उनकी इस परिभाषा में सोमदेव ने सेना के क्षोभरहित होने का भी प्रतिबन्ध लगाया है।

(३) आसन—आसन गुण की परिभाषा में भी सोमदेव ने कौटिल्य द्वारा प्रयुक्त गुण का ही प्रयोग किया है। इस परिभाषा के अनुसार किसी समय अथवा परिस्थिति की प्रतीक्षा में चुप-चाप बैठे रहने को आसन गुण की संज्ञा दी गयी है[३]। कौटिल्य ने कहा है कि शत्रु एवं विजिगीषु दोनो जब अनुभव करते हैं कि वे एक दूसरे को मारने में समर्थ नहीं हैं, तब आसन का अवलम्बन किया जाता है[४]। सोमदेव ने इस परिस्थिति में इतना प्रतिबन्ध और लगाया है कि ऐसा होने पर अपनी कुशलता होगी ऐसा भी अनुभव हो तब आसन गुण का आश्रय लेना उचित होगा।

(४) यान—सोमदेव और कौटिल्य दोनों ने यानगुण की परिभाषा में एक ही मत व्यक्त किया है। इस परिभाषा के अनुसार विजिगीषु द्वारा शत्रुपर विजय हेतु गमन करना यान कहलाता है[५]।

अतिशय गुणसम्पन्न होने पर विजिगीषु द्वारा विजय की कामना से शत्रु के विरुद्ध युद्ध करने के लिए गमन यान कहलाता है, ऐसा कौटिल्य का मत है[६]। परन्तु सोमदेव ने इस परिस्थिति में यह प्रतिबन्ध भी लगाया है कि विजिगीषु अति-

१ वार्ता ४४ अनु २९ नीतिवा । २ वार्ता ७ अ १ अधि ७ अर्थ ।
३. वार्ता ५१ अनु २९ नीतिवा । ४ वार्ता १३ अ १ अधि ७ अर्थ ।
५. वार्ता ४६ अनु २९ नीतिवा । ६. वार्ता १४ अ १ अधि ७ अर्थ ।
७. वार्ता ३५ अनु २९ नीतिवा । ८. वार्ता १५ अ १ अधि ७ अर्थ ।

को सोमदेव ने उपप्रदान की संज्ञा दी है और बतलाया है कि बहुत बड़े की रक्षा हेतु जब अल्प अर्थ शत्रु को प्रसन्न करने के निमित्त प्रदान किया ा है तो उसे उपप्रदान कहते हैं[१]।

भेद—योग्य विष मुख्यकरो उभय वेतनभोगी पुरुषों आदि के द्वारा शत्रु-सेना स्नेह उत्पन्न करना अथवा उसमें मनमुटाव पैदा करना भेद बतलाया गया है[२]।

दण्ड—सोमदेव ने दण्ड उपाय की परिभाषा करते हुए इस प्रकार व्यवस्था दी "शत्रु का वध करना उसे परिक्लेशित करना और उसका धन हरण करना दण्ड ाता है[४]। सोमदेव ने प्रकाश और अप्रकाश दण्ड के इन दो भेदों का उल्लेख किया है।

शक्ति-भेद—सोमदेव ने तीन प्रकार की शक्तियाँ बतलायी हैं जिन्हें उन्होंने शक्ति प्रभुशक्ति और उत्साहशक्ति के नाम से सम्बोधित किया है। उन्होंने ान को बुद्धिशक्ति कोष और सैन्यबल को प्रभुशक्ति[५] और विक्रमबल को साहशक्ति की संज्ञा दी है[६]। इन तीनों शक्तियों से सम्पन्न राजा विजयी होता जिस राजा में ये तीनों शक्तियाँ अपने शत्रु की तीनों शक्तियों की अपेक्षा अधिक ी हैं वह अपने उस शत्रु पर विजय प्राप्त करता है। जिसमें यह शक्तियाँ ा होती हैं वह पराजित होता है और जिन राजाओं में ये शक्तियाँ समान होती उनकी विजय में सन्देह रहता है[७]।

कौटिल्य ने बल को शक्ति के नाम से सम्बोधित किया है। उन्होंने भी तीन ार की शक्ति बतलायी है। शक्ति के यह तीन प्रकार मन्त्रशक्ति प्रभुशक्ति और ाह-शक्ति हैं। उन्होंने ज्ञानबल को मन्त्र-शक्ति कोष और सैन्यबल को प्रभुशक्ति ा विक्रम-बल को उत्साह-शक्ति माना है। उन्होंने भी यह माना है जिस राजा में तीन शक्तियाँ होती हैं वह राजा श्रेष्ठ होता है[९]। इन शक्तियों से हीन राजा ित होता है।[१०] जिन राजाओं में ये शक्तियाँ समान होती हैं वे समशक्त कहलाते

१ वार्ता ७१ समु २९ नीतिवा । २ वार्ता ७२ समु २९ नीतिवा ।
३ वार्ता ७३ समु २९ नीतिवा । ४ वार्ता ७४ समु २९ नीतिवा ।
५ वार्ता ३८ समु २९ नीतिवा । ६ वार्ता ४ समु २९ नीतिवा ।
७ वार्ता ४१ समु २९ नीतिवा । ८ वार्ता ४ अ ९ अधि ६ अर्थशा ।
९ वार्ता ४३,४४,४५ अ ९ अधि ६ अर्थशास्त्र ।
१० वार्ता ५ अ २ अधि ६ अर्थ ।
११ वार्ता ५१ अ २ अधि ६ अर्थ ।

अपना और उस राजा दोनों के नाश का कारण उसी प्रकार होता है जिस प्रकार कि एक नदी को दूसरी नदी का आश्रय देना है दोनों नदियाँ समुद्र में विलीन होकर अपना अस्तित्व मिटा देती हैं[1]।

द्वैध—यदि किसी राजा के दो शत्रु हों और वह यह समझता हो कि एक शत्रु के साथ सन्धि कर उसकी सहायता से वह दूसरे शत्रु का दमन करने में समर्थ हो सकेगा तो ऐसी परिस्थिति में एक राजा से सन्धि और दूसरे से विग्रह की जो स्थिति होती है उसे सोमदेव ने द्वैधीभाव माना है। इस परिस्थिति में राजा को अपने दोनों शत्रुओं से एक ही साथ युद्ध नहीं करना पड़ता और इस प्रकार शत्रु के दमन हेतु उसकी शक्ति की वृद्धि भी हो जाती है[2]। सोमदेव का मत है कि जब इस प्रकार की परिस्थिति हो तो एक शत्रु से सन्धि कर लेने के उपरान्त दूसरे शत्रु से विग्रह करना बुद्धिमानी का कार्य होगा[3]।

एक राजा से सन्धि करके दूसरे से विग्रह करने को कौटिल्य ने भी द्वैधीभाव गुण माना है[4]।

इस प्रकार सोमदेव ने षाड्गुण्यनीति के गुणों की पृथक्-पृथक् व्याख्या कर उनकी उपयोगिता प्रमाणित की है।

उपाय—प्राचीन भारत के लगभग सभी राजशास्त्र-प्रणेताओं ने राजाओं की सफलता के निमित्त षाड्गुण्य नीति के साथ ही उपायों का भी विवरण किया है। उन्होंने साम, दान भेद और दण्ड ये चार उपाय बतलाये हैं। कामन्दक ने उपायों की संख्या सात मानी है। सोमदेव ने भी प्राचीन परम्परा के अनुसार ही चार उपायों को मान्यता दी है।

साम उपाय—सोमदेव ने साम उपाय पाँच प्रकार का माना है। विजिगीषु के गुणों का संकीर्तन करना उसके सम्बन्ध की प्रशंसा करना उसके प्रति उपकार प्रदर्शन करना उसका प्रिय दर्शन करना और "मैं तुम्हारा हूँ" कह कर आत्म-समर्पण कर देना—साम उपाय के ये पाँच भेद सोमदेव द्वारा बतलाये गये हैं[5]। कामन्दक ने भी साम उपाय के पाँच भेद माने हैं, जो इनसे मिलते-जुलते हैं[6]।

उपप्रदान "जो कुछ मेरा द्रव्य है वह आप का है। इस द्रव्य का उपयोग आप अपने कार्यों के सम्पादन हेतु करें" विजिगीषु के प्रति इस प्रकार वचनबद्ध

१ वार्ता ५७ अनु २९ नीतिवा । २ वार्ता ४८ अनु २९ नीतिवा ।
३ वार्ता ४९ अनु २९ नीतिवा । ४ वार्ता ११ अ १ अधि ७ अर्थशा० ।
५ वार्ता ७ अनु २९ नीतिवा । ६ श्लोक ४, ५ सर्ग १७ कामन्दक नीति ।

प्रकार सोमदेव के मतानुसार सबसे अधिक उपयोगी सेना मौलबल और सबसे न्यून उपयोगी आटविक बल है[१]।

परम्परागत चली आनेवाली सेना को मौलबल के नाम से सम्बोधित किया गया है। सोमदेव ने लिखा है— 'मौलबल आपत्काल में अपने स्वामी का परित्याग नहीं करता, दण्डित किये जाने पर भी द्रोह नहीं करता और शत्रु से अभेद्य रहता है[२]। इसलिए अपने मौलबल से स्वामी कभी विरोध न करे, अपितु उसे धन-दान और सम्मान-प्रदर्शन से अपना अनुरागी बनाये रखे[३]। स्वामी द्वारा सम्मान प्राप्त होने पर पुरुष स्वामी के कल्याण हेतु जितना युद्ध करता है उतना धन के प्राप्त होने पर नहीं। इसलिए स्वामी को अपनी अधीन सेना का सम्मान करते रहना चाहिए[४]।

सेना की विरक्ति के कारण—सोमदेव ने उन कारणों का भी संक्षेप में उल्लेख किया है जो सेना को अपने स्वामी के प्रति विरक्त कर देते हैं। उन्होंने पाँच कारण बतलाये हैं। इनमें प्रथम कारण स्वामी द्वारा सेना का प्रतिदिन अवलोकन न किया जाना बतलाया गया है। स्वामी को देखकर सेना उत्साहित होती है और उसमें अपने स्वामी के प्रति निष्ठा एवं अनुराग की जागृति होती रहती है। इसीलिए सोमदेव ने व्यवस्था दी है कि जिस सेना का अवेक्षण स्वामी द्वारा नित्य नहीं किया जाता वह सेना हीनता को प्राप्त हो जाती है। इस सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए सोमदेव ने यह व्यवस्था दी है कि अपने अधीन भृत्यों का भरण-पोषण स्वामी की सेवा धार्मिक कृत्य और पुत्रोत्पत्ति ये चार काम मनुष्य दूसरों पर कदापि न छोड़े। इनका सम्पादन स्वयं ही करना चाहिए[५]।

सेना की विरक्ति का दूसरा कारण सेना के देय अंश का हरण बतलाया गया है। सैनिक को जितना वेतन भत्ता आदि नियमानुसार मिलना चाहिए, उससे न्यून मिलने से उसमें असन्तोष उत्पन्न होता है। उपर्युक्त वेतन देने के नियम का स्वामी द्वारा पालन किये जाने से उसकी सेना अपने स्वामी के प्रति अनुरक्त रहती है। अपने आश्रित सेवक को उसका वेतन न देनेवाला राजा पाप का भागी होता है। अतः ऐसे स्वामी का परित्याग सेवक द्वारा किया जाना चाहिए।

१ वार्ता १२ समु. २२ नीतिवा. । २ वार्ता १५ समु. २२ नीतिवाक्या. ।
३ वार्ता १४ समु. २२ नीतिवा. । ४. वार्ता १६ समु. २२ नीतिवाक्या. ।
५ वार्ता १८ समु. २२ नीतिवा. । ६. वार्ता १९ समु. २२ नीतिवाक्यामृत ।
७. वार्ता १७ समु. २२ नीतिवा. । ८. वार्ता २ समु. २२ नीतिवाक्यामृत ।
९. वार्ता २१ समु. २२ नीतिवा. ।

है[१]। इस प्रकार इस प्रसंग में सोमदेव ने कौटिल्य के मत को ही अपने शब्दों में व्यक्त किया है।

सैन्यबल—सोमदेव ने सैन्यबल की परिभाषा करते हुए बतलाया है कि जो अपने स्वामी द्वारा धन और प्रिय भाषण से पुरस्कृत होने पर बल द्वारा अपने स्वामी के कल्याण हेतु उसके शत्रुओं से सभी परिस्थितियों में उसकी रक्षा में तत्पर रहता है वह सैन्यबल कहलाता है[२]।

सैन्यबल-भेद—सोमदेव ने सैन्यबल के छः भेद मौल भृत्यक, भृत्य श्रेणीबल, मित्रबल और आटविक बल बतलाये हैं जो कौटिल्य द्वारा किये गये सेना के भेदों पर ही आश्रित हैं। नवीनता केवल इतनी है कि सोमदेव ने अरिबल के स्थान पर भृत्यबल दिया है। उन्होंने अरिबल को सेना का एक भेद नहीं माना है। इससे ज्ञात होता है कि सोमदेव ने अरि-सेना को राज्य की सेना में स्थान देना उचित नहीं समझा है। उनकी दृष्टि में राजा के लिए अरि-सेना अनुपयोगी एवं व्यर्थ होती है। इसीलिए उन्होंने सेना के छः भेदों में अरि-सेना को स्थान देना उचित नहीं समझा। भृत्यसेना से सोमदेव का क्या तात्पर्य है स्पष्ट नहीं है। गुप्तकालीन शिला-अभिलेखों से ऐसा ज्ञात होता है कि कुछ राजाओं को पराजित कर उन्हें अधीन कर लिया गया था। इनके लिए भृत्य शब्द का भी प्रयोग किया गया है। इससे ऐसा ज्ञात पड़ता है कि इन अधीनस्थ सामन्तों की भी सेना होती थी जो आवश्यकतानुसार अपने स्वामी राजा की सेवा में रहती थी। इसी सेना को सोमदेव ने भृत्य-सेना के नाम से सम्बोधित किया होगा।

कौटिल्य ने भी भृत्य सामन्तों की ओर संकेत किया है। भृत्यगामी सामन्तों की व्याख्या करते हुए कौटिल्य ने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—"बलवान् के दबाया हुआ बीच में (शत्रु और विजिगीषु के मध्य में) पड़ा हुआ सामन्त भृत्य-गामी कहलाता है[४]।

इन छः प्रकार के सैन्यबल की आपेक्षिक उपयोगिता पर भी सोमदेव ने अपना मत व्यक्त किया है। इस विषय में सर्वोपयोगी बल मौलबल बतलाया गया है। इसके उपरान्त इनकी आपेक्षिक उपयोगिता क्रमशः न्यूनतर बतलायी गयी है। इन

१ वही ५२ अ २ अधि ६ अर्थ ।
२ वही १ समु २९ नीतिवाक्यामृत ।
३ वही ११ समु १२ नीतिवा ।
४ वही ११ अ १८ अधि ७ अर्थ ।

परन्तु अशिक्षित हाथी सेना के लिए सर्वथा अनुपयुक्त बतलाया गया है। अशिक्षित हाथी धन और प्राण दोनों का हरण करते हैं[1]। हाथियों की प्रधानता उनकी जाति उनके कुल वन और प्रचार की उत्तमता पर मानी गयी है। परन्तु हाथियों का विशेष महत्त्व उनके विशाल शरीर, विशेष बल शौर्य एवं उनकी शिक्षा पर आश्रित है। इसलिए युद्ध के लिए विशाल शरीरधारी बल एवं शौर्ययुक्त सुशिक्षित हाथी उपयोगी समझा गया है[2]।

हस्ति-सेना के उपरान्त अश्वसेना का दूसरा स्थान माना गया है। अश्वारोही रण में चन्द्रकवीरा के समान युद्धक्रीड़ा करके आनन्द लेता है। दूर का शत्रु भी उसके द्वारा निकट हो जाता है। आपत्काल में अश्व मनोरथ-सिद्धि का हेतु होता है, रक्षा का स्थान होता है, भाटी में घुस कर युद्ध करता है और शत्रु की सेना में घुसकर उसका भेदन करता है। ये सभी कार्य अश्व द्वारा साध्य माने गये हैं[3]। सोमदेव ने अश्व की श्रेष्ठता उसके उत्पत्तिस्थान के आधार पर मानी है[4]।

रथसेना की प्रशंसा करते हुए सोमदेव ने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—"समभूमि पर रथ में स्थित धनुर्विद्या के ज्ञाता योद्धा के लिए मन में सभी कुछ साध्य होता है"[5]। रथसेना द्वारा शत्रु-सेना पर सरलता से ही विजय प्राप्त होती है[6]। सोमदेव ने पैदल सेना के महत्त्व पर अपना मत व्यक्त नहीं किया है।

उत्साहित सेना—शत्रु पर विजय-प्राप्ति हेतु उत्साह-सम्पन्न सेना षष्ठ मानी गयी है। सोमदेव ने उस सेना को उत्साहित सेना माना है, जिसमें विजिगीषु द्वारा युद्ध हेतु प्रकाशित करते समय चार गुण पाये जायें। सेना में क्षत्रियों का आधिक्य होना, सैनिकों का चतुर होना, उनमें शौर्य का प्राधान्य होना तथा उनका अपने स्वामी में अनुरक्त होना—"ये चार गुण उत्साहित सेना के बतलाये गये हैं[7]।

विजय-भेद—सोमदेव ने तीन प्रकार की विजय मानी है, इन्हें उन्होंने धर्म-विजय लोभविजय और असुरविजय के नाम से सम्बोधित किया है। इन्हीं तीन प्रकार की विजयों के आधार पर उन्होंने तीन प्रकार के विजयी भी बतलाये हैं—धर्मविजयी लोभविजयी और असुरविजयी। जो राजा विजय के उपरान्त पराजित राजा द्वारा की गयी विनयमात्र से ही सन्तुष्ट हो जाता है और पराजित राजा अथवा

१ वार्ता ५ समु २२ नीतिवा । २ वार्ता ४ समु २२ नीतिवा ।
३ वार्ता ८ समु २२ नीतिवा । ४ वार्ता १ समु २२ नीतिवा ।
५ वार्ता ११ समु २२ नीतिवा । ६ वार्ता १२ समु २२ नीतिवा ।
७ वार्ता १३ समु २२ नीतिवा ।

सेना की विरक्ति का तीसरा कारण वृत्ति-भुगतान में विलम्ब बतलाया गया है[1]। वेतन-भुगतान करने की निर्धारित तिथि के व्यतीत हो जाने के उपरान्त सेवक को वेतन-दान करने वाले स्वामी की समता उन बादलों से की गयी है जो समय पर वर्षा न करके समय टल जाने के उपरान्त बरसते हैं। इस प्रकार के बादलों से कृषि को लाभ नहीं होता। लोग ऐसे बादलों का निरादर करते हैं। इसी प्रकार सैनिकों को विलम्ब से उनकी वृत्ति-दान करनेवाले राजा के प्रति उसके सैनिक विरक्त हो जाते हैं और उसका निरादर करने लगते हैं।

आपत्तियों से सेना की रक्षा न करने पर भी सेना अपने स्वामी से विरक्त हो जाती है[2]। इसीलिए सोमदेव ने अपने आश्रित सेवकों को उनकी विपत्तियों (संकटों) से मुक्त रखने की चेष्टा न करनेवाले स्वामी को व्यर्थ बतलाया है।

सेना की विरक्ति का अन्तिम कारण विशेष अवसरों पर सैनिकों को यथासम्भव पुरस्कार के प्रदान, सत्कार, मान आदि के प्रदर्शन में उदासीनता का अवलम्बन बतलाया गया है[3]। पुत्रोत्पत्ति, राज्याभिषेक, पर्वपाठ, विजयकाल आदि ऐसे विशेष अवसर होते हैं जिनमें सेना को पुरस्कार, सत्कार, मान आदि स्वामी द्वारा प्राप्त होने चाहिए। इस प्रकार आचरण करने से सेना अपने स्वामी के प्रति अनुराग बनाये रखती है।

इस प्रकार सोमदेव ने सेना की विरक्ति के उपर्युक्त पाँच कारण बतलाये हैं।

विभाग—सोमदेव ने चतुरंगिणी सेना मानी है जिसके यही पुराने चार अंग पैदल, अश्वारोही, गजारोही और रथारोही हैं। सेना के इन चार अंगों में सोमदेव ने गजारोही सेना को सबसे अधिक उपयोगी बतलाया है। इस विषय में उनका मत कौटिल्य के मत के समान ही है, जो राजा की विजय गज-सेना पर आश्रित बताते हैं। हाथी अकेला होने पर भी अपने आठ अंगों द्वारा युद्ध कर शत्रु का नाश करता है। इसलिए हाथी अष्टायुधकारी माना गया है। हाथी के यह आठ आयुध उसके चार पैर, दो दाँत, एक सूँड और एक पूँछ हैं। हाथी में अनेक गुण बतलाये गये हैं। हाथी कुलधन है, यह आत्मरक्षा का साधन है, यह शत्रु के पुर का मर्दन करनेवाला है, शत्रुसेना के व्यूहों का विनाशक होता है, जल में सेतुबन्ध का कार्य करता है, इत्यादि अनेक कार्यों का सम्पादन हाथी द्वारा किया जाता है।

१ वार्ता १७ समु २२ नीतिवा। २ वार्ता २३ समु २२ नीतिवा।
३ वार्ता १७ समु २२ नीतिवा। ४ वार्ता २४ समु २२ नीतिवा।
५ वार्ता १७ समु २२ नीतिवा। ६ वार्ता २ समु २२ नीतिवा।
७ वार्ता ६ समु २२ नीतिवा।

है, वह ब्रह्महत्या के घोर पाप का भागी होता है[1]। यदि शत्रु अथवा उसके पक्ष का कोई पुरुष रणस्थल में आ रहा हो और वह पकड़ लिया गया हो तो ऐसे पुरुष अथवा शत्रु को सत्कारपूर्वक मुक्त कर देना चाहिए[2]।

एक बलाधिकृत रखने का निषेध—सोमदेव ने बलाधिकृत नाम के सेना के पदाधिकारी का पद महत्त्वपूर्ण बतलाया है। परन्तु उन्होंने बलाधिकृत के स्वरूप का वर्णन किसी प्रसंग में भी नहीं किया है। ऐसा ज्ञात होता है कि छः प्रकार के जो बल उन्होंने बतलाये हैं उनमें प्रत्येक बल के प्रधान अधिकारी को बलाधिकृत नाम से सम्बोधित किया गया है। गुप्तकालीन अभिलेखों में भी बलाधिकृत नाम के सेना के पदाधिकारी का उल्लेख है। इन अभिलेखों में बलाधिकृत सेना का प्रधान अधिकारी बतलाया गया है। इस प्रकार बलाधिकृत के अधीन राजा की विजय एवं पराजय मानी गयी है।

सोमदेव ने इसीलिए यह उचित नहीं समझा है कि इस महत्त्वपूर्ण पद का भार केवल एक पुरुष को ही सौंपा जाय। सम्भव है शत्रु द्वारा लोभ दिये जाने पर अथवा किन्हीं विषम परिस्थितियों में फँसकर वह शत्रु से मिल जाय। ऐसी परिस्थिति में राजा महान् संकट-ग्रस्त हो जायगा। इन विषम परिस्थितियों की रोक-थाम के लिए सोमदेव ने यह योजना उत्तम समझी है कि इतना महान् अधिकार एक ही पुरुष को न दिया जाये और बलाधिकृत पद पर एक से अधिक योग्य पुरुषों की नियुक्ति करनी उचित होगी। ऐसा करने से महान् संकटों एवं अनर्थों से राजा की रक्षा हो जाने की आशा की गयी है[3]।

सोमदेव द्वारा दी गयी यह योजना सर्वांग रूप से उचित ही है यह असन्देहात्मक है। बलाधिकृत जैसे महान् पदाधिकारी में अविश्वास करना उचित नहीं है। संसार विश्वास पर ही स्थिर है। प्रत्येक विषय में सन्देह करने से मनुष्य का सर्वनाश होता है। अच्छे-से-अच्छा व्यक्ति एवं उत्कृष्ट स्वामिभक्त होने पर भी स्वामी द्वारा सन्देह करने पर ऐसा सेवक भी किसी-न-किसी दिन अपने स्वामी से विमुख होने के लिए विवश हो जाता है। एक से अधिक बलाध्यक्ष को एक ही पद पर रखने से कितना महान् अनर्थ होता है, इतिहास इसका साक्षी है। मुगल सम्राट् औरंगजेब ने इसी नीति का पालन कर अपना कितना अहित किया था इतिहास के पृष्ठों में आज भी उल्लिखित है।

१ वही ७५ सूत्र ३ नीतिवा । २ वही ७६ सूत्र ३ नीतिवा ।
३ वही ९२ सूत्र ३ नीतिवा ।

उसकी प्रजा के प्राण अर्थ और मान का नाश नहीं करता है वह धर्मविजयी कहा जाता है[1]। सोमदेव ने उस विजयी राजा को लोभविजयी राजा बतलाया है जो पराजित राजा के द्रव्य को प्राप्त कर सन्तुष्ट हो जाता है और वह उसके अथवा उसकी प्रजा के प्राण और स्वाभिमान के प्रति अन्याय नहीं करता[2]। इसी प्रकार उन्होंने उस राजा को असुरविजयी राजा बतलाया है जो पराजित राजा अथवा उसकी प्रजा के प्राण अर्थ और मान का नाश कर उसके राज्य का अपहरण कर लेता है[3]।

कौटिल्य ने भी यही तीन प्रकार के विजयी बतलाये हैं।

विजयी राजा के विषय में कौटिल्य और सोमदेव के विचार समान हैं।

युद्ध-निषेध—विभिन्न राज्यों के मध्य विवादग्रस्त समस्याओं के समाधान हेतु युद्ध का आश्रय ही कैसा उचित होगा सोमदेव ने इस सिद्धान्त का विरोध किया है। उन्होंने स्पष्ट व्यवस्था दी है कि सामसाध्य समस्याओं को दण्डसाध्य समस्याओं का रूप देना उचित नहीं है । पारस्परिक विवादों का समाधान साम उपाय द्वारा करने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि गुड़ देने से ही कार्य सिद्ध होता हो तो विष-प्रयोग करना उचित न होगा[4]। इतना होने पर भी उन्होंने कुछ समस्याएँ दण्डसाध्य मानी हैं और यह व्यवस्था दी है कि इन समस्याओं के समाधान हेतु दण्डप्रयोग उचित होगा[5]। इस प्रकार सोमदेव ने दण्डसाध्य समस्याओं मात्र के समाधान हेतु युद्ध का आश्रय लिया जाना उचित बतलाया है। अन्य परिस्थितियों में युद्ध करने का निषेध किया है।

युद्ध-विधि— प्राचीन भारत में युद्धविधियों (war laws) का निर्माण हो चुका था। ये युद्ध-विधियाँ परम्परागत प्रवाहित रहीं। युद्धकाल में रणस्थलों में यथासम्भव इन विधियों का पालन किया जाता था। इन विधियों का उल्लंघन समाज में निन्दनीय समझा जाता था। सोमदेव ने इन विधियों में केवल एक-दो का उल्लेख किया है। इससे यह विदित होता है कि सोमदेव के समय में भी इन विधियों के प्रति जनता में श्रद्धा एवं आस्था बनी रहती थी। सोमदेव ने इन विधियों में जिन एक-दो का उल्लेख किया है उनका स्वरूप इस प्रकार बतलाया है—"भयभीत अथवा शस्त्रहीन का वध रणस्थल में नहीं होना चाहिए। जो योद्धा ऐसे पुरुष का वध करता

१ वार्ता ७ समु ३ नीतिवा । २ वार्ता ७१ समु ३ नीतिवा ।
३ वार्ता ७२ समु ३ नीतिवा । ४ वार्ता ९५ समु ३ नीतिवा ।
५. वार्ता ११ समु ३ नीतिवा । ६. वार्ता १९ समु ३ नीतिवा ।

है, वह ब्रह्महत्या के घोर पाप का भागी होता है[1]। यदि शत्रु अथवा उसके पक्ष का कोई पुरुष रणस्थल में जा रहा हो और वह पकड़ लिया गया हो तो ऐसे पुरुष अथवा शत्रु को सत्कारपूर्वक मुक्त कर देना चाहिए[2]।

एक बलाधिकृत रखने का निषेध—सोमदेव ने बलाधिकृत नाम के सेना के पदाधिकारी का पद महत्त्वपूर्ण बतलाया है। परन्तु उन्होंने बलाधिकृत के स्वरूप का वर्णन किसी प्रसंग में भी नहीं किया है। ऐसा ज्ञात होता है कि छः प्रकार के जो बल उन्होंने बतलाये हैं उनमें प्रत्येक बल के प्रधान अधिकारी को बलाधिकृत नाम से सम्बोधित किया गया है। गुप्तकालीन अभिलेखों में भी बलाधिकृत नाम के सेना के पदाधिकारी का उल्लेख है। इन अभिलेखों में बलाधिकृत सेना का प्रधान अधिकारी बतलाया गया है। इस प्रकार बलाधिकृत के अधीन राजा की विजय एवं पराजय मानी गयी है।

सोमदेव ने इसीलिए यह उचित नहीं समझा है कि इस महत्त्वपूर्ण पद का भार केवल एक पुरुष को ही सौंपा जाय। सम्भव है शत्रु द्वारा लोभ दिये जाने पर अथवा किन्हीं विशेष परिस्थितियों में फँसकर वह शत्रु से मिल जाय। ऐसी परिस्थिति में राजा महान् संकट-ग्रस्त हो जायगा। इन विषम परिस्थितियों की रोक-थाम के लिए सोमदेव ने यह योजना उत्तम समझी है कि इतना महान् अधिकार एक ही पुरुष को न दिया जाय और बलाधिकृत पद पर एक से अधिक योग्य पुरुषों की नियुक्ति करनी उचित होगी। ऐसा करने से महान् संकटों एवं अनर्थों से राजा की रक्षा हो जाने की आशा की गयी है[3]।

सोमदेव द्वारा दी गयी यह योजना सर्वांश रूप से उचित ही है यह सन्देहजनक है। बलाधिकृत जैसे महान् पदाधिकारी में अविश्वास करना उचित नहीं है। संसार विश्वास पर ही स्थिर है। प्रत्येक विषय में सन्देह करने से मनुष्य का सर्वनाश होता है। अनन्य भक्त व्यक्ति एवं उत्कृष्ट स्वामिभक्त होने पर भी स्वामी द्वारा सन्देह करने पर सच्चा सेवक भी किसी-न-किसी दिन अपने स्वामी से विमुख होने के लिए विवश हो जाता है। एक से अधिक बलाध्यक्ष को एक ही पद पर रखने से कितना महान् अनर्थ होता है, इतिहास इसका साक्षी है। मुगल सम्राट् औरंगजेब ने इसी नीति का पालन कर अपना कितना अहित किया था इतिहास के पृष्ठों में आज भी उल्लिखित है।

१ वार्ता ७५ समु ३ नीतिवा । २ वार्ता ७६ समु ३ नीतिवा ।
३ वार्ता ९२ समु ३ नीतिवा ।

८

राजधर्म-निबन्धकार

नीतिवाक्यामृत की रचना हो जाने के उपरान्त भारतीय राजशास्त्र विषय पर लिखा गया एक भी मौलिक ग्रन्थ हमें अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है। ऐसा ज्ञात होता है कि सम्राट् हर्ष के निधन के कुछ ही समय के उपरान्त भारतीय राजनीतिक विचार धारा का विकास अवरुद्ध हो गया। यही कारण है कि भारतीय राजशास्त्र विषय पर मौलिक ग्रन्थों की रचना की भी इतिश्री हो गयी। उस युग में भारतीय राज-शास्त्र विषय पर लिखे गये जो भी ग्रन्थ आज हमें उपलब्ध हैं, प्रायः सब संकलनमात्र हैं और नवीनता एवं मौलिकता से प्रायः शून्य हैं। ये सभी ग्रन्थ धर्मनिबन्ध-साहित्य की श्रेणी में आते हैं। इस श्रेणी के साहित्य में लक्ष्मीधरकृत राजनीतिकामधेनु, लक्ष्मीधर भट्टकृत राजधर्मकाण्ड, देवणभट्टकृत राजनीतिकाण्ड, चण्डेश्वरकृत राज-नीतिरत्नाकर, मित्र मिश्रकृत राजनीति प्रकाश, नीलकण्ठकृत नीतिमयूख और अनन्त-देवकृत राजनीतिकौस्तुभ उल्लेखनीय हैं। इस निबन्ध-साहित्य का निर्माण प्रायः धर्म-सूत्रों, धर्मशास्त्रों, रामायण, महाभारत, पुराणों आदि से उपयुक्त सामग्री का चयन कर किया गया है। इन निबन्धों में कुछ के अतिरिक्त अन्य सभी में अर्थशास्त्र एवं नीतिसूत्रों की सामग्री का उपयोग नहीं किया गया है। ऐसा ज्ञात होता है कि उस युग में कौटिल्यकृत अर्थशास्त्र प्रायः लुप्त हो चुका था। अथवा ये निबन्धकार प्रधानतः धर्म-निबन्धकार होने के कारण अर्थशास्त्र की ओर उदासीन रहे होंगे। इसीलिए इन्होंने अर्थशास्त्र की उपेक्षा की है।

गोपाल

गोपाल की ऐतिहासिकता

गोपाल, सम्भवतः सर्वप्रथम निबन्धकार हुए हैं, जिन्होंने धर्म-निबन्ध के अन्तर्गत राजधर्म-निबन्ध की रचना की है। दुर्भाग्यवश यह निबन्ध अभी तक उपलब्ध

नहीं हुआ है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि उन्होंने राजनीतिकामधेनु नाम के निबन्ध की रचना की थी और राजधर्म निबन्धकारों में इस निबन्ध का आदर था। गोपाल के पश्चात् कई निबन्धकारों ने उन्हें प्रसिद्ध निबन्धकार माना है और उनके कामधेनु-शीर्षक निबन्ध से अपने निबन्धों में प्रमाणरूप में उद्धरण दिये हैं। अतः गोपाल की ऐतिहासिकता में सन्देह नहीं किया जा सकता।

कुछ ऐसे भी विद्वान् हुए हैं जिन्होंने गोपाल को कामधेनु का प्रणेता नहीं माना है। औफरेख्ट ने शम्भु को कामधेनु का रचयिता बतलाया है[1]। इसी प्रकार श्री काशीप्रसाद जायसवाल के मत से कामधेनु बोपदेवकृत है[2]। परन्तु ये दोनों मत सत्य पर आधारित नहीं हैं। चण्डेश्वर ने अपने निबन्धरत्नाकर के अन्तर्गत व्यवहाररत्नाकर में स्पष्ट किया है कि कामधेनु गोपालकृत है[3]। ऐसी परिस्थिति में राजनीतिकामधेनु को गोपाल के अतिरिक्त अन्य किसी व्यक्ति की कृति नहीं माना जा सकता।

गोपाल का समय

लक्ष्मीधर भट्ट ने अपने कृत्यकल्पतरु शीर्षक निबन्ध में कामधेनु को प्रमाण रूप में उद्धृत किया है। इससे स्पष्ट है कि गोपालकृत कामधेनु निबन्ध लक्ष्मीधर के समय में लब्धप्रतिष्ठ निबन्धों में परिगणित किया जाने लगा था। इससे यह भी सिद्ध होता है कि लक्ष्मीधरकृत कृत्यकल्पतरु निबन्ध की रचना होने के पर्याप्त पूर्व कामधेनु की रचना हो चुकी थी। यह समय ११   ई० से पूर्व अवश्य रहा होगा। परन्तु यह भी विचारणीय है कि लक्ष्मीधर के पूर्व जो निबन्धकार अथवा टीकाकार हुए हैं उनमें किसी ने भी गोपाल अथवा गोपालकृत राजनीतिकामधेनु शीर्षक निबन्ध का उल्लेख किसी प्रसंग में भी नहीं किया है। यहाँ तक कि मेधातिथि और विज्ञानेश्वर कृत सुविख्यात टीकाओं में किसी भी प्रसंग में गोपाल अथवा कामधेनु का उल्लेख नहीं है। इससे यह विदित होता है कि गोपाल का समय—काल लक्ष्मीधर के उदय-काल के पूर्व परन्तु १   ई० के पश्चात् है।

चण्डेश्वर ने अपने निबन्धरत्नाकर और राजनीतिरत्नाकर, इन दोनों निबन्धों

१ Aufrecht's Great Catalogue (I 93)
२ J B O R S for 1927 Vol. XIII, Part 3-4, P VII Dr K P Jayaswal
३ गोपालस्य च कामधेनुरस्य कामधेनुपूर्वं तथा पूर्वो लक्ष्मीधरस्य अस्मै देवो न रत्नाकर।
४ व्यवहाररत्नाकर।

में कामधेनु और गोपाल दोनों का उल्लेख किया है। इतना ही नहीं अपितु उन्होंने अपने निबन्धरत्नाकर के अन्तर्गत व्यवहाररत्नाकर में स्पष्ट किया दिया है कि कामधेनु गोपालकृत[1] है। उन्होंने राजनीतिरत्नाकर के अन्तर्गत कई प्रसंगों में गोपाल के मत उद्धृत किये हैं[2]। इतना ही नहीं बल्कि राजनीति कामधेनु का भी उल्लेख उसमें हुआ है। इससे यह स्पष्ट है कि गोपाल राजनीति-निबन्धकार हुए हैं, जो चण्डेश्वर और लक्ष्मीधर से पूर्व हुए हैं और जिन्हें चण्डेश्वर ने लक्ष्मीधर भट्ट श्रीकर आदि निबन्धकारों की श्रेणी में परिगणित किया है[3]।

वीरमित्रोदय स्मृतिभक्ति में बतलाया गया है कि उनका यह निबन्ध गोपाल एवं अन्य निबन्धकारों के निबन्धों पर आश्रित है। वीरमित्रोदय में भी गोपाल का उल्लेख है। उसमें यह बतलाया गया है कि गोपाल के मतानुसार व्यवहार न्याय में पाल के अन्तर्गत परिगणित किया गया है। वीरमित्रोदय में इस उल्लेख से भी स्पष्ट है कि गोपाल नाम के निबन्धकार वीरमित्रोदय की रचना के पूर्व हुए हैं।

राजनीति-निबन्धकारों में गोपाल का स्थान

उपर्युक्त वर्णित तथ्यों के आधार पर यह स्पष्ट है कि भारतीय राजनीति-निबन्धकारों में सर्वप्रथम उल्लेखनीय निबन्धकार राजनीतिकामधेनु के रचयिता गोपाल हुए हैं। गोपाल के राजनीतिक विचारों का मूल्यांकन उनका निबन्ध अप्राप्य होने कारण नहीं किया जा सकता। इसलिए गोपालकृत इस निबन्ध के अभाव में राजनीति-निबन्धकारों में गोपाल का स्थान निर्धारित करना असम्भव है। परन्तु इस विषय में दो मत नहीं हो सकते कि गोपाल भारतीय राजनीति के उच्चकोटि के निबन्धकार हुए हैं। चण्डेश्वर ने राजनीतिरत्नाकर में गोपाल के जो मत यत्र-तत्र दिये हैं, उन पर गम्भीरतापूर्ण विचार करने से ज्ञात होता है कि गोपाल प्रगतिवादी और ऐतिहासिक पद्धति के अनुयायी थे।

१ गोपालमते स्वविवेकादिसर्वमनुपपन्नम् × × × ॥ अत्र अविवेकतरले राजनीतिरत्नाकर।

२ राजनीतिकामधेनौ राज्यधर्मविभक्तौ राजा प्रजापालनम् ॥ राज्ञो निरूपण तरङ्ग, राजनीतिरत्नाकर।

३ गोपाल-लक्ष्मीधर-श्रीकरादय॥ पुरोहितादिकृतराज्यशासनतरंग, राजनीतिरत्नाकर।

लक्ष्मीधर भट्ट

संक्षिप्त परिचय

राजशास्त्र विषय पर निबन्ध-साहित्य का निर्माण ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी से प्रारम्भ हुआ है। इस श्रेणी के निबन्धकारों में भोजराज सम्भवतः सबसे पुराने हैं। परन्तु उनका निबन्ध हमें उपलब्ध नहीं है। इसलिए जिन निबन्धकारों के निबन्ध आज हमें उपलब्ध हैं उनमें लक्ष्मीधर भट्ट सबसे प्राचीन हैं। वह कान्यकुब्जाधिपति जयचन्द्र के राजा गोविन्दचन्द्र के महासान्धिविग्रहिक (Senior Foreign Minister) थे।

गोविन्दचन्द्र अपने समय के स्वतन्त्र एवं शक्तिशाली शासक हुए हैं। वह महत्त्वाकांक्षी और गहड़वाल साम्राज्य के प्रसारक थे। वह ११ ९ ई और १११४ ई की अवधि में किसी समय गहड़वाल-राज्य के राजा बनाये गये थे। उन्होंने इस राज्य पर ११५५ के पश्चात् परन्तु ११६८ के पूर्व किसी समय तक शासन किया था।

लक्ष्मीधर के पिता इस राज्य में मंत्रिपद पर रह चुके थे। इस प्रकार उन्हें अपने पिता से शासन-कुशलता एवं निपुणता पैतृक सम्पत्ति के रूप में प्राप्त हो चुकी थी। लक्ष्मीधर अनुभवी एवं सफल राजनयिक थे। उन्होंने भारत में इस राजनीतिक उथल-पुथल के युग में गोविन्दचन्द्र जैसे महत्त्वाकांक्षी एवं साहसी वीर राजा की विदेशनीति को अपने हाथ में लेकर बड़ी बुद्धिमत्ता एवं कुशलता से उसे सफल बनाने का प्रयत्न किया और उसमें वह सफल भी हुए। इस प्रकार लक्ष्मीधर राजनीति के सैद्धान्तिक पण्डितमात्र न थे अपितु कर्मठ राजनयिक भी थे।

लक्ष्मीधर ने उल्लेखनीय साहित्य-सेवा भी की है। कृत्यकल्पतरु उनकी सुप्रसिद्ध कृति है। कृत्यकल्पतरु विशालकाय एवं मूल्यवान् निबन्ध है जो संस्कृत साहित्य की स्थायी सम्पत्ति है। यह चौदह काण्डों में विभक्त है। इन चौदह काण्डों में बहुत कम काण्ड अभीतक प्रकाशित हो सके हैं। प्रकाशित काण्डों में राजधर्म काण्ड भी है। कृत्यकल्पतरु की रचना में लक्ष्मीधर ने स्मृतियों की शैली अपनाने का प्रयत्न किया है, विशेष रूप में मनुस्मृति की शैली। दोनों में अन्तर केवल इतना ही कहा जा सकता है कि मनुस्मृति में मौलिक विषयवस्तु है परन्तु कृत्यकल्पतरु में

१ गोविन्दचन्द्र का प्रथम अभिलेख १११४ ई और अन्तिम अभिलेख ११५५ ई का है। परन्तु उनके उत्तराधिकारी राजा विजयचन्द्र और उनके ठीक पूर्व के राजा मदनपाल के अन्तिम अभिलेख की तिथि क्रमशः ११६८ ई और ११ ९ ई है।

सङ्कलित। मनुस्मृति अध्यायों में विभक्त है परन्तु कृत्यकल्पतरु काण्डों में। स्मृति धारा के विश्वास के अनुसार ही उन्होंने भी जीवन का परम एवं चरम उद्देश्य मोक्ष-प्राप्ति माना है। इसी कारण से उन्होंने भी अपने कृत्यकल्पतरु के प्रथम तेरह काण्डों में मनुष्य के ऐहिक कल्याणहेतु त्रिवर्ग की सम्यक् स्थापना की व्यवस्था विविध रूपों एवं उनकी प्राप्ति के विविध साधनों तथा उपायों का वर्णन कर अन्तिम काण्ड में मोक्ष का निरूपण किया है और इस प्रकार उन्होंने चौदहवें काण्ड को समाप्त कर उसे मोक्ष-काण्ड के नाम से सम्बोधित किया है। स्मृतियों के अनुसार राजधर्म का एकमात्र उद्देश्य मानव-समाज में इस प्रकार की सम्यक् व्यवस्था की स्थापना करना है जिसके विधिवत् सञ्चालित होने से प्राणिमात्र का आत्यन्तिक कल्याण होता है और वह सांसारिक क्लेशों से मुक्त होकर अपने परम एवं चरम ध्येय अर्थात् मोक्ष को सुविधापूर्वक प्राप्त करने का अधिकारी हो जाता है। स्मृतियों की इस परम्परा को अपने समक्ष रखते हुए लक्ष्मीधर ने भी अपने कृत्यकल्पतरु में राजधर्म को उचित स्थान दिया है। उनके इस सुप्रसिद्ध निबन्ध का एक प्रधान काण्ड राजधर्म-काण्ड है।

राजधर्म-काण्ड

भट्ट लक्ष्मीधरकृत राजधर्मकाण्ड में इक्कीस अध्याय हैं। ये अध्याय समान आकार के नहीं हैं। कुछ अपेक्षाकृत बड़े और कुछ अति छोटे हैं। राजधर्म-काण्ड का नवाँ अध्याय "दण्ड" विषय पर है। इस अध्याय में केवल तीन श्लोक हैं। ये तीन श्लोक महाभारत से उद्धृत कर अध्याय में रख दिये गये हैं। "अमात्य" "वास्तुकर्मविधि" "यात्रा" आदि कई अध्याय काफी बड़े हैं। "यात्रा" शीर्षक अध्याय सब में बड़ा है। राजधर्म-काण्ड के ये इक्कीस अध्याय इस प्रकार हैं—राज-प्रशंसा अभिषेक, राजगुण अमात्य दुर्ग वास्तुकर्मविधि सङ्ग्रहण कोष दण्ड मित्र राजपुत्ररक्षा मन्त्र षाड्गुण्य मन्त्र यात्रा अभिषिक्तस्यकृत्यानि देवयात्राविधि कौमुदी महोत्सव इन्द्रध्वजोच्छ्रायविधि महानवमीपूजा चिह्नविधि गवोत्सर्ग और वसोर्धारा।

राजधर्मकाण्ड के इन इक्कीस अध्यायों को तीन मुख्य भागों में सुविधापूर्वक विभक्त किया जा सकता है। प्रथम बारह अध्यायों में सप्ताङ्ग राज्य के सात अङ्गों का वर्णन है। इसके उपरान्त तेरहवें और चौदहवें अध्यायों में षाड्गुण्यनीति का वर्णन है और इस प्रकार इन दोनों अध्यायों को द्वितीय भाग में रखा जा सकता है। अन्तिम सात अध्यायों में राज्य के कल्याण हेतु उत्सवों, पूजा के कृत्यों एवं विविध पद्धतियों का वर्णन है। इस दृष्टि से इन अन्तिम सात अध्यायों को तीसरे भाग में स्थान देना उचित होगा।

राजशास्त्र-प्रणेताओं में लक्ष्मीधर का स्थान

भट्ट लक्ष्मीधरकृत राजधर्म-काण्ड के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वह धर्मशास्त्रानुयायी पण्डित थे। धर्मशास्त्रों में उनकी अटूट निष्ठा एवं आस्था थी। उनके मतानुसार अर्थशास्त्र में एवं नीतिशास्त्र में दी गयी व्यवस्थाएँ तभी तक मान्य समझी जानी चाहिए जब तक कि वे धर्मशास्त्र के अनुकूल हैं। उनके विरुद्ध अन्य सभी व्यवस्थाएँ अमान्य कोटि में परिगणित की जायेंगी। सम्भवतः इसीलिए उन्होंने धर्मशास्त्र एवं तदनुकूल अन्य ग्रन्थों से ही सामग्री का चयन कर अपने राजधर्म-काण्ड का निर्माण किया है। उन्होंने अर्थशास्त्र एवं नीतिशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थों की उपेक्षा की है और अपने इस ग्रन्थ में एक भी उद्धरण इन ग्रन्थों से नहीं दिया है। धर्मशास्त्र की व्यवस्थाओं एवं मान्यताओं को अक्षुण्ण एवं स्थिर रखने की उत्कट इच्छा के कारण ही उन्होंने किन्हीं प्रसंगों में देश, काल एवं परिस्थिति के महत्त्व की भी उपेक्षा करने में संकोच नहीं किया है। वह जानते थे कि दिल्ली के मुसलमान सम्राट् धर्मभिन्न एवं जातिभिन्न होने पर भी लोक की दृष्टि में वैध राजा माने जायेंगे। परन्तु ऐसा होने पर भी उन्होंने राजपद का अधिकार केवल क्षत्रिय वर्ण तक सीमित माना और उसके लिए राज्याभिषेक-कृत्य अनिवार्य बतलाया। धर्मशास्त्रों के अनुसार वैध राजा के लिए ये दोनों योग्यताएँ अनिवार्य हैं। लक्ष्मीधर ने भी इन दोनों योग्यताओं को अनिवार्य निर्धारित किया है। उनके कुछ समय के पश्चात् चण्डेश्वर ने देश, काल और परिस्थिति को देखकर राजपद-प्राप्ति के निमित्त इन दोनों योग्यताओं की अनिवार्यता को अनावश्यक घोषित किया।[1]

इस दृष्टि से लक्ष्मीधर को शास्त्रानुसारी एवं धर्मशास्त्रप्रणाली में अटूट निष्ठा एवं आस्था रखनेवाले पण्डितों की श्रेणी में स्थान देना उचित होगा।

लक्ष्मीधर के अपने राजनीतिक विचार क्या थे, इस विषय का उल्लेख उन्होंने अपने राजधर्म-काण्ड में प्रत्यक्ष एवं स्पष्ट रूप से नहीं किया है। परन्तु उन्होंने धर्मसूत्रों, धर्मशास्त्रों, रामायण, महाभारत, पुराणों आदि से चयन कर जिन उद्धरणों को लिखकर अपने इस निबन्ध की रचना की है, उससे यह स्पष्ट है कि वह भी इन सिद्धान्तों में आस्था रखते थे। इतना ही नहीं वरन् उनकी यह भी उत्कट इच्छा थी

१ दृष्टकालोपयोगित्वाद् एव विवक्षितत्वात्। अतएव कुल्लूकभट्टः "राजशब्दोऽपि नात्र क्षत्रियजातिपरः किन्त्वभिषिक्तजनपदपुरपालयितृपरः" × ।
"केवल क्षत्रियजातिमात्रपरत्वस्य राजशब्दस्यानुपपत्तेरिति।"
। राज्ञोऽभिषेचन तरंग; राजनीति-रत्नाकर।

होगी कि उनके आश्रयदाता राजा भी इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर अपने अधीन राज्य एवं उसकी सरकार का संगठन करें और तदनुसार शासन-व्यवस्था को संचालित रखने का सतत प्रयास करते रहें। साथ ही यह भी ध्यान में रखने की आवश्यकता है कि लक्ष्मीधर यह सम्भव नहीं समझते थे कि उपर्युक्त संस्कृत साहित्य में वर्णित एवं स्थापित किये गये सभी राजनीतिक सिद्धान्तों को कार्यान्वित किया जाय। देश काल परिस्थिति एवं सामर्थ्य को देखते हुए, जिन सिद्धान्तों को कार्यान्वित करने की आवश्यकता उन्होंने अनुभव की उन्हीं सिद्धान्तों को इस निबन्ध में स्थान दिया है। इसीलिए उन्होंने अपने इस निबन्ध में उपर्युक्त साहित्य से केवल उन अंशों का चयन किया है जिनको उन्होंने देश काल परिस्थिति एवं सामर्थ्य की दृष्टि से लोकोपयोगी समझा। इस प्रकार यह कहना कि उन्होंने उपर्युक्त साहित्य से जिन सिद्धान्तों को ग्रहण कर उनका प्रतिपादन अपने राजधर्मकाण्ड में किया है वे सभी सिद्धान्त उन्हें मान्य रहे होंगे एवं उनकी दृष्टि में लोकोपकारी थे और वह भी इन सिद्धान्तों के पोषक तथा प्रचारक थे उचित है। यह सत्य है कि ये राजनीतिक सिद्धान्त लक्ष्मीधर के मौलिक सिद्धान्त नहीं हैं अपितु वे सिद्धान्त हैं जिनकी स्थापना लक्ष्मीधर के उदयकाल से बहुत पूर्व हो चुकी थी परन्तु यह भी सत्य है कि वह इन सिद्धान्तों के अनुयायी एवं पोषक ही नहीं वरन् उनको लोकोपकारी और लोकोपयोगी रूप देने वाले तथा कुशल प्रचारक हैं। उन्होंने इस प्रकार, पुराने एवं घिसे हुए सिक्कों का सुसंस्कार कर, उन्हें नवीन एवं दीप्तियुक्त सिक्कों में परिणत कर दिया है और उनकी उपयोगिता प्रमाणित करने का कार्य किया है। इस कार्य के करने में उन्होंने बड़ी सावधानी दिखायी है। उन्होंने केवल उन सिक्कों के संस्करण का भार धारण किया है जो देश काल परिस्थिति और सामर्थ्य के अनुकूल जान पड़े। इस दृष्टिकोण से राजशास्त्र के इतिहास में लक्ष्मीधर द्वारा की गयी यह सेवा भुलायी नहीं जा सकती।

राजशास्त्र के इतिहास में लक्ष्मीधर की एक और महत्त्वपूर्ण सेवा उल्लेखनीय है। उन्होंने इतने महान एवं विशाल संस्कृत साहित्य से तथ्यपूर्ण विषयवस्तु का चयन कर उसे लोकोपकारी एवं लोकोपयोगी बनाकर एक नवीन निबन्ध का रूप दिया है। इतना ही नहीं अपितु उस लोकोपकारी एवं लोकोपयोगी निबन्ध को अपने आश्रयदाता राजा की सेवा में समर्पित कर उस निबन्ध में वर्णित राजनीतिक सिद्धान्तों को कार्यान्वित करने के लिए प्रेरित किया है। लक्ष्मीधर का यह कार्य प्रशंसा-योग्य है। उनके द्वारा की गयी यह महती सेवा है। इस दृष्टि से लक्ष्मीधर का स्थान ऊँचा है।

उनकी एक और उल्लेखनीय विशेषता है। उन्होंने एक नवीन मार्ग का प्रदर्शन किया है। वह इस क्षेत्र में अग्रगामी हैं। उन्होंने अपने कृत्यकल्पतरु निबन्ध के अन्तर्गत

राजधर्मकाण्ड की रचना कर राजशास्त्र में एक नवीन विचारधारा का वर्णन किया है, जिसको प्रवाहित रखने के लिए लक्ष्मीधर के पश्चात् अनेक विद्वानों ने शताब्दियों तक उनके इस मार्ग का अवलम्बन किया है। इस प्रकार लक्ष्मीधर ने निबन्धकार के रूप में जनता के समक्ष प्रस्तुत होकर भविष्य में होनेवाले निबन्धकारों का पथप्रदर्शन किया है। इस पुनीत सेवा के लिए राजशास्त्र के इतिहास में लक्ष्मीधर का नाम अमर रहेगा।

लक्ष्मीधर के विरुद्ध एक बहुत बड़ा आरोप है। उन्होंने अपने राजधर्मकाण्ड में राजा के निमित्त नरक्रिया एवं हत्या का विधान किया है जिसका आधार अन्धविश्वास है। इन हत्या का विधान कर उन्होंने जनता में अन्धविश्वास के प्रचार एवं प्रसार में योग दिया है। परन्तु इस विषय में यह स्मरण रहे कि लक्ष्मीधर जिस युग में हुए हैं उस युग की जनता की यह माँग थी। उनकी इस माँग की उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। इस दृष्टि से उनके विरुद्ध इस आरोप को लगाना न्यायसंगत नहीं है।

लक्ष्मीधर-प्रतिपादित राजनीतिक विचार

राजा की आवश्यकता—लक्ष्मीधर ने लोक की स्थिति उसके सम्यक् संचालन एवं उसके सुव्यवस्थित रहने के लिए राजा की आवश्यकता अनिवार्य बतलायी है। इस सिद्धान्त की स्थापना हेतु उन्होंने मनुस्मृति और वाल्मीकीय रामायण से कतिपय उपयुक्त श्लोक उद्धृत किये हैं। इन श्लोकों का आशय इस प्रकार है—"अराजक जनपद में योग-क्षेम व्यवस्था का निर्वाह नहीं होने पाता, सेना राज्य के शत्रुओं का नाश न करके अपने राज्य की ही जनता के लूटने-खसोटने में संलग्न रहती है। अराजक जनपद की नहीं दशा हो जाती है जो कि ग्वाला रहित गौओं की, तृण रहित वन की और जल रहित नदी की होती है। सम्पूर्ण जगत् प्रगाढ़ अन्धकार में मग्न होकर अन्धे के भाँति सत् और असत् की पहचान करने में समर्थ नहीं होता। राजा के बिना सम्पूर्ण जगत् नष्ट हो जाता है, ऐसा समझ कर प्रभु ने राजा का सर्जन किया।"

राजा का स्वरूप और उसके कर्तव्य—मनु, नारद आदि स्मृतियों से उद्धरण देकर लक्ष्मीधर ने राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रभु ने इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि प्रधान आठ देवों की सारभूत शाश्वत मात्राओं को संगृहीत कर राजा का निर्माण किया। इसलिए वह महान् देव है। उन्होंने राजपद को परम पुनीत एवं मर्यादायुक्त माना है। इसलिए उनके मतानुसार ऐसे राजा का अनादर महान् देव का अनादर है। इस सिद्धान्त की पुष्टि में उन्होंने मनु के प्रसिद्ध श्लोक "बालोऽपि नावमन्तव्यो ––" का उद्धरण दिया है। उन्होंने यह भी व्यक्त किया है कि राजा की कृपा से लोककल्याण एवं उसकी अकृपा से लोक का अनिष्ट होता है।

उनके मतानुसार राजा दण्ड का प्रतीक है। वह दण्ड धारण करता है और प्राणियों के कल्याण हेतु उसका सम्यक् प्रयोग करता है। परन्तु दण्ड के दुरुपयोग करने का वह अधिकारी नहीं है। राजा इन्द्र है क्योंकि वह प्राणियों की कामनाओं को पूर्ण कर उन्हें उसी प्रकार तृप्त करता है जिस प्रकार जलवृष्टि द्वारा इन्द्र जगत् को तृप्त करता है। सूर्य वर्ष के आठ मास अपनी रश्मियों द्वारा पृथ्वी से शनैः-शनैः जल ग्रहण करता रहता है उसी प्रकार राजा भी अपनी प्रजा से शनैः शनैः अल्प-अल्प मात्रा में कर ग्रहण करता रहता है और फिर उसको उनके ही कल्याण में व्यय करता है। इसीलिए राजा को सूर्यदेव की उपाधि दी गयी है। राजा को इस आधार पर कि वह अपने कर्तव्यों का—जो वायु, यम, वरुण, चन्द्र, अग्नि, कुबेर और धन के लोक-कल्याणमय कर्तव्यों के तद्रूप हैं—विधिवत् पालन करता है इन देवों की उपाधि दी गयी है।

संक्षेप में उन्होंने यह प्रमाणित किया है कि जिस प्रकार पृथिवी का व्रत प्राणि एवं अप्राणि जगत् को धारण एवं पालन करते रहना है उसी प्रकार राजा का व्रत भी अपने अधीन प्रजा को धारण करना एवं उसका विधिवत् पालन करना है। इस प्रकार राजा परम देव है। परन्तु उसका देवत्व उसके दिव्य आचरण एवं प्रजा के प्रति अपने निर्धारित कर्तव्यों के सम्यक पालन करने पर निर्भर है।

राज्याभिषेक—लक्ष्मीधर ने राज्यपद के लिए राज्याभिषेक अनिवार्य कृत्य माना है। उनके मतानुसार अनभिषिक्त राजा दैव राजाओं की श्रेणी में परिगणित नहीं किया जा सकता। वैदिक कालीन राज्याभिषेक के कृत्यों के स्थान में उन्होंने पौराणिक कृत्यों का विधान किया है। ब्रह्मपुराण और वाल्मीकीय रामायण में राज्याभिषेक का जो स्वरूप दिया गया है उसी में कुछ काट-छांट कर राज्याभिषेक के कृत्यों के स्वरूप का विधान किया गया है। लक्ष्मीधर के मतानुसार क्षत्रिय वर्ण ही राज्याभिषेक का दैव अधिकारी है।

राजपद के लिए वांछनीय गुण एवं योग्यताएं—लक्ष्मीधर ने गौतम, याज्ञवल्क्य, कात्यायन, विष्णु, नारद, मनु आदि द्वारा राजपद के लिए निर्धारित गुण एवं योग्यताओं का धारण करना आवश्यक बतलाया है। इन उद्धरणों के आधार पर राजा को शक्तिमान्, महोत्साही, व्यायाम-आसन-हिम-आतप-वात आदि पर विजयी, दृढ़व्रती, इन्द्रियविजयी, ईर्ष्याद्वेषरहित, त्यागी, सम्पूर्ण प्राणियों को शरण देने वाला, धर्मवत्सल, व्रतधारी, क्षमाशील, शम-दम-मत्सरजित्, दानी, विनीत, सत्यवादी, त्रिवर्गदर्शी, धर्मपरायण, भृत्यवर्ग और प्रजा के प्रति पितृवत् होना चाहिए। उसे दीर्घदर्शी, बुद्धिमान्, देश-काल-द्रव्यप्रयोग-अवसर-निमित्त ज्ञानयुक्त, शूर एवं

प्रचार करनेवाला, पराक्रमशाली, षाड्गुण्यनिपुण आदि गुणसम्पन्न होना चाहिए। उसे प्रजाप्रिय, लोक में धर्मात्मवान् और कार्यदक्ष होना चाहिए। उसके लिए न्यायी, सम्यक् दण्डकारी, निरालसी और प्रभु के प्रति भक्तिपरायणसेवी होना आवश्यक है।

राजपद के निमित्त गुणों एवं योग्यताओं का निर्धारण करते हुए लक्ष्मीधर ने विष्णुस्मृति से एक श्लोक का उद्धरण देते हुए संक्षेप में बतलाया है कि राजा का सबसे महान् गुण एवं उसकी सबसे बड़ी योग्यता यह है जिसके प्राप्त हो जाने पर राजा और प्रजा दोनों के बीच द्वैत का भेद मिट जाता है और वह प्रजा के दुःख-सुख को अपना दुःख-सुख समझने लगता है।

अमात्य की आवश्यकता—राज्य के सुसंचालन हेतु अमात्य की परम आवश्यकता होती है। इस सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए लक्ष्मीधर ने मनुस्मृति से एक श्लोक उद्धृत किया है। इस श्लोक का आशय यह है—"साधारण-से-साधारण कार्य भी असहाय मनुष्य नहीं कर पाता, फिर भला राज्य-संचालन-जैसा महान् कार्य अकेला मनुष्य (राजा) क्योंकर कर सकता है।" इसलिए राजा के निमित्त अमात्य आदि का राज्य-संचालन हेतु रखना आवश्यक ही नहीं वरन् अनिवार्य है।

अमात्य गुण—मनु, विष्णु, शंखलिखित और कात्यायन-स्मृति, महाभारत और मत्स्यपुराण में अमात्यपद के निमित्त जो गुण निर्धारित किये गये थे उन्हीं का चयन लक्ष्मीधर ने कर दिया है। इन उद्धरणों में शरीर, मस्तिष्क, हृदय और आत्मा से सम्बन्धित विविध गुणों का उल्लेख किया गया है। इसके अतिरिक्त उन गुणों एवं योग्यताओं का भी उल्लेख है जो कि एक सर्वोत्कृष्ट राजसचिव के निमित्त वाञ्छनीय हैं। मनु के मत के आधार पर लक्ष्मीधर ने भी सात अथवा आठ अमात्यों अथवा सचिवों के रखने की व्यवस्था दी है और यह भी स्पष्ट कर दिया है कि उनके योग्यतानुसार उन्हें पृथक्-पृथक् कार्य दिये जाने चाहिए। दूत पद के लिए विशेष योग्यताओं के धारण करने की आवश्यकता बतलायी है। रामायण से उद्धरण देकर उन्होंने दूत की अवध्यता की व्यवस्था दी है।

लक्ष्मीधर अमात्यों की नियुक्ति में धर्मशास्त्र के सिद्धान्त का पालन करने के पालक है।

अनुजीवी-वृत्त—राजा के अनुजीवीजन का वृत्त किस प्रकार का होना चाहिए, अनुरक्त एवं विरक्त स्वामी के कौन-कौन लक्षण होते हैं, इन सभी विषयों का वर्णन किया गया है। यह सम्पूर्ण प्रकरण मत्स्यपुराण से उद्धृत किया गया है। यह प्रकरण आज भी उपयोगी है। यह स्पष्ट है कि इस प्रकरण की रूप-रेखा सम-

जन नहीं है जिसका वर्णन कामन्दक ने अपनी नीति में किया है। मत्स्यपुराण के इस प्रकरण को उद्धृत कर लक्ष्मीधर ने व्यवस्था दी है कि अनुजीवी जन को इन नियमों का पालन करना चाहिए।

दुर्ग—लक्ष्मीधर के समय में दुर्ग रखना ही उपयोगी समझा जाता था जितना कि वह मनुस्मृतिकार की दृष्टि में उपयोगी था। दुर्ग की उपयोगिता की सम्पुष्टि में लक्ष्मीधर ने मनुस्मृति से उस श्लोक को उद्धृत किया है जिसमें यह बतलाया गया है कि दुर्ग में स्थित एक पुरुष दुर्ग से बाहर के सैकड़ों योद्धाओं से युद्ध कर सकता है। इसी प्रसंग में बृहस्पति के मत को भी उद्धृत किया गया है। दुर्ग के कितने भेद होते हैं, इस विषय पर भी लक्ष्मीधर ने मनु के मत को उद्धृत कर बतलाया है कि दुर्ग के छः भेद होते हैं जो धनुर्दुर्ग महीदुर्ग जलदुर्ग वार्क्षदुर्ग नृ-दुर्ग और गिरिदुर्ग हैं। इन दुर्गों के निर्माण की व्यवस्था दी गयी है।

लक्ष्मीधर के मतानुसार पुर-निर्माण निर्धारित योजना के अनुसार होना चाहिए। इस योजना का स्वरूप मत्स्यपुराण से उद्धृत किया गया है। पुरनिर्माण-कार्य प्रारम्भ होते समय एवं इसके निर्माण होने के उपरान्त समय-समय पर पुर-शुद्धि-सम्बन्धी कृत्यों का पुरश्चरण होना चाहिए। इन कृत्यों के पुरश्चरण हेतु इसी पुराण में दी गयी तत्सम्बन्धी पद्धति का उल्लेख किया गया है।

वास्तुकर्मविधि—भवन कूप तड़ाग देवमन्दिर आदि के निर्माण में नक्षत्र वार, मास मुहूर्त लग्न आदि का महत्त्व भूमिपरीक्षा देवपूजन राजगृह-लक्षण स्तम्भ मान द्वारविधि गृहनिवेश-मुखारोपण गृहप्रवेश-विधि दार्वाहरण-विधि ध्वजलक्षण आदि सम्बन्धी व्यवस्थाएँ मत्स्यपुराण में वर्णित तत्सम्बन्धी प्रकरण से उद्धृत कर दी गयी हैं। इस प्रकरण में लक्ष्मीधर ने राजा के लिए कृत्य निर्धारित किये हैं। इसके अतिरिक्त यह प्रकरण वास्तुकला के जिज्ञासु के लिए भी उपयोगी है।

राष्ट्रसंघटन—राष्ट्र-संगठन की योजना प्रस्तुत करने में लक्ष्मीधर ने मनु द्वारा दी गयी तत्सम्बन्धी योजना का प्रतिपादन किया है। इस योजना के अनुसार राष्ट्र के प्रशासन हेतु ग्राम को इकाई मानकर एक ग्राम दस ग्राम बीस ग्रामों सौ ग्रामों और सहस्र ग्रामों के पृथक्-पृथक् समूहों का निर्माण कर उनके अधिकारियों की नियुक्ति करने की व्यवस्था दी गयी है। इन समूहों का परस्पर सम्बन्ध रहना चाहिए और ग्राम के दोषों का ज्ञान ग्राम का अधिकारी दस ग्राम के अधिकारी से निवे-दन करे। यही क्रम चलता रहे। इन प्रशासनिक क्षेत्रों में गुणसम्पन्न आर्य, शुचि और सत्यशील पुरुषों की नियुक्ति होनी चाहिए, राष्ट्र के रक्षण का भाव होना चाहिए राष्ट्र का कर्षण नहीं होना चाहिए जो प्रजापीड़न अथवा प्रजाशोषण करते

है, उन्हें दण्डित कर पदच्युत कर देना चाहिए इत्यादि विषयों का प्रतिपादन मनु, आपस्तम्ब याज्ञवल्क्य बृहस्पति व्यास आदि के मत उद्धृत कर किया गया है। इन्हीं के मतों को उद्धृत कर उन्होंने इस सिद्धान्त का भी प्रतिपादन किया है कि प्रजा की रक्षा करने के अधिकार से ही राजा अपनी प्रजा से उसके कर का षष्ठांश ग्रहण करने का अधिकारी होता है प्रजा-रक्षण में जो राजा प्रमाद करता है वह नरकगामी होता है।

कोश—मनुष्य के निमित्त अर्थ परम उपयोगी पदार्थ है अर्थ के बिना इस धरती-तल पर कोई भी कार्य नहीं चल सकता कोश के संचय उसके रक्षण और उसके सदुपयोग हेतु आप्त एवं अर्थविद् पुरुषों की नियुक्ति होनी चाहिए। इन सिद्धान्तों का प्रतिपादन महाभारत से उद्धरण देकर लक्ष्मीधर ने किया है। मनु, बृहस्पति विष्णु, कात्यायन आपस्तम्ब वसिष्ठ और गौतम के मत उद्धृत कर राजकर लगाने और उसके ग्रहण करने के विविध सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है।

दण्ड—लक्ष्मीधर ने दण्ड का स्वरूप एवं उसके प्रकार, महाभारत से उद्धरण देकर, दिये हैं। प्रकाश और अप्रकाश दो प्रकार का दण्ड बतलाया गया है। प्रकाश दण्ड के आठ भेद माने गये हैं जो रथ-सेना गज-सेना अश्व-सेना पैदल-सेना नौ-सेना चर, दैशिक और भारवहन करनेवाले बतलाये गये हैं। विष-प्रयोग आदि द्वारा शत्रु का गुप्त वध अप्रकाश दण्ड माना गया है।

महाभारत से उद्धरण देकर उन्होंने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है कि अनुरक्त हृष्ट-पुष्ट स्वस्थ सेना ही राजा को विजय दिला सकती है।

मित्र—लक्ष्मीधर ने व्यास का मत उद्धृत कर इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है कि इस संसार में न कोई किसी का शत्रु होता है और न मित्र। सामर्थ्य-योग से ही मित्र-शत्रु बनते हैं। लगभग यही मत महाभारत में उद्धृत किया गया है। मित्र के तीन भेद पिता-पितामह से आनेवाले मित्र शत्रु के शत्रु और कृत्रिम मित्र मत्स्यपुराण से उद्धरण देकर बतलाये गये हैं। याज्ञवल्क्य और मनु के मतानुसार सप्तांग राज्य की एक प्रकृति मित्र है, इस विषय का प्रतिपादन भी किया गया है। इन दोनों के मत उद्धृत कर इस विषय का भी प्रतिपादन किया गया है कि राजा को विजय के तीन लाभ होते हैं जो हिरण्य भूमि और मित्र-लाभ हैं। इनमें मित्र-लाभ श्रेष्ठ माना गया है।

राजपुत्र-रक्षा—राजपुत्र की रक्षा उसकी शिक्षा-दीक्षा आदि की व्यवस्था मत्स्यपुराण से उद्धृत की गयी है। इसके अनुसार राजपुत्र को धर्म, अर्थ और काम-

सम्बन्धी शास्त्रों का अध्ययन, धनुर्वेद का ज्ञान, हाथी एवं अश्व की सवारी का अभ्यास, शिल्पज्ञान आदि आप्त पुरुषों द्वारा कराना चाहिए। राजपुत्र को विनयशील बनाने का प्रयत्न करना और उसे क्षुद्र पुरुषों के संग से दूर रखने का सतत प्रयत्न होना चाहिए। विनीत राजपुत्र को पहले स्वल्प अधिकार देना चाहिए, शनैः शनैः अधिकार-वृद्धि होनी चाहिए। अविनीत राजपुत्र को राजपद नहीं देना चाहिए, अपितु बन्धन में रखना चाहिए। उसे गुप्त देश में रखना उचित होगा।

महाभारत से दो श्लोक देकर यह व्यवस्था दी गयी है कि राजपुत्र की रक्षा अमात्यवत् एवं आत्मवत् होनी चाहिए। परन्तु यदि राजपुत्र विरुद्ध आचरण करता है और गुप्तचरों आदि के द्वारा यह प्रमाणित हो जाता है तो ऐसी परिस्थिति में उसका गुप्त वध भी न्याययुक्त होगा।

षाड्गुण्यवाद—षाड्गुण्य मत का स्वरूप मनुस्मृति से उद्धृत किया गया है। इससे स्पष्ट है कि लक्ष्मीधर ने षाड्गुण्यमत के विषय में मनु के मत का ही प्रतिपादन किया है।

मन्त्र—मनुस्मृति और वाल्मीकीय रामायण से उद्धरण देकर लक्ष्मीधर ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया है कि मन्त्र-निर्णय योग्य एवं विश्वासपात्र पुरुषों के परामर्श से होना चाहिए। किन पुरुषों से और किस प्रकार मन्त्रणा की जानी चाहिए, इस विषय में मनुस्मृति, रामायण, महाभारत और मत्स्यपुराण से उद्धरण दिये गये हैं। मन्त्ररक्षा परम आवश्यक बतलायी गयी है। मन्त्रणा-स्थान सुरक्षित होना चाहिए। जड़ मूक बधिर, स्त्री पक्षी, व्याधित, व्यङ्गाङ्ग आदि मन्त्रणा के स्थान से दूर रहने चाहिए, ये विचार मनुस्मृति और महाभारत से उद्धृत किये गये हैं।

मन्त्रदाताओं की संख्या के विषय में मत्स्यपुराण से एक श्लोक उद्धृत किया गया है। इसके अनुसार एक अथवा बहुत-से पुरुषों से मन्त्रणा लेने का निषेध किया गया है। ऐसी परिस्थिति में मध्य मार्ग का अवलम्बन लाभप्रद होगा।

राज्य के कल्याण हेतु कृत्य—लक्ष्मीधर ने राजधर्म-काण्ड के अन्तिम सात अध्यायों में राजशास्त्र-सम्बन्धी किसी उल्लेखनीय सिद्धान्त का वर्णन नहीं किया है। इन अध्यायों में राज्य के कल्याण हेतु उत्सवों, पूजा के कृत्यों एवं पद्धतियों और अन्धविश्वासपूर्ण जादू-टोना आदि का उल्लेख है। यह प्रकरण पुराणों से सम्बन्धित विषयवस्तु का चयन कर दिया गया है। राजधर्म-काण्ड के इस भाग के अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि लक्ष्मीधर के समय की भारतीय जनता इन कृत्यों एवं उपचारों में विश्वास रखती थी।

इस क्षेत्र में लक्ष्मीधर की एक महान् देन यह है कि उन्होंने पुराणों एवं

राजधर्म सम्बन्धी अन्य संस्कृत साहित्य में जनकल्याण हेतु राजा के लिए पूजाविधि एवं व्रत यात्रा उत्सवा आदि के अनुष्ठान करने की जो व्यवस्था दी हुई है, उनमें बहुतों का परित्याग कर केवल उन्हीं का उल्लेख किया है जिन्हें उन्होंने राज्य एवं लोक के कल्याण हेतु आवश्यक समझा।

इस प्रकार राजधर्म-निबन्धकारों में लक्ष्मीधर अग्रगामी हैं। उन्होंने विशाल संस्कृत साहित्य से राजशास्त्र विषय पर सामग्री चयन कर राजधर्म-काण्ड का निर्माण किया और इस प्रकार जो लोक-सेवा की है वह प्रशंसनीय है।

देवण्ण भट्ट

देवण्ण भट्ट का संक्षिप्त परिचय

स्मृति-चन्द्रिका के प्रत्येक काण्ड के अन्त में छोटी प्रशस्ति दी हुई है। इस प्रशस्ति में उक्त काण्डों के रचयिता देवण्ण भट्ट बतलाये गये हैं। इसमें उनका परिचय भी संक्षेप में दिया गया है। देवण्ण भट्ट को सकल विद्या विशारद श्री केशवादित्य भट्टोपाध्याय का पुत्र बतलाया गया है। इसके साथ ही देवण्ण भट्ट को याज्ञिक की उपाधि भी दी गयी है। इस प्रकार इस प्रशस्ति के आधार पर विद्याविशारद श्री केशवादित्य भट्टोपाध्याय के पुत्र सोमयाजी श्री देवण्ण भट्ट याज्ञिक थे। उन्होंने स्मृति-चन्द्रिका शीर्षक इस निबन्ध की रचना की थी। देवण्ण भट्ट ने अपनी स्मृति-चन्द्रिका में मामा की पुत्री से विवाह कर लेने का प्रतिपादन किया है। इस आधार पर डा० श्यामशास्त्री ने उन्हें दक्षिण भारत के आन्ध्र प्रदेश का निवासी माना है। देवण्ण भट्ट के जीवन वृत्तान्त के विषय में इससे अधिक ज्ञात नहीं है।

देवण्ण भट्ट का समय

देवगिरि के यादववंशीय नरेश महादेव ने देवगिरि राज्य पर १२६ ई० से १२७१ ई० तक शासन किया है। महादेव के प्रधानामात्य हेमाद्रि ने चतुर्वर्गचिन्तामणि शीर्षक विशाल धर्म-निबन्ध का प्रणयन किया है। उन्होंने अपने इस निबन्ध के अन्तर्गत श्राद्धकल्प में देवण्णकृत स्मृति-चन्द्रिका से कतिपय उद्धरण दिये हैं। इस आधार पर यह निर्विवाद है कि देवण्ण भट्ट का साहित्य-काल सन् १२६ ई० से १२७१ ई० तक की अवधि के पूर्व है।

स्मृतिचन्द्रिका के आह्निक-काण्ड में "यत विशेषयाद् नारायण" ऐसा दिया गया है। परन्तु इसके मात्र से यह स्पष्ट नहीं है कि इस वाक्य में किस नारायण से तात्पर्य

१ इति सकलविद्याविशारदश्रीकेशवादित्यभट्टोपाध्यायसुतसोमयाजिदेवणभट्ट-याज्ञिकविरचितायां स्मृतिचन्द्रिकायां आह्निककाण्डम्।

है। इस प्रसंग में यदि मनुस्मृति-टीकाकार सर्वज्ञ नारायण से तात्पर्य है तो ऐसी परिस्थिति में भी उन्हें ईसा की तेरहवीं शताब्दी का निबन्धकार मान लेने में कोई आपत्ति नहीं है क्योंकि सर्वज्ञ नारायण ईसा की तेरहवीं शताब्दी के पूर्व हुए हैं। इसी तथ्य के आधार पर डा. शामशास्त्री ने डा. बूलर के मत का कि वह ईसा की चौदहवीं शताब्दी में हुए हैं, खण्डन किया है। इसी प्रकार सर टामस् स्ट्रेंज का मत कि स्मृतिचन्द्रिका का प्रणयन विजयनगर में ईसा की चौदहवीं शताब्दी में हुआ डा. शामशास्त्री को मान्य नहीं है।

स्मृति-चन्द्रिका में मिताक्षरा अपरार्क और स्मृत्यर्थसार के भी उद्धरण दिये गये हैं। डा. पी. वी. काणे ने इस आधार पर यह निश्चय किया है कि स्मृति-चन्द्रिका की रचना किसी प्रकार भी ११५० ई. के पूर्व नहीं हुई है। कतिपय विद्वानों का मत है कि देवण भट्ट और अपरार्क समकालिक हैं। उनका यह मत तथ्यहीन है। देवण भट्ट ने अपनी स्मृति-चन्द्रिका में अपरार्क के मत अनेक बार उद्धृत किये हैं। उन्होंने मिताक्षरा की अपेक्षा अपरार्क पर कहीं अधिक आस्था की है। इस तथ्य से यह स्पष्ट है कि देवण भट्ट अपरार्क के समकालिक नहीं हो सकते। डा. पी. वी. काणे का मत है कि अपरार्क और देवण भट्ट के बीच एक शताब्दी का व्यवधान अवश्य रहा होगा। सरस्वतीविलास और वीरमित्रोदय में देवण कृत स्मृति-चन्द्रिका से उद्धरण दिये गये हैं। इससे यह स्पष्ट है कि इन निबन्धों के प्रणेताओं से देवण भट्ट प्राचीन हैं।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर ऐसा ज्ञात होता है कि ईसा की तेरहवीं शताब्दी के प्रथम चरण में देवण भट्ट का उदय हुआ है और उसी अवधि में किसी समय उन्होंने स्मृति-चन्द्रिका की रचना की है।

देवण भट्ट की साहित्यिक सेवा

देवण भट्ट संस्कृत भाषा के प्रकाण्ड पण्डित थे। उनकी स्मृति-चन्द्रिका के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वह संस्कृत-साहित्य के विशेषरूप से धर्मशास्त्र और पुराणादि एवं साहित्य के धुरन्धर पण्डित थे। उनका स्मृति-चन्द्रिका शीर्षक धर्म-निबन्ध संस्कृत भाषा के निबन्ध-साहित्य में मूल्यवान् ग्रन्थ है। यह लोकोपयोगी एवं लोकप्रिय है। इसकी शैली सरल एवं सुबोध है। इसमें स्पष्टता एवं सरसता है।

देवणभट्ट कृत स्मृति-चन्द्रिका विशालक निबन्ध है। यह काण्डों में विभक्त है। इसके पाँच काण्ड का अभी तक पता चला है। ये पाँच काण्ड संस्कार, आह्निक, व्यवहार, श्राद्ध और शौच हैं। देवण भट्ट ने स्मृति-चन्द्रिका में यत्र-तत्र प्रसंगवश "प्रायश्चित्ते वक्ष्याम" लिखा है। इससे ऐसा ज्ञात होता है कि उन्होंने अपनी स्मृति-चन्द्रिका के अन्तर्गत प्रायश्चित्त-काण्ड की भी रचना की थी जो स्मृतिचन्द्रिका का छठाँ काण्ड

रहा होगा। इस काण्ड की पोथी अथवा पाण्डुलिपि अभी तक कहीं से प्राप्त नहीं हुई है। इन छः काण्डों के अतिरिक्त उन्होंने राजनीति-काण्ड की भी रचना की है। राजनीति-काण्ड भी स्मृतिचन्द्रिका का ही एक काण्ड रहा होगा। देवण भट्ट के अन्य ग्रन्थों का अभी तक पता नहीं चला है।

राजनीति-काण्ड के आधार पर देवण भट्ट के राजनीतिक विचार

देवण भट्टकृत राजनीति-काण्ड उनकी स्मृति चन्द्रिका का ही एक खण्ड अथवा काण्ड है। इससे यह स्पष्ट है कि देवण भट्ट भी राजशास्त्र को धर्मशास्त्र के अन्तर्गत ही मानते हैं। धर्मशास्त्र से पृथक् कर देने पर राजशास्त्र की स्वतन्त्र सत्ता एवं स्वपूर्णता बनी रहती है वह इस सिद्धान्त के पोषक नहीं हैं। इस दृष्टि से देवण भट्ट चण्डेश्वर की श्रेणी के निबन्धकारों में स्थान नहीं पा सकते। वह लक्ष्मीधर, मित्र-मिश्र, नीलकण्ठ आदि निबन्धकारों की श्रेणी में परिगणित किये जायेंगे। इसलिए राजशास्त्र-सम्बन्धी उनके विचार भी इन्हीं निबन्धकारों के विचारों से मिलते-जुलते हैं। उन्होंने अपने राजनीतिक सिद्धान्तों की पुष्टि में जो उद्धरण दिये हैं वे धर्मशास्त्र और पुराणइतिहास-सम्बन्धी संस्कृत-साहित्य से लिये गये हैं। इन्होंने भी अर्थशास्त्र और नीतिग्रन्थों का आश्रय लेना उचित नहीं समझा।

देवण भट्ट परम्परानुयायी पण्डित थे। वह धर्मशास्त्र द्वारा स्थापित की गयी मान्यताओं एवं मर्यादाओं के प्रबल पोषक थे। अर्थशास्त्र एवं नीतिग्रन्थों में जिन मान्यताओं एवं मर्यादाओं की व्याख्या की गयी है उनकी दृष्टि में वे तभी तक मान्य हैं जब तक कि धर्मशास्त्र द्वारा स्थापित की गयी मान्यताओं के अनुकूल हैं।

देवण भट्टकृत स्मृतिचन्द्रिका के अन्तर्गत व्यवहार एवं राजनीति काण्ड दक्षिण भारत में बहुत समय तक न्यायालयों में पथ-प्रदर्शन सफलतापूर्वक करते रहे हैं। इसके लिए देवण भट्ट स्तुत्य हैं।

चण्डेश्वर

चण्डेश्वर का संक्षिप्त परिचय

मिथिला राज्य में कर्णाट क्षत्रिय राजवंश हुआ है। इस राजवंश के संस्थापक नान्यदेव थे। इस वंश के अन्तिम राजा हरिसिंह देव हुए हैं। चण्डेश्वर इन्हीं हरिसिंह देव के मन्त्री थे। दिल्ली सम्राट् गयासुद्दीन तुगलक की सेना ने मिथिला राज्य पर आक्रमण किया। हरिसिंह देव उसकी रक्षा न कर सके इसलिए वह अपने राज्य का परित्याग कर नेपाल भाग गये। वहाँ पहुँच कर उन्होंने अपने लिए एक नवीन राज्य की स्थापना की। इस प्रकार १३२४ ई० के उपरान्त मिथिला राज्य में कर्णाट

वंश के राज्य का अन्त हो गया। मिथिला के इतिहास के अनुसार, हरिसिंह देव ने मिथिला राज्य पर बीस वर्ष शासन किया था। इस प्रकार हरिसिंह देव १३ ४ ई में मिथिला राज्य की गद्दी पर बैठे थे।

मिथिला राज्य में पिता के उपरान्त पुत्र के सिद्धान्त के अनुसार चण्डेश्वर को मंत्रिपद प्राप्त हुआ था। चण्डेश्वर के पिता वीरेश्वर और उनके दादा देवादित्य भी तो इसी सिद्धान्त के अनुसार मिथिला राज्य में सान्धिविग्रहिक (minister of peace and war) रह चुके थे। अपने पिता वीरेश्वर के उपरान्त चण्डेश्वर को भी वही पद प्राप्त हुआ था। विवादरत्नाकर में चण्डेश्वर को 'विचारचतुरो मन्त्री' कह कर सम्बोधित किया गया है। डा. काशीप्रसाद जायसवाल का मत है कि विवादरत्नाकर के इस उल्लेख से स्पष्ट है कि चण्डेश्वर को न्यायाधीश पद भी प्राप्त हो चुका था। इस प्रकार राजनीति-रत्नाकर की रचना होने के पूर्व चण्डेश्वर मिथिला-नरेश हरिसिंह देव के सान्धिविग्रहिक और न्यायमंत्री रह चुके थे।

गृहस्थरत्नाकर में बतलाया गया है कि चण्डेश्वर ने अपने विद्यार्थी-जीवन में सांगोपांग वेदों का अध्ययन किया था। इससे स्पष्ट है कि चण्डेश्वर वैदिक साहित्य के भी पण्डित थे। चण्डेश्वर की कई कृतियों में उन्हें 'मीमांसक' की उपाधि दी गयी है। इन प्रसंगों से स्पष्ट है कि चण्डेश्वर उच्च कोटि के विद्वान् और कुशल राजनीतिज्ञ थे।

सन् १३२४ ई में हरिसिंह देव द्वारा मिथिला राज्य का परित्याग कर देने के उपरान्त वहाँ कार्णाट वंश के शासन का भी अन्त हो गया। उसके स्थान में नवीन राज वंश के शासन का प्रारम्भ हुआ। दिल्ली सम्राट् गयासुद्दीन तुगलक ने हरिसिंह देव द्वारा रिक्त की गयी मिथिला की राजगद्दी पर उसके राजगुरु कामेश्वर अथवा कामेश्वर को आसीन किया। इस प्रकार मिथिला में कार्णाट वंश के स्थान में कामेश्वर एवं उसके वंशजों ने शासन करना प्रारम्भ किया। चण्डेश्वर कामेश्वर के भी मंत्री रहे। कामेश्वर का कनिष्ठ भाई भवेश अथवा भवसिंह था। अपने बड़े भाई कामेश्वर के उपरान्त भवेश मिथिला के राजा हुए। ऐसा ज्ञात होता है कि भवेश १३७ ई के उपरान्त मिथिला के राजा हुए थे। राजनीतिरत्नाकर की रचना करने के पूर्व चण्डेश्वर लगभग पचासी वर्ष के हो गये। इस प्रकार राजनीति-रत्नाकर चण्डेश्वर के परिपक्व अनुभव का फल है। निबन्धरत्नाकर के आधार पर भवेश के आदेश से चण्डेश्वर ने राजनीतिरत्नाकर की रचना की थी। उस समय चण्डेश्वर भवेश के मंत्री थे।

चण्डेश्वर की साहित्य-सेवा

चण्डेश्वर चौदहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध निबन्धकार हुए हैं। वह संस्कृत-साहित्य के विख्यात पण्डित थे। उनका विशाल एवं सुप्रसिद्ध निबन्ध-ग्रन्थ निबन्धरत्नाकर

है। उन्होंने निबन्धरत्नाकर की रचना में धर्मशास्त्रों की विषयवस्तु का विशेष उपयोग किया है। निबन्धरत्नाकर सात भागों में विभक्त है। निबन्ध-रत्नाकर के ये सात भाग कृत्यरत्नाकर, दानरत्नाकर, व्यवहाररत्नाकर, शुद्धिरत्नाकर, पूजारत्नाकर, विवादरत्नाकर, और गृहस्थरत्नाकर हैं। चण्डेश्वर के रत्नाकर पर लक्ष्मीधर कृत कृत्यकल्पतरु का विशेष प्रभाव दिखाई पड़ता है। चण्डेश्वरकृत विवादरत्नाकर लक्ष्मीधरकृत कृत्यकल्पतरु के अन्तर्गत व्यवहारकाण्ड का ही दूसरा रूप जान पड़ता है। चण्डेश्वर की दो और कृतियाँ दानवाक्यावली और शिववाक्यावली के नाम से विख्यात हैं। इस प्रकार चण्डेश्वर की चार कृतियाँ हैं—निबन्धरत्नाकर, दानवाक्यावली शिववाक्यावली और राजनीतिरत्नाकर।

राजनीतिरत्नाकर—नामकरण की दृष्टि से चण्डेश्वर का राजनीतिरत्नाकर उनके निबन्धरत्नाकर का एक अंग मात्र जान पड़ता है, और ऐसा विश्वास होने लगता है कि निबन्धरत्नाकर के कृत्यरत्नाकर, दानरत्नाकर, व्यवहाररत्नाकर आदि सात भागों के अतिरिक्त यह उसका आठवाँ भाग है अथवा अंग है। परन्तु यह सत्य नहीं है। राजनीतिरत्नाकर उनका स्वतन्त्र निबन्ध है जिसका सम्बन्ध निबन्धरत्नाकर से नहीं है। निबन्धरत्नाकर की रचना हो जाने के पश्चात् राजनीतिरत्नाकर की रचना की गयी थी। निबन्धरत्नाकर के सातवें भाग (गृहस्थरत्नाकर) के उपरान्त निबन्धरत्नाकर समाप्त हो गया यह तथ्य इसी निबन्ध से सिद्ध हो जाता है। राजनीतिरत्नाकर में सभा का वर्णन करते हुए चण्डेश्वर ने स्पष्ट किया है कि यह विषय उनके विवादरत्नाकर में वर्णन किया जा चुका है[1]। उनके इस कथन से स्पष्ट है कि राजनीतिरत्नाकर की रचना करने के पूर्व चण्डेश्वर निबन्धरत्नाकर की रचना कर चुके थे।

इसके अतिरिक्त एक और उल्लेखनीय बात यह है कि राजनीतिरत्नाकर का कलेवर स्वतन्त्र है। यह किसी दूसरे ग्रन्थ का अंग अथवा भाग नहीं जान पड़ता। चण्डेश्वर ने अपने इस ग्रन्थ का नामकरण विषय की दृष्टि से किया। विषय की दृष्टि से इस ग्रन्थ का नाम राजनीतिरत्नाकर उपयुक्त ही है। उन्होंने इसे सोलह तरंगों (अध्यायों) में विभक्त किया और इन तरंगों में राजनीति-सम्बन्धी विविध विषयों का पृथक्-पृथक् विवेचन किया। विवादरत्नाकर धर्म-निबन्ध है परन्तु राजनीतिरत्नाकर राजनीति-विषय पर शुद्ध एवं स्वतन्त्र निबन्ध है। इस धर्म-निबन्ध की

१ सभ्यनिर्णयविधिश्चये [illegible] विवादरत्नाकरे। अत्र ग्रन्थविस्तरभयान्न —
राजनीतिरत्नाकर।

रचना करते समय चण्डेश्वर ने उसमें राजनीति को स्थान देने की आवश्यकता अनुभव नहीं की होगी। इसीलिए उन्होंने अपने निबन्धरत्नाकर में राजनीति को स्थान नहीं दिया। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि मिथिला-नरेश भवेश की अनुज्ञा से प्रेरित होकर उन्होंने राजनीतिरत्नाकर निबन्ध की रचना की है।

इस प्रकार यह निर्विवाद है कि चण्डेश्वरकृत राजनीतिरत्नाकर स्वतन्त्र एवं स्वयं में पूर्ण निबन्ध है। वह निबन्धरत्नाकर का अंश अथवा खण्ड नहीं है। निबन्धरत्नाकर धर्म-निबन्ध है और राजनीतिरत्नाकर राजनीति पर स्वतन्त्र निबन्ध है।

राजनीतिरत्नाकर का कलेवर

राजनीतिरत्नाकर वास्तव में रत्नाकर ही है। इसमें सोलह तरंग अर्थात् अध्याय हैं। ये सोलह तरंग—राजनिरूपण अमात्यनिरूपण पुरोहितनिरूपण प्राड्विवाकनिरूपण सभ्यनिरूपण दुर्गनिरूपण मन्त्रनिरूपण कोषनिरूपण बलनिरूपण सेनानीनिरूपण दूतादिनिरूपण राज्यकृत्यनिरूपण दण्डनिरूपण राज्याङ्गराज्यदानम्, पुरोहितादिकृतराज्यदानम् और अभिषेकनिरूपण हैं।

इस निबन्ध की विषयवस्तु कहाँ से ली गयी इस विषय में चण्डेश्वर ने स्पष्ट किया है कि मन्वादि स्मृतियों और विविध नीति-निबन्धों का आश्रय लेकर राजनीतिरत्नाकर की रचना की गयी। इस प्रकार राजनीतिरत्नाकर की विषयवस्तु स्मृतियों और चण्डेश्वर के समय में जो नीति-निबन्ध उन्हें उपलब्ध थे उनसे राजशास्त्र-सम्बन्धी सामग्री का चयन कर प्राप्त की गयी है।

राजनीतिरत्नाकर की उपलब्धि —बिहार-उड़ीसा के लेफ्टीनेण्ट गवर्नर सर एडवर्ड गेट बिहार उड़ीसा अनुसन्धान-समिति के संस्थापक एवं उसके सभापति थे। उनकी प्रेरणा से यह निश्चय हुआ कि प्राचीन संस्कृत-साहित्य की पाण्डुलिपियों की खोज की जाय। फलतः समिति ने उस कार्य को दो क्षेत्रों में विभक्त किया। ये दो क्षेत्र मिथिला (दरभंगा) और पुरी निश्चय किये गये। डा० काशी प्रसाद जायसवाल इस समिति के महामन्त्री थे। सं० १९१८ ई० में मिथिला-क्षेत्र में खोज करते समय राजनीतिरत्नाकर की पाण्डुलिपि प्राप्त हुई। धनाभाव के कारण उस समय यह प्रकाशित न की जा सकी। अतः इसका प्रकाशन १९२४ ई० में पटना-निवासी रायबहादुर राधाकृष्ण जालान द्वारा आर्थिक सहायता प्राप्त होने पर किया जा सका।

इस खोज में राजनीतिरत्नाकर की तीन पाण्डुलिपियाँ प्राप्त हुईं। इसमें एक पाण्डुलिपि बच्चा झा मिथिला संस्कृत कालेज मुजफ्फरपुर के पुस्तकालय से प्राप्त

१ राज्ञा भवेशेनाज्ञप्तो राजनीतिनिबन्धकम्। राजनीतिरत्नाकर।

हुई। मधुबनी जिला के भाउयाम ग्राम-निवासी पण्डित विश्वेश्वर से दूसरी पाण्डुलिपि प्राप्त हुई। तीसरी पाण्डुलिपि मधुबनी के एक ब्राह्मण जमींदार सोमनाथ मिश्र से मिली। इन पाण्डुलिपियों के विषय में डॉ० जायसवाल ने लिखा है कि इनमें एक भी पाण्डुलिपि शुद्ध नहीं है। द्वितीय पाण्डुलिपि अपेक्षाकृत कुछ शुद्ध है। ये तीनों पाण्डुलिपियाँ मैथिली लिपि में हैं। इन्हीं पाण्डुलिपियों का आश्रय लेकर राजनीतिरत्नाकर का प्रकाशन हुआ।

राजनीतिरत्नाकर में जो उद्धरण कामन्दकनीति से लिये गये हैं, वे गणपति शास्त्री द्वारा सम्पादित (edited) पाण्डुलिपि और त्रिवेन्द्रम् में प्रकाशित पोथी में उपलब्ध नहीं हैं अपितु मिथिला में जो बापुर (रामबाबा के पुत्र) से प्राप्त पाण्डुलिपि है उससे मिलते हैं। इस पाण्डुलिपि पर १४०१ शकसंवत् अंकित है।

राजनीतिरत्नाकर की उपयोगिता—राजनीतिरत्नाकर ईसा की चौदहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण की कृति होने के कारण उक्त युग की राजनीति एवं शासन-पद्धति के परिचय हेतु उपयोगी साधन है। राजनीतिरत्नाकर में राजनीति-सम्बन्धी अन्य निबन्धों से विशेषता है। राजनीति-सम्बन्धी अन्य निबन्ध धर्म-निबन्धों के अंग अथवा अध्याय हैं। वे स्वयं में पूर्ण तथा स्वतन्त्र निबन्ध नहीं हैं। परन्तु राजनीति-रत्नाकर किसी अन्य निबन्ध का अंग अथवा अंश नहीं है। यह स्वतन्त्र एवं स्वयं में पूर्ण निबन्ध है। इस दृष्टि से राजनीतिरत्नाकर निबन्ध नवीन पथ-प्रदर्शन करता है।

राजनीतिरत्नाकर प्रधानतः स्मृतियों के उद्धरणों का समुच्चय है। परन्तु किन्हीं प्रसंगों में नीति ग्रन्थों का भी आश्रय लिया गया है। पुराण-साहित्य की उपेक्षा की गयी है। राजनीति-सम्बन्धी इसके पूर्व के अन्य निबन्धों में यह विशेषता नहीं है। अन्य निबन्धकारों ने नीति ग्रन्थों एवं अर्थशास्त्र की सामग्री की उपेक्षा की है। इस दृष्टि से राजनीतिरत्नाकर में अन्य निबन्धों से विशेषता है।

इसके अतिरिक्त राजनीतिरत्नाकर में एक और विशेषता है। यद्यपि यह निबन्ध स्मृति-पद्धति पर अवलम्बित है परन्तु इसमें किन्हीं प्रसंगों में देश काल और परिस्थिति के अनुसार कतिपय सिद्धान्तों में व्याख्या का आश्रय लिया गया है। इसलिए यह निबन्ध कालबाधित न होने के कारण उपयोगी बन गया है।

राजनीतिरत्नाकर में चण्डेश्वर के पूर्व के कतिपय निबन्धकारों के भी मत दिये गये हैं। राजनीति के विद्यार्थी के लिए उक्त निबन्धकारों के राजनीतिक सिद्धान्तों के ज्ञान हेतु ये उद्धरण उपयोगी हैं। इस दृष्टि से भी राजनीतिरत्नाकर की विशेष उपयोगिता है।

इस प्रकार राजशास्त्र के साहित्य में राजनीतिरत्नाकर की उपयोगिता है। इस

उपयोगिता के कारण प्राचीन भारतीय राजशास्त्र के जिज्ञासु के लिए इस निबन्ध का अध्ययन आवश्यक है।

राजशास्त्र-प्रणेताओं में चण्डेश्वर का स्थान

ईसा की चौदहवीं शताब्दी के राजनीति निबन्धकारों में चण्डेश्वर सर्वोच्च हैं। उनके पूर्व गोपाल लक्ष्मीधर और देवण भट्ट सुप्रसिद्ध राजनीतिनिबन्धकार हुए हैं। चण्डेश्वरकृत राजनीतिरत्नाकर उसी श्रेणी में परिगणित किया जायगा जिसमें गोपालकृत कामधेनु, लक्ष्मीधरकृत कृत्यकल्पतरु और देवण भट्टकृत राजनीतिकाण्ड है। इन सभी निबन्धों में धर्मशास्त्र-पद्धति का अनुसरण किया गया है। चण्डेश्वर ने भी उसी पद्धति को अपनाया है।

गोपाल से अनन्तदेव पर्यन्त लगभग छः सौ वर्ष की अवधि में जिन विद्वानों ने राजनीति-निबन्धों की रचना की है उनमें चण्डेश्वर का विशेष स्थान है। चण्डेश्वर के अतिरिक्त जो भी राजनीति निबन्धकार इस अवधि में हुए हैं सभी ने राजधर्म अथवा राजनीति को धर्मशास्त्र के ही अन्तर्गत माना है। इसी धारणा के आधार पर उन्होंने धर्मनिबन्धों की रचना कर धर्मनिबन्ध के अन्तर्गत राजधर्म को भी एक अध्याय अथवा खण्ड के रूप में स्थान दिया है। इन निबन्धकारों ने राजधर्म अथवा राजशास्त्र को धर्मशास्त्र से पृथक् विषय नहीं माना है। परन्तु चण्डेश्वर ने निबन्ध-रत्नाकर और राजनीतिरत्नाकर नाम से पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र एवं स्वयंपूर्ण निबन्ध लिखकर यह सिद्ध कर दिया है कि वह राजशास्त्र को धर्मशास्त्र के अन्तर्गत नहीं मानते थे। उनके मतानुसार राजशास्त्र अथवा राजनीति स्वतन्त्र एवं स्वयंपूर्ण विषय है। वह किसी अन्य विषय का अंग अथवा अंश मात्र नहीं है। इस प्रकार चण्डेश्वर ने अपनी श्रेणी के अन्य निबन्धकारों की विचारधारा से पृथक नवीन विचारधारा प्रवाहित की है। इस दृष्टि से चण्डेश्वर राजशास्त्र के अन्तर्गत एक नवीन विचारधारा के प्रवर्तक हैं।

चण्डेश्वर की एक और विशेषता राजनीतिरत्नाकर की विषयवस्तु के चयन करने की है। उन्होंने अपने इस निबन्ध के लिए धर्मशास्त्रों रामायण महाभारत और कतिपय नीतिग्रन्थों से उपयुक्त सामग्री का चयन किया है। अन्य निबन्धकारों ने अपने निबन्धों के निमित्त अर्थशास्त्र एवं नीतिग्रन्थों से विषयवस्तु का चयन करना उचित नहीं समझा। उन्होंने इस उपयोगी साहित्य की उपेक्षा की है। परन्तु चण्डेश्वर ने उनकी इस प्रवृत्ति को उचित नहीं समझा। इस प्रकार चण्डेश्वर ने नीति ग्रन्थों की उपयोगिता को भी स्वीकार किया है। इस दृष्टि से अन्य निबन्धकारों की अपेक्षा चण्डेश्वर उदार जान पड़ते हैं।

इसी विषय में एक और उल्लेखनीय बात यह है कि चण्डेश्वर ने अपने राजनीतिरत्नाकर की रचना में पुराणों की विषयवस्तु का उपयोग नहीं किया है। लक्ष्मीधर ने मत्स्यपुराण, ब्रह्मपुराण, देवीपुराण, भविष्यपुराण, स्कन्दपुराण आदि के उन उद्धरणों को उद्धृत किया है जो धर्मकाण्ड-सम्बन्धी कृत्यों, पूजा-विधियों, जादू-टोना आदि से सम्बन्धित हैं। ऐसा करके उन्होंने समाज में अन्धविश्वास के प्रचार एवं प्रसार में योग दिया है। यह बात कतिपय अन्य निबन्धकारों पर भी चरितार्थ होती है। परन्तु चण्डेश्वर ने इस परिपाटी को अपनाना उचित नहीं समझा। सम्भव है इन धर्मकाण्ड-सम्बन्धी कृत्यों, पूजा-विधियों, जादू-टोना आदि में उनकी आस्था न रही हो। उन्होंने राजनीतिरत्नाकर को इन संकीर्ण विचारों से मुक्त रखा है। उन्होंने पुराण-साहित्य से एक भी उद्धरण अपने इस निबन्ध में उद्धृत नहीं किया है। उनकी इस प्रवृत्ति से यह सिद्ध होता है कि चण्डेश्वर सिद्धान्तवादी थे और उनके सिद्धान्त बुद्धितत्त्व पर आश्रित थे।

चण्डेश्वर शास्त्रानुसारी पण्डित थे। उन्होंने अपने रत्नाकर में धर्मशास्त्रों में वर्णित मर्यादाओं का उल्लेख कर उनके पालन करने का सुझाव दिया है। परन्तु ऐसा करने में उन्होंने देश, काल और परिस्थिति का विशेष ध्यान रखा है। धर्मशास्त्र-पद्धति के अनुसार राजा का राज्याभिषेक होना चाहिए। इस कृत्य का सम्पादन किये बिना जो राजपद ग्रहण कर लेता, वह वैध राजा नहीं माना जा सकता। परन्तु उन्होंने देखा कि देश, काल और परिस्थिति धर्मशास्त्र की इस व्यवस्था के विरुद्ध है और इस पद्धति का निर्वाह होना सम्भव नहीं। अतः उन्होंने स्पष्ट व्यवस्था दे दी कि राजपद के लिए शास्त्रानुसार राज्याभिषेक कृत्य अनिवार्य नहीं है। दिल्ली का अनभिषिक्त मुसलमान राजा उसी प्रकार वैध राजा है, जिस प्रकार शास्त्रानुसार विधिवद् अभिषिक्त कोई राजा होता है। उन्होंने यह भी देखा कि अब वह समय आ गया है जब कि राज्याधिकार का क्षेत्र क्षत्रिय वर्णमात्र तक सीमित नहीं रह सकता। इसलिए उन्होंने मुक्त कण्ठ से व्यवस्था दी कि प्रजा की रक्षा करने से ही राजा राजा होता है[1]। जो पुरुष जनता की रक्षा करने में समर्थ है वह राजपद का अधिकारी है। इसमें वर्ण अथवा जाति-विशेष का कोई प्रतिबन्ध नहीं है। प्रजा-रक्षा का सामर्थ्य रखनेवाला पुरुष चाहे जिस वर्ण अथवा जाति का क्यों न हो, राजपद का अधिकारी है। इस दृष्टि से चण्डेश्वर उदार एवं प्रगतिवादी हैं। वह देश,

१ वस्तुतस्तु प्रजापालनरूपाभिषेकाद्यपेक्षया कारणत्वात् प्रजापालनमिति राजशब्देन प्रसिद्धो राजा। —राज्ञो निरूपणम्, राजनीतिरत्नाकर।

काल और परिस्थिति के अनुकूल कार्य करने के पोषक हैं। इस क्षेत्र में उनकी यह देन उन्हें अन्य निबन्धकारों की अपेक्षा कहीं ऊँचा उठा देती है।

चण्डेश्वर की दूरदर्शिता की पुष्टि में एक और प्रमाण दिया जा सकता है। उन्होंने अपने निबन्ध में परोक्ष रूप से लोक-प्रभुता की ओर संकेत किया है और प्रजा को विष्णुरूप माना है[1]। उसीसे राजा राजपद प्राप्त कर राजा बन जाता है। राजा का परम कर्तव्य इस जगत् को ब्रह्म समझकर उसकी सदैव रक्षा करते रहना है। इस प्रकार उन्होंने भीष्म के उस मत का समर्थन किया है जिसमें उन्होंने राज-पद पाने के पूर्व नूतन राजा से प्रतिज्ञा लेने का विधान किया है कि वह जगत् को ब्रह्म मान कर सर्वदा उसकी रक्षा करता रहेगा[2]। इस दृष्टि से भी चण्डेश्वर प्रगतिवादी जान पड़ते हैं।

चण्डेश्वर के राजनीति-रत्नाकर में अन्य निबन्धकारों के निबन्धों की अपेक्षा कुछ अधिक मौलिकता है। उन्होंने प्राचीन साहित्य के उद्धरणों पर जो व्याख्या की है और तदनुसार जो टिप्पणियाँ की हैं वे बड़े महत्त्व की हैं। उनके अवलोकन से ज्ञात होता है कि चण्डेश्वर का पाण्डित्य गहरा था और उनके विचारों में मौलिकता थी।

इस प्रकार राजनीति-निबन्धकारों में चण्डेश्वर का बहुत ऊँचा स्थान है। वह उच्चकोटि के विद्वान् थे। उनके विचारों में मौलिकता है। वह उदार एवं प्रगति-वादी हैं। उनके द्वारा दिये गये निर्णय बुद्धितत्त्व पर आश्रित हैं। राजशास्त्र पृथक् विषय है, वह स्वतन्त्र एवं स्वयं में पूर्ण है। किसी अन्य विषय का अंग अथवा अंश नहीं है। उन्होंने इस सिद्धान्त की स्थापना कर राजशास्त्र के क्षेत्र में अनुपम देन दी है। राजशास्त्र उनकी इस सेवा के लिए आभारी रहेगा। वह शास्त्रानुसारी पण्डित होने पर भी देश काल और परिस्थिति के अनुसार आचरण करने के पोषक हैं। इस प्रकार, चण्डेश्वर राजनीति निबन्धकारों में शिरोमणि हैं—यह कहना उचित ही है।

चण्डेश्वर के राजनीतिक विचार

राज्य का स्वरूप—चण्डेश्वर ने राज्याभिषेक तरंग में पुरोहित द्वारा नूतन राजा को राज्य समर्पित करने की पद्धति का संक्षिप्त वर्णन किया है। इसी वर्णन में उन्होंने

१ प्रजा विष्णु सर्मीक्ष्य आत्मपेक्षुः —अभिषेक, राजनीतिरत्नाकर।
२ प्रतिज्ञां चाधिरोहस्व मनसा कर्मणा गिरा
पालयिष्याम्यहं भौम ब्रह्मइत्येव चासकृत्। श्लोक १ १ व ५९ शान्ति-
पर्व महाभारत।

प्रसंगवश षडंग राज्य-पद का भी प्रयोग किया है[1]। इससे ज्ञात होता है कि वह भी राजा के अतिरिक्त राज्य के छः अंग मानते थे। राज्य के इन छः अंगों का उल्लेख करते हुए उन्होंने बतलाया है कि षडंगराज्य के ये छः अंग सभी सुहृद्, कोष, दुर्ग राष्ट्र और बल हैं[2]। षडंग राज्य की इस व्याख्या के आधार पर यह स्पष्ट है कि चण्डेश्वर ने भी राज्य के सप्तांग अथवा सप्तांगात्मक स्वरूप को स्वीकार किया है। इतना ही नहीं अपितु उन्होंने पुरोहितादिकृत्यराज्यतरम् तरंग में स्वामी अमात्य सुहृद्, कोष दण्ड दुर्ग और राष्ट्र को राज्य की सात प्रकृतियाँ माना है और इसी आधार पर सप्तांग राज्य के सिद्धान्त को स्वीकार किया है[3]। परन्तु इसी प्रसंग में उन्होंने सुहृद् की व्याख्या करते हुए सुहृद् शब्द का अर्थ पुरोहित किया है[4]। सुहृद् को पुरोहित मानना समीचीन नहीं है। प्राचीन भारत के कई राजशास्त्र-प्रणेताओं ने सुहृद् के स्थान में मित्र का प्रयोग कर उसके विशेष लक्षणों एवं उसके भेद-प्रभेदों का वर्णन किया है। इस वर्णन के अनुसार चण्डेश्वर का यह मत तथ्यहीन हो जाता है।

परन्तु यह निर्विवाद है कि चण्डेश्वर ने भी प्राचीन भारतीय राजनीतिक परम्परा के अनुसार राज्य के सप्तांग स्वरूप को स्वीकार किया है। चण्डेश्वर द्वारा प्रतिपादित राज्य के सप्तांग स्वरूप और प्राचीन भारत के अन्य राजशास्त्र-प्रणेताओं द्वारा प्रतिपादित राज्य के सप्तांगात्मक अथवा सप्तांग स्वरूप में क्या अन्तर है, इस विषय के स्पष्ट करने के लिए हमारे समक्ष कोई सबल साधन नहीं है। इसलिए इस विषय में मौन रहना ही उचित है।

राज्य की उत्पत्ति—चण्डेश्वर ने भी राजा की उत्पत्ति में ही राज्य की उत्पत्ति मानी है। इसलिए राजा की उत्पत्ति के विषय में जिस सिद्धान्त की स्थापना चण्डेश्वर द्वारा की गयी है वही उनके राज्य की उत्पत्ति का भी सिद्धान्त है। राजा की उत्पत्ति के विषय में उन्होंने मनु द्वारा स्थापित तत्सम्बन्धी सिद्धान्त का ही प्रतिपादन किया है। इस सिद्धान्त के अनुसार राजा महती देवता है, जो नर-रूप धारण कर पृथिवी-तल पर विचरण करता है। वह परम पवित्र एवं परम पूजनीय है। इस प्रकार राजा का अपमान देवता का अपमान है। इस राजा का निर्माण प्रभु ने स्वयं

१ षडङ्ग राज्यमर्थयेत् । (अभिषेकतरंग, राजनीतिरत्नाकर)
२ षडङ्ग सुहृत्कोशदुर्गराष्ट्रबलात्मकम् (अभिषेकतरंग, राजनीतिरत्नाकर)
३ स्वाम्यमात्यसुहृत्कोशदण्डदुर्गराष्ट्रप्रकृतयः ।
एतत्सप्ताङ्गकराज्यमुच्यते (पुरोहितादिकृत्यराज्यतरम्, राजनीतिरत्नाकर)
४ सुहृत्पुरोहितः (पुरोहितादिकृत्यराज्यतरम्, राजनीतिरत्नाकर)

इन्द्र वरुण यम आदि आठ प्रधान देवों की शाश्वत सारभूत मात्राओं को संगृहीत कर लिया। इस प्रकार राजा विशिष्ट देव होता है। चण्डेश्वर ने इन शब्दों में संक्षेप में राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त का समर्थन किया है।

राजा की आवश्यकता— इस लोक को राजा की कितनी बड़ी आवश्यकता है, इस तथ्य को व्यक्त करने के लिए चण्डेश्वर ने मनुस्मृति के एक श्लोक मात्र को उद्धृत किया है। इसके अनुसार अराजक लोक शीघ्र नष्ट हो जाता है। इस लोक की सम्यक् स्थिति के लिए राजा की परम आवश्यकता है। अराजक लोक में सभी कुछ नष्ट हो जाता है, ऐसा सोचकर प्रभु ने लोक की सम्यक् स्थिति हेतु राजा का निर्माण किया। राजा की आवश्यकता एवं उपयोगिता के विषय में चण्डेश्वर ने व्यास के मत को भी उद्धृत कर राजा की परम आवश्यकता प्रमाणित की है। व्यास के इस मत के अनुसार राजा मेघ के समान इस लोक का आधार है।

राजा की योग्यताएँ एवं अयोग्यताएँ—राज्य में राजपद परम महत्त्वपूर्ण माना गया है। चण्डेश्वर ने राजा का परम कर्तव्य उसके अधीन प्रजा की सम्यक् रक्षा करना निर्धारित किया है। इसलिए राजा का धर्मसम्पन्न होना परम आवश्यक है। उनका यह मत है कि प्रजा-रक्षण का सामर्थ्य रखने से ही राजा राजपद का अधिकारी होता है। इसलिए राजा की सर्वप्रथम योग्यता चण्डेश्वर के अनुसार, उसका धर्मसम्पन्न होना है[1]।

इस योग्यता के अतिरिक्त उन्होंने राजा के लिए विविध गुणों एवं योग्यताओं की एक लम्बी सूची दी है। इस सूची के निर्माण में उन्होंने याज्ञवल्क्य और मनु के विचारों को अपनाया है। इसके अनुसार राजा महोत्साही स्थूललक्ष्य कृतज्ञ वृद्धसेवी विनीत सत्त्वसम्पन्न कुलीन सत्यवादी शुचि अदीर्घसूत्री स्मृतिमान्, उदार, कठोरतारहित धार्मिक अव्यसनी प्राज्ञ शूर और रहस्यवित् होना चाहिए। चण्डेश्वर का मत है कि काम से उत्पन्न दस व्यसन और क्रोध से उत्पन्न आठ व्यसन अर्थात् इन अठारह व्यसनों से राजा दूर रहे। व्यसनग्रस्त राजा तुरन्त नष्ट हो जाता है।

इस प्रकार चण्डेश्वर ने राजपद के लिए इन सभी गुणों एवं योग्यताओं की आवश्यकता बतलायी है। जो राजा इन गुणों एवं योग्यताओं को धारण करता है, वह इस लोक में स्वधर्मपालन में सफल होता है और मृत्यु के उपरान्त परमानन्द प्राप्त करता है। इसके विपरीत आचरण करने से वह इस लोक में राज्यभ्रष्ट होता है और मृत्यु के उपरान्त नरक को प्राप्त करता है।

१ किञ्च धर्मविज्ञातराज्यसम्पालनम् व्यवहारादिति
(राजोपयोगिवर्णन तरंग राजनीतिरत्नाकर)

राजा-भेद—प्राचीन भारत के राजशास्त्र-प्रणेताओं ने विराट्, स्वराट्, भोज एकराट् आदि राजा के अनेक भेद बतलाये हैं। इस दृष्टि से राजाओं का जो वर्गीकरण उनके द्वारा किया गया है उसे चण्डेश्वर ने स्वीकार नहीं किया है। उन्होंने अपने समय के राजाओं को जिस रूप में देखा था उसी को दृष्टि में रखकर वर्गीकरण किया है। उनके द्वारा किये गये इस वर्गीकरण के अनुसार राजाओं को तीन श्रेणियों में विभक्त किया गया है। चण्डेश्वर के मतानुसार तीन प्रकार के राजा होते हैं जिन्हें उन्होंने सम्राट् अथवा चक्रवर्ती, सकर अथवा राजा, अकर अथवा अधीश्वर महाराज के नाम से सम्बोधित किया है।

इन तीन प्रकार के राजाओं के विशेष लक्षणों का उल्लेख करते हुए चण्डेश्वर ने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—"जो राजा अन्य सभी राजाओं से कर ग्रहण करता है वह सम्राट् कहलाता है। जो राजा सम्राट् को कर देता है वह सकर कहलाता है। अपनी इच्छानुसार सम्राट् को कर देनेवाले राजा को अकर के नाम से सम्बोधित किया है। इसके उपरान्त उन्होंने अकर और सकर के भी दो-दो भेद बतलाये हैं। सकर राजा के दो भेद अधिकृत दण्डादि और अनधिकृत दण्डादि हैं। अधिकृत दण्डादि सकर राजा को न्याय और पुनर्न्याय का अधिकार प्राप्त होता है और उसे दण्ड देने का भी अधिकार होता है। उसके द्वारा किये गये न्याय अथवा पुनर्न्याय को असमान्य कर देने अथवा उसमें संशोधन एवं कमी अथवा वृद्धि कर देने का अधिकार दूसरे (सम्राट्) को नहीं होता। इसी प्रकार उसके द्वारा दिये गये दण्ड में भी किसी दूसरे राजा को न्यूनाधिक करने अथवा उसे अमान्य घोषित कर देने का अधिकार नहीं होता। अर्थात् प्रथम प्रकार का सकर राजा न्याय और दण्ड का परमाधिकारी होता है।" दूसरे प्रकार का सकर राजा प्रथम प्रकार के सकर राजा की अपेक्षा न्याय और दण्ड के क्षेत्र में सीमित अधिकारप्राप्त होता है। इस श्रेणी के राजा को न्याय करने का अधिकार होता है, परन्तु दण्ड-प्रदान करने का नहीं। न्याय-क्षेत्र में भी वह सीमित अधिकारप्राप्त माना गया है। उसके द्वारा दिये गये निर्णय अन्तिम निर्णय नहीं होते।

१ सकल राजेभ्यो य करग्राही स सम्राट् (राजनीतिस्वरूप तरङ्ग, राजनीतिरत्नाकर)
२ सम्राजे करदो यः स सकरः (राजनीतिस्वरूप तरङ्ग, राजनीतिरत्नाकर)
३ स्वेच्छाकरदोऽकरः (राजनीतिस्वरूप तरङ्ग, राजनीतिरत्नाकर)
४ अधिकृत दण्डादिरनधिकृतदण्डादिः (राजनीतिस्वरूप तरङ्ग, राजनीतिरत्नाकर)
५ आदरस्य न्याये पुनर्न्यायेन कृते दण्डे न मिलति।
। राजनीतिस्वरूप तरङ्ग, राजनीतिरत्नाकर।

होगा[१]। राज्य अविभाज्य है इस सिद्धान्त की पुष्टि में उन्होंने गोपाल कल्लीवर, भीकर आदि का मत उद्धृत करते हुए बतलाया है कि राज्य (राजपद) में दौर्, अन्याय आदि सकल प्राणियों का भय होता है और एक से अधिक राजाओं के अधीन राज्य होने से उस राज्य का विनाश होता है, इसलिए राज्य के विभाजन का निषेध है[२]। इस प्रकार राज्य अविभाज्य है। वह एक ही राजा के अधीन रहना चाहिए, चण्डेश्वर का ऐसा मत है।

(२) परम्परागत सिद्धान्त— चण्डेश्वर ने राज्य का अधिकार वंश परम्परागत माना है। उनके मतानुसार पिता के उपरान्त उसका पुत्र राज्याधिकारी होता है। इस सिद्धान्त की पुष्टि में उन्होंने प्राचीन साहित्य से उद्धरण दिये हैं।

(३) ज्येष्ठता का सिद्धान्त—राजा के अनेक पुत्र होने पर राज्य के विभाजन का निषेध किया गया है। इसलिए यह प्रश्न उठता है कि राजा के अनेक पुत्र होने पर किस पुत्र को राज्य-प्रदान किया जाय ? इस समस्या के समाधान हेतु प्राचीन भारत के लगभग सभी राजशास्त्र-प्रणेताओं ने ज्येष्ठता के सिद्धान्त के अनुसरण करने की व्यवस्था दी है। इस सिद्धान्त के अनुसार राजा के ज्येष्ठ पुत्र को राज्य दिया जाना चाहिए। चण्डेश्वर ने भी इसी सिद्धान्त के अनुसरण करने की व्यवस्था दी है और अपनी इस व्यवस्था की पुष्टि में प्राचीन भारतीय राजशास्त्र के कतिपय प्रणेताओं के मत उद्धृत किये हैं। उन्होंने स्पष्ट किया है कि जब राजा जरायुक्त रोगग्रस्त दुखी हो अथवा राज्य-भार से मुक्त होना चाहता हो तो उसे अपने ज्येष्ठ पुत्र को अपना राज्य सौंप कर स्वयं राज्य-भार से मुक्त हो जाना चाहिए[३]। उनका कथन है कि ज्येष्ठ पुत्र ही राजा की आत्मा होता है। ज्येष्ठ पुत्र पितृस्थान का अधिकारी होता है। वह अपने पिता को नरक से बचाता है[४]। इसलिए वही अपने पिता के राज्य का अधिकारी होता है।

१ राज्यमविभाज्यमिति। राज्यप्रकृतराज्यस्वरूपं तरङ्ग, राजनीतिरत्नाकर।

२ राजभेदे दौरात्म्यादिसकलप्राणिभयमिति बहुराजकत्वाद्राज्यविनाशो-ऽपि सिद्धमिति गोपाल-कल्लीवर भीकरादय।

पुरोहितादिकृतराज्यदान राजनीतिरत्नाकर।

३ यदा राजा जरायुक्तो रोगार्तो निःस्पृहोऽपि च × अथवा मृत्युं विज्ञाय राज्यमपि ज्येष्ठपुत्राय दद्यात्।

राजकृत्य राज्यदान तरङ्ग, राजनीतिरत्नाकर।

४ ज्येष्ठो नरकनिस्तारः। पुरोहितादिकृतराज्यदान, राजनीतिरत्नाकर।

(४) श्रेष्ठता का सिद्धान्त—चण्डेश्वर ने इस ओर भी संकेत किया है कि राजा के ज्येष्ठ पुत्र के अयोग्य होने पर वह राज्याधिकारी नहीं रहता। ऐसी परिस्थिति में उस अयोग्य राजकुमार के ज्येष्ठ पुत्र को राज्याधिकारी माना जाय। अपने इस सिद्धान्त की पुष्टि में उन्होंने प्राचीन भारतीय साहित्य से कतिपय उद्धरण भी दिये हैं।

(५) वृत्ति-निर्धारण सिद्धान्त—राजा के एक से अधिक पुत्र होने पर ज्येष्ठ को राज्य देने की व्यवस्था है। परन्तु इसके साथ ही उन्होंने यह व्यवस्था भी दी है कि राजा के अन्य पुत्रों के भरण-पोषण का समुचित प्रबन्ध होना चाहिए। इसलिए चण्डेश्वर का मत है कि राजा होने पर उसका सर्वप्रथम कर्तव्य अपने छोटे भाइयों एवं अन्य बन्धु-बान्धवों तथा सम्बन्धियों की वृत्ति का निर्धारण कर देना है।

(६) राज्याधिकारक्रम-सिद्धान्त—चण्डेश्वर ने प्राचीन भारतीय राजशास्त्र के कतिपय प्रणेताओं के मतों को संक्षेप में उद्धृत कर राज्याधिकार के क्रम का भी उल्लेख किया है। इसके अनुसार राज्य का सर्वप्रथम अधिकारी राजा का ज्येष्ठ पुत्र होता है। उसके अभाव में उसके सहोदर छोटे भाई को, सहोदर छोटे भाई को अभाव में उसके सब भाइयों को राज्याधिकारी माना गया है[1]। इस प्रकार चण्डेश्वर ने संक्षेप में राज्याधिकार के क्रम का उल्लेख किया है।

(७) विजय-सिद्धान्त—चण्डेश्वर ऐतिहासिक पद्धति के अनुगामी हैं। इसलिए उन्होंने राज्याधिकार-क्षेत्र में भी इस पद्धति का यथोचित अनुसरण किया है। उनके समय में राज्य-विस्तार हेतु युद्ध हो रहे थे। ऐसी परिस्थिति में पराजित राजा के राज्य पर विजयी राजा के अधिकार का निषेध नहीं किया जा सकता था। इस लिए उन्होंने विजय के अधिकार से राज्य-प्राप्ति को भी मान्यता दी है। विजय-सिद्धान्त की पुष्टि में उन्होंने अपना मत व्यक्त करते हुए बतलाया है कि क्रमागत राज्य में या राजा जितना राज्य विस्तार कर लेता है अथवा जितनी विजय प्राप्त कर लेता वह समस्त राज्य उसी विजयी राजा का होता है[2]। इस प्रकार चण्डेश्वर ने विधिसिद्ध प्रभुता (De-jure Sovereignty) के सिद्धान्त को स्वीकार किया है।

चण्डेश्वर ने प्राचीन राज्याधिकार-विधि एवं उनके सिद्धान्तों की विवेचना कर उन्हें नया रूप दिया और उन्हें कालबाधित होने से बचाने का प्रयास किया है।

१ राज्ययोग्ये ज्येष्ठेऽसति च एव राजा तदभावे कनिष्ठः तदभावे राजवंश्यः।
—पुरोहितादिकृत राज्याधिकारः, राजनीतिरत्नाकर।

२. क्रमागते राज्ये स्वाम्यमाम्यरत्नसमर्थं राज्यं देयम् राज्यतम एव।
—राज्यदानाधिकारः तरङ्ग, राजनीतिरत्नाकर।

(८) राज्याभिषेक-सिद्धान्त—प्राचीन भारत में राजपद प्राप्ति हेतु राज्याभिषेक अनिवार्य तत्त्व निर्धारित किया गया है। उस युग में अनभिषिक्त राजा वैध राजा नहीं समझा जाता था। चण्डेश्वर ने देश काल और परिस्थिति की दृष्टिकोण में रख कर इस सिद्धान्त को अस्वीकार किया है। उनका मत है कि राज्याभिषेक-कृत्य का सम्पादन किये बिना भी विधिपूर्वक राज्यदान अथवा राज्य समर्पित करके राज्य किया जा सकता है और इस प्रकार राज्यदान अथवा राज्य-समर्पण विधि-विहित होगा[1]। चण्डेश्वर कोषकार का मत उद्धृत करते हुए लिखते हैं—"राज्यदान तिलककरणादि (राज्याभिषेक) कृत्य सम्पादित किये बिना भी होता है। राज्यदान में श्वपुच्छ-न्याय (कुत्ते की पूंछ के न्याय) सिद्धान्त का अनुसरण किया जा सकता है[2]। जिस प्रकार चाहे जितना प्रयत्न क्यों न किया जाय कुत्ते की पूंछ टेढ़ी ही रहेगी उसी प्रकार राज्यप्रदान चाहे जिस प्रकार किया जाय वह राज्यदान ही रहेगा।" कोषकार से चण्डेश्वर का क्या किस कोषकार से है, स्पष्ट नहीं। चण्डेश्वर ने गोपाल के मत को भी उद्धृत किया है। गोपाल के मतानुसार राज्यदान देशव्यवहार एवं कुलाचार पर होता है। राज्यदान में राज्याभिषेक उपलक्षण मात्र होता है[3]। कल्प के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि विधान के अनुसार किया गया राज्यदान उत्तम होता है। केवल तिलककरण करके किया गया राज्यदान अधम होता है और अनुक्त प्रकार से किये गये दान को अधम बतलाया गया है[4]। चण्डेश्वर इसे अधम नहीं मानते। उनके मतानुसार इस प्रकार के राज्यदान को अधम कहना निरादर की मुक्तिमात्र है। वास्तव में जाति देश और कुल के धर्म जो कि पहले से चले आ रहे हैं, उन्हीं के अनुसार व्यवहार करना चाहिए।

इस प्रकार चण्डेश्वर राज्याभिषेक सिद्धान्त में क्रान्तिकारी हैं। वह राज्यपद

१ अभिषेकं विनापि राज्यदानविधानात् तथा कल्पतरावन्य।
—अभिषेकतरङ्ग, राजनीतिरत्नाकर।

२ कोषकार मते "राज्यदानोत्सवस्य तिलककरणादि तेन तद्विनापि तत्पुच्छेन श्वपुच्छन्यायादिति।
—अभिषेकतरङ्ग राजनीतिरत्नाकर।

३ गोपालमते त्वभिषेकस्तिलकमनुसरणम यथादेशकुलाचारं तिलककरणादि उपलक्षणमिति।
—अभिषेकतरङ्ग राजनीतिरत्नाकर।

४ तथा चोत्तमविधानेनोत्तमं तिलककरणमात्रेण मध्यमं अन्येनाप्यनुक्त प्रकारेणाधमं दानं इति।
—अभिषेकतरङ्ग राजनीतिरत्नाकर।

५ न चाधमदानमस्मद् एव युक्तं इति। अभिषेक तरङ्ग, राजनीतिरत्नाकर।

के लिए राज्याभिषेक की अनिवार्यता का अनुमोदन नहीं करते। चण्डेश्वर की यह देन महत्त्वपूर्ण है।

(२) राजपद-प्राप्ति में वर्ण का महत्त्व—चण्डेश्वर रूढ़िवादी नहीं हैं। वह प्रगतिवादी हैं। वह राजपद प्राप्ति हेतु वर्ण प्रतिबन्ध का होना उचित नहीं समझते उनका मत है कि जो पुरुष प्रजा की रक्षा करता है वह राजा कहलाता है[1]। इस सिद्धान्त के अनुसार राजा किसी वर्ण अथवा जाति का हो सकता है। इस की पुष्टि में उन्होंने कुल्लूकभट्ट और राजनीति कामधेनु के रचयिता के मत उद्धृत किये हैं[2]। इस आधार पर चण्डेश्वर रूढ़िवाद के विरोधी सिद्ध होते हैं और उदार एवं प्रगतिवादी जान पड़ते हैं।

अमात्य की आवश्यकता—राजा के लिए अमात्य की परम आवश्यकता होती है चण्डेश्वर का ऐसा मत है। उनका विश्वास है कि अमात्य के बिना राज्य-कार्यभार का निष्पन्न नहीं हो सकता[3]। इस मत की पुष्टि में उन्होंने मनु के मत को उद्धृत किया है।

इस प्रसंग में अमात्य शब्द विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ। चण्डेश्वर ने उसे सामान्य अर्थ में प्रयुक्त किया है और इस प्रकार यहाँ अमात्य और मंत्री दोनों एक ही पद के द्योतक हैं।

मंत्रिसंख्या—मंत्रिसंख्या के विषय में चण्डेश्वर ने स्पष्ट व्यवस्था दी है कि बहुत से व्यक्तियों से मन्त्रणा नहीं करनी चाहिए[4]। उनके द्वारा दी गयी इस व्यवस्था से स्पष्ट होता है कि चण्डेश्वर बहुत मंत्रियों से मन्त्रणा लेना उचित नहीं समझते। उनके मत के अनुसार मंत्रि-संख्या अल्प होनी चाहिए।

अमात्य की योग्यताएँ एवं अयोग्यताएँ और उनके कर्तव्य—इस प्रसंग में भी अमात्य शब्द का सामान्य अर्थ में प्रयोग किया गया है। चण्डेश्वर ने अमात्य की योग्यताओं और अयोग्यताओं का वर्णन किया है। परन्तु यह प्रकरण मनुस्मृति याज्ञवल्क्यस्मृति और महाभारत के शान्ति पर्व की विषय-वस्तु पर आश्रित है। इस प्रकरण में कोई मौलिकता नहीं है।

१ प्रजारक्षको राजेत्यर्थः। —राजनिरूपण तरंग, राजनीतिरत्नाकर।

२ राजशब्दोऽपि नात्र क्षत्रियजातिपरः। —राजनिरूपण तरंग, राजनीतिरत्नाकर।

३ अमात्य बिना राज्यकार्यं न सिद्ध्यति। —अमात्यनिरूपण तरंग, राजनीतिरत्नाकर।

४ बहुभिः सह न मन्त्रम्। —अमात्यनिरूपण तरंग, राजनीतिरत्नाकर।

बतलाती है। अपने इस मत की पुष्टि में उन्होंने मनु के मत को उद्धृत किया है। इसके अनुसार दुर्ग में स्थित एक योद्धा दुर्ग के बाहर के सौ योद्धाओं से युद्ध करने में समर्थ होता है। चण्डेश्वर ने मनु द्वारा वर्णित छः प्रकार के दुर्गों के लक्षण को स्पष्ट किया है। महाभारत से उद्धरण देकर उन्होंने बतलाया है कि दुर्ग में आयुध धन धान्य वाहन ब्राह्मण शिल्पी यन्त्र भोजन-सामग्री पुष्पादिक, जल प्राप्त होने के स्थान वृक्ष गृह, वाहनजन अट्टालिकायुक्त भवन होने चाहिए।

कोष—चण्डेश्वर ने कामन्दक और याज्ञवल्क्य के मत को उद्धृत कर कोष का वर्णन किया है। कोष के संचय एवं उसके व्यय हेतु कोष-कर्म-सचिव, धार्मिक एवं आप्त पुरुषों की नियुक्ति होनी चाहिए। इस सिद्धान्त की पुष्टि में उन्होंने महाभारत और कामन्दकनीति से उद्धरण दिये हैं।

शक्ति—चण्डेश्वर ने भी कामन्दक और महाभारतकार के मत के अनुसार ही तीन प्रकार की शक्ति मानी है जिन्हें उन्होंने प्रभावजा उत्साहजा और मन्त्रजा के नाम से सम्बोधित किया है। शक्ति के इन तीन प्रकार में चण्डेश्वर ने मन्त्रजा शक्ति को शक्ति के अन्य दो प्रकारों की अपेक्षा अधिक बलवती माना है।

बल—चण्डेश्वर ने इस मत की पुष्टि की है कि राजा की स्थिति उसकी सेना (बल) के अधीन होती है। उन्होंने चतुरंगिणी सेना अथवा चतुरंग बल माना है। बल के ये चार अंग गजसेना अश्वसेना रथसेना और पैदल सेना हैं[4]। उन्होंने इन अंगों का उल्लेख जिस क्रम में किया है उससे ज्ञात होता है कि उनके समय में गजसेना सबसे अधिक उपयोगी और रथसेना सबसे न्यून महत्त्व की समझी जाती थी।

बल-भेद—चण्डेश्वर के पूर्व कामन्दक और उससे भी पूर्व कौटिल्य ने बल के छः भेद माने हैं। परन्तु उन्होंने कौटिल्य, कामन्दक और भारवीकार के इस मत को अस्वीकार किया है। उनके मतानुसार बल के पाँच प्रकार—मौलबल मित्रबल आटविक,

१ आयुधधनधान्यवाहनब्राह्मणशिल्पियन्त्रभोज्यपुष्पादिकाजलसंचार वृक्ष-गृहगृहाण्यन्नपानं च कारयेत्। अट्टालिकाश्च दुर्गस्यान्तस्तस्मेति।
—दुर्गनिरूपण तरंग, राजनीतिरत्नाकर।

२ शक्ति त्रिविधा प्रभावजा उत्साहजा मन्त्रजा एतास्वपि मन्त्रजा बलवती तरप् कामन्दकः। —शक्तिनिरूपण तरंग, राजनीतिरत्नाकर।

३ बलायत्ता स्वामिनामेव स्थितिः। —बलनिरूपण तरंग, राजनीतिरत्नाकर।

४ हस्त्यश्वरथपदातयः सेना —बलनिरूपण तरंग, राजनीतिरत्नाकर।

मेलीबल और भरतबल हैं। इस प्रकार उन्होंने आटविक बल और भृतक बल को बल नहीं माना है। इस दृष्टि से चण्डेश्वर अपने पूर्व के इन राजशास्त्र-प्रणेताओं से भिन्न मत रखते हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि चण्डेश्वर के समय में ये दोनों प्रकार के बल महत्त्वहीन हो चुके थे।

चण्डेश्वर ने पाँच प्रकार के इन बलों के विषय में व्याख्या भी उल्लेख किया है। पिता-पितामह आदि से क्रमागत बल मौलबल के नाम से सम्बोधित किया गया है। राजा के मित्र राजा अथवा मित्र राजाओं द्वारा उसके सहायतार्थ भेजी जाने वाली सेना मित्रबल के नाम से सम्बोधित की गयी है। शत्रु राजा की जो सेना अपने स्वामी का परित्याग कर विजिगीषु राजा के आश्रय आकर उसकी सेवा का व्रत ग्रहण करती थी चण्डेश्वर ने उस सेना को अरिबल के नाम से सम्बोधित किया है। प्राचीन भारत में प्रत्येक राज्य में कुछ ऐसे पुरुष होते थे जिनका व्यवसाय युद्ध करना होता था। ये युद्धव्यवसायी पुरुष मेलीबल के नाम से सम्बोधित किये जाते थे। चण्डेश्वर के मतानुसार रणप्रेमी लोग अपने भरण-पोषण की कामना से युद्ध के अवसरों पर, राज्य की सेना में सम्मिलित होकर एक विशेष प्रकार की सेना का निर्माण करते थे। सेना में कुछ चर भी रहते थे। इन चरों को चरबल के नाम से सम्बोधित किया गया है।

पाँच प्रकार के इन बलों की आपेक्षिक उपयोगिता पर भी चण्डेश्वर ने अपना मत संक्षेप में व्यक्त किया है। मौलबल और मित्रबल विश्वसनीय होते हैं। इसलिए उन्होंने इन्हें विशेष उपयोगी बतलाया है। मेलीबल भृतक के समान है। वह अपने भरण-पोषण मात्र के लिए स्वामी की सेवा में रहता है। परन्तु आपत्काल उपस्थित होने पर वह संग्राम से भाग निकलता है। अरिबल पर विश्वास नहीं किया जा सकता। अरिबल रखने का एकमात्र उद्देश्य अपने शत्रु राजा के सैन्यबल को न्यून करना होता है। अपने स्वामी और उसके शत्रु राजा दोनों से चर का सम्बन्ध रहता है। इसलिए चरबल पर भी विश्वास करना उचित नहीं है। इस प्रकार में चण्डेश्वर ने इन पाँच प्रकार के बल की उपयोगिता पर अपना मत व्यक्त किया है। यह उनकी अपनी सूझ है[२]।

१ सम्बन्धे चारबले। —बलनिरूपण तरंग, राजनीतिरत्नाकर।

२. मौलं पितृ—पितामहादि क्रमायातं, अरिबलं शत्रु विजित्यानीतम्। मेलीबलं वार्त्ताहरणार्थमानीतम्। तथा च मौलबलं मित्रबलं च विश्वसनीयतो विशि-ष्यते, मेलीबलन्तु भृतकवत् यथा भृतकस्य भरणं सेवानिमित्तं तेन प्रायशस्त्वे-

प्रधान होता था जिसे उन्होंने सेनानी की उपाधि भी दी है। सेनानी की योग्यता के विषय में चण्डेश्वर का वही मत है जो कि कामन्दक का तद्विषयक मत है और जिसको उन्होंने अपने नीतिग्रन्थ में व्यक्त किया है। इसी प्रकार सेनानी के कर्तव्यों का वर्णन भी कामन्दक द्वारा व्यक्त किये गये तत्सम्बन्धी मत पर आश्रित है।

मित्र—चण्डेश्वर ने मित्र एवं उसके भेद तथा उनके पृथक्-पृथक् लक्षणों का भी वर्णन किया है। परन्तु यह प्रकरण मनु, याज्ञवल्क्य और कामन्दक के मत पर आश्रित है। उन्होंने मित्र के चार भेद माने हैं—औरस कृतसम्बन्ध वंशक्रमागत और रक्षक-मोचन। जन्म-सम्बन्ध से औरस मित्र होता है। चण्डेश्वर ने औरस मित्र की व्याख्या करते हुए स्पष्ट किया है कि पुत्र माता पिता भ्राता बन्धु-बान्धव आदि औरस मित्र कहलाते हैं। विवाह आदि सम्बन्ध को स्थापित कर जो मित्र बनता है वह कृतसम्बन्ध मित्र होता है। वंशक्रम से जो मित्र चले आ रहे हैं वंशक्रमागत मित्र कहलाते हैं। कष्ट अथवा संकट समय में जिसकी रक्षा की गयी है वह व्यसन-रक्षित अथवा रक्षक-रक्षित मित्र कहलाता है।[1]

अनुजीवी—राज्य-संचालन हेतु विविध गुणों एवं योग्यता-सम्पन्न अनेक पुरुषों की आवश्यकता होती है। राज्य के विधिवत् संचालन एवं उसके उद्देश्य की प्राप्ति इन्हीं पुरुषों की कार्य-कुशलता पर बहुत कुछ निर्भर होती है। ये पुरुष राज्य के संचालन-कार्य में लीन रहते हैं। ऐसी परिस्थिति में इनके और इनके आश्रितों के भरण-पोषण का भार राज्य पर ही होता है। इसीलिए इन पुरुषों को आजीविकार्थ के नाम से सम्बोधित किया गया है।

राजा और उसके इन आजीवी पुरुषों में प्रशस्त व्यवहार एवं शिष्ट आचरण बना रहे, जिससे परस्पर सहयोग से राज्यभार का सम्यक् निर्वहन होता रहे, इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु प्राचीन भारत के कतिपय राजशास्त्र-प्रणेताओं ने इनके निमित्त आचार-नियमों का निर्धारण किया है जिन्हें आजीविकावृत्तों के नाम से सम्बोधित किया गया है। इसी प्रकार राजशास्त्र के इन प्रणेताओं ने अपने इन आजीविकार्थ के प्रति राजा का जिस प्रकार आचरण एवं व्यवहार होना चाहिए, इस विषय में भी आचार एवं व्यवहार-सम्बन्धी नियम निर्धारित किये हैं। इन नियमों को अनुजीविप्रति राजवृत्तम् की संज्ञा दी गयी है। चण्डेश्वर ने भी अनुजीवि वृत्तों और अनुजीविप्रति राजवृत्तों का

१ औरसमित्रं जन्मना सम्बन्धि, कृतसम्बन्धं पतिमित्रपत्नीविवाहसम्बन्धि, वंशक्रमागतं पितादि मित्रं, व्यसनेभ्यो रक्षितं चतुर्विधमिह मित्रमिति।
—इत्यादिमित्रलक्षण तरंग, राजनीतिरत्नाकर।

किया है। चण्डेश्वर द्वारा दिया गया यह प्रकरण कामन्दक के तत्सम्बन्धी मत
आधारित है। अतः इसमें मौलिकता नहीं है।

राष्ट्र-पीड़क—प्रत्येक राज्य में कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं जो दूसरों को कष्ट देकर
र्थ-सिद्धि में लगे रहते हैं। इनमें कुछ विशेष व्यक्ति होते हैं जिन्हें प्रजापीड़क
या राष्ट्रपीड़क की संज्ञा दी गयी है। चण्डेश्वर ने भी इन राष्ट्रपीड़कों की
ख्या की है। प्राचीन भारत के कतिपय राजशास्त्रप्रणेताओं ने इन्हें चाट, तस्कर,
त कायस्थ (लेखक) वञ्चक राजवल्लभ आदि की संज्ञा दी है। चण्डेश्वर ने भी
हें राष्ट्रपीड़क माना है और राजा का यह कर्तव्य निर्धारित किया है कि वह अपने
धीन प्रजा की रक्षा इन राष्ट्रपीड़कों से करता रहे[1]।

दूत—दूत के लिए जो योग्यताएँ तथा अयोग्यताएँ और कर्तव्याकर्तव्य मनु द्वारा
निर्धारित किये गये हैं उन्हीं को चण्डेश्वर ने भी स्वीकार किया है। इन विषयों का
विवेचन करने में उन्होंने किसी प्रकार की नवीनता लाने का प्रयास नहीं किया है।
प्राचीन भारतीय राजनीतिक परम्परा के अनुसार चण्डेश्वर ने भी दूत का वध करने
का निषेध किया है। चण्डेश्वर का मत है कि दूत के माध्यम से ही राजागण पर
स्पर सम्पर्क में आते हैं। इस प्रकार चण्डेश्वर ने भी दूत के महत्त्व को स्वीकार किया
है और कौटिल्य एवं कामन्दक के मत के अनुसार ही दूत को राजाओं के मध्य पर
स्पर बात-चीत करने का साधन माना है[2]।

चर—अपने और पराये राज्य में जो नित्य घटनाएँ होती रहती हैं तथा वहाँ की
जनता के जीवन-सम्बन्धी जो क्रियाएँ प्रकट एवं गुप्त रूप से चलती रहती हैं उन सब
की सूचना राजा तक पहुँचाना जिस राज कर्मचारी का कर्तव्य होता है उसे चर के
नाम से सम्बोधित किया गया है। राज्य में चर का बड़ा महत्त्व होता है। चण्डे-
श्वर का मत है कि अपने राज्य और पर राज्यों की पूर्ण स्थिति के ज्ञान हेतु चर और
दूत की नियुक्ति आवश्यक है।

प्रतिहार—राजद्वार पर स्थित सेवक को चण्डेश्वर ने प्रतिहार की संज्ञा दी है।
प्रतिहार के कर्तव्यों के विषय में उन्होंने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—"प्रति-
हार को चाहिए कि केवल विश्वसनीय आगन्तुकों को ही राजा के समीप जाने की आज्ञा

१ चाट, तस्कर, दुर्वृत्त महासाहसिक कायस्था पञ्चकाश्च × राज-
वल्लभाः। । राजनीतिरत्नाकर ।

२ दूतारोप कन्यका राजेति येषां । तस्य राज्यमात्रेण दूतत्वं हि जायते ।
। दूतादिनिरूपण तरंग, राजनीतिरत्नाकर ।

चण्डेश्वर ने पल्लवकार का मत उद्धृत करते हुए बतलाया है कि युद्ध के अवसर पर वीर-ध्वनि-पूर्ण बाजा को बजाकर युद्ध हेतु सैनिकों को उत्तेजित करते रहना चाहिए[1] ।

युद्ध-विधि—युद्ध-विधि पर चण्डेश्वर ने मनु का मत उद्धृत किया है । इस स्थल में कतिपय विशेष परिस्थितियों में सैनिकों एवं अन्य पुरुषों का वध करने का जो नियम मनु द्वारा किया गया है उसी को चण्डेश्वर ने भी मान्यता दी है । इसलिए युद्ध-विधि (Laws of war) के विषय में उन्होंने कोई नवीनता लाने का प्रयास नहीं किया है ।

विजित राजा के प्रति विजेता का कर्तव्य—विजेता राजा विजित राजा के राज्य को अपने राज्य में सम्मिलित कर ले चण्डेश्वर ने इस सिद्धान्त का विरोध किया है । उनका मत है कि निहत शत्रु के वंश की ही स्थापना उस राज्य के शासन हेतु होनी चाहिए, अर्थात् पराजित राजा का अधिकार सीमित कर उसका राज्य उसे लौटा देना चाहिए । यदि युद्ध में शत्रु राजा का वध हो गया है अथवा वह राज्य से भाग गया है तो उस शत्रु राजा के ही वंश के किसी योग्य व्यक्ति को उस राज्य का राजा बना देना चाहिए । उस राज्य के देवों ब्राह्मणों और धार्मिक पुरुषों का आदर सत्कार करना चाहिए और प्रजा को अभयदान की घोषणा कर देनी चाहिए[2] ।

इस प्रकार चण्डेश्वर ने—राज्य-विकास मात्र के लिए युद्ध किया जाता है—इस सिद्धान्त का विरोध किया है ।

सेना के पदाधिकारी—चण्डेश्वर ने सेना के पदाधिकारियों एवं कर्मचारियों का वर्णन नहीं किया है । उन्होंने केवल दो पदाधिकारियों के नाम दिये हैं—बलाध्यक्ष और सेनानी ।

सेनानी—चण्डेश्वर ने सेना के सबसे बड़े अधिकारी को अमात्य के नाम से सम्बोधित किया है । इस प्रकार सेना की दृष्टि से अमात्य शब्द विशेष अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । चण्डेश्वर ने अमात्य को सेनानी के नाम से सम्बोधित किया है[3] । इससे स्पष्ट है कि चण्डेश्वर ने अमात्य शब्द का प्रयोग सामान्य मंत्री के अतिरिक्त विशेष अर्थ में भी किया है । इस प्रकार अमात्य राजा की सम्पूर्ण सेना का

१ "भेर्यादिभिरत्यैश्च" पल्लवः । —वर्मनिरूपणतरंग राजनीतिरत्नाकर ।

२ सर्वेषामरिमभिसा विजीगीषोर्नियमस्य तद्वंश्य निहतशत्रुवंश्य स्थापनीयोऽस्मे-विजेत्येत् तमपरिभावित तथा कर्तव्यमिति व्यवस्थाम् ।

—बलनिरूपण तरंग, राजनीतिरत्नाकर ।

३ अमात्यः सेनानी । —सेनानीप्रकरण तरंग, राजनीतिरत्नाकर ।

यात्रा-काल—युद्ध हेतु सेना के गमन को यात्रा नाम से सम्बोधित किया गया है। यात्रा के लिए उपयुक्त काल का निर्धारण मनु और याज्ञवल्क्य के मत का अनुसरण कर किया गया है। इस प्रसंग में कोई नवीनता नहीं है।

सेना-गमन—देश काल और परिस्थिति के अनुसार दण्ड, शकट, वराह, मकर, सूची, गरुड़ पद्म वज्र आदि व्यूहों में किसी एक का आश्रय लेकर विजय हेतु गमन करना चाहिए। सेना के मध्य पद्मव्यूह में राजा को रहना चाहिए। सेना के अग्रभाग में गजाध्यक्ष पृष्ठभाग में सेनानी पार्श्व में गजसेना, और उसके समीप मध्य भाग में अश्वसेना तथा उसके समीप पैदल सेना को रहना चाहिए। यदि व्यूह-बद्ध गमन करती हुई सेना के चारों ओर भय व्याप्त रहे तो मार्ग में पद्मव्यूह बना-कर गमन करना चाहिए, पृष्ठ में भय होने पर सूची व्यूह और अग्र भाग में भय होने पर शकट व्यूह बनाकर सेना का गमन करना कल्याणकारी होता है चण्डेश्वर का ऐसा मत है[1]।

सेना को उत्तेजित करने के साधन—चण्डेश्वर के मत से सैनिकों को उत्तेजित करने के लिए उन्हें नाना प्रकार के लोभ देने चाहिए। इस विषय में चण्डेश्वर ने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—"युद्ध में विजयी होने पर धन, भूमि आदि की प्राप्ति होती है। संग्राम में योद्धा की मृत्यु होने पर उसे यश और दिव्य स्वर्ग की प्राप्ति होगी। रणस्थल से भाग जाने पर सैनिक की धर्म-हानि एवं अकीर्ति होगी और नरक के दुःख भोगने पड़ेंगे। रण से भाग जाने पर भी एक-न-एक दिन (समय आने पर) मरना ही होगा[2]। ऐसी परिस्थिति में सैनिकों का परम कल्याण युद्ध में विजय प्राप्त करने अथवा वीरगति प्राप्त होने में ही है।

मकरश्येन-[illegible] तथा [illegible] [illegible]।
[illegible] [illegible] [illegible] तु [illegible]
मे [illegible]

—[illegible] तरङ्ग, राजनीतिरत्नाकर।

1. दण्डशकटवराहमकरसूचीगरुडपद्म वज्राकारान्व्यूहान् [illegible] तु [illegible] पद्म [illegible] राजा × × [illegible]। —[illegible] तरङ्ग, राजनीतिरत्नाकर।
2. जयेतु धनभूम्यादिलाभः, संग्राममरणे तु [illegible] स्वर्ग सुखानि। [illegible] नरकदुःखानि [illegible] मरणम[illegible] [illegible]।

—[illegible] तरङ्ग, राजनीतिरत्नाकर।

वर्णन किया है। चण्डेश्वर द्वारा दिया गया यह प्रकरण कामन्दक के तत्सम्बन्धी मत पर आधारित है। अतः इसमें मौलिकता नहीं है।

राष्ट्र-पीड़क—प्रत्येक राज्य में कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं, जो दूसरों को कष्ट देकर स्वार्थ-सिद्धि में लगे रहते हैं। इनमें कुछ विशेष व्यक्ति होते हैं जिन्हें प्रजापीड़क अथवा राष्ट्रपीड़क की संज्ञा दी गयी है। चण्डेश्वर ने भी इन राष्ट्रपीड़कों की व्याख्या की है। प्राचीन भारत के कतिपय राजशास्त्रप्रणेताओं ने इन्हें चाट, तस्कर, दुर्वृत्त कायस्थ (लेखक) भयंकर राजवल्लभ आदि की संज्ञा दी है। चण्डेश्वर ने भी इन्हें राष्ट्रपीड़क माना है और राजा का यह कर्त्तव्य निर्धारित किया है कि वह अपने अधीन प्रजा की रक्षा इन राष्ट्रपीड़कों से करता रहे[1]।

दूत—दूत के लिए जो योग्यताएँ तथा अयोग्यताएँ और कर्त्तव्याकर्त्तव्य मनु द्वारा निर्धारित किये गये हैं उन्हीं को चण्डेश्वर ने भी स्वीकार किया है। इन विषयों का उल्लेख करने में उन्होंने किसी प्रकार की नवीनता लाने का प्रयास नहीं किया है। प्राचीन भारतीय राजनीतिक परम्परा के अनुसार चण्डेश्वर ने भी दूत का वध करने का निषेध किया है। चण्डेश्वर का मत है कि दूत के माध्यम से ही राजागण परस्पर सम्पर्क में आते हैं। इस प्रकार चण्डेश्वर ने भी दूत के महत्त्व को स्वीकार किया है और कौटिल्य एवं कामन्दक के मत के अनुसार ही दूत को राजाओं के मध्य परस्पर बात-चीत करने का साधन माना है[2]।

चर—अपने और पराये राज्य में जो नित्य घटनाएँ होती रहती हैं तथा वहाँ की जनता के जीवन-सम्बन्धी जो क्रियाएँ प्रकट एवं गुप्त रूप से चलती रहती हैं उन सब की सूचना राजा तक पहुँचाना जिस राज कर्मचारी का कर्त्तव्य होता है उसे चर के नाम से सम्बोधित किया गया है। राज्य में चर का बड़ा महत्त्व होता है। चण्डेश्वर का मत है कि अपने राज्य और पर राज्यों की पूर्ण स्थिति के ज्ञान हेतु चर और दूत की नियुक्ति आवश्यक है।

प्रतिहार—राजद्वार पर स्थित सेवक को चण्डेश्वर ने प्रतिहार की संज्ञा दी है। प्रतिहार के कर्त्तव्यों के विषय में उन्होंने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—"प्रतिहार को चाहिए कि केवल विश्वसनीय आगन्तुकों को ही राजा के समीप जाने की आज्ञा

१ चाट, तस्कर, दुर्वृत्ता महासाहसिका कायस्था भयंकरस्य × राज-वल्लभाः। ।राजनीतिरत्नाकर।

२ दूताग्रेण सम्पन्ना राजेति येन। यस्य राज्यमायेव दूतसर्व हि कल्पति।
।दूतादिनिरूपण तरंग, राजनीतिरत्नाकर।

वर्णन किया है। चण्डेश्वर द्वारा दिया गया यह प्रकरण कामन्दक के तत्सम्बन्धी मत पर आधारित है। अतः इसमें मौलिकता नहीं है।

राष्ट्र-पीड़क—प्रत्येक राज्य में कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं जो दूसरों को कष्ट देकर स्वार्थ-सिद्धि में लगे रहते हैं। इनमें कुछ विशेष व्यक्ति होते हैं जिन्हें प्रजापीडक अथवा राष्ट्रपीडक की संज्ञा दी गयी है। चण्डेश्वर ने भी इन राष्ट्रपीडकों की व्याख्या की है। प्राचीन भारत के कतिपय राजशास्त्रप्रणेताओं ने इन्हें चाट, तस्कर, दुर्वृत्त, सामन्त (सेवक) महक राजवल्लभ आदि की संज्ञा दी है। चण्डेश्वर ने भी इन्हें राष्ट्रपीडक माना है और राजा का यह कर्तव्य निर्धारित किया है कि वह अपने अधीन प्रजा की रक्षा इन राष्ट्रपीडकों से करता रहे[1]।

दूत—दूत के लिए जो योग्यताएँ तथा अयोग्यताएँ और कर्तव्याकर्तव्य मनु द्वारा निर्धारित किये गये हैं उन्हीं को चण्डेश्वर ने भी स्वीकार किया है। इन विषयों का उल्लेख करने में उन्होंने किसी प्रकार की नवीनता लाने का प्रयास नहीं किया है। प्राचीन भारतीय राजनीतिक परम्परा के अनुसार चण्डेश्वर ने भी दूत का वध करने का निषेध किया है। चण्डेश्वर का मत है कि दूत के माध्यम से ही राजागण पर स्पर सम्पर्क में आते हैं। इस प्रकार चण्डेश्वर ने भी दूत के महत्त्व को स्वीकार किया है और कौटिल्य एवं कामन्दक के मत के अनुसार ही दूत को राजाओं के मध्य परस्पर बात-चीत करने का साधन माना है[2]।

चर—अपने और पराये राज्य में जो नित्य घटनाएँ होती रहती हैं तथा वहाँ की जनता के जीवन-सम्बन्धी जो क्रियाएँ प्रकट एवं गुप्त रूप से चलती रहती हैं उन सब की सूचना राजा तक पहुँचाना जिस राज कर्मचारी का कर्तव्य होता है उसे चर के नाम से सम्बोधित किया गया है। राज्य में चर का बड़ा महत्त्व होता है। चण्डेश्वर का मत है कि अपने राज्य और पर राज्यों की पूर्ण स्थिति के ज्ञान हेतु चर और दूत की नियुक्ति आवश्यक है।

प्रतिहार—राजद्वार पर स्थित सेवक को चण्डेश्वर ने प्रतिहार की संज्ञा दी है। प्रतिहार के कर्तव्यों के विषय में उन्होंने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—"प्रतिहार को चाहिए कि केवल विश्वसनीय आगन्तुकों को ही राजा के समीप जाने की आज्ञा

१ चाट, तस्कर, दुर्वृत्त, महासाहसिक सामन्त महकादय × राजवल्लभाः। । राजनीतिरत्नाकर।

२ दूतद्वारेण सम्बन्धा राजेति योग। तदेव राज्यमाश्रित दूतसर्वं हि कल्पति। । दूतादिनिरूपण तरंग, राजनीतिरत्नाकर।

दे। ये आगन्तुक एवं होने चाहिए जिससे राजा को किसी प्रकार का भय न हो। अर्थी और प्रत्यर्थी जो राजा के पास जाना चाहते हैं उनके पक्ष का समय कर एक के उपरान्त दूसरे को भेजने के क्रम से उन्हें राजा के समीप जाने की आज्ञा देनी चाहिए। प्रतिहार को आगन्तुकों के प्रति विनम्र व्यवहार करना चाहिए और नम्रता-पूर्वक उनसे निवेदन करना चाहिए कि उसकी नियुक्ति इन्हीं कर्तव्यों के पालन हेतु हुई है[1]।

राष्ट्र-वर्णन—चण्डेश्वर ने राष्ट्र के वर्णन एवं उसकी शासन-व्यवस्था की योजना का जो स्वरूप दिया है वह वही है जो कि मनुस्मृति में वर्णित है। इसमें कुछ नवीनता नहीं है।

मण्डल सिद्धान्त—चण्डेश्वर ने भी राज्य की बाह्यनीति का आधार मण्डल-सिद्धान्त बतलाया है। उनका मत है कि राजाओं को देश, काल और परिस्थिति के अनुसार राजमण्डल की रचना करते रहना चाहिए और इस मण्डल का आश्रय लेकर उन्हें अपने शत्रु को निर्बल एवं क्षीण करके स्वयं प्रबल एवं समृद्ध बनाना चाहिए। मण्डल-सिद्धान्त की प्राचीन पद्धति के अनुसार उन्होंने मण्डल की चार मूल प्रकृतियाँ अथवा राजप्रकृतियाँ मानी हैं जिन्हें उन्होंने भी विजिगीषु, अरि, उदासीन और मध्यम के नाम से सम्बोधित किया है।

चण्डेश्वर द्वारा वर्णित मण्डल-सिद्धान्त में कोई नवीनता नहीं है। उनका यह प्रकरण मनु, याज्ञवल्क्य और कामन्दक के मत पर आश्रित है।

षाड्गुण्य मन्त्र—प्रत्येक राजा की सफलता एवं विफलता उसके मन्त्र-वरण एवं उसके कार्यान्वित होने की सामर्थ्य पर निर्भर होती है। यदि राजा ने मन्त्र का सम्यक् वरण किया है और उसे विधिवत् कार्यान्वित भी कर दिया है तो वह अपने सब कार्यों में सफल होता है। इसके विपरीत आचरण होने पर वह विफल हो जाता है। इसलिए उन्हें सम्यक् मन्त्र-वरण कर, उसे तदनुसार कार्यान्वित करते रहना चाहिए।

प्राचीन भारत के प्रमुख राजशास्त्र प्रणेताओं ने षाड्गुण्य मन्त्र माना है। चण्डेश्वर ने भी इस विषय में उन्हीं का अनुकरण किया है और छः गुणों का निम्न-लिखित रूप में वर्णन किया है।

(१) सन्धि—चण्डेश्वर ने उस परिस्थिति को सन्धि की स्थिति माना है जब

१ विनयशीलान् अनुगतानेव च स्वामिपर्याप्तान् [illegible] प्रत्यर्थिप्रत्यर्थिनः [illegible] प्रतिविम्बनीयेषु एकस्मात् [illegible] द्वारे [illegible] ते [illegible] नियुक्ता इति गुरुः [illegible]। —द्वारविनियम तरंग राजनीतिरत्नाकर।

दो राजाओं में एकीभाव की स्थापना हेतु परस्पर पटबन्धन हो जाता है[1]। कौटिल्य ने उस स्थिति को सन्धि की संज्ञा दी है जिसकी प्राप्ति कुछ पणों (Conditions) के आधार पर दो राजाओं में मेल हो जाने पर होती है[2]। इस दृष्टि से चण्डेश्वर द्वारा की गयी सन्धि की परिभाषा में कुछ नवीनता ज्ञात पड़ती है।

(२) विग्रह—दूसरे के अपकार में संलग्न हो जाने को चण्डेश्वर ने विग्रह गुण माना है[3]। विग्रह गुण की यही व्याख्या कौटिल्य ने भी की है[4]।

(३) यान—यान गुण की परिभाषा करते हुए चण्डेश्वर ने बतलाया है कि शत्रु के विरुद्ध गमन करना यान कहलाता है[5]। विजय की अभिलाषा से एक राजा द्वारा दूसरे राजा के विरुद्ध आक्रमण किया जाना कौटिल्य के मतानुसार, यान कहलाता है[6]।

(४) आसन—किसी राजा द्वारा उसके शत्रु की उपेक्षा किये जाने को चण्डेश्वर आसन गुण कहते हैं[7]। आसन गुण पर कौटिल्य का भी यही मत है[8]।

(५) द्वैधीभाव—अपनी सेना को दो भागों में विभक्त कर सेना के एक भाग के द्वारा शत्रु से युद्ध करना और दूसरे भाग को युद्ध में न लगाना चण्डेश्वर ने द्वैधीभाव गुण माना है[9]। कौटिल्य के मतानुसार एक राजा से सन्धि करना और दूसरे राजा से विग्रह करना द्वैधीभाव गुण को प्राप्त होता है[10]।

(६) संश्रय—निर्बल राजा का प्रबल राजा की शरण लेना चण्डेश्वर के मतानुसार, संश्रय गुण को प्राप्त होता है[11]। कौटिल्य ने दूसरे राजा के प्रति निर्बल राजा का स्वयं अर्पण करना संश्रय गुण माना है।[12]

१ सन्धिमेकीभवन निबन्धनम् —साधारणपाठक्रमादि राजरत्नम्, राजनीतिरत्नाकर।
२ तत्र पणबन्धः सन्धिः —वार्ता ९ म १ अधि० ७ अध्याय।
३ विग्रहोऽपकार —साधारणपाठक्रमादि राजरत्नम्, राजनीतिरत्नाकर।
४ अपकारो विग्रहः —वार्ता ७ म १ अधि ७ अध्याय।
५ शत्रु प्रति गमनं यानम् —साधारणपाठक्रमादि राजरत्नम्, राजनीतिरत्नाकर।
६ अभ्युच्चयो यानम् —वार्ता ९ म १ अधि ७ अध्याय।
७ उपेक्षणमासनम् —साधारणपाठक्रमादि राजरत्नम्, राजनीतिरत्नाकर।
८ उपेक्षणमासनम् —वार्ता ८ म १ अधि ७ अध्याय।
९ बलस्य द्विधाकरणं द्वैधीभावम् —साधारणपाठक्रमादि राजरत्नम्, राजनीतिरत्नाकर।
१ सन्धिविग्रहोपादानं द्वैधीभावः वार्ता ११ म १ अधि ७ अध्याय।
११ प्रबलाश्रयणम् संश्रयः —साधारणपाठक्रमादि राजरत्नम्, राजनीतिरत्नाकर।
१२ परार्पणं संश्रयः। —वार्ता १ म १ अधि ७ अध्याय।

इस प्रकार चण्डेश्वर ने षाड्गुण्य मन्त्र के छः गुणों की पृथक्-पृथक् व्याख्या की है, जिसका आधार कौटिल्य एवं कामन्दक के मत जान पड़ते हैं।

उपाय—राजा की सफलता के लिए षाड्गुण्य मन्त्र के साथ ही उपायों का सम्यक् प्रयोग भी आवश्यक बतलाया गया है। चण्डेश्वर ने चार उपाय माने हैं जो साम, दान, भेद और दण्ड हैं। इस विषय में वह कामन्दक के मत से भिन्न मत रखते हैं। कामन्दक ने सात उपाय बतलाये हैं। चण्डेश्वर ने माया, उपेक्षा और इन्द्रजाल को उपायों की श्रेणी में नहीं रखा है। इस दृष्टि से उन्होंने मनु और कौटिल्य के मत को मान्यता दी है।

प्रियभाषण द्वारा अपने कार्य की सिद्धि हेतु शत्रु को शान्त करना चण्डेश्वर ने साम उपाय माना है। शत्रु को शान्त करने के लिए सुवर्णादि का दान उन्होंने दान उपाय बतलाया है। शत्रु राजा के अमात्य बल आदि में भेद उत्पन्न कर उसे निर्बल बनाना भेद उपाय और शत्रु को विविध प्रकार से दण्डित करने यहाँ तक कि उसका वध कराने तक युक्तिपूर्ण प्रयत्न चण्डेश्वर द्वारा दण्ड उपाय माने गये हैं। इन शब्दों में चण्डेश्वर ने उपाय के चार भेदों की व्याख्या की है।

इस प्रकार चण्डेश्वर ने अपने राजनीतिरत्नाकर शीर्षक निबन्ध में राज्य-व्यवस्था की जो योजना दी है, वह प्राचीन भारतीय राजशास्त्र-प्रणेताओं के मतों पर आश्रित होने पर भी किन्हीं अर्थों में मौलिक है। वह राजशास्त्र के साहित्य में अपना विशेष स्थान बनाये हुए है। राजशास्त्र के इतिहास में इस निबन्ध की उपयोगिता की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

मित्रमिश्र

मित्रमिश्र का संक्षिप्त परिचय—वीरमित्रोदय के अन्तर्गत [illegible] प्रकरण के अनुसार वीरमित्रोदय निबन्ध के रचयिता मित्रमिश्र हैं। राजनीतिप्रकाश इसी निबन्ध का एक अंश अथवा खण्ड है। इस [illegible]-प्रकरण में मित्रमिश्र के पूर्वज गोपाचल (ग्वालियर?) के निवासी थे। मित्रमिश्र के दादा श्रीहंस पण्डित थे

१ साम प्रियभाषणं, दानं सुवर्णादि, भेदोऽभेदः, वधपर्यन्तोऽपकारो दण्डः।
—आचारप्रणालयादि राजप्रकरणं, राजनीतिरत्नाकर।

२ श्रीमन्मित्रमिश्रकृते वीरमित्रोदयनिबन्धे राजनीतिप्रकाशः पूर्तिमगात्।
—राजनीतिप्रकाशान्ते प्रशस्ति।

३ गोपाचलसमीपविलसदुच्चैः श्रीपुरनगरे।
श्रीहंसोऽभ्युदयी इतिख्याती पिता [illegible] राजनी[illegible]।

और विद्वान् थे। इन पर लक्ष्मी और सरस्वती दोनों की समान कृपा थी[1]। इस पण्डित के सुप्रसिद्ध पुत्र श्रीपरशुराम मिश्र हुए। उन्होंने काशीनगरी में विद्या प्राप्त की। वहाँ उन्होंने चण्डीश्वर अग्निहोत्री की शिष्यता स्वीकार की थी[2]। चण्डीश्वर अग्निहोत्री अपने समय के सुविख्यात पण्डित थे। इन्हीं श्रीपरशुराममिश्र के सुप्रसिद्ध पुत्र श्री मित्रमिश्र हुए, जिन्होंने वीरमित्रोदय शीर्षक विशाल निबन्ध की रचना की।

मित्रमिश्र ने ओरछा नरेश श्री वीरसिंह देव के आश्रय में इस विशाल निबन्ध की रचना की थी। वीरसिंह के पिता श्री मधुकरसाह और दादा महाराजाधिराज श्री प्रतापरुद्रदेव का उल्लेख इस ग्रन्थरत्न में हुआ है[3]। श्री वीरसिंह देव ने ओरछा राज्य पर स १६०५ ई० से १६२७ ई० तक शासन किया। इसी अवधि में मित्रमिश्र ने श्री वीरसिंह की आज्ञा से प्रेरित होकर वीरमित्रोदय निबन्ध के अन्तर्गत राजनीतिप्रकाश शीर्षक निबन्ध का निर्माण किया था[4]। यह वही वीरसिंह हैं जिनके विरुद्ध कतिपय इतिहासकारों ने अबुलफजल को वध करने का आरोप लगाया है। वीरसिंह के विषय में यह भी प्रसिद्ध है कि उन्होंने शान्ति-स्थापन हेतु अपने भाई की पुत्री मुगल सम्राट् को प्रदान कर दी थी। वीरसिंह कलाप्रेमी थे और सम्भवतः अपने समय के हिन्दू राजाओं में सबसे अधिक साहित्यप्रेमी थे। उनके आश्रय में अनेक कवि रहते थे। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि केशवदास मिश्र ने इनके आश्रय में रहकर साहित्यरचना की थी। केशवदास ने इन्हीं वीरसिंह की प्रशंसा में वीरसिंहदेवचरित की रचना की थी। वीरसिंहदेव ने छत्तीस लाख रुपए व्यय करके वृन्दावन में एक भव्य एवं विशाल मन्दिर का निर्माण कराया था जिसे औरंगजेब ने ढहा दिया था।

मित्रमिश्र की साहित्य-सेवा—मित्रमिश्र ईसा की सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध काल के प्रसिद्ध धर्म-निबन्धकार हुए हैं। उन्होंने वीरमित्रोदय शीर्षक बृहदाकार, कोशो-

१ य लक्ष्मी च सरस्वती च विपुलार्थं चिर भजेतु। —राजनीतिप्रकाशे ग्रन्थप्रशस्ता।

२ येनास्य पुरा पुरारिनगरे विद्यासमभ्यर्जिता। श्रीचण्डीश्वरअग्निहोत्रिकृतिनां तस्मात् परोक्षीगुरुम्। —राजनीतिप्रकाशे ग्रन्थप्रशस्ता।

३ श्रीमन्महाराजाधिराज प्रतापरुद्रतनूज-श्रीमन्मधुकरसाहसूनु श्रीमन्महाराजाधिराज चतुरस्रविक्रमचतुरम्बुराशय पुण्डरीकविकासदिनकर श्रीवीरसिंहदेव। —राजनीतिप्रकाशान्ते प्रशस्तिः।

४ आज्ञप्तो वीरसिंह क्षितिपतितिलकेनात्र-मित्रमिश्र। × × × सार निबद्धय पुष्यं रम्यतिरुचिरं राजनीतिप्रकाशम्। —राजनीतिप्रकाशे ग्रन्थप्रशस्ता।

इस निबन्ध के गम्भीर अध्ययन से ज्ञात होता है कि मित्रमिश्र संस्कृत भाषा के प्रकाण्ड पण्डित थे। उनका अध्ययन विशाल एवं गम्भीर था। वह स्मृति-साहित्य एवं पुराणेतिहास-साहित्य के मर्मज्ञ थे। राज्याभिषेककी ऐतरेय-पद्धति का वर्णन करते हुए, प्रसंगवश, वेदमन्त्रों की जो व्याख्या उनके द्वारा की गयी है उससे ज्ञात होता है कि वैदिक साहित्य पर भी उनका अधिकार था।

वीरमित्रोदय निबन्ध के अतिरिक्त उन्होंने याज्ञवल्क्यस्मृति पर भी टीका लिखी है। उन्होंने आनन्दकन्दचम्पू महाकाव्य की भी रचना की थी। इस साहित्य-रचना से भी उनकी विद्वत्ता प्रमाणित होती है।

वीरमित्रोदय निबन्ध की शैली सरल एवं स्पष्ट है। मित्रमिश्र ने अपने इस निबन्ध में पाठक को भ्रम, आश्चर्य, क्लिष्टता आदि में डालकर अपना पाण्डित्य-प्रदर्शन करने का कहीं प्रयास नहीं किया है। जो कुछ भी कहना चाहते हैं उसे स्पष्ट एवं सरल विधि से कह दिया है। विषय को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने प्रसंगानुसार विवेचनात्मक शैली का अनुसरण किया है। उदाहरण के रूप में राजनीति प्रकाश के अन्तर्गत राज-प्रशासन प्रकरण इसका ज्वलन्त प्रमाण है।

राजनीति-प्रकाश—राजनीतिप्रकाश वीरमित्रोदय-धर्म-निबन्ध का एक खण्ड है जिसमें राजधर्म विषय का वर्णन है। इससे यह स्पष्ट है कि मित्रमिश्र ने राजशास्त्र अथवा राजधर्म को धर्मशास्त्र का ही एक उपयोगी अंग माना है। उन्होंने राजशास्त्र को स्वतन्त्र विषय नहीं माना है। इतना होने पर भी *राजनीति-प्रकाश* का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि यह स्वयं में पूर्ण है। प्राचीन भारतीय राजशास्त्र-सम्बन्धी सभी विषयों का निरूपण इस प्रकाश में किया गया है। इस निबन्ध में राज्य के सप्ताङ्ग स्वरूप, उसके सातों अंगों का तो वर्णन किया ही गया है, इसके अतिरिक्त विविध पद्धतियों, कृत्यों, उत्सवों आदि का भी समयानुकूल वर्णन उपयुक्त उद्धरणों के आधार पर किया गया है। उनका यह निबन्ध प्राचीन भारतीय राजशास्त्र का स्वरूप समझने के लिए सबल साधन है। प्राचीन भारतीय राजशास्त्र में प्रवेश हेतु इस निबन्ध की बड़ी उपयोगिता है।

राजनीतिप्रकाश राजशास्त्र-सम्बन्धी विविध विषयों का वर्णन है। यह विषय राजशब्दार्थविचार, राजप्रशंसा, राज्याभिषेक-विहितकाल, राज्याभिषेक-निषिद्धकाल, राज्याधिकार-निर्णय, राज्याभिषेक, राज्याभिषेकोत्तरकृत्य, प्रतिमास-प्रतिसंवत्सराभिषेक, राजगुण, विहित राजधर्म, प्रतिषिद्ध राजधर्म, राजा के दैनिक एवं वार्षिक-कृत्य, राजा के सहाय, अनुजीविवृत्त, राजा के निवास योग्य देश, दुर्गलक्षण, दुर्ग में पुरनिर्माण, दुर्ग में संग्रह योग्य वस्तुएँ, दुर्गगृहनिर्माण, वास्तुकर्मविधि, राष्ट्र, कोष

एवं मित्र षाड्गुण्यनीति प्रयाण राजमण्डल यात्रा के पूर्व देवपूजा शुभ-अशुभ स्वप्न शकुन-अपशकुन नवस्नानविधि ध्वजाभिषेकविधि नृपाभिषेक प्रयाण यात्रा करते समय शत्रु-आक्रमण युद्ध युद्ध के उपरान्त व्यवस्था देवयात्रा इन्द्रध्वजोत्थानविधि, नीराजनाविधि देवपूजा कोटिहोमविधानिक विधि महोत्सवविधि वृषभोत्सर्गविधि पशुयागकर्म विद्युत्पतननीति प्रकीर्ण महाशान्तीय नीति आदि हैं।

राजशास्त्र-प्रणेताओं में मित्रमिश्र का स्थान—मित्रमिश्र लक्ष्मीधर के समान ही शास्त्रानुसारी पण्डित हुए हैं। उन्होंने भी राजशास्त्र को धर्मशास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण अंग माना है। उन्होंने राजशास्त्र की स्वतन्त्र सत्ता का प्रतिपादन नहीं किया है। इस दृष्टि से वह लक्ष्मीधर, नीलकण्ठ और अनन्तदेव धर्मनिबन्धकारों की श्रेणी में परिगणित किये जायेंगे। इस विषय में वह चण्डेश्वर से भिन्न हैं और इसी लिए वह उनकी श्रेणी के निबन्धकारों में परिगणित नहीं किये जा सकते।

लक्ष्मीधर और मित्रमिश्र के राजधर्म सम्बन्धी इन निबन्धों में बहुत कुछ समता दिखलाई पड़ती है। दोनों निबन्धों के विषयों का क्रम एक सा ही पाया जाता है। दोनों ने सप्तांग राज्य के अंगों का वर्णन किया है और निबन्ध के अन्तिम भाग में राज्य के कल्याण हेतु धार्मिक विशेष कृत्यों उत्सवों, पूजापद्धतियों आदि का भी समावेश किया है। दोनों ने राज्याभिषेक-कृत्यों का विशेष वर्णन किया है। इतना होने पर भी दोनों में कई विषयों में अन्तर है।

लक्ष्मीधर और मित्रमिश्र में सबसे बड़ा अन्तर विषय चयन का है। मित्रमिश्र के राजनीति-प्रकाश के अवलोकन करने से यह ज्ञात होता है कि लक्ष्मीधर क्षेत्र-विस्तार की दृष्टि से मित्रमिश्र से बहुत पीछे हैं। उन्होंने राजशास्त्र-सम्बन्धी, सम्भवतः किसी भी महत्त्वपूर्ण विषय को अपने इस निबन्ध में स्थान देने में उपेक्षा नहीं की है। इस प्रकार विषयों की दृष्टि से मित्रमिश्र का क्षेत्र लक्ष्मीधर, नीलकण्ठ, अनन्तदेव आदि सभी के क्षेत्र से विशाल है। इस दृष्टि से मित्रमिश्र का स्थान राजधर्म-निबन्धकारों में सर्वोपरि है। इतना ही नहीं अपितु विषय-वस्तु की दृष्टि से भी यह इन सभी निबन्धकारों से आगे हैं। इन निबन्धकारों ने राजशास्त्र-सम्बन्धी जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है और ऐसा करते हुए अन्य ग्रन्थों से जो उद्धरण दिये हैं वे कुछ प्रकरणों को छोड़ कर उतने तथ्यपूर्ण एवं प्रचुर नहीं हैं जितने कि राजनीति-प्रकाश में तत्सम्बन्धी सिद्धान्तों की पुष्टि में दिये गये हैं। साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि इन निबन्धकारों ने वर्णनात्मक शैली का ही अनुसरण किया है। किसी ने भी विवेचनात्मक शैली अपनाने का प्रयास नहीं किया है। परन्तु इसमें मित्रमिश्र अपने निबन्ध में यत्र-तत्र प्रसंगानुसार विवेचनात्मक शैली को अप-

माता है और इसका परिणाम यह हुआ है कि इसका यह निबन्ध इन निबन्धकारों के निबन्धों की अपेक्षा अधिक उपयोगी एवं रोचक बन गया है। इस दृष्टि से भी मित्रमिश्र अपने श्रेणी के निबन्धकारों से आगे बढ़े हुए हैं।

मित्रमिश्र के इस निबन्ध से यह भी ज्ञात होता है कि वह श्रुति-स्मृति पुराणेतिहास-साहित्य के प्रकाण्ड पण्डित थे। उन्होंने अपने इस निबन्ध में साहित्य से चयन कर जो उद्धरण दिए हैं वे इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि मित्रमिश्र का पाण्डित्य अपने समकक्ष निबन्धकारों से किसी प्रकार भी न्यून न था अपितु किसी क्षेत्र में अधिक ही था।

उन्होंने अपने इस निबन्ध में धर्मशास्त्र एवं नीतिशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों से उद्धरण नहीं दिये हैं। राजनीति प्रकाश के अन्त में विदुरनीति को अवश्य स्थान दिया है। इस दृष्टि से यह नीलकण्ठ से भिन्न हैं। परन्तु इसका कारण यह हो सकता है कि वह शास्त्रानुसारी पण्डित थे और इसीलिए वह उसी सिद्धान्त को मान्यता देते थे जो कि उनकी समझ में धर्मशास्त्र के अनुकूल था।

मित्रमिश्र लक्ष्मीधर, नीलकण्ठ और अनन्तदेव की अपेक्षा कितने विषयों में उदार जान पड़ते हैं। उन्होंने राज्याभिषेक की वैदिक एवं पौराणिक दोनों पद्धतियों का वर्णन किया है। इसके साथ ही समय एवं परिस्थिति को देखकर उन्होंने अमन्त्रक राज्याभिषेक का भी विधान किया है और उसे भी समान मान्यता दी है। इस दृष्टि से इस विषय में उन्होंने अपनी उदारता प्रकट की है और ऐतिहासिक तथ्यों के प्रति उपेक्षा न करके लोक की सेवा की है। इस दृष्टि से वह चण्डेश्वर के समकक्ष हैं।

इस प्रकार मित्रमिश्र राजधर्म-निबन्धकारों में अति ऊँचा स्थान ग्रहण किये हुए हैं। उनका यह निबन्ध प्राचीन भारतीय राजशास्त्र के अध्ययन हेतु ज्ञानकोष का कार्य करता है।

मित्रमिश्र के राजनीतिक विचार

राजा शब्द का अर्थ मित्रमिश्र ने राजा शब्द के अर्थ की विशेष विवेचना की है। राजा शब्द के अर्थ पर उन्होंने दो मुख्य मतों का उल्लेख किया है। प्रथम मत के अनुसार राजा शब्द जातिपरक नहीं है। इस मत के अनुयायी "राजा किसी भी जाति का हो सकता है" इस सिद्धान्त में आस्था रखते हैं। राजा क्षत्रिय शब्द का पर्याय नहीं है और इसीलिए क्षत्रियधर्म और राजधर्म ये दोनों भी एक ही अर्थ के वाचक नहीं हैं। इस मत के अनुयायियों के अनुसार राजधर्म का पालन करने से राजा होता है। जनपद का परिपालन ही राज्य है[२]। इसलिए जो भी पुरुष

१ स्यात्राज्ञो राजधर्मः — अग्निपुराण।
२ राज्यं तु जनपदपरिपालनम्। — राजशब्दार्थविचार, राजनीतिप्रकाश।

प्रजा-परिपालन करता है वह राजा कहलाता है। इस मत के अनुसार राजा शब्द नृपतिवाचक है, क्षत्रियवाचक नहीं[1]। इसलिए राजा क्षत्रिय-इतर जाति का भी हो सकता है। इस मत के अनुयायियों ने अपने मत की पुष्टि में युक्तियों के भी उदाहरण दिये हैं और इन उदाहरणों के आधार पर सिद्ध किया है कि क्षत्रिय इतर जाति के पुरुष भी राजा हुए हैं जिन्हें युक्तियों में भी वैध राजा माना गया है।

परन्तु दूसरा मत इसकी अपेक्षा अनुदार है। इस मत के अनुसार राजा शब्द क्षत्रिय वर्ण का पर्याय है[2]। शास्त्रों में प्रजा-परिपालन एक मात्र क्षत्रिय वर्ण का धर्म बतलाया गया है[3]। प्रजापरिपालन-कर्तव्य अन्य तीन वर्णों के धर्म के अन्तर्गत नहीं रखा गया है। इसलिए इन तीन वर्णों को राज्याधिकार वैध रूप में प्राप्त नहीं है। राज्य का वैध अधिकारी क्षत्रिय ही है। इस मत के अनुसार क्षत्रियधर्म ही राजधर्म है। इसलिए जो क्षत्रिय इस धर्म का पालन करता है वह राजा कहलाता है। इस मत के अनुयायियों के अनुसार प्रजापरिपालक प्रत्येक व्यक्ति राजपद का वैध अधिकारी नहीं होता। इस दृष्टि से क्षत्रिय वर्ण के अतिरिक्त अन्य किसी वर्ण अथवा जाति का पुरुष प्रजापरिपालक होने पर भी विधिविहित राजा नहीं माना जा सकता।

मित्रमिश्र इस मत के पक्ष में नहीं हैं। वह प्रथम मत के पोषक हैं और इस प्रकार वह उदार एवं प्रगतिवादी हैं। उनके मतानुसार प्रजापरिपालन करने से राजा बनता है। राजपद का सम्बन्ध जाति अथवा वर्णविशेष से नहीं है। इस प्रकार

१ राजशब्दोऽस्मिन् अभिषिक्तजनपदपालके वर्तते।

—राजशब्दार्थविचार, राजनीतिप्रकाश।

२ राजशब्दो नाम क्षत्रियजातिवचनः किं सर्वविषयजनपदपरिपालनकर्तृवचन इति सन्देह भू।

—राजशब्दार्थविचार, राजनीतिप्रकाश।

३ केचिदपि "आपदिस्थाने क्षत्रियाणां राजा" "यो राजा क्षत्रियो" "सोमो वै राजा ब्राह्मणानाम्"।

—राजशब्दार्थ, राजनीतिप्रकाश।

४ राजधर्मः क्षत्रियधर्मोऽभिधीयते। । राजधर्म.प्र., राजनीतिप्रकाश।

५ प्रधानं क्षत्रियधर्मे प्रजानां परिपालनम्।

। महाभारत, राजधर्मार्थे राजनीतिप्रकाश।

६ नृप इति न क्षत्रियजातिमात्रस्य वाचकं, किन्तु प्रजापालनकर्तृविशिष्टस्यापि।

—राजशब्दार्थ राजनीतिप्रकाश।

राजा शब्द के अर्थ के विषय में मित्रमिश्र ने मेधातिथि कुल्लूकभट्ट विज्ञानेश्वर, चण्डेश्वर आदि के मत का अनुसरण किया है। इस दृष्टि से मित्रमिश्र शास्त्रानुसारी पण्डित होने पर भी ऐतिहासिक पद्धति के अनुयायी जान पड़ते हैं। उनके समय में मुसलमान मरेठों ने भारत में अपना राज्य स्थापित कर लिया था। इन मुसलमान नरेशों को विधिविहित राजा स्वीकार करना ही था। इसलिए इन परिस्थितियों में राज्याधिकार क्षत्रिय वर्णमात्र तक सीमित रखा नहीं जा सकता था। मित्रमिश्र ने भी इस समस्या को समझ लिया था। इसीलिए उन्होंने भी उदारविचारकों के मत की ही पुष्टि कर राज्याधिकार में जाति अथवा वर्ण के महत्त्व को अनावश्यक बतलाया।

राज्याभिषेक—प्राचीन भारत में वेदमत और लोकमत दोनों के अनुसार राजपद-प्राप्ति के निमित्त राज्याभिषेक अनिवार्य कृत्य समझा जाता था। इस सिद्धान्त के अनुसार कोई भी व्यक्ति उस समय तक विधिविहित राजा नहीं समझा जाता था जबतक कि शास्त्रानुसार उसका राज्याभिषेक नहीं हो जाता था। अनभिषिक्त राजा लोक की दृष्टि में पतित एवं निन्दनीय समझा जाता था। प्राचीन भारत में इस सिद्धान्त का पालन निरन्तर होता रहा। यहाँ तक कि अवोनस्थ आर्य राजाओं के लिए भी शास्त्रानुसार अभिषिक्त होना अनिवार्य कृत्य समझा जाता था।

इस संस्कार के मौलिक सिद्धान्त में प्राचीन भारत में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। समय के परिवर्तन से इसके बाह्य रूप में कुछ परिवर्तन अवश्य हुए। परन्तु उसका आन्तरिक रूप पूर्ववत् ही रहा। राज्याभिषेक के इन कृत्यों का जो स्वरूप वैदिक युग में स्थिर किया गया था समय-परिवर्तन के साथ-साथ उसमें भी परिवर्तन हो गया। मनुष्य की जीवन-सम्बन्धी समस्याएँ ज्यों-ज्यों जटिल होती गयीं त्यों-त्यों इन कृत्यों में भी तदनुकूल परिवर्तन होते गये।

वेदमत के अनुसार राज्याभिषेक का अधिकारी क्षत्रियमात्र माना गया है। इसलिए राज्याभिषेक की वैदिक पद्धति इसी सिद्धान्त पर आश्रित है। परन्तु समय के व्यतीत होने के साथ ही यह सिद्धान्त अनुदार, अनुपयोगी एवं लोकविरुद्ध समझा गया। इस युग में राजपद का अधिकार क्षत्रिय वर्ण तक सीमित रखना अनुचित समझा जाने लगा। इसलिए राजपद के अधिकार का विस्तार अन्य तीन वर्णों (ब्राह्मण वैश्य और शूद्र) तक किया गया। इस युग में क्षत्रियों के अतिरिक्त अन्य वर्णों के पुरुष भी राजा होने लगे। इसलिए इस युग में राज्याभिषेक की वैदिक पद्धति सभी राजाओं के लिए उपयुक्त नहीं रही। ऐसी परिस्थिति में राज्याभिषेक की नवीन पद्धति के निर्माण की आवश्यकता प्रतीत हुई। इस पद्धति के अनुसार

ब्राह्मण वैश्य और शूद्र वर्ण के राज्याधिकारियों का राज्याभिषेक किया जा सकेगा और उनका यह राज्याभिषेक विधिविहित समझा जायगा। राज्याभिषेक की यह नवीन पद्धति पुराणों में दी गयी है। इस पद्धति को इसीलिए राज्याभिषेक की पौराणिक पद्धति के नाम से सम्बोधित किया गया है।

परन्तु यह पद्धति भी आगे चलकर सर्वमान्य न रह सकी। राज्याभिषेक की उपर्युक्त दोनों पद्धतियों का निर्माण केवल आर्य (हिन्दू) राजाओं के निमित्त हुआ था। आर्य राजाओं के राज्यों के ह्रास होने पर भारत में मुसलमान राजाओं ने शासन करना प्रारम्भ किया। इन राजाओं को विधिविहित राजा मानना ही पड़ा। ऐसी परिस्थिति में एक नवीन पद्धति का निर्माण हुआ। इसके अनुसार राज्याभिषेक के समय वैदिक मन्त्रों का उच्चारण नहीं किया जाता। केवल राजतिलक कर राज्यदान विधिविहित माना गया। इस पद्धति का अनुसरण अनार्य राजाओं के राज्याभिषेक के अवसर पर करने की व्यवस्था दी गयी है।

मित्रमिश्र ने उपर्युक्त तीनों पद्धतियों को मान्यता दी है। उन्होंने स्पष्ट व्यवस्था दी है कि वैदिक पौराणिक अथवा अमन्त्रक इन तीनों पद्धतियों में किसी भी पद्धति के अनुसार किया गया राज्याभिषेक विधिविहित होता है[1]। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि मित्रमिश्र प्रगतिशील मान पड़ते हैं। उन्होंने ऐतरेय ब्राह्मण के अन्तर्गत वर्णित राज्याभिषेक की वैदिक पद्धति और रामायण विष्णु धर्मोत्तर, पुराण और ब्रह्म-पुराण में दी गयी राज्याभिषेक की पौराणिक पद्धति का विस्तारपूर्ण वर्णन अपने राजनीति-प्रकाश में किया है। इससे यह स्पष्ट है कि उन्होंने राज्याभिषेक सम्पादन हेतु वेदरीति और लोकरीति दोनों को विधिविहित माना है।

राजा की आवश्यकता एवं उसका महत्त्व—मित्रमिश्र ने मनु, बृहस्पति नारद पाराशर, गौतम कात्यायन कालिकापुराणकार, ब्रह्मपुराणकार और महाभारतकार के मत उद्धृत कर राजा की आवश्यकता एवं उसका महत्त्व तथा उसके स्वरूप का वर्णन किया है। इस वर्णन के अनुसार लोक की स्थिति उसकी अभिवृद्धि एवं उसकी रक्षा का मूल राजा ही होता है। राजा से भयभीत होकर ही प्रजा एक-दूसरे का नाश नहीं करने पाती। मनु ने देखा कि राजा-रहित लोक में प्रजा पर स्पर पीड़ित होकर भयभीत रहती है। इसलिए लोक-रक्षा के लिए उसने राजा का सर्जन किया।

१ वैदिकमभिषेकमथवाप्यथ पौराणोक्तमथवाप्युभयोर्मिश्रको विशेषः ।

—राजधर्मकाण्ड, राजनीतिप्रकाश ।

राजा अपने कर्तव्यों के अनुसार समय-समय पर इन्द्र वरुण यम कुबेर, अग्नि आदि देवों का रूप धारण करता रहता है। राजा का निर्माण इन्द्र वरुण यम कुबेर आदि आठ प्रधान देवों की सारभूत मात्राओं को समुद्धृत कर प्रभु ने स्वयं किया। इसलिए राजा मनुष्य रूप में महती देवता है। उसके प्रति लोक को सत्कार एवं सम्मान प्रदर्शित करना चाहिए। राजा द्वारा दी गयी आज्ञा सभी के लिए मान्य है, उसका उल्लंघन करनेवाला दण्ड का भागी होता है। परन्तु यह राजा ब्राह्मण से आशीर्वाद प्राप्त करता है। इसलिए उसे ब्राह्मण का सत्कार एवं सम्मान करना चाहिए। राजा दण्ड का प्रतीक है। वह दण्ड धारण करता है। परन्तु उसे असम्यक दण्ड-प्रयोग करने का अधिकार नहीं है। इसलिए उसका स्थान दण्डधारी यम के समान है।

राज्याधिकार निर्णय—राज्याधिकार-निर्णय हेतु निश्चित सिद्धान्तों के अभाव में राजपद की प्राप्ति हेतु राज्याधिकारियों में कलह उत्पन्न होता है जिससे राज्य का नाश होता है। इसलिए राज्याधिकार-निर्णय निश्चित सिद्धान्तों के आधार पर होना चाहिए। इस तथ्य को मित्रमिश्र ने भी स्वीकार किया है। इसीलिए उन्होंने राज्याधिकार-निर्णय हेतु कतिपय सिद्धान्तों का उल्लेख कर अपने पूर्व के कतिपय राजशास्त्र-प्रणेताओं तथा आचार्यों के मत देकर प्रमाणित किया है। ये सिद्धान्त इस प्रकार हैं—

(१) औरसपुत्र-सिद्धान्त—कालिका पुराण के आधार पर मित्रमिश्र ने राज्याधिकारी औरस क्षेत्रज आदि छ प्रकार के पुत्र माने हैं। परन्तु इन पुत्रों में सर्वप्रथम राज्याधिकारी औरस पुत्र बतलाया गया है[1]। औरस पुत्र के होते हुए राजा के अन्य पुत्रों के लिए राज्यदान करने का निषेध किया गया है। इस नियम के अनुसार राजा के क्षेत्रज आदि पुत्र औरस पुत्र से ज्येष्ठ होने पर भी राज्याधिकारी नहीं माने गये हैं। औरस पुत्र अपने अन्य भाइयों से छोटा होने पर भी सर्वप्रथम राज्याधिकारी माना गया है।

(२) ज्येष्ठता-सिद्धान्त—राज्याधिकार-निर्णय हेतु दूसरा ज्येष्ठता-सिद्धान्त माना गया है। मित्रमिश्र ने मनुस्मृति आपस्तम्ब धर्मसूत्र कालिका पुराण एवं रामायण से उद्धरण देकर इस सिद्धान्त की स्थापना की है कि राज्याधिकार राजा के औरस ज्येष्ठ पुत्र को ही सर्वप्रथम प्राप्त है। यदि राजा के कई औरस पुत्र हैं तो सर्वप्रथम

१ तत्रौरसो ज्येष्ठ एवाधिकारी। —राज्याधिकारनिर्णय, राजनीतिप्रकाश।

राज्याधिकारी उसका ज्येष्ठ पुत्र होता है। ऐसी परिस्थिति में उसके भाइयों के भरण-पोषण का सम्पूर्ण भार ज्येष्ठ भाई पर रहेगा ।

ज्येष्ठता का निर्णय किस प्रकार किया जाना चाहिए, इस समस्या के निराकरण हेतु भी मित्रमिश्र ने विभिन्न मत देकर इसका समाधान हेतुयुक्त किया है। राजा की रानियों में उत्पन्न हुए पुत्रों में जो पुत्र ज्येष्ठ है वही राज्याधिकारी है। ज्येष्ठ रानी का पुत्र होने से ज्येष्ठता नहीं समझी गयी[१]। गर्भ की ज्येष्ठता के आधार पर भी ज्येष्ठ मानना उचित नहीं है। यदि सदृश पत्नियों में किसी पत्नी ने दूसरी पत्नी की अपेक्षा पूर्व गर्भ धारण कर लिया है परन्तु दूसरी पत्नी की अपेक्षा उसकी पुत्रोत्पत्ति पश्चात् हुई है तो ऐसी परिस्थिति में जो पूर्व उत्पन्न हुआ है वही राज्याधिकारी समझा जायगा। इस प्रकार जन्म की ज्येष्ठता ही ज्येष्ठता होती है, न कि गर्भ की ज्येष्ठता[२]। यमज पुत्रों में भी जिस पुत्र का जन्म प्रथम होता है, वही राज्याधिकारी माना गया है[३]। बहुतों का मत है कि यमज पुत्रों में जो पश्चात् जन्म लेता है वह पूर्व जन्म लेनेवाले अपने यमज भाई से ज्येष्ठ होता है क्योंकि ज्येष्ठ के उत्पत्ति-मार्ग को कनिष्ठ अवरोधित रखता है। मित्रमिश्र ने इस तर्क को स्वीकार नहीं किया है। उनका मत है कि ज्येष्ठता का निर्णय जन्म-ज्येष्ठता के आधार पर ही होना न्याययुक्त है[४]।

(२) योग्यता-सिद्धान्त राजा का औरस ज्येष्ठ पुत्र होने पर भी यदि उसमें राज्योचित गुण नहीं हैं तो वह राज्याधिकार से वंचित समझा जायगा इस सिद्धान्त का प्रतिपादन मित्रमिश्र द्वारा किया गया है। राम को दशरथ ने युवराजपद देने का निश्चय इसलिए किया था कि वह धर्मज्ञ गुणवान् दान्त कृतज्ञ सत्यवादी मृदु आदि थे। वह जन्मज्येष्ठ होने के साथ ही गुणज्येष्ठ भी थे[५]। राज्योचित गुणहीन

१ ज्येष्ठ एव तु गृह्णीयात्पित्र्यं धनमशेषतः ॥ मनुस्मृति।
राजा राजसुतो ज्येष्ठो यौवराज्यमतोऽर्हति ॥ रामायण।

२ सदृशस्त्रीषु जातानां पुत्राणामविशेषतः। न मातृतो ज्यैष्ठ्यमस्ति जन्मतो ज्यैष्ठ्यमुच्यते ॥ मनु।

३ यमयोरपि जन्मनैव ज्यैष्ठ्यम् ॥ मित्रमिश्र राज्याधिकारनिर्णय।

४ यस्य जातस्य यमयोः पश्यन्ति प्रथमं मुखम्। सन्तानः पितरश्चैव तस्मिन् ज्यैष्ठ्यं प्रतिष्ठितम् ॥ देवल।

५ उत्पन्नस्त्वं गुणज्येष्ठो मम रामात्मजः प्रियः। त्वया यतः प्रजा ह्येताः स्वगुणैरनुरञ्जिताः।
तस्मात्त्वं पुष्ययोगेन यौवराज्यमवाप्स्यसि ॥ रामायण।

ज्येष्ठ पुत्र होने पर भी असमञ्जस अपने पिता के राज्य के अधिकार से च्युत कर दिया गया। इन दृष्टान्तों को लेकर मित्रमिश्र ने राज्याधिकार-निर्णय में श्रेष्ठता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

(४) अंगपरिपूर्णता-सिद्धान्त—राजा का औरस ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ पुत्र होने पर भी हीनांग होने के कारण राज्याधिकार से वंचित समझा गया है। प्राचीन भारतीय विचार-धारा के अनुसार अंगहीन पुरुष के द्वारा किये गये यज्ञ को देवगण स्वीकार नहीं करते। राज्य-संचालन महान् यज्ञ माना गया है। इस यज्ञ का अनुष्ठान अंगहीन पुरुष द्वारा नहीं किया जाना चाहिए। अपने इस सिद्धान्त की पुष्टि में मित्रमिश्र ने सगर पुत्र असमञ्जस और चक्षुहीन धृतराष्ट्र के दृष्टान्त दिये हैं। ऐसी परिस्थिति के उपस्थित होने पर, उस अंगहीन राजकुमार के ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ पुत्र को राज्याधिकारी माना गया है। यदि अंगहीन अथवा अयोग्य उस राजकुमार के पुत्र नहीं हैं अथवा अयोग्य पुत्र है तो ऐसी परिस्थिति में उसके छोटे परन्तु श्रेष्ठ पुत्र को राज्याधिकार प्राप्त होगा। ऐसी दशा में उस छोटे भाई के उपरान्त उसकी सन्तति भी राज्याधिकारी समझा जायगा। इसी सिद्धान्त के आधार पर पाण्डु राजा बनाये गये थे और पाण्डु के पश्चात् उनके ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ पुत्र युधिष्ठिर को राज्य प्राप्त हुआ था।

इस प्रकार मित्रमिश्र ने अंग-परिपूर्णता-सिद्धान्त का राज्याधिकार-निर्णय में उचित स्थान दिया है।

(५) अविभाज्य-सिद्धान्त—प्राचीन भारतीय राजनीतिक परम्परा के अनुसार मित्रमिश्र ने भी राज्य को अविभाज्य माना है। उनका मत है कि राज्य के विभाजन से महान् अनर्थ होता है। इसलिए राजा के सभी पुत्रों को राज्याधिकार देने का निषेध किया गया है। राजा का ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ पुत्र राज्याधिकारी होता है उसके अन्य पुत्रों के भरण-पोषण का सम्पूर्ण भार उसी ज्येष्ठ पुत्र पर होता है।

इस प्रकार मित्रमिश्र ने औरसपुत्र-सिद्धान्त ज्येष्ठता-सिद्धान्त श्रेष्ठता-सिद्धान्त अंगपरिपूर्णता-सिद्धान्त और राज्याविभाज्य-सिद्धान्त को आधार मानकर राज्याधिकार का निर्णय किया है। इन सिद्धान्तों की स्थापना हेतु उन्होंने विवेचनात्मक शैली का अनुसरण किया है।

राजपद-प्राप्ति हेतु वांछनीय गुण—मित्रमिश्र ने राजपद-प्राप्ति हेतु कतिपय वांछ-

१ न हि राज्ञः कुमाराः सर्वे राज्ये नियोक्तव्याः अभिषिक्ताः। स्थाप्यमानेषु सर्वेषु महाननर्थो भवेत्॥ रामायण।

राज्याधिकारी उसका ज्येष्ठ पुत्र होता है। ऐसी परिस्थिति में उसके भाइयों के भरण-पोषण का सम्पूर्ण भार ज्येष्ठ भाई पर रहेगा ।

ज्येष्ठता का निर्णय किस प्रकार किया जाना चाहिए, इस समस्या के निराकरण हेतु भी मित्रमिश्र ने विभिन्न मत देकर इसका समाधान हेतुयुक्त किया है। राजा की रानियों में उत्पन्न हुए पुत्रों में जो पुत्र ज्येष्ठ है वही राज्याधिकारी है। ज्येष्ठ रानी का पुत्र होने से ज्येष्ठता नहीं समझी गयी[2]। गर्भ की ज्येष्ठता के आधार पर भी ज्येष्ठ मानना उचित नहीं है। यदि सदृश पत्नियों में किसी पत्नी ने दूसरी पत्नी की अपेक्षा पूर्व गर्भ धारण कर लिया है परन्तु दूसरी पत्नी की अपेक्षा उसकी पुत्रोत्पत्ति पश्चात् हुई है तो ऐसी परिस्थिति में जो पूर्व उत्पन्न हुआ है वही राज्याधिकारी समझा जायगा। इस प्रकार जन्म की ज्येष्ठता ही ज्येष्ठता होती है, न कि गर्भ की ज्येष्ठता[3]। यमज पुत्रों में भी जिस पुत्र का जन्म प्रथम होता है वही राज्याधिकारी माना गया है। बहुतों का मत है कि यमज पुत्रों में जो पश्चात् जन्म लेता है वह पूर्व जन्म लेनेवाले अपने यमज भाई से ज्येष्ठ होता है क्योंकि ज्येष्ठ के उत्पत्ति-मार्ग को कनिष्ठ अवरोधित रखता है। मित्रमिश्र ने इस तर्क को स्वीकार नहीं किया है। उनका मत है कि ज्येष्ठता का निर्णय जन्म-ज्येष्ठता के आधार पर ही होना न्यायसंगत है[4]।

(२) योग्यता-सिद्धान्त राजा का औरस ज्येष्ठ पुत्र होने पर भी यदि उसमें राज्योचित गुण नहीं हैं तो वह राज्याधिकार से वञ्चित समझा जायगा इस सिद्धान्त का प्रतिपादन मित्रमिश्र द्वारा किया गया है। राम को दशरथ ने युवराजपद देने का निश्चय इसलिए किया था कि वह धर्मज्ञ गुणवान् शान्त कृतज्ञ सत्यवादी, शुचि आदि थे। वह जन्मज्येष्ठ होने के साथ ही गुणज्येष्ठ भी थे[5]। राजोचित गुणहीन

१ ज्येष्ठ एव तु गृह्णीयात्पित्र्यं धनमशेषतः ॥ मनुस्मृति ।
 राज्ञो राजसुतो ज्येष्ठो यौवराज्यमतोऽर्हसि ॥ रामायण ।
२ सदृशस्त्रीषु जातानां पुत्राणामविशेषतः । न मातृतो ज्यैष्ठ्यमस्ति जन्मतो ज्यैष्ठ्यमुच्यते ॥ मनु ।
३ मनुरपि जन्मतैव ज्यैष्ठ्यमाह ॥ मित्रमिश्र राज्याधिकारनिर्णय ।
४ यस्य जातस्य यमयोः पश्यन्ति प्रथमं मुखम् । सन्तानः पितरश्चैव तस्मिन् ज्यैष्ठ्यं प्रतिष्ठितम् ॥ देवल ।
५ तत्रत्वं पुत्रज्येष्ठो राज्ञामात्मसमः प्रियः । त्वया तस्य प्रजा ह्येताः स्वगुणैरनुरञ्जिताः ।
 तस्मात्त्वं पुष्ययोगेन यौवराज्यमवाप्नुहि ॥ रामायण ।

और ज्येष्ठ पुत्र होने पर भी असमञ्जस अपने पिता के राज्य के अधिकार से च्युत कर दिया गया । इन दृष्टान्तों को देकर मित्रमिश्र ने राज्याधिकार-निर्णय में श्रेष्ठता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है ।

(४) **अङ्गपरिपूर्णता-सिद्धान्त**— राजा का औरस ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ पुत्र होने पर भी हीनाङ्ग होने के कारण राज्याधिकार से वंचित समझा गया है । प्राचीन भारतीय विचार-धारा के अनुसार अङ्गहीन पुरुष के द्वारा किये गये यज्ञ को देवगण स्वीकार नहीं करते । राज्य-सञ्चालन महान् यज्ञ माना गया है । इस यज्ञ का अनुष्ठान अङ्ग-हीन पुरुष द्वारा नहीं किया जाना चाहिए । अपने इस सिद्धान्त की पुष्टि में मित्र-मिश्र ने सगर पुत्र असमञ्जस और चक्षुहीन धृतराष्ट्र के दृष्टान्त दिये हैं । ऐसी परि स्थिति के उपस्थित होने पर, उस अङ्गहीन राजकुमार के ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ पुत्र को राज्याधिकारी माना गया है । यदि अङ्गहीन अथवा अयोग्य उस राजकुमार के पुत्र नहीं हैं अथवा अयोग्य पुत्र हैं तो ऐसी परिस्थिति में उसके छोटे परन्तु श्रेष्ठ पुत्र का राज्याधिकार प्राप्त होगा । ऐसी दशा में उस छोटे भाई के उपरान्त उसकी सन्तति को ही राज्याधिकारी समझा जायगा । इसी सिद्धान्त के आधार पर पाण्डु राजा बनाये गये थे और पाण्डु के पश्चात् उनके ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ पुत्र युधिष्ठिर को राज-पद प्राप्त हुआ था ।

इस प्रकार मित्रमिश्र ने अङ्ग-परिपूर्णता-सिद्धान्त को राज्याधिकार-निर्णय में उचित स्थान दिया है ।

(५) **अविभाज्य-सिद्धान्त**—प्राचीन भारतीय राजनीतिक परम्परा के अनुसार मित्रमिश्र ने भी राज्य को अविभाज्य माना है । उनका मत है कि राज्य के विभाजन से महान् अनर्थ होता है । इसलिए राजा के सभी पुत्रों को राज्याधिकार देने का निषेध किया गया है । राजा का ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ पुत्र राज्याधिकारी होता है उसके अन्य पुत्रों के भरण-पोषण का सम्पूर्ण भार उसी ज्येष्ठ पुत्र पर होता है[१] ।

इस प्रकार मित्रमिश्र ने औरसपुत्र-सिद्धान्त ज्येष्ठता-सिद्धान्त श्रेष्ठता-सिद्धान्त अङ्गपरिपूर्णता-सिद्धान्त और राज्याविभाज्य-सिद्धान्त को आधार मानकर राज्या-धिकार का निर्णय किया है । इन सिद्धान्तों की व्याख्या हेतु उन्होंने विवेचनात्मक शैली का अनुसरण किया है ।

राजपद-प्राप्ति हेतु आवश्यक गुण—मित्रमिश्र ने राजपद-प्राप्ति हेतु कतिपय आव-

१ न हि राज्ञः सुताः सर्वे राज्ये तिष्ठन्ति भामिनि । स्थाप्यमानेषु सर्वेषु महाननयो भवेत् ॥
रामायण ।

राज्याधिकारी उसका ज्येष्ठ पुत्र होता है। ऐसी परिस्थिति में उसके भाइयों के भरण-पोषण का सम्पूर्ण भार ज्येष्ठ भाई पर रहेगा[१]।

ज्येष्ठता का निर्णय किस प्रकार किया जाना चाहिए, इस समस्या के निराकरण हेतु भी मित्रमिश्र ने विभिन्न मत देकर उसका समाधान हेतुयुक्त किया है। राजा की रानियों में उत्पन्न हुए पुत्रों में जो पुत्र ज्येष्ठ है वही राज्याधिकारी है। ज्येष्ठ रानी का पुत्र होने से ज्येष्ठता नहीं समझी गयी[२]। गर्भ की ज्येष्ठता के आधार पर भी ज्येष्ठ मानना उचित नहीं है। यदि सदृश पत्नियों में किसी पत्नी ने दूसरी पत्नी की अपेक्षा पूर्व गर्भ धारण कर लिया है परन्तु दूसरी पत्नी को अथवा उसकी पुत्रोत्पत्ति पश्चात् हुई है तो ऐसी परिस्थिति में जो पूर्व उत्पन्न हुआ है वही राज्याधिकारी समझा जायगा। इस प्रकार जन्म की ज्येष्ठता ही ज्येष्ठता होती है, न कि गर्भ की ज्येष्ठता[३]। यमज पुत्रों में भी जिस पुत्र का जन्म प्रथम होता है वही राज्याधिकारी माना गया है[४]। कुछों का मत है कि यमज पुत्रों में जो पश्चात् जन्म लेता है, वह पूर्व जन्म लेनेवाले अपने यमज भाई से ज्येष्ठ होता है क्योंकि ज्येष्ठ के उत्पत्ति-मार्ग को कनिष्ठ अवरोधित रखता है। मित्रमिश्र ने इस तर्क को स्वीकार नहीं किया है। उनका मत है कि ज्येष्ठता का निर्णय जन्म-ज्येष्ठता के आधार पर ही होना न्याययुक्त है[४]।

(३) योग्यता-सिद्धान्त राजा का औरस ज्येष्ठ पुत्र होने पर भी यदि उसमें राज्योचित गुण नहीं है तो वह राज्याधिकार से वंचित समझा जायगा इस सिद्धान्त का प्रतिपादन मित्रमिश्र द्वारा किया गया है। राम को दशरथ ने युवराजपद देने का निश्चय इसलिए किया था कि वह धर्मज्ञ गुणवान् शान्त कृतज्ञ सत्यवादी मुनि आदि थे। वह जन्मज्येष्ठ होने के साथ ही गुणज्येष्ठ भी थे[५]। राज्योचित गुणहीन

१ ज्येष्ठ एव तु गृह्णीयात्पित्र्यं धनमशेषतः ॥ मनुस्मृति ।
रामो राजसुतो ज्येष्ठो यौवराज्यमतोऽर्हति ॥ रामायण ।

२ सदृशस्त्रीषु जातानां पुत्राणामविशेषतः । न मातृतो ज्यैष्ठ्यमस्ति जन्मतो ज्यैष्ठ्यमुच्यते ॥ मनु ।

३ तत्रापि जन्मतैव ज्यैष्ठ्यम् ॥ मित्रमिश्र, राज्याधिकारनिर्णय ।

४ यस्य जातस्य यमयोः पश्यन्ति प्रथमं मुखम् । सन्तानः पितरश्चैव तस्मिन् ज्यैष्ठ्यं प्रतिष्ठितम् ॥ देवल ।

५ तथास्य पुत्रज्येष्ठो रामनामाऽस्त्ययं प्रियः । त्वया राम प्रजा ह्येताः त्वद्गुणैरनुरञ्जिताः ।
तस्मात्त्वं पुष्ययोगेन यौवराज्यमवाप्नुहि ॥ रामायण ।

और ज्येष्ठ पुत्र होने पर भी असमंजस अपने पिता के राज्य के अधिकार से च्युत कर दिया गया। इन दृष्टान्तों को देकर मित्रमिश्र ने राज्याधिकार-निर्णय में श्रेष्ठता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

(४) अंगपरिपूर्णता-सिद्धान्त—राजा का औरस ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ पुत्र होने पर भी हीनांग होने के कारण राज्याधिकार से वंचित समझा गया है। प्राचीन भारतीय विचार-धारा के अनुसार अंगहीन पुरुष के द्वारा किये गये यज्ञ को देवगण स्वीकार नहीं करते। राज्य-संचालन महान् यज्ञ माना गया है। इस यज्ञ का अनुष्ठान अंग-हीन पुरुष द्वारा नहीं किया जाना चाहिए। अपने इस सिद्धान्त की पुष्टि में मित्र मिश्र ने सगर पुत्र असमंजस और चक्षुहीन धृतराष्ट्र के दृष्टान्त दिये हैं। ऐसी परि-स्थिति के उपस्थित होने पर, उस अंगहीन राजकुमार के ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ पुत्र को राज्याधिकारी माना गया है। यदि अंगहीन अथवा अयोग्य उस राजकुमार के पुत्र नहीं हैं अथवा अयोग्य पुत्र हैं तो ऐसी परिस्थिति में उसके छोटे परन्तु श्रेष्ठ पुत्र का राज्याधिकार प्राप्त होगा। ऐसी दशा में उस छोटे भाई के उपरान्त उसकी सन्तति को ही राज्याधिकारी समझा जायगा। इसी सिद्धान्त के आधार पर पाण्डु राजा बनाये गये थे और पाण्डु के पश्चात् उनके ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ पुत्र युधिष्ठिर को राज-पद प्राप्त हुआ था।

इस प्रकार मित्रमिश्र ने अंग-परिपूर्णता-सिद्धान्त को राज्याधिकार-निर्णय में उचित स्थान दिया है।

(५) अविभाज्य-सिद्धान्त—प्राचीन भारतीय राजनीतिक परम्परा के अनुसार मित्रमिश्र ने भी राज्य को अविभाज्य माना है।[1] उनका मत है कि राज्य के विभाजन से महान् अनर्थ होता है। इसलिए राजा के सभी पुत्रों को राज्याधिकार देने का निषेध किया गया है। राजा का ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ पुत्र राज्याधिकारी होता है उसके अन्य पुत्रों के भरण-पोषण का सम्पूर्ण भार उसी ज्येष्ठ पुत्र पर होता है।

इस प्रकार मित्रमिश्र ने औरसपुत्र सिद्धान्त ज्येष्ठता-सिद्धान्त श्रेष्ठता-सिद्धान्त अंगपरिपूर्णता-सिद्धान्त और राज्याविभाज्य-सिद्धान्त को आधार मानकर राज्या-धिकार का निर्णय किया है। इन सिद्धान्तों की स्थापना हेतु उन्होंने विवेचनात्मक शैली का अनुसरण किया है।

राजपद-प्राप्ति हेतु आवश्यक गुण—मित्रमिश्र ने राजपद-प्राप्ति हेतु कतिपय आव-

1 न हि राज्ञः सुताः सर्वे राज्ये तिष्ठन्ति भामिनि। स्थाप्यमानेषु सर्वेषु सुमहाननयो भवेत् ॥ रामायण।

तीस गुण निर्धारित किये हैं। उन्होंने इन गुणों को सूचीबद्ध कर व्यवस्था दी है कि राजपद-प्राप्ति हेतु राजा के लिए इन राजगुणों का धारण करना परमावश्यक है। इन राजगुणों के निर्धारण में मित्रमिश्र ने क्रम लिखित मनु, गौतम नारद, याज्ञवल्क्य कात्यायन मत्स्यपुराणकार और महाभारतकार के मत उद्धृत किये हैं। इस उद्धरणा के अनुसार ये गुण इस प्रकार बतलाये गये हैं—

"राजा दीर्घदर्शी महोत्साही धृतिमान्, परगुण प्रकाशी, त्यागी, प्राणियों को शरण देने वाला सत्यभाषी, अमत्सरी गम्भीर, परसमृद्धि में प्रसन्न रहनेवाला बुद्धिमान्, तेजस्वी, उपस्थित अनिष्ट के प्रतीकार में कुशल शीघ्र कार्य करनेवाला, दक्ष, क्षमाशील अपने कर्म का समय देनेवाला, देश-काल-द्रव्य-ज्ञाता, द्रव्य-प्रयोग के ज्ञान में कुशल फल के अनुरूप मन्त्र तत्त्व का ज्ञाता षाड्गुण्यज्ञाता कुशलहारी सुलक्षण कुशल स्नान-भोजन-शीतोष्ण-विजयी षड्वर्गजयी, इन्द्रिय-विजयी प्रजा-प्रिय दीनों पर अनुग्रह करनेवाला ब्राह्मणों को अन्न प्रदान करनेवाला और लक्ष्मी तथा यश का अधिकारी होना चाहिए। उसे अक्लीबवाणी नयी वाणी और स्पष्टोक्ति का ज्ञाता, उदार विनीत, वृद्धसेवी सत्त्वसम्पन्न धार्मिक अव्यसनी, प्राज्ञ शूर, शास्त्रसम्पन्न गुरु-कुशल लोकपरीक्षासमन्वित, भृत्य और प्रजा के लिए निपुण और कुलीन होना चाहिए।

इस प्रकार मित्रमिश्र ने राजा के लिए उपर्युक्त गुण निर्धारित कर व्यवस्था दी है कि इन गुणों को धारण करनेवाला राजकुमार ही राज्य पाने का अधिकारी समझा जाना चाहिए।

विविध राजधर्म—मित्रमिश्र ने राजा के विविध धर्म निर्धारित किये हैं। राजा के इन धर्मों अथवा कर्तव्यों को उन्होंने राजधर्म के नाम से सम्बोधित किया है। इन धर्मों का विधिवत पालन करने से राजा और प्रजा दोनों का कल्याण होता है और राज्य प्रत्येक प्रकार से सम्पन्न एवं समृद्ध रहता है। मित्रमिश्र के मतानुसार राजा के ये धर्म अपने अधीन प्रजा में स्वधर्म-पालन की व्यवस्था करना और उसका सम्यक प्रकार से कार्यान्वित किया जाना स्वधर्म पालन में प्रमादियों को स्वधर्मपालन में नियोजित करना प्रजा में न्याय-व्यवस्था की स्थापना करना एवं उसका विधिवत् संचालन करते रहना अपनी प्रजा का परिपालन करना अपने देश की रक्षा और शत्रु के राष्ट्र का अभिमर्दन करना अपने भृत्यों और जनपदवासियों के हृदयों पर विजयी होना अपने राज्य के अमात्य कोष दुर्गादि अंगों की रक्षा करते रहना इष्टापूर्त-सम्बन्धी कार्यों का विधिवत् सम्पादन करना, पापियों का निग्रह और साधु पुरुषों का परिपालन करना सेना को हृष्ट-पुष्ट रखना गज-अश्वादि को युद्धशिक्षा देने की व्यवस्था करना पोषाहार एवं उनकी अभिवृद्धि हेतु सुव्यवस्था करना गुप्तचर

एवं अन्य आश्रमों के लिए समय-समय पर, उनकी आवश्यकतानुसार, भोजन आसन दान आदि की व्यवस्था करना और स्वयं उनकी देख-रेख करते रहना चोर-कण्टक वंचक-तस्कर-जार आदि से राज्य को मुक्त रखना श्रोत्रिय एवं योग्य ब्राह्मणों के लिए वृत्ति-निर्धारण करना पुरुषार्थी (अलब्ध की लिप्सा लब्ध की रक्षा, रक्षित की वृद्धि और वृद्ध धन का पात्रों में सम्यक् वितरण करने वाला) होना मन-वचन-चक्षु और कर्म इन चारों से लोक को प्रसन्न रखना दीन-कृपण-अनाथ-बाल-वृद्ध-विधवा व्याधित-आर्त-अकिंचन आदि के योगक्षेम की व्यवस्था करना और यथासम्भव उनके निमित्त वृत्ति निर्धारण करना अपने शत्रुओं पर विजयी होना संग्राम में दृढ़ रहना यड्वर्गजयी होना आदि है।

मित्रमिश्र ने उपर्युक्त राजा के कर्तव्यों का निर्धारण स्मृतियों पुराणों और महाभारत से कतिपय उद्धरण देकर किया है। इस प्रसंग में उन्होंने मनु, याज्ञवल्क्य विष्णु, आपस्तम्ब गौतम शंख लिखित नारद, यम कात्यायन और वसिष्ठ कृत स्मृतियों मत्स्य धर्मोत्तर, विष्णु, ब्रह्म मार्कण्डेय और देवी पुराण और महाभारत की तत्सम्बन्धी विषय-वस्तु का आश्रय लिया है। इस विशाल साहित्य से तथ्यपूर्ण विषयानुकूल विषय-वस्तु का इस प्रकार चयन कर उसके आधार पर राजा के धर्मों का निर्धारण करने के लिए विशेष योग्यता की आवश्यकता होती है। इस दृष्टि से इस क्षेत्र में मित्रमिश्र का कार्य स्तुत्य है।

प्रतिषिद्ध राजधर्म मित्रमिश्र ने जहाँ राजा के लिए विहित धर्मों का उल्लेख किया है वहीं उन्होंने कतिपय ऐसे कर्मों का भी उल्लेख किया है जिनका अनुष्ठान उसे कभी करना नहीं चाहिए। इन निषिद्ध कर्मों को उन्होंने प्रतिषिद्ध राजधर्म के नाम से सम्बोधित किया है। उन्होंने मृगया पान अक्ष (द्यूत) दिन में सोना वृथा घूमना कठोरवाणी का प्रयोग वृथा कठोर दण्ड देना परोक्ष निन्दा करना अर्थदूषण (अर्थ का दुरुपयोग और धन का अनेक मार्गों से दूसरे द्वारा हरण) होने देना अति मृदु अथवा दारुण होना, भृत्यों से परिहास करना व्यसनी होना दूसरों के दोष कथन करना साधु पुरुषों का निग्रह एवं उन्हें बन्धन में डाल देना ब्राह्मणों से द्रोह करना ब्राह्मण-वध करना ब्राह्मण के धन का हरण, देवद्रव्य हरण करना पाखण्ड-आश्रम में प्रवेश करना अज्ञात जल में प्रवेश अपरीक्षित पुरुषों को आप्तपुरुष समझ लेना दुष्ट हाथी अथवा अदान्त अश्व की सवारी करना अविज्ञात स्त्री के पास जाना अपरीक्षित नाविक वाली नाव पर सवारी करना आदि का राजा के लिए प्रतिषिद्ध राजधर्म के अन्तर्गत परिगणित किया है। राजा इन कार्यों से सदैव दूर रहे, मित्र मि त्र का ऐसा मत है।

राजकर्मचारियों की नियुक्ति—मत्स्य पुराण से उद्धरण देकर मित्रमिश्र ने राज्य के विधिवत् संचालन हेतु विविध योग्यतासम्पन्न अनेक राजकर्मचारियों की नियुक्ति की आवश्यकता प्रमाणित की है। उनका मत है कि जब छोटे से छोटा कार्य भी असहाय पुरुष अकेले करने में असमर्थ होता है तो ऐसी परिस्थिति में राज्य-संचालन जैसे महान् कार्य का विधिवत् सम्पादन अकेले राजा द्वारा क्योंकर हो सकता है। इसलिए इस महान् कार्य हेतु विविध गुणों से सम्पन्न अनेक पुरुषों की नियुक्ति अभिप्राय है।

राज्य के इन विविध कर्मचारियों की नियुक्ति किस के द्वारा की जानी चाहिए, इस विषय में मत्स्य पुराण से उद्धरण देकर मित्रमिश्र ने स्पष्ट व्यवस्था दी है कि राजा स्वयं राजकर्मचारियों की नियुक्ति करे। इस प्रकार राजकर्मचारियों की नियुक्ति का परमाधिकारी राजा माना गया है[2]।

राजकर्मचारियों के सामान्य गुण—मित्रमिश्र ने कुछ ऐसे गुणों का उल्लेख किया है जो राजकर्मचारियों के लिए आवश्यक है। राजकर्मचारियों के ये सामान्य गुण कुलीनता और कुलीनजाति में उत्पत्ति व्यवहारसम्पन्नता श्रीमान् होना बल और सत्त्व सम्पन्नता क्षमाशीलता क्लेशसहन क्षमता धर्मज्ञता प्रियवादिता हितोपदेशक होना, दृढनिश्चयता महोत्साह, स्वामिभक्ति चतुरता शुचिता दक्षता और आर्जवता साधु-स्वभाव अनुकूलक होना है।

परीक्षा-सिद्धान्त—राजकर्मचारियों की नियुक्ति के पूर्व उनकी विधिवत् परीक्षा हो जानी चाहिए, जिससे उनकी योग्यता एवं अयोग्यता का सम्यक् ज्ञान हो सके। इतना ही नहीं मित्रमिश्र का मत है कि राजकर्मचारी की दैनिक परीक्षा होती रहे। यह काम आप्त चरों के द्वारा होना चाहिए। ऐसा करने से कर्मचारी दुर्गुणों से बचे रहेंगे और अपने कर्तव्य-पालन में तत्पर रहेंगे।

वंशपरम्परागत सिद्धान्त मित्रमिश्र इस पक्ष में है कि यदि पिता राज्य की सेवा करता रहा है तो उसके पुत्र को भी सेवा करने का अवसर मिलना चाहिए। परन्तु ऐसा करने में उसकी योग्यता का ध्यान रखना चाहिए। ऐसा कभी नहीं करना चाहिए कि अयोग्य पुत्र को उसके योग्य पिता के पद पर नियुक्त कर दिया जाय। सेवक के पुत्र को उसकी योग्यता के अनुरूप ही पद दिया जाना चाहिए।

१ यदप्यल्पतरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम्।
पुरुषेणासहायेन किमु राज्यं महोदयम्। —मत्स्यपुराण।

२ तस्मात्सहायान् वरयेत्कुलीनान्नृपतिः स्वयम्। —मत्स्यपुराण।

राजकर्मचारियों का वर्गीकरण—सभी राजकर्मचारी एक ही वेतन एवं कार्य के योग्य नहीं समझे जाने चाहिए। राजकर्मचारियों को उनके कार्य करने की क्षमता एवं उनकी योग्यता के आधार पर उन्हें तीन श्रेणियों में विभक्त करना उचित होगा। इन तीन श्रेणियों के अनुसार उन्हें उत्तम मध्यम और अधम कोटि में परिगणित कर तदनुसार कार्य में लगाना चाहिए और इस वर्गीकरण के आधार पर उनके वेतन भी उत्तम मध्यम एवं क्षुद्र नियत किये जाने चाहिए। इस सिद्धान्त की पुष्टि में उन्होंने मत्स्य पुराण से उद्धरण दिया है। कर्मचारी के नियोग पौरुष भक्ति अनुभव कुल और नय को देखकर उसकी वृत्ति निर्धारित की जानी चाहिए, इस सिद्धान्त की पुष्टि में उन्होंने मत्स्य पुराण से उद्धरण दिया है।

(१) अमात्य—मित्रमिश्र ने अमात्य शब्द का प्रयोग सामान्य अर्थ में किया है जिसका तात्पर्य सामान्य मंत्री से है। उन्होंने राजा के लिए सात अथवा पाँच अमात्य रखने की अनुमति दी है। इन अमात्यों में एक अमात्य राजपुत्र (राजा के निर्धारित पुत्र) के समकक्ष हो गुण धारण करने वाला पुरुष होना चाहिए। यह अमात्य ब्राह्मण होना चाहिए। इसी को मन्त्ररत्न का अधिकारी माना गया है। अमात्यों के लिए मित्रमिश्र ने वही योग्यताएँ निर्धारित की हैं जो कि मनु, याज्ञवल्क्य पराशर और महाभारतकार ने निर्धारित की है। यह अमात्य राजा के अमात्यवंश में उत्पन्न हुए पुरुष होने चाहिए। मित्रमिश्र ने अमात्य के कर्तव्य उनके अधिकारों आदि का उल्लेख नहीं किया है। अतः इस विषय में उनका क्या मत था कुछ भी कहा नहीं जा सकता।

(२) सेनापति— राज्य की सेना का सबसे बड़ा अधिकारी सेनापति बतलाया गया है। सेनापति को विशेष योग्य पुरुष होना चाहिए। सेनापति के लिए वाञ्छनीय योग्यताओं का उल्लेख करने में मित्रमिश्र ने मत्स्यपुराण से एक उद्धरण दिया है। उसके अनुसार सेनापति कुलीन शीलसम्पन्न धनुर्वेदविशारद, हस्ति-अश्वशिक्षाकुशल स्निग्धवाक् शकुन-अपशकुन का ज्ञान रखने वाला चिकित्साज्ञान युक्त कृतज्ञ कर्मशूर, क्लेशसहनशील ऋजुस्वभाव व्यूहरचना का ज्ञाता [illegible] होना चाहिए।

मित्रमिश्र ने इस उद्धरण को लिखकर यह भी स्पष्ट कर दिया है कि वैश्य अथवा शूद्र वर्ण का पुरुष योग्य होने पर भी सेनापति के पद पर नियुक्त नहीं किया जाना चाहिए। उनके मतानुसार ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय को ही सेनापति पद दिया जाना चाहिए। इस दृष्टि से मित्रमिश्र अनुदारवादी जान पड़ते हैं।

(३) अन्य कर्मचारी— मित्रमिश्र ने अमात्य और सेनापति के अतिरिक्त अध्यक्ष,

छत्रपरीक्षक प्रतिहार, दूत स्थपति, सूद (रसोइया) ताम्बूलधारी धर्माध्यक्ष, सभासद् लेखक दौवारिक अन्तर्वंशिक धनाध्यक्ष आय-व्यय-द्वार के रक्षक, चिकित्सक, गजाध्यक्ष अश्वाध्यक्ष पुराध्यक्ष दुर्गाध्यक्ष शस्त्राचार्य आदि की नियुक्ति की व्यवस्था दी है। इनके पदों के लिए उपयुक्त योग्यताओं का भी पृथक्-पृथक् उल्लेख किया है। उन्होंने इन योग्यताओं का वर्णन करने में अग्नि पुराण और मत्स्य पुराण से तत्सम्बन्धी उद्धरण आवश्यकतानुसार दिये हैं।

महाभारत और रामायण के आधार पर दूत को अवध्य माना है। यथोक्तवादी दूत के वध करनेवाले राजा को भ्रूण-हत्या का महापाप होता है। इसलिए उसे नरकगामी माना गया है। रामायण में अपराधी दूत के लिए अंगवैरूप्य कशाभिघात मुण्ड मुण्डाना आदि जो विहित दण्ड बतलाये गये हैं उन्हें मित्रमिश्र ने भी मान्यता दी है।

अनुजीविवृत्त—मित्रमिश्र ने राजा के अनुजीवियों के लिए उनके वृत्त(conduct) के नियमों का निर्धारण किया है। उनका मत है कि अनुजीवियों को अपना वृत्त इन नियमों के अनुसार ही धारण करने का प्रयत्न करना चाहिए। जो अनुजीवी इन नियमों के अनुसार वृत्त धारण करते हैं उनका कल्याण होता है और वे उत्तरोत्तर योग्य होते रहते हैं। ऐसे अनुजीवियों के प्रति स्वामी अनुरक्त रहता है। इसके विपरीत आचरण करने से स्वामी उनके प्रति विरक्त हो जाता है।

राज्य के अंग—मित्रमिश्र ने भी सप्तांग राज्य माना है। राज्य के ये सात अंग राजा अमात्य दुर्ग कोष बल सुहृद् और राष्ट्र हैं। दुर्ग का महत्त्व एवं उसकी निर्माण-योजना तथा दुर्ग के प्रकार आदि का वर्णन मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति मत्स्य पुराण वसिष्ठधनुर्वेद के आधार पर है। याज्ञवल्क्य और मनु ने दुर्ग के जो छ प्रकार माने हैं उन्हीं को मित्रमिश्र ने भी मान्यता दी है।

कोष परम उपयोगी माना गया है। उसकी उपयोगिता को प्रमाणित करने के लिए महाभारत और विष्णुधर्मोत्तर पुराण से उद्धरण दिये गये हैं। कोष की आय एवं व्यय के मार्ग विविध करों की दर, उनके संचय करने की योजना आदि का वर्णन मनुस्मृति याज्ञवल्क्यस्मृति, गौतमस्मृति, महाभारत और विष्णुधर्मोत्तर पुराण के आधार पर है। इन्हीं ग्रन्थों से सम्पूर्ण उद्धरण देकर इन विषयों का प्रतिपादन किया गया है।

दण्ड का वर्णन अति सूक्ष्म है। महाभारत से उद्धरण देकर दण्ड के प्रकाश और अप्रकाश इन दो भेदों के लक्षणों का उल्लेख किया गया है और इतने मात्र से ही यह प्रकरण समाप्त कर दिया गया है। अनुरक्त हृष्ट-पुष्ट सेना श्रेष्ठ मानी गयी है।

सुहृद् अथवा मित्र का महत्त्व प्रदर्शित करने के लिए मित्रमिश्र ने याज्ञवल्क्य और मनु के मत उद्धृत किये हैं। इन मतों के आधार पर उन्होंने बतलाया है कि विजय द्वारा हिरण्य भूमि और मित्र-लाभ होते हैं। इन तीन प्रकार के लाभ में भूमि और हिरण्य-लाभ की अपेक्षा मित्र-लाभ अधिक उपयोगी होता है। अच्छे मित्र के लक्षण बतलाते हुए उन्होंने इसी मत के आधार पर धर्मज्ञ कृतज्ञ तुष्ट-प्रकृति अनुरक्त स्थिरारम्भ लघुमित्र भी श्रेष्ठ माना है। मत्स्य पुराण का उद्धरण देकर उन्होंने भी मित्र तीन प्रकार के माने हैं।

राष्ट्र-गठन मनुस्मृति के आधार पर किया गया है। राष्ट्र गठन का घटक ग्राम है। इसके उपरान्त दस बीस सौ और सहस्र ग्रामों के गठनों की योजना एवं उनके प्रशासनिक अधिकारियों आदि का वर्णन तथा उनके अधिकारों एवं कर्तव्यों का निरूपण मनुस्मृति से उद्धरण देकर किया गया है। इस प्रकरण में बृहस्पतिस्मृति याज्ञवल्क्यस्मृति विष्णुधर्मोत्तर पुराण और मत्स्य पुराण से भी उपयुक्त उद्धरण दिये गये हैं। इस प्रकार इस प्रकरण में कोई नवीनता नहीं है।

पुरनिर्माण-योजना पुरगुप्ति आदि पुर-सम्बन्धी विषयों का वर्णन, पुर में गृहनिर्माण मार्गनिर्माण वृक्षारोपण आदि के वर्णन में मनुस्मृति बृहस्पतिस्मृति विष्णुधर्मोत्तर और इसी पुराण का आश्रय लिया गया है।

उत्तम दूत एवं निकृष्ट दूत के मुख्य लक्षणों का कथन किया गया है। यह वर्णन भी मनुस्मृति याज्ञवल्क्यस्मृति और मत्स्यपुराण में वर्णित तत्सम्बन्धित प्रसंगों पर आश्रित है।

षाड्गुण्यमन्त्र के छ गुण वही हैं जिनका उल्लेख मनुस्मृति में है। इन गुणों के भेद प्रभेद एवं उनके विभिन्न लक्षणों का वर्णन मनु एवं याज्ञवल्क्य द्वारा वर्णित तत्सम्बन्धी विषयवस्तु पर ही आधारित है।

मित्रमिश्र ने भी मन्त्र को राज्य का बीज अथवा मूल माना है। राज्य के कल्याण हेतु मन्त्र का महत्त्व मन्त्र की रक्षा मन्त्र-वरण आदि विषयों के वर्णन में मनुस्मृति याज्ञवल्क्यस्मृति, अग्निपुराण विष्णुधर्मोत्तर पुराण, रामायण और महाभारत से उद्धरण दिये गये हैं। मित्रमिश्र ने चार उपाय पुराण साहित्य से उद्धरण देकर बतलाये हैं। इन उपायों के लक्षणों का स्पष्ट वर्णन किया गया है।

मित्रमिश्र मण्डल-सिद्धान्त में भी आस्था रखते थे। द्वादश मण्डल के लक्षणों का उन्होंने विशद वर्णन किया है। यह वर्णन मनु के मत के आधार पर है। उन्होंने विजिगीषु, अरि, मध्यम उदासीन पार्ष्णिग्राह, आक्रन्द पार्ष्णिग्राहासार आक्रन्दासार, आदि राजाओं के विशद लक्षणों का भी वर्णन किया है। परन्तु इस वर्णन में भी मौलिकता नहीं है।

युद्ध के लिए यात्रा, अभिषेक, युद्ध, युद्ध के उपरान्त व्यवस्था-स्थापन, विजय-काल का वितरण आदि विषयों का वर्णन करने में लिंग पुराण का आश्रय लिया गया है।

मित्रमिश्र स्वप्नप्रकारों में विश्वास करते थे। इसीलिए उन्होंने शुभ और अशुभ स्वप्नों के लक्षणों का वर्णन किया है। वह शकुन और अपशकुन में भी विश्वास करते थे। उन्होंने शुभ और अशुभ शकुनों का भी वर्णन किया है। यह समस्त प्रकरण विष्णुधर्मोत्तर पुराण, मत्स्यपुराण, ऐतरेय ब्राह्मण और रामायण से तत्सम्बन्धी विषय वस्तु पर आधारित है।

राजनीतिप्रकाश के अन्तिम भाग में राजा एवं राज्य के कल्याण हेतु कतिपय विशेष उत्सवों, कृत्यों आदि का वर्णन है। राजनीति के इस भाग में अन्धविश्वासों की झलक है। परन्तु इसके लिए मित्रमिश्र को दोषी नहीं ठहराया जा सकता। यह उस युग की जनता की माँग थी जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती थी।

इस प्रकार मित्रमिश्र ने राजनीतिप्रकाश शीर्षक निबन्ध का निर्माण कर राजशास्त्र-सम्बन्धी उन सिद्धान्तों को अपने आश्रयदाता राजा के समक्ष प्रस्तुत किया है जो कि उनके बहुत पूर्व भारतीय साहित्य के ग्रन्थों में यत्र-तत्र बिखरे हुए थे। इस बिखरी हुई तथ्यपूर्ण सामग्री का चयन कर, उसमें से अपने समय के अनुसार उपयोगी सामग्री के आधार पर शासन-पद्धति की योजना करके उन्होंने लोक-सेवा की है।

नीलकण्ठ

संक्षिप्त परिचय—

भगवन्तभास्कर के अनुसार भट्ट नीलकण्ठ नारायणभट्ट के पौत्र और शंकरभट्ट के पुत्र थे। इनके पिता शंकरभट्ट प्रकाण्ड पण्डित एवं विख्यात मीमांसक थे। द्वैत निर्णय और धर्मप्रकाश अथवा सर्वधर्मप्रकाश के यह रचयिता कहलाये जाते हैं। उन्होंने शास्त्रदीपिका, विधिरसायनदूषण और मीमांसाबालप्रकाश नाम की व्याख्यायें लिखीं।

नीलकण्ठ शंकरभट्ट के सबसे छोटे पुत्र थे। उनके बड़े भाई का नाम कमलाकर भट्ट और पुत्र का नाम शंकर था। कमलाकर भट्ट और शंकर भी उच्चकोटि के पण्डित थे। कमलाकर भट्ट ने निर्णयसिन्धु की रचना की थी। नीलकण्ठ के पुत्र शंकर ने भी कुण्डभास्कर नाम के निबन्ध की रचना की थी। नीलकण्ठ के दौहित्र दिवाकर भट्ट की रचना आचारार्क नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रकार नीलकण्ठ का परिवार सरस्वती का उपासक रहा है।

यमुना और चम्बल के संगम के निकट भरेह नाम का एक प्रान्त था। यह प्रान्त बुन्देला सामन्त राजा भगवन्तदेव के शासन में था। भगवन्तदेव साहित्य-प्रेमी थे।

नीलकण्ठ ने भगवन्तदेव की प्रतिष्ठा में भगवन्तभास्कर नाम के एक विशालकाय निबन्ध की रचना की। उन्होंने अपने इस निबन्ध को प्रताप-पुञ्ज-भास्कर (सूर्यदेव) के रूप में कल्पना की और उसे बारह मयूखों में विभाजित किया। भगवन्तभास्कर निबन्ध की इन बारह मयूखों को उन्होंने संस्कारमयूख आचारमयूख श्राद्धमयूख नीतिमयूख व्यवहारमयूख दानमयूख उत्सर्गमयूख प्रतिष्ठामयूख प्रायश्चित्तमयूख शुद्धिमयूख और शान्तिमयूख की संज्ञा दी। इस प्रकार उन्होंने भी अपने इस निबन्ध में धर्मशास्त्र प्रतिपादित विषयों को स्थान देकर उनपर अपने पूर्व के तत्सम्बन्धी ग्रन्थों से उद्धरण देकर उनके वास्तविक स्वरूप की स्थापना करने का प्रयास देश-काल और परिस्थिति के अनुसार, किया है।

नीलकण्ठ ने इस बृहदाकार निबन्ध के अतिरिक्त व्यवहारतत्त्व और दत्तकनिर्णय की भी रचना की। व्यवहारतत्त्व उनके व्यवहारमयूख का ही संक्षिप्त रूप जान पड़ता है। उन्होंने महाभारत की भी संक्षिप्त व्याख्या की है। नीलकण्ठकृत भारतभावदीप के नाम से यह व्याख्या प्रसिद्ध है।

नीलकण्ठकृत भगवन्तभास्कर का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि धर्मशास्त्र-सम्बन्धी उनका अध्ययन अति गम्भीर तथा व्यापक है। मध्यकालीन भारत के निबन्धकारों में धर्मशास्त्र का उनका अध्ययन सम्भवतः सबसे अधिक जान पड़ता है। उन्होंने अपने इस धर्मशास्त्र-सम्बन्धी निबन्ध में मीमांसा-शैली अपना कर उसका मूल्य तत्सम्बन्धी अन्य निबन्धकारों के निबन्धों से कहीं अधिक बढ़ा दिया है। उनके निबन्धों में स्पष्टता है। शैली सरल परिमार्जित तथा सुबोध है। इनके द्वारा संकलन की गयी सामग्री संक्षिप्त एवं सारयुक्त है। अप्रासंगिक एवं अनर्थक विषयवस्तु का सर्वथा त्याग किया गया है। निर्णय देने में गम्भीरता एवं संतुलन का ध्यान रखा गया है।

नीलकण्ठ का समय

नीलकण्ठ के ज्येष्ठ भ्राता कमलाकर भट्ट ने निर्णयसिन्धु की रचना १६१२ ई० में समाप्त की। यह स्पष्ट है कि नीलकण्ठ का साहित्यिक जीवन कमलाकर के साहित्यिक जीवन-प्रारम्भ होने के पश्चात् हुआ होगा। इसलिए कमलाकर भट्ट की इस कृति की समाप्ति के समय नीलकण्ठ भी किसी न किसी रूप में साहित्य-सेवा करते होंगे। परन्तु इतना अवश्य है कि उनका साहित्य-सर्जन-कार्य १६१ ई० के काफी पश्चात् प्रारम्भ हुआ होगा। नीलकण्ठकृत व्यवहारतत्त्व से स्पष्ट है कि इसकी रचना होने के पूर्व वह व्यवहारमयूख की रचना कर चुके थे। व्यवहारतत्त्व की एक पाण्डुलिपि में संवत् १७ अंकित है। इससे स्पष्ट है कि व्यवहारतत्त्व की रचना संवत् १७ अथवा १६४४ ई० के पूर्व नहीं हो सकती। इस कथन से यह सिद्ध होता है कि

कर किया गया है। पौराणिक पद्धतियों एवं पुराण साहित्य पर नीतिमयूख का सर्जन नहीं किया गया। केवल राज्याभिषेक-सम्बन्धी कृत्य पौराणिक हैं, परन्तु अन्य सभी विषयों में इस निबन्ध को उनसे अछूता रखने का प्रयत्न किया गया है।

नीतिमयूख के आधार पर नीलकण्ठ के राजनीतिक विचारों का स्वरूप

नीतिमयूख में सर्वप्रथम विषय राज्याभिषेक है। राज्याभिषेक के कृत्यों का वर्णन विस्तारपूर्वक किया गया है। इन कृत्यों के वर्णन में उन्होंने पौराणिक पद्धति का आश्रय लिया है। प्रधान रूप में विष्णुधर्मोत्तर पुराण एवं देवी पुराण से उपयुक्त सामग्री का चयन किया गया है। इस पौराणिक पद्धति में गोपथब्राह्मण की तत्सम्बन्धी पद्धति का पुट दिया गया है। राज्याभिषेक के कृत्यों के वर्णन में नीलकण्ठ ने अपनी विशेष रुचि प्रकट की है।

राज्याभिषेक प्रकरण के उपरान्त राज्य के स्वरूप का संक्षिप्त वर्णन दिया गया है। उन्होंने राज्य के सप्तांग स्वरूप की स्थापना की है। इसके उपरान्त राजा के निर्माण के दैवी सिद्धान्त की स्थापना मनुस्मृति के आधार पर की गयी है। इसके अनुसार राजा विशिष्ट देव बतलाया गया है, जिसका निर्माण अग्नि इन्द्र पवन आदि प्रमुख अष्ट देवों की सारभूत शाश्वत मात्राओं को संगृहीत कर हुआ है। लोक की स्थिति एवं उसके सम्यक् संचालन हेतु राजा की परम आवश्यकता होती है। राजा के स्वरूप एवं राजा के कर्तव्यों के निरूपण—यह दोनों विषय कामन्दकनीति एवं नीतिसार से तत्सम्बन्धी सामग्री का चयन कर नीतिमयूख में उद्धृत किये गये हैं। राजा को धर्मपरायण होना चाहिए, उसे व्यसनों से मुक्त होना चाहिए, इस सिद्धान्त की स्थापना करने में नीलकण्ठ ने मनुस्मृति याज्ञवल्क्यस्मृति कामन्दकनीति और नीतिसार से तत्सम्बन्धी उद्धरण दिये हैं।

इसके उपरान्त राजचरित-सम्बन्धी प्रकरण है। इस प्रकरण में राजा की दिनचर्या निर्धारित की गयी है। इसके अन्तर्गत राजा के अपने शरीर-सम्बन्धी कृत्यों से लेकर राज्य के महान् से महान् कार्यों से षाड्गुण्यनीति पर विचार एवं उसके कार्यान्वित करने से सम्बन्धित कार्यों तक का विधान किया गया है। यह योजना इस विधि से बनायी गयी है जिससे राजा अपने कर्तव्यों का पालन तत्परता एवं कुशलता-पूर्वक करता रहे और राज्य का संचालन प्रजा के कल्याण हेतु होता रहे। इस योजना के अनुसार राजा के जीवन का एक-एक क्षण किसी-न-किसी कार्य हेतु निर्धारित कर दिया गया है जिससे उसको अपना समय व्यर्थ बिताने का अवसर न मिल सके। यह इस प्रकरण की विषय-वस्तु मनु, याज्ञवल्क्य कामन्दक-नीतिसार-प्रणेता वराहमिहिर, महाभारतकार, और चाणक्य के मतों को उद्धृत कर प्रस्तुत की गयी है।

एवं व्यवहार आदि का जो स्वरूप दिया गया है, वह नीतिसार से उद्धृत किया गया है। युद्ध के भी तीन प्रकार बतलाये गये हैं धर्मयुद्ध, कूटयुद्ध और तूष्णीयुद्ध। इनके स्वरूपों का वर्णन नीतिसार एवं मनुस्मृति से उद्धरण देकर किया गया है। धर्मयुद्ध के नियमों का वर्णन मनु एवं बृहस्पति के मत देकर किया गया है।

युद्धयात्रा के समय सेना का प्रस्थान व्यूह-रचना आदि भी नीतिसार एवं कामन्दकनीति के उद्धरणों पर आश्रित है। स्कन्धावार-स्थल का वर्णन भी कामन्दक नीति एवं नीतिसार की विषय-वस्तु पर आधारित है।

नीलकण्ठ शकुन एवं अपशकुन के फलादेश में विश्वास करते थे। इसलिए उन्होंने युद्ध के लिए प्रस्थान करते समय होनेवाले शकुन एवं अपशकुनों का विशेष वर्णन किया है। यह वर्णन वराहमिहिर के मतों को उद्धृत कर किया है। नीलकण्ठ ने युद्ध के लिए वीरों को प्रोत्साहित करने के लिए उन्हें स्वर्ग-प्राप्ति का लोभ दिया है। उन्होंने इस सिद्धान्त की पुष्टि की है कि रणस्थल में युद्ध करते-करते जो अपने प्राण दे देता है उसे तुरन्त स्वर्ग की प्राप्ति होती है। इस सिद्धान्त की पुष्टि में उन्होंने मनु, महाभारतकार और वराहमिहिर के मत उद्धृत किये हैं।

अन्त में उन्होंने यह व्यवस्था दी है कि विजयाकांक्षी राजा को परराष्ट्र-विजय कर विजित राष्ट्र की प्रजा का पालन पिता के समान करना चाहिए[1]। इस सिद्धान्त की पुष्टि में उन्होंने महाभारत के शान्तिपर्व से एक उद्धरण दिया है। यह उद्धरण युधिष्ठिर द्वारा तत्सम्बन्धी प्रश्न के उत्तर रूप में है।

इस प्रकार भट्ट नीलकण्ठ ने राजनीति-सम्बन्धी इस निबन्ध में राजनीति के पूर्ण स्वरूप का वर्णन देकर राजधर्म-निबन्धकारों में उत्कृष्ट स्थान ग्रहण कर लिया है। इतना अवश्य है कि उन्होंने भी अन्य निबन्धकारों की भाँति ही राजनीति को धर्मशास्त्र के अन्तर्गत ही माना है और इसी कारण राजनीति को अपने प्रसिद्ध निबन्ध भगवन्तभास्कर का ही एक अंग माना है। उन्होंने भास्कर रूप अपने इस निबन्ध में राजनीति को उसकी एक मयूखमात्र मानकर उसका वर्णन किया है। इसीसे चण्डेश्वर की पद्धति को अपनाना उचित नहीं समझा। चण्डेश्वर ने राजनीति का अस्तित्व धर्मशास्त्र से पृथक् मानकर उसे धर्मशास्त्र से भिन्न विषय माना है। इस क्षेत्र में चण्डेश्वर नीलकण्ठ की अपेक्षा अग्रगामी हैं यद्यपि चण्डेश्वर नीलकण्ठ से लगभग तीन शताब्दी पूर्व हुए थे।

१ एवं राजा परराष्ट्रं विजित्य वा एवं प्रजाः पितृवत्पालयेत्।
—वीरोत्साह प्रकरण, नीलकण्ठकृत नीतिमयूख।

शकुन और अपशकुन के फलादेश में उनकी आस्था नीलकण्ठ के संकीर्ण विचारों की द्योतक है। परन्तु इसमें नीलकण्ठ का दोष नहीं है। यह उस युग की माँग थी। इसीलिए उन्हें फलादेश का वर्णन कर देने की भी आवश्यकता प्रतीत हुई।

अनन्तदेव

संक्षिप्त परिचय

अनन्तदेव महाराष्ट्र के सुविख्यात संत एकनाथ के वंशज (प्रपौत्र) थे। वह गोदावरी प्रदेश के निवासी थे। उनके पिता का नाम आपदेव था। आपदेव अपने समय के प्रकाण्ड पण्डित थे। पण्डित समाज में उनका सम्मान था[1]। उन्होंने मीमांसान्याय-प्रकाश की रचना की थी। उनकी यह कृति उनके पाण्डित्य का ज्वलन्त प्रमाण है। अनन्तदेव के आश्रयदाता कूर्माचलीय राजा बाजबहादुरचन्द्र थे। इन्हीं की आज्ञा एवं प्रेरणा से अनन्तदेव ने राजधर्म-कौस्तुभ नामक निबन्ध की रचना की थी[2]।

बाजबहादुरचन्द्र ने सं० १६३८ ई० से सं० १६७८ ई० तक अल्मोड़ा-नैनीताल में राज्य किया। बाजबहादुरचन्द्र के वंशज उत्तर प्रदेश में इलाहाबाद के निकट झूँसी के निवासी थे। इस वंश के सोमचन्द्र नाम के राजा ने ईसा की दसवीं शताब्दी में झूँसी से चलकर हिमालय की तराई में अपने लिए एक छोटा राज्य स्थापित किया था। सं० १५६३ ई० में इस वंश के राजा कल्याणचन्द्र ने अपनी राजधानी बदल कर अल्मोड़ा बनायी। कल्याणचन्द्र के पुत्र रुद्रचन्द्र ने सं० १५८७ ई० में लाहौर पहुँचकर सम्राट् अकबर के समक्ष नतमस्तक हो उसकी अधीनता स्वीकार की। रुद्रचन्द्र विद्वान् थे। उन्होंने कई ग्रन्थों की रचना की थी। 'वैशिकशास्त्र' और 'त्रिवर्णिकधर्म' नाम के उनके दो ग्रन्थ प्रसिद्ध माने जाते हैं। रुद्रचन्द्र और बाजबहादुरचन्द्र के मध्य तीन राजा हुए हैं। अनुमान किया जाता है कि इन तीनों राजाओं के शासन की अवधि पचहत्तर वर्ष के लगभग रही होगी। इस आधार पर बाजबहादुरचन्द्र का शासन-काल १६६१ ई० से प्रारम्भ हुआ मानना उचित होगा।

1. विद्वद्वर्यशिरोमणिश्रीमदापदेवसुतेनानन्तदेवेन कृते राजधर्मकौस्तुभे प्रथम दीधितिः समाप्तिमगमत्। —राजधर्मकौस्तुभ।
2. बाजबहादुरनृपतेरनुज्ञया, तस्य कौस्तुभनिबन्धपरीक्षिणी। —राजधर्मकौस्तुभ। इति श्रीमद् कूर्माचलभूमण्डलाखण्डलमहाराजबाजबहादुरचन्द्रनिदेशतः × अनन्तदेवेन कृते राजधर्मकौस्तुभे, प्रथमदीधितिः समाप्तिमगमत्। राजधर्मकौस्तुभ॥

राजकृत्य-प्रकरण के उपरान्त अमात्य-प्रकरण है। इस प्रकरण में नीतिसार के आधार पर अमात्य और युवराज को राजा की दो भुजाएँ बतलाया गया है। कामन्दकनीति और नीतिसार से विषय-वस्तु को उद्धृत कर राजपुत्र के कृत्यों का निरूपण किया गया है। इसमें बतलाया गया है कि राजकुमार को वही कार्य करना चाहिए जिससे उसके माता पिता भाई बहन और राष्ट्र-जन प्रसन्न रहें। उसे राजपद के योग्य गुण एवं योग्यता धारण करने का सतत प्रयत्न करना चाहिए। राजकुमारों से राजा की रक्षा होनी चाहिए। दुर्विनीत राजकुमार का परित्याग कर देना चाहिए। अच्छे अमात्य के लक्षण महाभारत याज्ञवल्क्यस्मृति मनुस्मृति और नीतिसार के आधार पर अति संक्षेप में बतलाये गये हैं। प्रधान ऐसा जान पड़ता है कि नीतिकल्प सात अथवा आठ सदस्यों के मन्त्रिमण्डल के निर्माण के पक्ष में है। पुरोहित की योग्यता का भी संक्षेप में नीतिसार के आधार पर, वर्णन किया गया है। सुहृद् निरूपण प्रकरण की विषयवस्तु, कामन्दकनीति से ली गयी है और उसी के आधार पर राजा के सुहृदों के लक्षणों एवं उनकी योग्यताओं आदि का संक्षिप्त विवरण किया गया है।

वराहमिहिर का मत उद्धृत कर कोष की परम उपयोगिता प्रमाणित की गयी है। उन्होंने राज्य का मूल कोष माना है। कोष-संचय की नीति की ओर भी संकेत किया गया है। कोष-संचय हेतु प्रजा से धन-धान्य आदि की प्राप्ति में मधुमक्खी द्वारा मधु-संग्रह और वत्स द्वारा स्तन-पान की नीति के पालन करने की व्यवस्था, महाभारत से उद्धरण देकर, दी गयी है। अच्छे कोष के लक्षणों का भी प्रसंग में वर्णन किया गया है। इस विषय में कामन्दक नीति और नीतिसार से उद्धरण दिये गये हैं।

इसके उपरान्त राष्ट्र का वर्णन दिया गया है। नीतिसार के आधार पर यह प्रमाणित किया गया है कि राज्य के अन्य छः अंग एकमात्र राष्ट्र के आश्रित होते हैं। इसलिए राजा को सब तरह से राष्ट्र की साधना करनी चाहिए। इसलिए परिस्थितियों राष्ट्र-उपद्रवकारी सभी राजपुरुषों और दुष्टों का प्रत्येक प्रकार से नाश कर प्रजा की रक्षा एवं उसकी वृद्धि करनी चाहिए। राष्ट्र की अतिदोहक नीति का विरोध किया गया है। इस सिद्धान्त की पुष्टि में याज्ञवल्क्यस्मृति और महाभारत से उद्धरण दिये गये हैं।

राष्ट्र-प्रकरण के उपरान्त दुर्ग प्रकरण दिया गया है। दुर्ग के लिए अनुकूल भूभाग होना चाहिए। इस प्रकार की भूमि के विशेष लक्षणों का उल्लेख कामन्दक नीति के आधार पर किया गया है। दुर्गों के प्रकार मनुस्मृति कामन्दकनीति और

महाभारत के आधार पर किये गये हैं। नीलकण्ठ ने मनुष्य-दुर्ग का एक विशेष प्रकार जम्बुदुर्ग बतलाया है। यह उनकी अपनी सूझ जान पड़ती है, उनका मत है कि जब तक जम्बुदुर्ग सम्भव हो तब तक अन्य मनुष्यदुर्ग नहीं होना चाहिए[1]। जम्बुदुर्ग से उनका तात्पर्य राजगृह के आस-पास चारों ओर सोपरादि जम्बुओं से घिरा होना है[2]। दुर्ग की उपयोगिता पर मनु का मत दिया गया है। दुर्ग-प्रकरण के उपरान्त बल-प्रकरण आता है। राज्य के निमित्त बल की परम आवश्यकता बतलायी गयी है। वराहमिहिर का मत कि राज्यबल और कोष के अधीन होता है उद्धृत किया गया है। इसी प्रकार कोष की उपयोगिता पर माघ, कालिदास, याज्ञवल्क्य और महाभारतकार के मत दिये गये हैं। मौलभृत श्रेणि सुहृत् द्विषत् और आटविक ये छः प्रकार के बल नीतिसार के आधार पर बतलाये गये हैं। बल के इन छः प्रकारों का यथायोग्य उपयोग करने का वर्णन है। यह वर्णन कामन्दक आदि में उक्त विषय-वस्तु पर अवलम्बित है।

नीलकण्ठ ने भी चतुरंग बल माना है। बल के ये चार अङ्ग गजसेना, अश्वसेना, रथसेना और पैदल सेना हैं। गज चार प्रकार के बतलाये गये हैं। गज के ये चार प्रकार भद्र, मन्द, मृग और मिश्र माने गये हैं। उनके पृथक्-पृथक् गुण लक्षण एवं उनके शरीर के अंगों तथा प्रत्यंगों का वर्णन किया गया है। उनके बन्धन-स्थान, शाला, उनका प्रशिक्षण आदि का वर्णन है। इसी प्रकार अश्वसेना एवं रथसेना की उपयोगिता एवं उनके विशेष गुणों तथा लक्षणों का वर्णन विस्तारपूर्वक किया गया है। यह सभी वर्णन वराहमिहिर के मतों को उद्धृत कर किये गये हैं।

इसके उपरान्त दूतचार-प्रपञ्च-प्रकरण है। इस प्रकरण में दूत एवं चरों के भेद तथा उनकी योग्यता और कर्तव्यों का संक्षिप्त वर्णन नीतिसार से उद्धरण देकर किया गया है। दूत के तीन भेद निसृष्टार्थ, मितार्थ और शासनहारक नीतिसार के आधार पर बतलाकर उनके लक्षण बतलाये गये हैं। इन दूतों के कर्तव्य आधार

१ यावज्जम्बुदुर्गं सम्भवति तावदितरमनुष्यदुर्गं न कुर्वीत।
— दुर्गप्रकरणम्, नीलकण्ठकृत नीतिमयूख।

२ जम्बुदुर्गं चोरादिदुर्गमं राजगृहस्य परितः स्थापितम्।
— दुर्गप्रकरणम्, नीलकण्ठकृत नीतिमयूख।

३ दुर्गोपलम्भाय चतुरङ्गमाश्रयेत्। तुरगरथवारणाः सेनाङ्गं स्याच्चतुर्विध-मिति।
— बलप्रकरणम्, नीलकण्ठकृत नीतिमयूख।

४ निसृष्टार्थो मितार्थश्च तथा शासनहारकः।
— दूतचारप्रपञ्चप्रकरणम्, नीलकण्ठकृत नीतिमयूख।

एवं व्यवहार आदि का जो स्वरूप दिया गया है वह नीतिसार से उद्धृत किया गया है। युद्ध के भी तीन प्रकार बतलाये गये हैं धर्मयुद्ध कूटयुद्ध और तूष्णीयुद्ध। इनके स्वरूपों का वर्णन नीतिसार एवं मनुस्मृति से उद्धरण देकर दिया गया है। धर्मयुद्ध के नियमों का वर्णन मनु एवं बृहस्पति के मत देकर किया गया है।

युद्धयात्रा के समय सेना का प्रस्थान व्यूह-रचना आदि भी नीतिसार एवं कामन्दकनीति के उद्धरणों पर आश्रित है। स्कन्धावार-स्थल का वर्णन भी कामन्दक नीति एवं नीतिसार की विषय-वस्तु पर आधारित है।

नीलकण्ठ शकुन एवं अपशकुन के प्रभाव में विश्वास करते थे। इसलिए उन्होंने युद्ध के लिए प्रस्थान करते समय होनेवाले शकुन एवं अपशकुनों का विशेष वर्णन किया है। यह वर्णन वराहमिहिर के मतों को उद्धृत कर किया है। नीलकण्ठ ने युद्ध के लिए वीरों को प्रोत्साहित करने के लिए उन्हें स्वर्ग-प्राप्ति का लोभ दिया है। उन्होंने इस सिद्धान्त की पुष्टि की है कि रणस्थल में युद्ध करते-करते जो अपने प्राण दे देता है उसे तुरन्त स्वर्ग की प्राप्ति होती है। इस सिद्धान्त की पुष्टि में उन्होंने मनु, महाभारतकार और वराहमिहिर के मत उद्धृत किये हैं।

अन्त में उन्होंने यह व्यवस्था दी है कि विजयाकांक्षी राजा को परराष्ट्र-विजय कर विजित राष्ट्र की प्रजा का पालन पिता के समान करना चाहिए[1]। इस सिद्धान्त की पुष्टि में उन्होंने महाभारत के शान्तिपर्व से एक उद्धरण दिया है। यह उद्धरण युधिष्ठिर द्वारा तत्सम्बन्धी प्रश्न के उत्तर रूप में है।

इस प्रकार भट्ट नीलकण्ठ ने राजनीति-सम्बन्धी इस निबन्ध में राजनीति के पूर्ण स्वरूप का वर्णन देकर राजधर्म-निबन्धकारों में उत्कृष्ट स्थान ग्रहण कर लिया है। इतना अवश्य है कि उन्होंने भी अन्य निबन्धकारों की भाँति ही राजनीति को धर्मशास्त्र के अन्तर्गत ही माना है और इसी कारण राजनीति को अपने प्रसिद्ध निबन्ध भगवन्तभास्कर का ही एक अंग माना है। उन्होंने भास्कर रूप अपने इस निबन्ध में राजनीति को उसकी एक मयूखमात्र मानकर उसका वर्णन किया है। इन्होंने चण्डेश्वर की पद्धति को अपनाना उचित नहीं समझा। चण्डेश्वर ने राजनीति का अस्तित्व धर्मशास्त्र से पृथक् मानकर उसे धर्मशास्त्र से भिन्न विषय माना है। इस क्षेत्र में चण्डेश्वर नीलकण्ठ की अपेक्षा अग्रगामी हैं यद्यपि चण्डेश्वर नीलकण्ठ से लगभग तीन शताब्दी पूर्व हुए थे।

१ एवं राजा परराष्ट्रं विजित्य वा एवं प्रजाः पितृवत्पालयेत्।

—वीरोत्साह प्रकरण, नीलकण्ठकृत नीतिमयूख।

शकुन और अपशकुन के फलादेश में उनकी आस्था नीलकण्ठ के संकीर्ण विचारों की द्योतक है। परन्तु इसमें नीलकण्ठ का दोष नहीं है। यह उस युग की माँग थी। इसीलिए उन्हें फलादेश का वर्णन कर देने की भी आवश्यकता प्रतीत हुई।

अनन्तदेव

संक्षिप्त परिचय

अनन्तदेव महाराष्ट्र के सुविख्यात संत एकनाथ के वंशज (प्रपौत्र) थे। वह गोदावरी प्रदेश के निवासी थे। उनके पिता का नाम आपदेव था। आपदेव अपने समय के प्रकाण्ड पण्डित थे। पण्डित समाज में उनका सम्मान था। उन्होंने मीमांसान्याय-प्रकाश की रचना की थी। उनकी यह कृति उनके पाण्डित्य का ज्वलन्त प्रमाण है। अनन्तदेव के आश्रयदाता चन्द्रवंशीय राजा बाजबहादुरचन्द्र थे। इन्हीं की आज्ञा एवं प्रेरणा से अनन्तदेव ने राजधर्म-कौस्तुभ नामक निबन्ध की रचना की थी[1]।

बाजबहादुरचन्द्र ने सन् १६३८ ई० से सन् १६७८ ई० तक अल्मोड़ा-नैनीताल में राज्य किया। बाजबहादुरचन्द्र के वंशज उत्तर प्रदेश में इलाहाबाद के निकट झूँसी के निवासी थे। इस वंश के सोमचन्द्र नाम के राजा ने ईसा की दसवीं शताब्दी में झूँसी से चलकर हिमालय की तराई में अपने लिए एक छोटा राज्य स्थापित किया था। सन् १५६३ ई० में इस वंश के राजा कल्याणचन्द्र ने अपनी राजधानी बदल कर अल्मोड़ा बनायी। कल्याणचन्द्र के पुत्र रुद्रचन्द्र ने सन् १५८० ई० में लाहौर पहुँचकर सम्राट् अकबर के समक्ष नतमस्तक हो उसकी अधीनता स्वीकार की। रुद्रचन्द्र विद्वान् थे। उन्होंने कई ग्रन्थों की रचना की थी। 'श्यैनिकशास्त्र' और 'त्रैवर्णिकधर्म' नाम के उनके दो ग्रन्थ प्रसिद्ध माने जाते हैं। रुद्रचन्द्र और बाजबहादुरचन्द्र के मध्य तीन राजा हुए हैं। अनुमान किया जाता है कि इन तीनों राजाओं के शासन की अवधि पचहत्तर वर्ष के लगभग रही होगी। इस आधार पर बाजबहादुरचन्द्र का शासन-काल १६५५ ई० से प्रारम्भ हुआ मानना उचित होगा।

१ श्रीमुद्गलशिरोमणिश्रीमदापदेवसुतेनानन्तदेवेन कृते राजधर्मकौस्तुभे प्रथम दीधितिः समाप्तिमगमत्। —राजधर्मकौस्तुभ।

२ बाजबहादुरनृपतेराज्ञया, तस्य कौस्तुभनिबन्धशालिनी। —राजधर्मकौस्तुभ। इति श्रीमत् चन्द्रवंशप्रभव महाराजाधिराज बाजबहादुरचन्द्रनामाज्ञया ×× अनन्तदेवेन कृते राजधर्मकौस्तुभे प्रथमदीधितिः समाप्तिमगमत्। राजधर्मकौस्तुभ॥

इस प्रकार अनन्तदेव का साहित्यिक काल १६१२ ई० से पूर्व प्रारम्भ हुआ होगा। विद्वानों का मत है कि अनन्तदेव का साहित्यिक काल १६६५ से १६७५ तक है। इस प्रकार अनन्तदेव ईसा की सत्रहवीं शताब्दी के तृतीय चरण के राजधर्म-निबन्धकार हैं। बाजबहादुर और अनन्तदेव का सम्पर्क किस प्रकार हुआ इस विषय में कहा जाता है कि अनन्तदेव की विद्वत्ता एवं पाण्डित्य की ख्याति बाजबहादुर के कानों तक पहुँची। वह स्वयं वाराणसी पहुँचे। उन्होंने सम्मानपूर्वक अनन्तदेव को वाराणसी बुलाया। अनन्तदेव से वाराणसी में भेंटकर बाजबहादुरचन्द्र ने उनसे राजधर्म पर एक पूर्ण ग्रन्थ की रचना करने के लिए अनुरोध किया। बाजबहादुरचन्द्र की इस कामना की पूर्ति हेतु अनन्तदेव ने राजधर्म-कौस्तुभ नामक निबन्ध की रचना की। उन्होंने स्मृतिकौस्तुभ नाम के पूर्ण निबन्ध की भी रचना की थी।

इस प्रकार अनन्तदेव ने अपने आश्रयदाता राजा बाजबहादुरचन्द्र की प्रेरणा से स्मृतियों रामायण महाभारत पुराणों आदि से विषयवस्तु का चयन कर राजधर्म-कौस्तुभ नाम के निबन्ध की रचना की।

राजधर्म कौस्तुभ– राजधर्मकौस्तुभ जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है एक निबन्धग्रन्थ है। इसकी विषयवस्तु स्मृतियों रामायण महाभारत पुराणों आदि से संगृहीत की गयी है। यह निबन्ध, जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है राजधर्मप्रधान है। अनन्तदेव ने अपने इस निबन्ध को चार मुख्य खण्डों में विभक्त किया है। इन चार खण्डों को उन्होंने चार दीधितियों की संज्ञा दी है। इस प्रकार अनन्तदेव का राजधर्मकौस्तुभ चार दीधितियों में विभक्त है। यह चार दीधिति वास्तुकर्मदीधिति वास्तुयोगदीधिति राज्याभिषेकदीधिति और प्रजापालनदीधिति है।

प्रथम दीधिति में कुल सोलह मुख्य विषय अथवा अध्याय है। ये सोलह मुख्य विषय इस प्रकार है —"वास्तुप्रकरणम्, प्रासादादिलक्षणम्, मण्डपादिलक्षणम् प्रतिमालक्षणम् केशवादिमूर्तिलक्षणम् लिङ्गलक्षणम्, प्रासादलक्षणम्, अव्यक्त प्रतिमा लक्षणम् वाप्यारामादि प्रतिष्ठाविधि मूर्ति-प्रतिष्ठाविधि वाप्यादि-प्रतिष्ठा-विधि ग्रामनगरनिवासस्थानदुर्गलक्षणम् अथ गृहेष्टकासनम्, और वास्तुकर्मविधि।

द्वितीय दीधिति में बारह मुख्य विषय अथवा अध्याय हैं जो इस प्रकार है— "वास्तुकर्मविधि वास्तुशमप्रयोग होमप्रयोग ग्रहयज्ञसमाप्ति कूपतडाग-योजनप्रकारसर्व तडागादिप्रतिष्ठा विशेषविधि मत्स्यपुराणोक्त तडागप्रयागपूर्वक

१ बाजबहादुरचन्द्रनृपतेरनुज्ञया तनुते कौस्तुभनिबन्धमाद्विजः। राजधर्मकौस्तुभ।

प्रयोग वापीकूपोत्सर्गविधि कृत्रजलाशयोपयोगिता वृद्धि आराम-प्रतिष्ठा-प्रयोग और वृक्षिहृतरिवर्गाकुम्भकाकार्यस्थापनविधि ।

तृतीय दीधिति में मुख्य विषय अथवा अध्याय-संख्या पच्चीस है। इस दीधिति के यह अध्याय राज्याधिकारीनिर्णय अभिषेककाल अभिषेकात्पूर्वकर्तव्यम् राज-लक्षणम्, पट्टमहिषीलक्षणम्, मन्त्रिलक्षणम् पुरोहितलक्षणम् ज्योतिर्विल्लक्षणम्, शान्तिप्रयोग द्वितीयदिनविहितप्रधानयोग तृतीयेऽह्नि निवाहनाय प्रत्यधिदेवतावाहनम्, ग्रहावाहनमध्ये प्रत्यधिदेवतास्थापनम् चतुर्थेऽह्नि ग्रहयाग पञ्चमेऽह्नि रात्री निर्मंडिताय षष्ठेऽह्नि श्रीशान्ति अभिषेक-प्रयोग-पुराणादि अभिषेक-प्रयोग कीर्ति-मावी एकाभिषेक राजाशीस्तवपाठ अभिषेकोत्तर कृत्यानि पुष्याभिषेक अन्य ग्रहवेऽभिषेक तथा संवत्सराभिषेक है।

चतुर्थ दीधिति में पैंतीस मुख्य विषय अथवा अध्याय इस प्रकार है—"व्यवहार-लक्षणम्, प्रतिज्ञास्वरूपम भाषानिर्णय व्यवहारमातृका साक्षिस्वरूपनिरूपणम् लेख्य स्वरूपनिरूपणम् दिव्यमातृका तुला-दिव्यप्रयोग अग्निविधि जलविधि विषविधि कोषविधि धर्मविधि ऋणमादानव्यवहारपादम् सीमाविवादनिर्णय अथ स्वामिपाल-विवादप्रकरणम् अस्वामिविक्रयप्रकरणम् दत्ताप्रदानिकम् क्रीत्वानुशय भूभृपाक्ष-व्यवहारपदम् संविद्व्यतिक्रमप्रकरणम् अवधेतनदानप्रकरणम्, विक्रीया सम्प्रदानम्, अभ्युपेत्यशुश्रूषा स्तेयम् अथ स्त्रीसंग्रहणाख्यविवादपदम् पुत्रसमाह्वयाख्य विवाद पदम् वाक्पारुष्यम् दण्डपारुष्यम् साहसम्, साहसप्रसमाप् रजकादीनामपि दण्डमाह, और अथ प्रकीर्णकाख्य विवादपदम्।

इस प्रकार अनन्तदेवकृत राजधर्मकौस्तुभ में एक अट्ठासी अध्याय है जो चार दीधितियों में विभक्त है। प्रथम दीधिति में सोलह, द्वितीय में बारह तृतीय में पच्चीस और चौथी दीधिति में पैंतीस अध्याय है। इन अध्यायों में राजधर्म-विषय की विविध पद्धतियों का वर्णन है।

राजधर्म-निबन्धकारों में अनन्तदेव का स्थान—राजधर्मकौस्तुभ का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि इस निबन्ध का उद्देश्य राजाओं को उनके व्यक्तिगत एवं सार्वजनिक कर्तव्यों के विधिवत् पालन हेतु पथप्रदर्शन एवं निर्देशन करना है। राजा के जो कर्तव्य धर्मशास्त्रों में निर्धारित किये गये हैं एवं उनके विधिवत् सम्पादन हेतु जिन कृत्यों विधियों आदि का वर्णन संस्कृत साहित्य में अनन्तदेव के पूर्व विशेष रूप से पुराणों में उपलब्ध था उनका वर्णन इस निबन्ध में किया गया है। ऐसा करने में इन ग्रन्थों से विषय-वस्तु का चयन जिस विधि से किया गया है, वह अनन्तदेव के पाण्डित्य का द्योतक है।

इसमें सन्देह नहीं कि अनन्तदेव के पूर्व भी ऐसे कई निबन्धकार हुए हैं, जिन्होंने इस कार्य का निर्वाह बड़ी कुशलतापूर्वक किया है। परन्तु अनन्तदेव इस क्षेत्र में इन निबन्धकारों से कई बातों में आगे बढ़े हुए हैं। एक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि अनन्तदेव ने राजधर्म-सम्बन्धी जिन पद्धतियों का वर्णन किया है वे अनेक विषय-व्यापी हैं। अन्य निबन्धकारों का क्षेत्र इस दृष्टि से संकीर्ण है। अनन्तदेव ने अनेक महत्त्वशाली मुख्य विषयों का चयन कर उनसे सम्बन्धित पद्धतियों का वर्णन किया है। अन्य निबन्धकारों में एक ने भी इतने मुख्य विषयों से सम्बन्धित पद्धतियों का वर्णन नहीं किया। इसके अतिरिक्त अनन्तदेव ने इन विषयों से सम्बन्धित पद्धतियों का जो स्वरूप दिया है वह अपेक्षाकृत अधिक विचारात्मक है। इस प्रकार अन्य निबन्धकारों की अपेक्षा अनन्तदेव का क्षेत्र अधिक व्यापक एवं उसका स्वरूप कहीं अधिक विचारात्मक है।

अनन्तदेव ने स्वयं लिखा है कि उन्होंने अपने इस निबन्ध में राजधर्म-सम्बन्धी पूर्वप्रचलित विविध पद्धतियों का वर्णन किया है। इससे स्पष्ट है कि अनन्तदेव राजधर्म-सम्बन्धी विविध पद्धतियों के आचार्य एवं कुशल व्याख्याता हैं, परन्तु उनके प्रणेता नहीं हैं। उनकी महती देन इस विषय में यही है कि उन्होंने अपनी पूर्व प्रचलित राजधर्म-सम्बन्धी विविध पद्धतियों में से देश-काल एवं परिस्थिति के अनुसार जिनको लोकोपयोगी समझा उनका चयन किया और फिर उनका स्पष्ट स्वरूप इस निबन्ध द्वारा जनता के समक्ष प्रस्तुत किया। उनकी यह देन महत्त्वपूर्ण है। परन्तु इतना अवश्य है कि वह राजशास्त्र-सम्बन्धी किसी मौलिक एवं नवीन सिद्धान्त के प्रवर्तक नहीं हैं।

अनन्तदेव की एक और महती देन है। उन्होंने राजधर्म-सम्बन्धी विविध पद्धतियों का वर्णन अपने समय की हिन्दू-जनता के जीवन को अपने समक्ष रख कर किया है। उन्हीं कृत्यों विधियों एवं पद्धतियों का वर्णन किया है, जो उनके समय में हिन्दू-समाज के अनुकूल एवं उसके लिए सरल सुगम तथा कल्याणकर समझी गयी थी। इस दृष्टि से अनन्तदेव का यह निबन्ध सत्रहवीं शताब्दी की भारतीय हिन्दू-जनता के वास्तविक जीवन के परिचय हेतु एक साधन है।

अनन्तदेव के इस निबन्ध के अध्ययन से कभी-कभी भ्रम होने लगता है कि उन्होंने कतिपय ऐसी पद्धतियों का वर्णन किया है जो इस युग की जनता की दृष्टि में अनुदार, संकीर्ण-विचारयुक्त एवं अन्धविश्वास पर आश्रित हैं। इस दृष्टि से उनका

१ बाजबहादुरचन्द्रस्य भूपतेस्तस्य भूरियशसः प्रसत्तये।
राजधर्मविषयेऽत्र कौस्तुभे कर्मपद्धतिकुलाम्य दीपिताः॥ —राजधर्मकौस्तुभ।

स्थान बहुत निम्न हुआ समझा जाना चाहिए। परन्तु अनन्तदेव के विषय में इस प्रकार की आपत्ति यही करना उचित नहीं है। उनके इस निबन्ध का अध्ययन करते समय उनके समय को भुलाना नहीं चाहिए। सत्रहवीं शताब्दी में हिन्दू जनता के जीवन का जो स्वरूप था उसी के अनुकूल यह सब सामग्री है। इसलिए अनन्तदेव के प्रति इस प्रकार के विचार रखना भारी भूल होगी। भारतीय राजशास्त्र के इतिहास में निबन्धकारों की श्रेणी में अनन्तदेव राजधर्म-पद्धतियों के व्यापक एवं विश्लेषणात्मक स्वरूप के चित्रदाताओं की दृष्टि से शिरोमणि हैं।

ग्रन्थ-सूची

(क) वैदिक साहित्य

१ ऋग्वेद संहिता—औंध कार्यालय सतारा सायणाचार्य-भाष्यसहित अंग्रेजी अनुवादमात्र आर. टी. एच. ग्रिफिथ हिन्दी अनुवादसहित जयदेव विद्यालंकार।

२ सामवेद संहिता—औंध कार्यालय सतारा अंग्रेजी अनुवादमात्र आर. टी. एच. ग्रिफिथ हिन्दी अनुवादसहित जयदेव विद्यालंकार।

३ यजुर्वेद संहिता—औंध कार्यालय सतारा उवट-महीधर भाष्य दयानन्द भाष्य अंग्रेजी अनुवादमात्र आर. टी. एच. ग्रिफिथ हिन्दी अनुवादसहित जयदेव विद्यालंकार।

४ अथर्ववेद संहिता—औंध कार्यालय सतारा सायणाचार्य-भाष्य अंग्रेजी अनुवादमात्र आर. टी. एच. ग्रिफिथ हिन्दी अनुवाद सहित जयदेव विद्यालंकार।

५ ऐतरेय ब्राह्मण —सायणाचार्य-भाष्य।

६ तैत्तिरीय ब्राह्मण —सायणाचार्य-भाष्य।

७ शतपथ ब्राह्मण —सायणाचार्य-भाष्य।

८ गोपथ ब्राह्मण —डी. गास्त्र द्वारा सम्पादित।

९ तैत्तिरीय आरण्यक —सायणाचार्य-भाष्य।

१० ऐतरेयारण्यक —सायणाचार्य-भाष्य।

११ ईशादि नौ उपनिषद् —शांकर भाष्य गीताप्रेस गोरखपुर।

१२ छान्दोग्य उपनिषद् —शांकर भाष्य गीता प्रेस गोरखपुर।

१३ बृहदारण्यक उपनिषद् —शांकर भाष्य गीता प्रेस गोरखपुर।

(ख) धर्म सूत्र

१४ गौतम धर्मसूत्र —हरदत्त प्रणीत मिताक्षरा व्याख्यासहित।

१५ आपस्तम्ब धर्मसूत्र —श्रीहरदत्त विरचित उज्ज्वलावृत्तिसहित।

१६ बौधायन धर्मसूत्र —गोविन्दस्वामिप्रणीतविवरणसमेतम् ।

१७ आपस्तम्ब धर्मसूत्र —हिरण्यकेशी व्याख्यासहित ।

(ग) रामायण-महाभारत

१८. श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण —गोविन्दराज भाष्य सहित टी. आर. कृष्णाचार्य तथा टी. आर. व्यासाचार्य गोविन्दराज टीकासहित श्रीनिवास शास्त्री। हिन्दी टीकासहित, चन्द्रशेखर शास्त्री हिन्दी टीकासहित गीताप्रेस गोरखपुर।

१९. श्रीमन्महाभारत—पी. पी. एस शास्त्री नीलकण्ठी टीका अंग्रेजी अनुवादमात्र, पी. सी. रे, कलकत्ता हिन्दी अनुवादसहित, रामनारायण शास्त्री। हिन्दी टीकासहित गीताप्रेस गोरखपुर।

(घ) स्मृति-साहित्य

२ मनुस्मृति—निर्णय सागर प्रेस, बम्बई मन्वर्थमुक्तावलीसहित कुल्लूक भट्ट मनु टीका, गोविन्दराज मनुस्मृति व्याख्या नन्दन मेधातिथि-भाष्यसहित, अंग्रेजी अनुवाद गंगानाथ झा मन्वर्थविवृति, सर्वज्ञनारायण हिन्दी टीकासहित तुलसी राम मनुभाष्य मेधातिथि।

२१ बृहस्पतिस्मृति —गायकवाड ओरियण्टल सीरीज, बड़ौदा।

२२ याज्ञवल्क्यस्मृति—अपरार्क व्याख्यासहित मित्रमिश्रविरचित "वीरमित्रोदय" विज्ञानेश्वररचित "मिताक्षरा" टीकासमन्वित भाषा टीका सहित नवलकिशोर प्रेस लखनऊ।

२३ स्मृतीनां समुच्चयः —आनन्दाश्रम मुद्रणालय पूना।

२४ नारदस्मृति —जाली द्वारा सम्पादित।

२५ कात्यायनस्मृति —पी. वी. काणे द्वारा सम्पादित।

२६ पराशरस्मृति —भाषा टीकासहित।

२७ धर्मशास्त्र संग्रह —जीवानन्द विद्यासागर द्वारा सम्पादित।

२८ गौतम धर्मशास्त्र —आनन्दाश्रम मुद्रणालय पूना।

२९ बौधायन धर्मशास्त्र —ई. हुल्श, लाइप्जिग।

(ङ) पुराण साहित्य

१ श्रीमद्भागवत पुराण —गीता प्रेस गोरखपुर।

११ मार्कण्डेय पुराण —वेंकटेश्वर छापाखाना, बम्बई।

१२ मत्स्य पुराण — वेंकटेश्वर छापाखाना बम्बई।

३३ विष्णु पुराण —गीता प्रेस, गोरखपुर।
३४ विष्णुधर्मोत्तर पुराण —पत्राकार पाण्डुलिपि।
३५. भविष्य पुराण —पत्राकार पाण्डुलिपि।
३६. स्कन्द पुराण —पत्राकार पाण्डुलिपि।
३७. आदित्य पुराण —पत्राकार पाण्डुलिपि।
३८. ब्रह्म पुराण —पत्राकार पाण्डुलिपि।
३९. अग्नि पुराण —सरस्वती प्रेस कलकत्ता।
४० पद्म पुराण —पत्राकार पाण्डुलिपि।
४१ नारद पुराण —गीता प्रेस गोरखपुर।
४२. मत्स्य पुराण —नवलकिशोर प्रेस लखनऊ।
४३. वायु पुराण —पाण्डुलिपि पत्राकार।
४४ लिङ्ग पुराण —पाण्डुलिपि पत्राकार।
४५. आदि पुराण —वेंकटेश्वर छापाखाना बम्बई।
४६ कालिका पुराण —वेंकटेश्वर छापाखाना, बम्बई।
४७. देवी भागवत पुराण —वेंकटेश्वर छापाखाना बम्बई।

(च) अर्थशास्त्र तथा नीति-ग्रन्थ

४८. कौटिल्य का अर्थशास्त्र—संस्कृत टीकासहित गणपतिशास्त्री अंगरेजी अनुवादसाथ श्याम शास्त्री भाषा टीकासहित उदयवीर शास्त्री मेहरचन्द लक्ष्मणदास मनोहर लाल नयी सड़क, दिल्ली।
४९. बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र —एफ डब्ल्यू टामस।
५० कामन्दकनीति (पाण्डुलिपि)—प कमलनयनकृत उपाध्येय इतिहास परिषद् से प्राप्त भाषा टीका सहित वेंकटेश्वर छापाखाना बम्बई गणपति शास्त्री शंकरार्य जयमंगलासहित अंगरेजी अनुवादसाथ मन्मथदत्त।
५१ शुक्रनीति—भाषा टीकासहित जगदीशप्रसाद शास्त्री अंगरेजी अनुवादसाथ विनयकुमार सरकार जीवानन्द विद्यासागर द्वारा सम्पादित।
५२ नीतिवाक्यामृत —सोमदेव सूरि

(छ) निबन्ध-ग्रन्थ

५३ राजधर्मकामधेनु — गोपाल (चण्डेश्वरकृत राजनीतिरत्नाकर में उल्लिखित मात्र पाण्डुलिपि अप्राप्त)
५४ कृत्यकल्पतरु (दस काण्डों में) —लक्ष्मीधर भट्ट
५५. व्यवहारकाण्ड (कृत्यकल्पतरु) — लक्ष्मीधरभट्ट गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज।

५६ राजधर्मकाण्ड (कृत्यकल्पतरु) —लक्ष्मीधरभट्ट गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज़।
५७ स्मृतिचन्द्रिका —देवणभट्ट [illegible] द्वारा सम्पादित।
५८ संस्कारकाण्ड (स्मृतिचन्द्रिका) —देवणभट्ट शामशास्त्रीद्वारा सम्पादित।
५९ आह्निककाण्ड (स्मृतिचन्द्रिका) —देवणभट्ट शामशास्त्री द्वारा सम्पादित।
६० व्यवहारकाण्ड (स्मृतिचन्द्रिका)—देवणभट्ट शामशास्त्री द्वारा सम्पादित।
६१ श्राद्धकाण्ड (स्मृतिचन्द्रिका) —देवणभट्ट, शामशास्त्री द्वारा सम्पादित।
६२ अशौचकाण्ड(स्मृतिचन्द्रिका) —देवणभट्ट, शामशास्त्री द्वारा सम्पादित।
६३ राजनीतिकाण्ड (स्मृतिचन्द्रिका)—देवणभट्ट
६४ चतुर्वर्गचिन्तामणि —हेमाद्रि।
६५ विवादरत्नाकर —चण्डेश्वर।
६६ राजनीतिरत्नाकर —चण्डेश्वर, काशीप्रसाद जायसवाल सम्पादित।
६७ वीरमित्रोदय —मित्रमिश्र।
६८ व्यवहारप्रकाश
(वीरमित्रोदय) —मित्रमिश्र।
६९ राजनीतिप्रकाश
(वीरमित्रोदय) —मित्रमिश्र।
७० निर्णयसिन्धु —कमलाकर भट्ट।
७१ भगवन्तभास्कर —नीलकण्ठ।
७२ व्यवहारमयूख
(भगवन्तभास्कर) —नीलकण्ठ।
७३ राजनीतिमयूख
(भगवन्तभास्कर) —नीलकण्ठ।
७४ दानमयूख(भगवन्तभास्कर) —नीलकण्ठ।
७५ मीमांसा न्यायप्रकाश —आपदेव।
७६ राजधर्मकौस्तुभ —अनन्तदेव।
७७ टोडरानन्द —टोडरमल द्वारा सम्पादित।
७८ राजनीतिकाव्य —अनन्तभट्ट।
७९ दण्डविवेक —वर्धमान।
८० नीतिचिन्तामणि —वाचस्पतिमिश्र।

(ख) अन्य ग्रन्थ

८१ मनु और याज्ञवल्क्य —काशीप्रसाद जायसवाल।

१०९. युद्ध की राजनीति —श्यामलाल पाण्डेय।
११० पञ्चतन्त्र —श्रीपालनारायण वसन्त व्यासमाहिल।
१११ व्यवहारशास्त्र —नीलकण्ठ भट्ट।
११२ दत्तकनिर्णय —नीलकण्ठ भट्ट।
११३ आचारार्क —दिवाकर भट्ट।
११४ कृष्णभास्कर —शंकर भट्ट।
११५. पितृभक्ति —श्रीदत्त।
११६ दि हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र —डा रामाभिलाषी।
११७. ए हिस्ट्री आफ इण्डियन पोलिटिकल आइडियाज—यू एन घोषाल।

●